

**DUE DATE SLIP****GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj )

Students can retain library books only for two  
weeks at the most

BORROWER S No	DUE DTATE	SIGNATURE

ॐ श्रीः ॐ

शौनकीया-

# अथर्ववेदसंहिता

मूल-मन्त्र-सायण-भाष्य

तथा-

सायणभाष्य के अनुकूल

भाषानुवादसहित

सप्तम-अष्टम-कारण

जिसको-

ऋ० कु० प० रामस्वरूपशर्मात्मज

पुरादावादिनिषासी-सनातनधर्मपताका-सम्पादक

ऋ० कु० प० रामचन्द्र शर्माने

अनुवादित कर

सनातनधर्म-ग्रन्थालय

पुरादावाद में छाप कर

प्रकाशित किया.

संवत् १९८७

प्रथम बार



❀ श्रीहरिः ❀

## ❀ सभाष्य अथर्ववेदकी विषयसूची ❀

विषय

पृष्ठ

### ❀ सप्तम-काण्ड ❀

#### प्रथम अनुवाक-

प्रथम सूक्त । इसको पहिली दो ऋचाओंसे अर्घोत्थापनविष्णु-  
सामनकर्ममें घृत आदिका होम, वा इन ऋचाओंका उप किया  
जाता है, और सर्वफलकामकी इन दोनों ऋचाओंसे इन्द्र तथा  
अग्निका उपस्थान वा याग करना चाहिये । इसकी 'अथर्वानं  
पितरम्' इस आठ ऋचाओंके समुदायसे सर्वफलकाम अथर्व  
( प्रजापति ) का यजन वा उपस्थान करे । "अथा विष्ठा" इयुचसे  
नवीन रथकी अभिमन्त्रित करके विजयाभिलाषी राजाको रथ पर  
चढ़ाया जाता है । इसकी "एकपा" ऋचासे अश्वशान्तिमें सुवर्ण  
पश्चि चूर्णको अश्वके शिरपर बुरका देव, तथा चातुर्मास्यके क्षुत्ता-  
सीरपागमें क्षापव्यपागका अनुमंशन करे । ब्रह्मा यज्ञेन ऋचासे  
सोमपागकी आतिथ्येष्टिमें इविका अभिमर्शन करे ॥ सूक्त आविमें  
देवताका वर्णन न होने पर देवताग्रहणका निर्णय, इन्द्र और अग्नि-  
देवके धनप्रदत्व का वर्णन, इन्द्रको सकल देवताओंके आधे भागके  
पहुँचनेका वर्णन, परा पदपत्नी मध्यमा और वैखरी वाणीका  
वर्णन, अग्निके सर्वदेवमय होनेका प्रमाण ब्रह्मविषयक अर्थ, पुत्र-  
शब्दकी व्युत्पत्ति, द्यौ और पृथिवीके पितृत्व मातृत्वका वर्णन,  
प्रजापतिकी सृष्टि, अथर्व शब्दका प्रजापति अर्थ होनेका प्रमाण ।  
वायुकी इक्षोल आदि घोट्टियोंका वर्णन, कर्म करके देवत्वको  
प्राप्त होनेका कथन, स्वर्ग शब्दकी व्याख्या, कर्मसे और विष्णुकी  
पूजासे स्वर्गप्राप्तिका वर्णन । देवताओंको इवि अर्पण करनेका  
प्रकार । ज्ञानवशकी श्रेष्ठता, और कर्मवशकी निन्दा ।

द्वितीय सूक्त । इसकी पहिली चार ऋचाओंसे सर्वफलकाम  
आदितिका यजन वा उपस्थान करे, आश्विनकी चार ऋचाओंसे

घट आदिसे नरना चाहने वाला स्वस्त्ययनक लिये नौका आदि  
 अभिमन्त्रित करक तरे और नौका आदिसे दूर दशमें जाना  
 । इसमें नौका आदिका सम्पातित करक तरे और इससे  
 नाम लेका सम्पातित और अभिमन्त्रण काक नाविकाक याँध  
 , और इसका पहिला सन्ध्या विवाह-चतुष्टयकार्कमें खट्वाका  
 स्पर्श करे, आरसध्याधानमें कम्पाद्विभजनक अनन्तर घरक  
 समागमें लाई छोड़ उमका जलमें पूज कर 'महीमूषु' और 'सुत्रा-  
 माणम्' सन्धाओंमें नौका पर चढ़ । सोमयागकी दीक्षामें यजमान  
 कृष्णमृगधर्म पर बैठ कर 'सुत्रामाणम्' सन्धाका जप । प्रह्ला अग्नि-  
 यजनमें 'वाजस्य नु पमय' स वाजसन्धीय हार्मोंका अनुमन्त्रण  
 करे । सर्वकलकाम 'दिने पुत्राणाम्' से देवताओंका यजन वा  
 स्थान करे । प्रथममें द्रव्यमात्रिक अर्थ 'महादधि' सन्ध्यासे घृत  
 देकी आहुति देय वा जप करे, अक्ष आदि मयारीका इससे  
 तित और अभिमन्त्रित करक प्राक्षित करे, लाभ चाहने वाले  
 य घस्तुका इससे अभिमन्त्रित करक अभिमन्त्र देशका ल जाये  
 चाहने वाला इसीसे अभिमन्त्रित करक प्रहण करे तथा  
 गृहस्थतिके लिये हवि आदि अर्पण करे । 'पृथे पशाम्'  
 घृतुर्गधमे नष्टद्रव्यकी प्राप्तिके लिये नष्ट द्रव्यकी अभि-  
 मन्त्रित करने वालेके दाहिन हाथको सम्पातित आदि करके  
 ठराये, तथा इसकोस धूलिकणोंको अभिमन्त्रित करक चौराहमें  
 ल देय, तथा चातुर्मास्यके वैश्वदेवधर्ममें इसका प्रथम मन्त्रसे  
 पादेयताकी हविका अनुमन्त्रण करे ॥ दृष्ट्याजिन शब्दसे नौका  
 कर्षण लिया गया । कदम्ब प्रजापतिकी दो भार्याओंका धर्षण ।  
 एक समुद्रस्थान होनेका प्रमाण, पूषादेवताका साक्षि । ३७  
 श्रीमन्मन्त्र । इससे समुद्रदेवतापत्न्यकी, स्थितिक, अग्नि,  
 मण कर्म, प्रदयकमें वतुष लिये हवि आदि, उपाकर्ममें घृतका  
 समाजपकर्म, समाजपकर्ममें क्षीरौदन आदिका प्राशन,  
 योगमन्त्र समास्तनका प्रहण, गत्याप्रतिहरणकर्म अभिचारकर्म  
 ३८ ॥ सूर्य्यती-शब्दकी व्य व्या, समाशब्द और धर्मशब्दकी



## द्वितीय अनुवाक-

प्रथमसूक्त । पुष्टिकामके कर्तव्य, सोमविचयन, सूर्योदय तक सोते रहने वाले ब्रह्मचारीको उठाना, संभारस्पर्शनदित्रसमे सोये हुए यजमान आदिको उठाना, सर्वफलकामका धानाका यजन और वीरपुत्रके लिये गर्भिणीके उदरका अभिमन्त्रण इससे किये जाते हैं ॥ सूर्यस्तुति ।

६७

द्वितीयसूक्त । वृष्टिकर्म, उपनारकाद्भुतशान्ति होम, दर्शपूर्णमास में पत्नीसंयाजके सोमयागका अनुमन्त्रण, वंध्याका पुत्रलाभकार्य अभिलषितकामका प्रजापतिका यजन वा उपस्थान अनुमतिकार्य यजन वा पूजन और पशुग्रहण तथा पितृपेधकर्ममें श्मशानका परिपिञ्चन और पृथिनसवमे हविका सपानप्रदान आदि कर्म इससे किया जाता है ॥ ब्रम् शब्दकी व्याख्या, जल और सोमकी प्रशंसा, सूर्य और अनुमतिकी स्तुति ।

८०

## तृतीय अनुवाक-

प्रथमसूक्त । सर्वफलकामका इन्द्र आदि नौ देवताओंका यजन उपस्थान, विष्णु और वरुणका यजन विष्णुका वृषयजन वा उपस्थान, वैष्णव हविका अभिमर्शन, उपस्तंभनकाष्टका अनुमन्त्रण, सोमयागमें सोमक्रयणके लिये निष्क्रमण, ब्रह्माकृत वैष्णवपूर्णहोम का अनुमन्त्रण और अद्भुतशान्तिमें विष्णुका पूजन अभिवदन-प्रायश्चित्त, दक्षिणहविर्धानवर्त्महोम, उत्तरहविर्धानवर्त्महोम, सोमयागके अनन्तर चमसोका जलमें प्रक्षेप, त्वाष्ट्रो महाशान्तिमें त्रिवृत्तमणिवन्धन, यूपका अनुमन्त्रण, अग्निचयनमें उत्तूखल और मुसलका अनुमन्त्रण-कर्म इस सूक्तसे किये जाते हैं । इन्द्र अग्नि राजा और अर्कशब्दका अर्थ, धामनावतारका प्रमाण ।

९७

द्वितीयसूक्त । सर्वसगपत्कर्म, दर्शपूर्णमासमें वेदविमुञ्चन, प्रायणीयेष्टिमें स्वस्तियागका अनुमन्त्रण, सर्वव्याधिचिकित्सा, सर्वसगपत्कामका अग्नि तथा विष्णुका यजन और उपस्थान, गोदान-कर्म, ब्रह्मचारो के नेत्रोंका अभ्यञ्जन, ब्रह्माकृत यूपानुमन्त्रण, अभिचारकर्ममें अशनिहन्तृक्षसमिधाओंका रखना, उपनयनमें आयुष्काम बालकके मस्तकका सूँघना, पुष्टिकामका तालाव आदि

विषय

४३

मे मिश्रधान्यको डाल सम्पातित और अभिमन्त्रित करके खाना, अग्निकार्यमें माणवकका अग्निपर्युक्षण और अग्निनयनमें अभि-  
पिच्यमान यजमानसे पाचन-ये कर्म इस सूक्तसे होते हैं ॥ विष्णु  
का परम पद । ११०

तृतीय सूक्त । विद्वेषीको तथा विद्वेषिणीको खिन्चरीके मृत्रमे  
पुंसगानसे हीन करना, अभिचारकर्ममें अशनिहनवृक्षसमि-  
धाओंको रखना, अस्पर्शनेष्टकाका अनुमन्त्रण, वरधधूना परस्पर  
नेत्रोंका अम्यञ्जन, सौभाग्यसंयननकर्ममें सौषर्चलमूलका सम्पातित  
और अभिमन्त्रित करके याँचना, शंखपुष्पीकपुष्पका याँचना आदि  
कर्म इस सूक्तसे होते हैं ॥ अग्निशक्ति, पति और स्त्रीसम्बन्ध १२३

### चतुर्थ अनुवाक-

प्रथम सूक्त । पुष्टिकर्ममें इन्द्रका यजन, अन्तरंगणीयष्टिके  
सारस्यत पुरोडाशका अनुमन्त्रण, नवीन घर बनानेकी भूमिकी  
शुद्धिके लिये द्येनदेवताक चक्रहोम, अग्निष्टोममें पिण्डोंका अनु-  
मन्त्रण, मधंय्याधिकी चिकित्सामें जलपूर्ण घटको सम्पातित और  
अभिमन्त्रित करके रोगी पर अवसेक, सर्वसम्पत्कामका मोम  
और द्रुतका यजन वा उपस्थान, मिथ्याभिज्ञस्तकी लोकनिन्दा-  
निवृत्ति, सामनस्यकर्ममें हाथी आदि यानका अनुमन्त्रण तथा  
ओदन और मधका भक्षण, अष्टावाकयाज्यहोमका अनुमन्त्रण,  
ईर्ष्याविनाशके लिये जप आदि ॥ निन्दा करने वाला और निन्दित  
इनमें अधिक पापसे कौन लिप्त होता है ? १३६

द्वितीय सूक्त । ईर्ष्याविनाशकर्ममें तपे हुप करसेसे कायित जल  
को अभिमन्त्रित कर ईर्ष्यालुको पिलाना, सर्वय्याधिचिकित्सामें  
रोगी पर आप्लावन वा अभिवेक, सर्वसम्पत्कामका सिनीवाली  
राका कुह और देवपत्नीका यजन वा उपस्थान सिनीवाली  
देवताका पश्चिद्गण, दर्शपूर्णमासके देवपत्नीयागका अनुमन्त्रण-  
इनने काम इस सूक्तसे होते हैं । सिनीवाली अमावास्या, कुह और  
राका शब्दकी व्याख्या । १५२

तृतीय सूक्त । घृतजयकर्ममें अक्षोंका अभिमन्त्रण, सर्वफल-  
कामका वृहस्पतिका यजन वा उपस्थान, उक्थ्यर्कतुके याज्या-  
होमका अनुमन्त्रण, वृहस्पतिके निमित्त हविर्दान आदि, और

विषय

४४

वार्हस्पत्या शान्ति इस सूक्तसे की जाती है ॥ कितव शब्दकी व्याख्या,  
कृत आदि फालोका वर्णन ।

१६५

### पञ्चम अनुवाक-

प्रथम सूक्त । शांत्युदकाभिमन्त्रण, साम्नस्यकर्म, उपनयनमें  
आचार्यद्वारा माणवककी नाभिका स्पर्श, वार्हस्पत्या महाशान्ति,  
पुष्ट्यर्थ अमहायणीकर्ममें अग्निके पाससे उठना, अन्नप्राशनकर्ममें  
भूमिमें बैठे हुए बालकको सूर्यका दिखाना, सोमयागमें अवभृथ  
एनानक अनन्तर जलसे उत्क्रमण, अध्यापकोंके अर्थार्जनविघ्न-  
शमनकर्ममें घृतका होम ये कर्म इस सूक्तसे किये जाते हैं ॥

सप्तविंशद्

१७८

द्वितीय सूक्त । इससे अध्यापकोंके अर्थार्जनविघ्नशमनके लिये  
घृतकी आहुति, मार्गस्वस्त्ययनके कर्म सर्वस्वस्त्ययनके कर्म किये  
जाते हैं । वीरू मल्लर चाँदी आदिसे काट हुपकी चिकित्साके  
लिये दृष्ट पुरुषको मधुक अभिमन्त्रित करके पिलाया जाता है,  
और क्षेत्रमृत्तिका वा वल्मीकमृत्तिकाको सजीवपशुचर्ममें धर  
सम्पातन और अभिमन्त्रित करके बाँधा जाता है, और केवल  
मृत्तिकाको अभिमन्त्रित करके जलके साथ पिलाया जाता है,  
तथा इल्ली मिले जल वा घृतको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके  
पिलाया जाता है तथा उषाकर्ममें घृतकी आहुति दी जाती है ॥ १९२

तृतीय सूक्त । इससे याज्ञकोकी अभिलपित लिङ्गिके कर्म,  
मैत्रावरुणयाज्याहोमका अनुमन्त्रण, अभिचार कर्मकी समिधाओंका  
रखना, ये कर्म किये जाते हैं ॥ अशिका घोको तृप्त करना । २०४

### छठा अनुवाक-

प्रथमसूक्त-परदेष्टसे लीटे हुपके पुष्टिपद धर्म, साम्नस्य  
कर्म, क्रव्याद्विसर्जनके अनन्तर गृहप्रवेश, शवदहनके अनन्तर  
संस्कर्तृका गृहप्रवेश, प्रवासके समय पुत्र आदिका निरीक्षण, आप-  
हायणीमें मेधाकामके कर्म, उपनयनमें अशिका परिसमूहन, अग्नि-  
चयनमें आतिच्छन्दसोष्टकानुमन्त्रणके अनन्तर गार्हपत्यकी इष्टका  
का अनुमन्त्रण-ये कर्म इस सूक्तसे होते हैं और इसकी "अयं  
अग्निः" ऋचाका महाशान्तिगणमें पाठ है ॥

२१०

द्वितीय सूक्त । अग्नीं अग्निका आह्वान, काकामिदत्तदोषकी शान्ति, विवाहमें कुमारीका स्नान करानेके अनन्तर घखसे पूँछना, प्रतिग्रहदोषकी शान्ति, न्यूनातिरेकदोषकी शान्ति, क्षुरका संमार्जन करके नापितका देना, सघयशोमें इन्द्रियाका अनुमन्त्रण ग्रहचारीके दण्डका भंग और दूधरे दण्डके । प्रदण करना, अग्निष्टोमके तृतीयसघनमें अग्निदोषका अनुमन्त्रण, आहिताग्निके प्रेतसंस्कारमें घृताहुति-भारस्वतयागका और सारस्वतचरुयागका अनुमन्त्रण । इनने कर्म इस सूक्तके मन्त्रोंसे होते हैं । इसकी दो ऋचाओंका बृहद्गणमें भी पाठ है ॥ वेद न पढ़नेके अवसर । २२३

तृतीयसूक्त । इसकी दो ऋचाओंका बृहद्गणमें पाठ है । तथा अभिचारकर्ममें माध्यमपलाशसे फलीकरणाकी आहुति, दर्शपूर्णमासमें तण्डुलोंका पर्याप्तकरण, सोमयागमें जप, मूर्त्तपण्डका अनुमन्त्रण और अध्वर्यु आदिका अनुमन्त्रण-इस सूक्तसे किया जाता है । इसकी दो ऋचाओंका बृहद्गणमें पाठ है ।

चतुर्थसूक्त । अग्निष्टोमके प्रथममें ह्यमान घृतका अग्निष्टोम के माध्यन्दिनसघनमें दधिघर्महोमका और प्रथममें होतृकर्तृक घपट्कार और अनुघपट्कारका ग्रहोंके द्वारा अनुमन्त्रण, प्रवासके समय पशुओंका अभिमन्त्रण, और मधुपर्कत्सृष्ट गौरा अतिथिके द्वारा अनुमन्त्रण इनने कर्म इस सूक्तसे किये जाते हैं ॥ दधीचिका उपार्याग । २४९

### सप्तम अनुवाक-

प्रथमसूक्त । इस सूक्तसे गण्डमालाकी चिकित्सा, ईर्ष्याविनाश-कर्म, दर्शपूर्णमासका व्रतोपायन, गोःपुष्टि, राजयक्ष्माकी चिकित्सा की जाती है ॥ जायान्य रोग । २६८

द्वितीयसूक्त । इससे राजयक्ष्माकी चिकित्सा, सोमयागके माध्यन्दिनसघनमें द्रोणकलशस्थ सोमका अनुमन्त्रण, अभिचारकर्म विद्युत्तपश्वशन्मिथाओंका रखना, सर्वव्याधिमैषज्यकर्ममें सगन्तित अभिमन्त्रित जलघटमें रोगीका आप्लावन और अघसेचन पत्नीक द्वारा मुन्यमान योक्षकका अनुमन्त्रण, दर्शपूर्णमासमें ईधन, अमावास्याका यजन या उपस्थान और दर्शयागमें भार्गवहोमका

विषय

पृष्ठ

अनुमन्त्रण और औतर्दश्यागमें कुहरेवनाका परिग्रहण किया जाता है ॥

२८४

तृतीय सूक्त । सर्वांगिलपित कर्म, गौर्णमालीका यजन वा उपस्थान, प्रजापतिका यजन वा उपस्थान, पूर्णमाली देवताका परिग्रहण, कन्ननिष्ठोमके अनन्तर घृताहुति, प्राजापत्य आघारका ब्रह्मकर्तृक अनुमन्त्रण, मारुद्गणी महाशान्ति, दिवाहोम, ग्रहग्रहण वृषके लिये हविःप्रदान-ये कर्म इस सूक्तसे होते हैं । सकल धीन-कर्मोंमें अनुमन्त्रणका मन्त्र न दीखने पर इस सूक्तकी 'प्रजापते न त्वत्' ऋचासे अनुमन्त्रण किया जाता है ॥

२९९

### अष्टम अनुवाक-

प्रथम सूक्त । सवफलकामका अग्निका यजन वा उपस्थान अग्निवचनमें ब्रह्मा द्वारा अभ्यर्चन ऋचाका जप, आग्नेयी और वास्तोष्पत्याशानिमें, ब्रह्मचारीका स्वाग्निनाशका प्रायश्चित्त, आधान में मथित अग्निका घृतसे आक्त करना, दर्शपूर्णमासके आउपनिर्वापकालमें ब्रह्माके द्वारा अग्निका अनुमन्त्रण, जलोदरकी चिकित्सा, धूमकेतुदर्शनमें होम, पशुनम्रमें जप, अद्भुत महाशान्तिमें वरुण का यजन, शवसंस्कारकर्ममें जलके समापमें ब्रह्माका जप और अग्न्येष्टि आदिमें स्वस्वयनके लिये जप-इनके कार्य इस सूक्तसे होते हैं ॥ जल अग्निका पौत्र है । देवताके नाममें शपथ करना पापजनक है ।

३१६

द्वितीय सूक्त । अग्निका उपस्थान, इन्द्रमहाव्य उरनसमें हवि की आहुति, अग्निवचनमें ब्रह्मकर्तृक चित्यनुमन्त्रण, इन्द्र का यजन वा उपस्थान, वषाकमका आउपहोम, अग्न्येष्टिमें जप, स्वस्वयन-कामका रुद्रोका यजन वा उपस्थान, दर्शपूर्णमासमें संमार्गका अग्निमें निक्षेप, अग्निष्टोममें शालादहन होने पर अग्निके लिये तमम्भकार, सर्पघिषचिकित्सा, शान्त्युदकामिमन्त्रण, वेदजन आदिमें समिधाओंका रखना, आचार्यमरणमें संस्कारके अनन्तर ब्रह्मचारीका स्नान, दर्शपूर्णमासमें इडाभागप्राशनके अनन्तर प्रस्तरमें मार्जन, अग्निष्टोममें अश्वयुजस्नानके अनन्तर आहवनीय अग्निका उपस्थान, अग्निकार्यमें ब्रह्मचारीका हस्तप्रक्षालन, चातुर्मास्यके वरुणप्रघासकर्ममें मार्जन, दर्शपूर्णमासमें दक्षिणापतिग्रहके अन-

न्तर अग्नीध्रका समिदाधान, स्मार्तदर्शपूर्णमासमें दूसरी तीसरी समिदाओंका आधान और मुखशुद्धि, आरोन्चाटन, प्रक्ष-  
चारीका ऊष्मापक्षण-इतने कर्म इस सूक्तके मन्त्रोंसे होते हैं ।  
और चातुर्मास्यसामेयपर्यन्तके त्रयस्यकर्ममें इसकी 'यो अग्नी'  
ऋचाका विनियोग होना है ॥

३३३

### नवम अनुवाक-

प्रथम सूक्त । सामकामका इन्द्रयजन वा इन्द्रोपरधान आदि,  
इन्द्रमहापत्य उभयमें घृणाहुति, अग्निष्टोममें आमन्दो-पालकी-पर  
घरेसामका अनुमन्त्रण, आग्निष्टोममें आग्निमाकन स्तुतिके अनन्तर  
अवनीयमान ध्रुवपात्रस्थ सामका अनुमन्त्रण, अमिचारकर्ममें  
घृणाहुति, मण्डूकमुखापनुदन अमिचार कर्ममें रत्नशालितण्डुलक  
क्षीरमातको सम्पातित और अमिमन्त्रित करके शत्रुवा देना, दर्श-  
पूर्णमासमें संस्थितहोम, ओर उपनयनकर्ममें प्रक्षारका द्वारा जल-  
पात्रका अवेशन-इतने कर्म इस सूक्तमें होते हैं

३५५

द्वितीय सूक्त । दर्शपूर्णमासके संस्थितहोम भीतदर्शपूर्णमास  
संस्थितहोम, दर्शपूर्णमासमें ग्रहियमाण मस्तरका अनुमन्त्रण,  
स्मार्तदर्शपूर्णमासमें यद्विप्रस्तरण, भीत दर्शपूर्णमासमें वेदीका  
परिस्तृणन करते हुए अध्वर्युका प्रक्षारकृतक अनुमन्त्रण, दुःस्वप्न-  
दर्शनार्थ जप, स्वप्नमें अन्नपक्षणके दोषकी निवृत्तिके लिये जप,  
स्वस्वपयनमें मन्त्राक्त देवताओंके लिये उपस्थान वा नमस्कार-  
इतने कर्म इस सूक्तकी ऋचाओंसे किये जाते हैं ॥

३६७

### दशम अनुवाक-

प्रथमसूक्त । सर्वफलकामके द्वारा प्रजापतिका यजन वा उप-  
स्थान, उपनयनमें सूर्यदर्शनक अनन्तर पालकको पूर्वकी ओर मुख  
करके बैठाना, दूसरेका सदेश न कहने पर अग्निका उपस्थान,  
दर्शपूर्णमासमें कर्मविस्मरण होनेपर प्रायश्चित्ताहुति, अग्निष्टोममें  
दीक्षानियमलोपके प्रायश्चित्तके निमित्त अग्निका उपस्थान,  
कामश्लेष्मकी चिकित्सामें अमिमन्त्रित अन्न जलका उपयोग वा  
सूर्योपस्थान, अमिचारकर्ममें अशनिहतवृक्षसमिदाओं रखना,  
द्युतजयकर्ममें वासित अमिमन्त्रित अक्षोंसे द्यूतक्रीड़ा आदि कर्मों  
का इस सूक्तमें वर्णन है ॥

३८१

विषय

५४

द्वितीय सूक्त । इसके चतुर्ऋचका यजनयकर्ममें विनियोग होता है । शत्रुसेनाविजयार्थ इसकी 'इन्द्र अग्नश्च' आदि ऋचाओं से नवीन रथका सम्पातित और अभिमन्त्रित करके सारथिसहित राजाको रथ पर सवार करे । सर्वफलकाम 'इन्द्र अग्नश्च' आदि तीन ऋचाओंसे अग्नि और इन्द्रका यजन वा उपस्थान करे । आग्रयणेष्टिमें 'इन्द्र अग्नश्च' से आग्नेन्द्रपुरोडाशयागका अनुमन्त्रण करे । वृषोत्सर्गमें 'इन्द्रस्य कुक्षिः' से वृषभको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके छांड़ देय । अग्निष्टोमके प्रातःसवनमें सोमसहित पूतभृत्पात्रका प्रक्षालक अनुमन्त्रण, सर्वव्याधिचिकित्सामें आप्लावन अभिषेचन भी इस सूक्तकी ऋचाओंसे होना है 'शुभनी' ऋचका अंहोलिंगगणमें कहे हुए कर्मोंमें भी विनियोग होता है । तथा विवाहमें इस ऋचासे घृताहुनि देकर वरवधू के मस्तक पर सम्पातोंको लावे, वरवधूके हाथमें जलपूर्णपात्र रखे ॥

३६७

तृतीय अनुवाक । लो पुरुषोंमें द्वेप फैलाना, दौर्मर्त्यकरण, रक्षोमहकी चिकित्सा, नैर्ऋतकर्म, दुःस्वप्नदर्शनशेषपरिहार, लवर्जवरचिकित्सा, स्वस्ययनकामका इन्द्रयाग वा इन्द्रोपस्थान, शशसंस्कर्तृका प्रात्यहिक स्वस्वयम्न, अग्निष्टोममें हारियाजन-होमानुमन्त्रण, परसेनाप्रासनकर्ममें अभिमन्त्रित कवचप्रदान, और महाव्रतमें राजाको कवच पहिराना-ये कर्म इससे किये जाते हैं ४०९

## ✽ अष्टम-काण्ड ✽

प्रथम अनुवाक-

प्रथम द्वितीय सूक्त । इनसे उपनयनकर्ममें माणवककी नामिकी लूकर आचार्यका जप करना, आयुष्कामके शरीरका अनुमन्त्रण, आयुष्कामके शरीरका अभिमन्त्रण-ये काम इन दोनों सूक्तोंसे होते हैं । तथा महाशान्तिमें भी इसका जप होता है ॥ मर्त्यलोक का अमृतत्व । इत्यादि

४२७

तृतीयसूक्त । इससे आयुष्काम शरीरका अभिमन्त्रण करे, अपिहस्तसे आयुष्काममें शरीरका अभिमन्त्रण करे, नामकरण में कुमारके हाथमें अधिच्छिन्न जलधारा डाले, देहदाहमणिको

विषय

४५

सम्पातित और अभिमन्त्रित करके बाँधे, और घोटकर पिटादेय, प्रताग्रिको प्रज्वलित करे, महाशान्तिमें जप करे, वैश्वदेवीशान्तिमें देवदारुमणिको बाँधे ॥

४५०

चतुर्थसूक्त । कलहरूपा राक्षसीसे गृहीतकुलमें शान्तिके लिये इलकी दो श्रचाओंसे घृतकी आहुति देय नैर्ऋतकर्ममें इंगिडाण्य आदिको शर्करामिथिन करके आहुति देय । गोदानादि संस्कार-कर्मोंमें दूधचसे बालकको घीदि जौ और जण्डके अभिमन्त्रित करके बालकके मस्तक पर रखे, बालकका निष्क्रमण करे, अद्भुत महाशान्तिमें सूर्य और चन्द्रमाका यजन करे, मिथ्याभिशापकी निवृत्तिकेलियेसक्तुमंघ या गोदनको अभिमन्त्रित करके मिथ्याभि-शापको देखे और पलाश आदिकी मणिको सम्पातित और अभि-मन्त्रित करके निन्दितकं बाँधे । नामकरणमें घखसे बालकको आच्छादित करे, गोदानकर्ममें चील तथा उपनयनमें भी धुरका अभ्युक्षण और मार्जन करे, अन्नप्राशन कर्ममें धान और जौको पासकर बालकको घटा देय । गोदान आदिमें धान और जौको अभिमन्त्रण करके बालकके मस्तक पर रखे । ये कर्म इस सूक्तके भिन्न २ मन्त्रोंसे किये जाते हैं ॥

४६२

पञ्चमसूक्त । इसके “शतं तेऽयुगम्” भागका ‘आरम्भ’ के (८।२) अनुसार विनियोग होता है । गोदान आदि कर्मोंमें धान और जौका अभिमन्त्रित करके ‘शरदेत्वा’ भागसे अनुमन्त्रण करके बालकके मस्तक पर रखे ॥

४७५

### द्वितीय-अनुवाक-

प्रथमसूक्त । इससे शान्तनगणके काम हांसे हैं और घृतकस्थल नामक महाभिषेकमें इस अनुशाकका जप किया जाता है ।

४८२

द्वितीयसूक्त । गौ दूधके स्थापनमें रक्त दुहाने लगे तो इस अद्भुतकी शान्तिके लिये इसकी पन्त्रह सोलह सत्रह और अठारहवीं श्रचाओंसे आहुति देय ।

४२६

तृतीयसूक्त । इसका अनुवाकप्रयुक्त जप होता है । तथा अग्नि-रहितदेशमें अग्निदर्शनरूप अद्भुतकी शान्ति, सशब्द अग्नि होने पर अग्निका उपस्थान और अग्न्याधानमें पावकगुणकाभियागका अनु-मन्त्रण भी इस सूक्तसे किया जाता है ।

५०६



विषय

पृष्ठ

चतुर्थ पञ्चम और पष्ठ सूक्त । इनका अनुवाक प्रयुक्त जप होता है

५१२

### तृतीय अनुवाक-

प्रथम द्वितीय सूक्त । इससे अभिलषित सिद्धिके काम, शाश्वतुद्कामिमंज्रणहोम आदि, रौद्री महाशक्तिके अन्तर्गत तिलक-मणिवंधन, पिष्टरात्रिविधानका प्रतिसरबंधन किया जाता है । ५३८

तृतीय चतुर्थ और पञ्चम सूक्त । इसका शाश्वतुद्कामिमंज्रण आदि और लीमन्तोन्नयनमें काम पड़ता है । ५६९

### चतुर्थ अनुवाक-

प्रथम सूक्त । इससे यक्षमा आदि सकल व्याधियोंमें मणि बाँधी जाती है, और सौत्रामणिकी सुराका अनुमन्त्रण किया जाता है । ५८३

द्वितीय सूक्त । इससे शत्रुक्षयके कार्य किये जाते हैं । ५९६

### पञ्चम अनुवाक-

प्रथम द्वितीय तृतीय चतुर्थ पञ्चम पष्ठ और सप्तम सूक्त । इसमें विराट् आदिके विषयका सत्त्वादि ओर विचार है । ६१०

समाप्त.



# ❀ सरल आयुर्वेद शिक्षा ❀

मूल्य दो रुपया

## वैद्यकका अनूठा ग्रंथ

इस पुस्तकको पासमें रखने पर वैद्यकके बड़े २ ग्रन्थोंके पासमें रखनेकी आवश्यकता नहीं रहती। हमने बड़े २ वैद्योंको बहुतसा धन देकर इस पुस्तकको लिखाया है इसमें सर्वसाधारणके समझने योग्य भाषामें रोगोंके लक्षण उपद्रव चिकित्सा और औषधियोंके बनानेकी रीति दी गई है। इसके ध्यानसे पढ़ने पर वैद्योंके पास जानेकी आवश्यकता नहीं रहती और पुरुष स्वयं भी एक वैद्य बन सकना है। बहुतसा द्रव्य खर्च करने पर भी सर्वसाधारणके सुभीतेके लिये हमने इसका मूल्य बहुत थोड़ा अर्थात् दो रुपया मात्र रक्खा है। डाकभ्येका ॥=) अलग लगेगा।

## ❀ श्राद्धतत्त्व ❀

श्राद्ध करनेसे क्या लाभ होता है और श्राद्ध क्यों करना चाहिये आदि विषयोंको इसमें युक्ति और शास्त्रके प्रमाणोंसे सिद्ध किया गया है। मूल्य ३) आना

## ❀ गजल गङ्गालहरी ❀

इसमें गङ्गालहरीके प्रायेक श्लोकका एक एक गजलमें अनुवाद है। मूल्य २)॥

## ❀ परलोकविज्ञान ❀

हममेंसे बहुतोंको तो परलोक होनेका निश्चय ही नहीं जो अपने लगःपूज्य पूर्वपुरुषों पर विश्वास रखकर परलोकके मानते हैं उनमें भी अधिकतर लोग परलोकके स्वरूपको नहीं जानते ऐसे अनेकों मित्रोंके पत्र आते हैं कि-परलोक और पुनर्जन्मका प्रबल प्रमाण दो, उनको अलग २ पूरा उत्तर लिख भेजना समयसाध्य और कठिन मान कर यह सर्वसाधारणके सुभीतेके लिये यह परलोकविज्ञान नामक पुस्तक छापकर प्रकाशित की है मूल्य ६ आना

पता-सनातनधर्म प्रेस मुरादाबाद

❀ श्रीहरिः ❀

# अथर्ववेदसंहिता

सप्तमं-काण्डम्



सायणभाष्य और अनुवादसहित

यस्य निश्वासितं वेदा यो वेदेभ्योखिलं जगत् ।

निर्ममे तम् अहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

॥❀॥ श्रीगणेशाय नमः ॥❀॥ वेद जिनके निःश्वासरूप हैं और जिन्होंने वेदोंके अनुसार सब जगत्की रचना की है उन विद्यातीर्थ महेश्वरको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

सप्तमे काण्डे दशानुवाकाः । तत्र प्रथमेनुवाके त्रीणि सूक्तानि । तत्र “धीती वा ये” इति प्रथमे सूक्ते आद्याभ्यां द्वाभ्याम् ऋग्भ्याम् अर्थोत्थापनविघ्नशमनकर्मणि आज्यसमित्पुरोडाशादिशक्नुव्यन्तानां त्रयोदशानां द्रव्याणाम् अन्यतमं जुहुयात् जपेद् वा । तद् उक्तं संहिताविधौ । “धीती वेत्यर्थम् उत्थास्यन्नुपदधीत जपति” इति [ कौ० ५. ५ ] ॥

तथा सर्वफलकामः आभ्याम् ऋग्भ्याम् इन्द्राग्नी यजते उपतिष्ठते वा । “तदिह आस [ ५. २ ] धीती वा [ ७. १ ] इतीन्द्राग्नी” [ कौ० ७. १० ] इति कौशिकसूत्रात् ॥

अत्र “अथर्वाणं पितरम्” इत्यर्चनेन सर्वफलकामः अथर्वाणं यजत उपतिष्ठते वा । “यस्येदमा रजः [ ६. ३३ ] अथर्वाणम्

[ ७. २ ] अदितिघ्नोः” [ ७. ६ ] इति [ कौ० ७. १० ] सूत्रात् ॥

“अया विष्टा” इति ऋचेन नवं रथम्, अभिमन्त्र्य जयकामं राजानम् आरोहयेत् । सूत्रितं हि । “अया विष्टा [ ७. ३ ] अम इन्द्रः [ ७. ११५ ] दिशश्चतस्रः [ =. =. २२ ] इति नवं रथं राजानं ससारथिम् आस्थापयति” इति [ कौ० २. ६ ] ॥

“एकया च” [ ७. ४ ] इत्यनया अरवशान्तौ सर्वोपधियूर्णम् अरवस्य मूर्ध्नि प्रकिरेत् । “वातरंहाः [ ६. ६२ ] इति स्नातेश्वे” इति प्रक्रम्य कौशिकेन सूत्रितम् । “चूर्णैरवकिरति त्रिरेकया च” इति [ कौ० ५. ५ ] ॥

तथा चातुर्मास्ये शुनासीरीयपर्वणि वायव्ययागानुमन्त्रणम् अनया कुर्यात् । उक्तं वैताने । “वायव्यं शुनासीरीयं सौर्यम् एकया चेति” [ वै० २. ५ ] ॥

“यज्ञेन” इत्यनया सोमयागे आतिथ्येष्टौ हविर्ब्रह्माभिमृशेत् । “आनिष्पायां हविरभिमृशति यज्ञेन यज्ञम्” इति हि वैतानं सूत्रम् [ वै० ३. ३ ] ॥

सप्तम काण्डमें दश अनुवाक हैं, पहिले अनुवाकमें तीन सूक्त हैं । प्रथम सूक्तकी पहिली दो ऋचाओंसे अर्थोत्थापन विघ्न-शमनकर्ममें घृत समिधा पुरोडाशसे लेकर पूरी तकके तेरह द्रव्यों मेंसे किसी एक द्रव्यसे आहुति देय वा जप करे । इसी बातको संहिताविधिमें अर्थात् कौशिकमूत्रमें कहा है, कि—“धीती वेत्यर्थ उच्यास्पन्नुदधीत जपति” ( कौशिकमूत्र ५ । ५ ) ।

तथा सब फलोंको प्राप्त करना चाहने वाला भी इन दो ऋचाओंसे इन्द्र और अग्निदेवका यजन वा उपस्थान करे । इसी बातको कौशिकमूत्र ७ । १० में कहा है, कि—“तदिदं आस ( ५ । २ ) धीती वा ( ७ । १ ) इतीन्द्राग्नौ” और सर्वफलकाम “अथर्वाणाम् पितरम्” इन आठ ऋचाओंसे अथर्वाका यजन वा

उपस्थान करे इसी बातको कौशिकसूत्र ७ । १० में कहा है, कि-  
“यस्येदमा रजः ( ६ । ३३ ) अथर्वाणम् ( ७ । २ ) अदितिर्घौः ( ७ । ६ )”

“अया विष्टा” इन दो ऋचाओंसे नवीन रथको अभिमन्त्रित कर विजयाभिलाषी राजाको बैठावे । इसी बातको कौशिकसूत्र २ । ६ में कहा है, कि-“अया विष्टा ( ७ । ३ ) अग्न इन्द्रः ( ७ । ११५ ) दिशश्चतस्रः ( ८ । ८ । २२ ) इति नवं रथं राजानं ससारथिं आस्थापयति” ॥

“एकया च” इस ( ७ । ४ ) से अरवशान्तिमें सर्वोपधिचूर्ण को घोड़ेके मस्तक पर घुरघुरा देय ( बखेर देय ) कौशिकसूत्र में ‘वातरंहा’ ( ६ । ६२ ) से घोड़ेको स्नान करानेके लिये कह कर आगे कहा है, कि-“चूर्णैरवकिरति त्रिरेकया च” ॥

तथा चातुर्मास्यके शुनासीरीयपर्वमें इस ऋचासे वायव्ययाग का अनुमन्त्रण करे । वैतानसूत्र २ । ५ में कहा है, कि-“वायव्यं शुनासीरीयं सौर्यं एकया चेति” ॥

सोमयागकी आतिथ्येष्टिमें “यज्ञेन” इस ऋचासे ब्रह्मा हविका अभिमर्शन करे । इस विषयमें वैतानसूत्रका प्रमाण भी है, कि-  
“आतिथ्यायां हविरभिमृशति यज्ञेन यज्ञम्” ( वैतानसूत्र ३ । ३ ॥

तत्र प्रथमा ॥

धी॒ती वा॒ ये अ॒न॒यन् वा॒चो अ॒ग्रं म॒न॒सा वा॒ ये व॒द॒-  
न्नु॒ता॒नि ।

तृ॒तीयेन॒ ब्रह्म॑णा वा॒वृ॒धा॒नास्तु॒रीये॑णाम॒न्व॒त॒ नाम॑ धे॒नोः

धी॒ती । वा॒ । ये । अ॒न॒यन् । वा॒चः । अ॒ग्रम् । म॒न॒सा । वा॒ । ये ।

अ॒व॒दन् । अ॒नु॒ता॒नि ।

तृतीयेन । ब्रह्मणा । वृष्टधानाः । तुरीयेण । अमन्वत । नाम । धेनोः

यद्यपि अस्मिन् ऋचे देवताविशेषो न प्रतीयते तथापि “अनि-  
रुक्तो वै प्रजापतिः” इति [ ऐ० ब्रा० ६, २० ] श्रुतेर्देवता अत्र  
प्रजापतिः । “अथर्वाणं पितरम्” इत्यष्टर्चेपि प्रजापतिर्देवता ।  
अथर्वशब्दः प्रजापतिवाचक इति वक्ष्यते । अतः कृत्स्नम् इदं सूक्तं  
प्रजापत्यम् । अत एव अयोत्थापनकर्मणि समिदाज्यादिहोमे  
देवताविशेषादर्शनात् प्रजापतिर्देवतेति निश्चीयते ॥ अथवा “धीती  
वेति ऋचेन इन्द्राग्नी यजेत सर्वकामः” इति विनियोगविधानात्  
तयोश्च “उभा दाताराविषां रयीणाम्” [ ऋ० ६, ६०, १३ ]  
इत्यादिषु फलदातृत्वप्रसिद्धेः देवताविशेषानादेशस्थलेषु च  
प्रजापतिवद् इन्द्रस्यापि देवतात्वेन स्मरणात् ऐन्द्रेषु च मन्त्रेषु  
“मुञ्चामि त्वा हविषा” [ ऋ० १०, १६१, १ ] इत्यादिषु अग्ने-  
र्निपातभाक्त्वाद् इन्द्राग्नी देवतेति अध्यवसीयते । अपि च “यत्  
सर्वेषाम् अर्थम् इन्द्रः प्रति” [ तै० सं० ५, ४, ८, ३ ] इति “अग्निः  
सर्वा देवताः” [ तै० सं० २, २, ६, १ ] इति इन्द्रस्याग्नेश्च सर्व-  
देवतात्मकत्वाभिधानात् तयोर्यागेन सर्वकामप्राप्तिर्पुक्ता । अतस्तस्य  
तयोर्वा इतरदेवतावन्न स्तुतिहविःप्रदानमात्रेण अर्थसिद्धिः किं तु  
तन्माहात्म्यज्ञानेनैव इत्यभिप्रेत्य आद्ययर्चा तज्ज्ञानमकारः उत्तरया  
तत्सार्वात्म्यम् अभिधीयते ॥

ईदृशी खलु विवक्षूणां शब्दाभिव्यक्तिः । प्रथमम् अभिलषि-  
तम् अर्थं विवक्षोः पुरुषस्य तद्वाचकशब्दप्रयोगार्थं तदिच्छावशेन  
जातात् प्रयत्नात् मूलाधारे प्राणवायोः परिस्पन्दो जायते । तेन  
परिस्पन्देन मूलाधारे सकलशब्दमूलकारणभूता निष्पन्दा सूक्ष्मा  
परा वाक् आविर्भवति । सैव मूलाधाराद् ऊर्ध्वं नाभिदेशं प्राप्ता  
सामान्यज्ञानरूपा विवक्षितपदार्थदर्शनात् पश्यन्तीति उच्यते ।

सैव हृदयदेशं प्राप्ता अर्थविशेषनिश्चयबुद्धियुक्ता मध्यदेशावस्थानाद् मध्यमेति गीयते । सैव कण्ठताल्लादिस्थानेषु वर्णरूपेण व्यज्यमाना विशेषेण परावबोधप्रचण्डा वैखरीति भण्यते । अत्र पराव्यवस्थात्मकास्त्रयः शब्दा देहान्तर्गतत्वाद् अस्फुटत्वेन विवक्षितम् अर्थं परेभ्यो न प्रतिपादयन्ति । वैखर्यात्मकः शब्द एव अर्थप्रत्यायनक्षमः । “गुहा त्रीणि निहता नेह्यन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति” इति हि निगमः [ ऋ० १. १६४. ४५ ] । गुहायां त्रीणि पदानि निहितानि नार्थं वेदयन्ते इति हि यास्केन व्याख्यातम् [ नि० प० १. ६ ] । आगमोपि ।

स्वरूपं व्योतिरेवान्तः परा वाग् अनपायिनी ।  
 यस्यां हृष्टस्वरूपायाम् अधिकारो निवर्तते ॥  
 अविभागेन वर्णानां सर्वतः संवृतक्रमा ।  
 प्राणाश्रयात् तु पश्यन्ती मयूराण्डरसोपमा ॥  
 मध्यमा बुद्ध्युपादाना कृतवर्णपरिग्रहा ।  
 अन्तःसंज्ञस्वरूपा तु न श्रोत्रम् उपसर्पति ॥  
 ताल्लोष्ठव्यापृतिव्यङ्ग्या परबोधप्रकाशिनी ।  
 मनुष्यमात्रसुलभा वाक्वा वाग् वैखरी मता ॥

इति । तथा च अस्या ऋचः अयम् अर्थः । ये प्रजापतेः इन्द्राग्नयोर्वा वाचकशब्दं विवक्षन्तः स्तोतारः धीमती । ॐ ध्यायतेः क्तिनि छान्दसं संप्रसारणम् । “हलः” इति दीर्घः । “सुपां सुलुक्” इति तृतीयायाः पूर्वसवर्णदीर्घः ॐ । धीत्या ध्यानात्मकेन विवक्षितजन्यप्रयत्नजातप्राणवायुपरिस्पन्दाविभूतेन परावस्थापन्नेन मध्यमेन शब्दव्यवस्था इति यावत् । “तृतीयेन व्यवस्था” इति वक्ष्यमाणत्वाद् अत्रापि संख्याविशिष्टव्यवस्थापदं संवध्यते । वाशब्दः चार्थः । वाचो अग्रम् । “सर्वे वेदा यत् पदम् आमनन्ति” इति [ क० व० २. १५ ] श्रुतेः सकलवक्त्रप्रतिपाद्यत्वेन मुख्यम्

निखिलवाग्व्यवहारस्य वा आदिभूतं प्रजापतिरूपम् अर्थम् इन्द्राग्नि-  
रूपं वा अनयन् ध्यानविषयत्वं प्रापितवन्तः । ॐ “यद्वृत्ता-  
नित्यम्” इति निघातनिषेधः । अडागमस्य उदात्तत्वेन आद्यु-  
दात्तं षट् भवति ॐ । ये च विवक्षन्तः मनसा सामान्यधर्मग्राहकेण  
पश्यन्त्यात्मकेन द्वितीयेन शब्दब्रह्मणेत्यर्थः । ऋताति सत्यभूतानि  
अखण्डपरावस्थापेक्षया ईषद्व उद्गतानि वा वाक्यानि देवतावाचक-  
शब्दविचारविषयाणि अवदन् । वदनम् अत्र सामान्यज्ञानं  
विवक्षितम् । पूर्ववाक्ये यच्छब्दश्रुतेस्तच्छब्दः अध्याहार्यः । ते  
विवक्षन्तः तृतीयेन । ध्यानमनोवच्छिन्नपरापश्यन्त्यपेक्षया तृती-  
यत्वम् । त्रित्वसंख्यापूरकेण ब्रह्मणा । अन्तर्विभक्तवर्णात्मकेन  
अर्थविशेषाध्यवसायबुद्धियुक्तेन मध्यमारुयेनेत्यर्थः । वाट्टधानाः ।  
ॐ अन्तर्भावित्यर्थः । वृषेर्लिङः कानच् । तुजादित्वाद् दीर्घः ।  
“चितः” इति अन्तोदात्तत्वम् ॐ । वर्धयन्तः अशब्दविषयम् अर्थं  
शब्दवाच्यत्वेन पोषयन्तः तुरीयेण चतुर्थेन । ॐ “चतुरश्रपता-  
वाद्यक्षरलोपश्च” इति छप्रत्ययः ॐ । चतुःसंख्यापूरकेण वैखर्या-  
त्मकेन वर्णपदवाक्यरूपेण ब्रह्मणा धेनोः । वाङ्नामैतत् । वाच्य-  
वाचकयोरभेदाद् वाच्ये वाचकशब्दः । मन्त्रप्रतिपाद्यस्य । यद्वा  
धेनुवद् धेनुः । अभिमतफलमदानेन प्रीणनकारिणः प्रजापतेः नाम  
नामधेयम् प्रजासर्जनपालनादिधर्मकं प्रजापतिरिति । इन्द्राग्नि-  
देवतापक्षे इदं दर्शनभूतेन्धनादिगुणविशिष्टम् [ नि० १०, ८ ]  
इन्द्र इति अग्रणीत्वाद्गनादिगुणकम् अग्निरिति च नामधेयम् अम-  
न्वत । उच्चारितवन्त इत्यर्थः । ॐ धातूनाम् अनेकार्थत्वात् । मनु  
अवबोधने । तांनादिकः ॐ । एवं परादिवाचा प्रतिपादितस्वरूपः  
प्रजापतिः अरमाकम् अर्थीष्टं साधयित्विति इन्द्राग्नी वा साधय-  
ताम् इति प्रार्थना ॥

अथवा वाचो अग्रम् इति पदेन वेदात्मिकताया वाचो निदानं



पर्यवसानभूमिर्वा परमात्मतत्त्वं विवक्ष्यते । तथा च ऐतरेयारण्यके  
 “तदिह आस भुवनेषु ज्येष्ठम्” [ ऋ० १०. १२० ] इत्यस्य  
 सूक्तस्य तच्छब्दप्रशंसावसरे समाम्नायते । “बृहस्पते प्रथमं वाचो  
 अग्रम् [ ऋ० १०. ७१. १ ] इत्येतद्वच्येव प्रथमं वाचो अग्रम्”  
 इति [ ऐ० आ० १. ३. ३ ] । “तदिह आस” इत्यत्र तच्छब्देन  
 सर्वश्रुतिप्रसिद्धं सर्वजगत्कारणं ब्रह्म अभिहितं तद् अत्र एत-  
 च्छब्देन विवक्ष्यत इति तत्रार्थः । तादृशं सकलवाङ्निदानभूतं  
 तत्त्वं ये जिज्ञासवो महर्षयो देवा वा धीती । कर्मनामैतत् । धीत्या ।  
 वाशब्दो विकल्पवाची । बाह्यविषयव्यापृतया । अक्षवृत्त्या अन-  
 यन् । ज्ञातुं प्रयत्नं कृतवन्त इत्यर्थः । अनेन जाग्रदवस्थाभिमानि-  
 विश्वसंज्ञात्मना तत्त्वं ग्रहीतुम् उद्युज्जत इत्युक्तं भवति । ये वा  
 ततोपि सूक्ष्मदर्शिनो मनसा केवलेन अन्तःकरणेन ऋतानि सत्य-  
 ब्रह्मविषयाणि वाक्यानि अवदन् । अनेन स्वभावस्थायां केवल-  
 मनोव्यापारात् तदभिमानितैजसात्मकब्रह्मणा तत्त्वज्ञानाय प्रयतन्त  
 इत्युक्तं भवति । ये वा ततोऽप्यान्तरं वस्तु जिज्ञासमाना बाह्यधानाः ।  
 ❀ वर्धते: “लक्षणहेत्वोः” इति हेतौ शानचि व्यत्ययेन शपः  
 श्लुः ❀ । परिच्छेदापनयनरूपवर्धनाद्धेतोः तृतीयेन त्रित्वसंख्या-  
 पूरकेण ब्रह्मणा चैतन्यात्मना । अत्र सुषुप्तौ कारणशरीराभिमानौ  
 प्रज्ञानघनः प्राज्ञो विवक्षितः । तेन जागरस्वभावस्थावत् सुषुप्तौ  
 बाह्यान्तरेन्द्रियजनितविशेषाभावात् अपरिच्छिन्नब्रह्मभावेन वर्तन्त  
 इति शेषः । एवम् अवस्थात्रयाभिमानिविश्वादितादात्म्येन तत्त्वं  
 बुभुत्सवः सर्वेपि तत्रतत्र निरस्तसमस्तभेदं तत्त्वम् अलभमानाः  
 सन्तः धेनोः वाचो अग्रम् इति निर्दिष्टस्य फलप्रदस्य वा परमा-  
 त्मनः नामनामकं यत्स्वरूपं प्रति सर्वे प्रणताः तत् निरस्तसमस्तो-  
 पाधिकं सत्यज्ञानादिलक्षणं तत्त्वं तुरीयेण तुर्यविस्थापन्नेन कारण-  
 शरीराभिमानरहितेन सर्वसाक्षिणा चैतन्येनात्मना श्रमन्वतं

जानन्ति स्म । “गूढं सूर्यं तममापव्रतेन तुरीवेण ब्रह्मणाविन्दद्  
अत्रिः” हि निगमः [ ऋ० ५. ४०. ६ ] । “स ब्रह्मा [ स शिवः ]  
स हरिः सेन्द्रः सोत्तरः परमः स्वराट्” इति श्रुती [ तै० आ०  
१०. ११. २ ] परमात्मनो नानादेवतानानव्यवहार्यत्वदर्शनाद्  
अत्र प्रजापतिशब्दव्यपदेश्यम् इन्द्राग्निशब्दव्यपदेश्यं वा तदेव तत्त्वं  
सम्यग् अधिगतं सत् अस्माकम् अभिमतं साधयतिरिति प्रार्थ्यते ॥

यद्यपि इस श्रुतिमें किसी देवताकी प्रतीति नहीं होती है, तथापि  
‘अनिरुक्तो वै प्रजापतिः ॥—जहाँ किसी देवताको न कहा हो  
तहाँ प्रजापति देवता समझना चाहिये’ इस ऐतरेयब्राह्मण ६।२०  
की श्रुतिके अनुसार यहाँ प्रजापतिदेवता समझना चाहिये ।  
‘अयर्वाणम् पितरम्’ इस अष्टर्चमें भी प्रजापति देवता है, क्योंकि  
अयर्वा शब्द प्रजापतिका वाचक है—यह आगे कहा जावेगा, अतः  
एव यह पूर्ण सूक्त प्रजापति देवता वाला है, अतः एव अर्थोक्त्या-  
पनकर्मके समिदाव्यादि होममें किसी देवताका वर्णन न होनेसे  
प्रजापति देवताका यहाँ निश्चय किया जाता है । अथवा—“धीती  
वेति श्रुचेन इन्द्राग्नी यजेत सर्वकामः ।—धीती वा इस दो ऋचा  
वाले सूक्तसे सर्वकाम इन्द्र और अग्निका पूजन करे” इस विनि-  
योगके अनुसार इन्द्र और अग्नि देवताका निश्चय होता है और  
“उभा दाताराविषां रयीणाम्—ये दोनों धन और अन्नके देने  
वाले हैं” इस ऋग्वेदके ६।६०।१३ वें आदि मन्त्रोंमें इन  
दोनों देवताओंका फलदातृत्व प्रसिद्ध है और जहाँ किसी देवता  
का वर्णन न हो तहाँ प्रजापतिकी समान इन्द्र भी देवतारूपसे  
स्मृत होते हैं और ‘मुञ्चामि त्वा हविषा’ ( ऋ० १०।१६।१ )  
इत्यादि ऐन्द्र मन्त्रोंमें अधिके निपातभार होनेके कारण इन्द्र  
और अग्निदेवताकी प्रतीति होती है ॥ और भी एक बात है कि-  
तैत्तिरीयसंहिता ५।४।८।३ में कहा है, कि—‘यत् सर्वेषा-

मर्थ इन्द्रं प्रति—सबका आधा भाग इन्द्रकी ओर जाता है” तथा वैत्तिरीयसंहिता २ । २ । ६ । १ में कहा है, कि—‘अग्निः सर्वा देवताः ॥—अग्नि सर्वदेवस्वरूप है’ इस प्रकार इन्द्र और अग्निके सर्वदेवतात्मक होनेसे उनके यागसे सर्वकामप्राप्ति उचित ही है । अतएव प्रजापति देवता वा इन्द्र और अग्नि देवताओंकी दूसरे देवताकी समान स्तुतिहविः प्रदानमात्रसे ही अर्थसिद्धि नहीं होती, किंतु उनके माहात्म्यके ज्ञानसे ही अर्थसिद्धि होजाती है—इस बातको लक्ष्यमें रख कर पहिली ऋचासे इनके ज्ञानका प्रकार और दूसरी ऋचासे सार्वार्थ्य कहा जाता है ।

कहनेकी इच्छा करने वालोंका शब्द इस प्रकार प्रकट होता है, कि—पहिले अभिलपित अर्थको कहनेकी इच्छा वाले पुरुषके तद्वाचकशब्दके लिये उसकी इच्छाके अनुसार उत्पन्न हुए मयल से मूलाधारमें प्राणवायुका परिस्पन्द होता है । उस परिस्पन्दसे मूलाधारमें सकल शब्दोंकी मूलकारणभूत स्पन्दरहित सूक्ष्म परा वाक् आविर्भूत होती है । वही मूलाधारसे ऊपर नाभिस्थानमें प्राप्तहुई सामान्यज्ञानरूपा विवक्षितपदार्थके दर्शनके कारण पश्यंती कहलाती है । वही हृदयदेशको प्राप्त हुई किसी अर्थकी निश्चय बुद्धिसे युक्त—मध्यदेशमें अवस्थान करनेके कारण मध्यमा कहलाती है । वही तालु आदि स्थानोंमें वर्णरूपसे प्रकट होती हुई विशेषरूपसे दूसरे के ज्ञानके लिये प्रचण्ड होनेके कारण वैत्तरी कहलाती है । यहाँ परा आदि तीन अवस्थाओंमें विद्यमान शब्द देहके मध्यमें होनेसे अस्फुट होनेके कारण विवक्षित अर्थको दूसरों को नहीं जताते हैं । वैखर्यात्मक शब्द ही अर्थको जतानेमें समर्थ है । ऋग्वेदसंहिता १ । १६४ । ५ में भी कहा है, कि—‘गुहा ग्रीणि निहिता नैगयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥—अर्थात् पराव्यवस्थात्मक तीन शब्द गुहामें स्थित रहते हैं अतएव कुछ चेष्टा नहीं

करते हैं और चौथे स्थानमें स्थित शब्दको मनुष्य वाणी कहते हैं निरुक्तपरिशिष्ट १।६ में यास्कमुनिने व्याख्या की है, कि—  
 “गुहायां त्रीणि पदानि निहितानि नार्थं वेदयन्ते ।” इस विषयमें आगम भी है, कि—“स्वरूपं ज्योतिरेवान्तः परा वाग् अनपायिनी । यस्यां दृष्टस्वरूपायां अधिकारो निवर्तते ॥ अविभागेन वर्णानां सर्वतः संवृतक्रमा । प्राणाश्रयात् तु पश्यन्ती मयूराण्डरसोपमा ॥ मध्यमा बुद्ध्युपादानात् कृतवर्णपरिग्रहा । अन्तःसञ्जल्परूपा तु न श्रोत्रमुपसर्पति ॥ ताच्चोष्ठव्यापृतिव्यङ्ग्या पर बोधप्रकाशिनी । मनुष्यमात्रमुलभा वाद्या वाग् वैखरीमता ।-अन्तः ज्योतिःस्वरूप ही अनपायिनी परा वाक् है, उसके स्वरूपका - दर्शन होने पर अधिकार निवृत्त होजाता है । मयूरके अण्डेके रसके समान वर्णोंमें अविभागरूपसे संवृतक्रम वाली प्राणका आश्रय करनेसे पश्यन्ती कहलाती है । बुद्धिरूप उपादान वाली वर्णोंको ग्रहण करनेवाली वाक्म-यमा कहलानी है, यह भीतर ही भीतर कहनेके रूपमें होती है, किसीके कानके पास नहीं जाती है । और तालु ओष्ठ आदिके स्पर्शसे प्रकट होने वाली दूसरेको बोधरूपमें प्रकाशित होने वाली मनुष्यमात्रको मुलभ वाहरी वाक् वैखरी कहलाती है ॥”

अब इस ऋचाका यह अर्थ है, कि-प्रजापति वा इन्द्र- और अग्निके वाचकशब्दको कहना चाहनेवाले स्तोता धीतिसे अर्थात् ध्यानात्मक विवक्षाजन्यप्रयत्नसे उत्पन्न प्राणवायुके परिस्पन्दसे आविर्भूत परावस्याको प्राप्त हुए प्रथम शब्दब्रह्मसे, जिस ‘सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति-सर्व वेद जिस पदको कहते हैं’ ( कठवल्ली २।१५ ) श्रुतिके द्वारा सकल वाक्य प्रतिपाद्यत्वरूपसे मुख्य वा सम्पूर्ण व्यवहारोंके आदिभूत प्रजापतिरूप अर्थको वा इन्द्राग्निरूप अर्थको ध्यानविषयको प्राप्त करते हैं फिर जो विबलु ( कहनेकी

इच्छा वाले स्तोता ) मनसे अर्थात् सामान्यधर्मग्राहक पश्यन्तीरूप-  
 द्वितीय शब्दब्रह्मसे अखण्डपरावस्थाकी अपेक्षा ईषद् उद्भूत सत्यो-  
 को वा देवतावाचक शब्दविचारविषयक वाक्योंको सामान्यज्ञान-  
 रूपमें जानते हुए । वे स्तोता ध्यान और मनसे अवच्छिन्न परा-  
 और पश्यन्तीकी अपेक्षा तृतीयब्रह्मसे अर्थात् अन्तर्बिभक्तवर्णा-  
 त्मक अर्थविशेषका निश्चय करनेकी बुद्धिसे युक्त मध्यमाख्यब्रह्म  
 से अशब्दविषयक अर्थको शब्दवाच्यस्वरूपसे पुष्ट करते हुए, वे  
 चौथे वैखर्यात्मक वर्णपदवाक्यरूप ब्रह्मसे वाणीको वा-अभिमत  
 फलदाता होनेसे उत्पन्न करने वाले प्रजापतिके ( प्रजाकी रचना  
 पालन आदि धर्म वाले ) नामको वा-इदं दर्शनभूतेन्धनादिगुण-  
 विशिष्ट इन्द्रके नामको और अग्रणीत्व अंगनादिगुणसंपन्न अग्नि  
 के नामको उच्चारण कर रहे हैं । अतः यह प्रार्थना है, कि-इस  
 प्रकार परा आदि वाणीसे जिनके स्वरूपका प्रतिपादन किया  
 गया है वे प्रजापति वा इन्द्र और अग्निदेवता हमारे अभीष्टको  
 सिद्ध करें ।

अथवा 'वाचो अग्रम्' पदसे वेदात्मिका वाणीका निदान वा  
 पर्यवसानभूमि परमात्मतत्त्व कहा जासकता है । इसी प्रकार ऐत-  
 रेयारण्यकमें 'तदिह आस भुवनेषु ज्येष्ठम्' ( ऋग्वेद १० । १२० )  
 इस सूक्तके तत् शब्दकी प्रशंसाके अवसर पर कहा है । 'बृहस्पते  
 प्रथमं वाचो अग्रम्' ( ऋ० १० । ७१ । १ ) "एतद्ध्रद्येव प्रथमं  
 वाचो अग्रम्" ( ऐतरेयारण्यक १ । ३ । ३ ) । अतः 'तदिह  
 आस' यहाँ तत्-शब्दसे सर्वश्रुति प्रसिद्ध सब जगत्का कारण  
 ब्रह्म कहा है वही यहाँ ऐतरेयमें एतत् शब्दसे विवक्षित है ॥  
 अतएव ऐसे सब वाणियोंके निदानभूत तत्त्वको जाननेकी इच्छा  
 वाले महर्षि तथा देवता धीतिसे अर्थात् वाह्यविषयव्यावृत्त अक्ष-  
 रवृत्तिसे उसको जाननेका प्रयत्न करते हैं । ( इससे यह कहा, कि-

जाग्रत् अवस्थाके अभिमानी विश्व नाम वालेसे तत्त्वको ग्रहण करनेके लिये पुरुष उदयुक्त हो सकते हैं ) । वा-जो इससे भी अधिक सूक्ष्मदर्शी केवल अन्तःकरणसे सत्यब्रह्मविषयक वाक्यों का मनन करते हैं । ( इससे यह कहा, कि-स्वभावस्थामें केवल मनके व्यापारसे तदभिमानी तैजसात्मक ब्रह्मसे तत्त्वको जाननेके लिये पुरुष प्रयत्न करसकते हैं ) । और इससे भी भीतरकी वस्तुको जाननेकी इच्छावश परिच्छेदके अपनयनरूप वर्धनके कारण तीसरे चैतन्यात्मा ब्रह्मसे रहते हैं । ( यहाँ सुषुप्तिमें कारण शरीराभिमानी प्रज्ञानघन प्राज्ञ विवक्षित है । अत एव जागर और स्वभावस्थाकी समान सुषुप्तिमें बाह्य और भीतरी इन्द्रियोंसे उत्पन्न होने वाले विक्षेपके अभावके कारण वे अपरिच्छिन्न ब्रह्मभावसे रहते हैं ) ॥ इस प्रकार तीनों अवस्थाओंके अभिमानी विशादि तादात्म्यसे तत्त्वको जाननेकी इच्छा वाले सब ही तहाँ २ समस्त भेदोंसे शून्य तत्त्वको न पाते हुए बाणीके मुख्यरूपसे निर्दिष्ट फलप्रदके वा परमात्माके नाम वाले स्वरूपके प्रति प्रणत हो उस समस्त उपाधियोंसे निरस्त सत्य ज्ञान आदि लक्षण वाले तत्त्वको तुर्यावस्थापन्न कारणशरीराभिमानरहित सर्वसाक्षी चैतन्यरूपमें जानते हैं । ऋग्वेदसंहिता ५ । ४० । ६ में भी कहा है, कि-‘गूढं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणान्वविन्दद् अत्रिः ॥ अत्रि ऋपिने गुप्त सूर्यको तमसापव्रत तुरीय ब्रह्म से पाया था’ । तैत्तिरीय आरण्यक १० । ११ । २ में कहा है, कि-स ब्रह्मा स शिवः स हरिः सेन्द्रः सोत्तरः परमः स्वराट् ।-वह ब्रह्म ही ब्रह्मा है, शिव है, हरि है, इन्द्र है, अत्तर है और परम है वह अपने आप दीप्त रहता है” इस प्रकार श्रुतिमें परमात्माका अनेक देवताओंके नामसे व्यवहार करनेके कारण यहाँ प्रजापतिशब्दव्यपदेश्य वा इन्द्रामिशब्दव्यपदेश्य वही तत्त्व अधिगत होकर हमारे अभिमतको सिद्ध करे, यह प्रार्थना की है ॥१॥

द्वितीया ॥

स वेदं पुत्रः पितरं स मातरं स सृनुर्भुवत् स भुवत्  
पुनर्मघः ।

स द्यामौर्णोदन्तरिक्तं स्वम् स इदं विश्वमभवत् स  
अभवत् ॥ २ ॥

सः । वेदः । पुत्रः । पितरम् । सः । मातरम् । सः । सृनुः ।

भुवत् । सः । भुवत् । पुनःऽमघः ।

सः । द्याम् । और्णोत् । अन्तरिक्तम् । स्वम् । सः । इदम् । विश्वम् ।

अभवत् । सः । आ । अभवत् ॥ २ ॥

अनया उक्तविधस्य देवस्य ब्रह्माभेदेन सार्वार्त्म्यम् अभिधी-  
यते । स विश्वात्मकः प्रजापतिः पुत्रः स्वीयं रूपम् सम्यक् जानतः  
पुरुषान् अनर्थहेतोः संसारात् त्रायत इति पुत्र इति व्यपदिश्यते ।  
❀ पुत्रः पुरु त्रायते [ नि० २. ११ ] इत्यादि निरुक्तम् ❀ ।  
पितरम् ध्रुलोकं वेद वेत्ति । स एव मातरम् पृथिवीं वेत्ति । प्रजा-  
पतिः द्यावाभूमी स्वधार्यत्वेन जानातीत्यर्थः । “द्यौः पिता ।  
पृथिवी माता” इति हि मन्त्रवर्णः [ तै० ब्रा० ३. ७. ५. ५. ] ।  
“ताभ्याम् इदं विश्वम् एजत् सम् एति यद् अन्तरा पितरं मातरं  
च” [ ऋ० १०. ८८. १५ ] इति श्रुतेः द्यावापृथिव्योर्मध्ये विश्व-  
स्यावस्थानात् तयोः प्राधान्वेनाभिधानम् । अथवा “हिरण्यगर्भः  
समवर्तताग्रे” [ ऋ० १०. १२१. १ ] इति मन्त्रवर्णात् प्रजापतिः  
परमात्मना प्रथमं सृष्टः । तस्य पिता सकलजगदधिष्ठानं परं ब्रह्म ।  
माता चित्प्रतिबिम्बिता मूलप्रकृतिः तौ प्रजापतिः स्वाभेदेन जा-  
नाति । पुत्रशब्दः अत्र मुख्यार्थवाची । कारणपरिज्ञानेन कार्य-

गपि तदभेदात् परिज्ञ न भवतीति कारणभूतमातापितृपरिज्ञानमात्रम्  
 अत्रोक्तम् । न केवलं परिज्ञाता अपि तु स प्रजापतिः सूनुः सर्वस्य  
 जगतः स्वस्वरूपमु प्रेरयिता भुवत् भवति । “एष उ एव साधु  
 कर्म कारयति तम्” [ का० उ० ३. ८ ] इत्यादिश्रुतेः । ॐ पू प्रेरणे  
 इत्यस्माद् औणादिको नुप्रत्ययः । भुवत् इति । भवतेर्लङि व्यत्ययेन  
 शः । “भूसुबोस्तिङि” इति गुणप्रतिषेधः ॐ । स एव मघः ।  
 ॐ लिङ्गव्यत्ययः ॐ । धनवाचिना मघशब्देन कर्मफलं विवक्ष्यते ।  
 कर्मफलमपि भुवन् भवति । पुनःशब्दः चार्थः । त्व च अनुक्त-  
 समुच्चयार्थः । भोक्तापि स एवेत्यर्थः । “भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं  
 च मत्वा सर्वं भोक्तं त्रिविधं ब्रह्म एतत्” [ श्वे० उ० १. १२ ]  
 इति हि श्रुतिः । यद्वा पुनर्मघ इति समस्तं पदम् । स्तोतृभ्यो बहु-  
 धनप्रदानेपि पुनःपुनः अभिवृद्धधन इत्यर्थः । किं च स प्रजापतिः  
 द्याम् । ॐ द्यु अभिगमने इत्यस्माद् उत्पन्नो द्योशब्दः ॐ । सृकृति-  
 भिरभिगन्तव्यां दिवम् और्णात् स्वात्मना व्याप्नोति । ॐ ऊर्णु  
 छादने लङि । शबूलुकि वृद्धयभावे रूपम् ॐ । अन्तरिक्षम् । अन्तरा-  
 क्षान्तम् इत्यन्तरिक्षम् आकाशं तदपि व्याप्नोति । स च स्वः स्वर्गं  
 पुण्यभोगस्थानं च व्याप्नोति । इदं पृथिव्यादेरुपलक्षणम् । व्या-  
 प्यापेक्षया व्यापकस्य अधिकवृत्तिप्रदर्शनात् सर्वेभ्योपि लोकेभ्यः  
 प्रजापतिः अधिकवृत्तिरित्यर्थः । “ज्यायान् पृथिव्या ज्यायान्  
 अन्तरिक्षाज्ज्यायान् दिवः” [ द्या० ३. १४. ३ ] इत्यादिश्रुतं ।  
 किं बहुना । स प्रजापतिः इदं परिदृश्यमानं नामरूपात्मकं विश्वं  
 जगद् अभवत् । विश्वात्मना स एवावतिष्ठते । स आभवत् आ-  
 सर्वतो व्याप्य वर्तते । आवृत्त्यावृत्त्य ताद्रूपेण कारणात्मना वा  
 वर्तते । सोऽस्माकम् अभिमनसर्वफलानि साधयस्विनि माध्यते ॥

( २ स ऋचामे उक्तविध देवता ब्रह्मा भेदसे सार्वभौम्य केहा  
 जाता है कि- ) बह्व विश्वात्मक प्रजापति पुत्र है अर्थात् अपने रूप



को भली भाँति जानने वाले पुरुषोंका अनर्थके हेतु संसारसे  
 त्राण करता है अत एव पुत्र है । वह पिताको अर्थात् द्युलोकको  
 जानता है और वह माताको अर्थात् पृथिवीको जानता है ।  
 तात्पर्य यह है, कि-प्रजापति व्यात्रापृथिवीको स्वधार्यत्वरूपसे  
 जानता है । तैत्तिरीयब्राह्मण ३ । ७ । ५ । ५ के मन्त्रमें कहा  
 है, कि-“द्यौः पिता पृथिवी माता-द्यौः पिता है, पृथिवी माता है”  
 और ऋग्वेदसंहिता १० । ८८ । १५ में भी कहा है, कि-“ताभ्यां  
 इदं विश्वं एजत् सम् एति यद् अन्तरा पितरं मातरं च ।-माता  
 पिताके बीचमें होनेसे यह विश्व भली प्रकार कम्पित होता रहता  
 है” इस प्रकार व्यात्रापृथिवीके मध्यमें विश्वका अवस्थान होनेसे  
 उनका प्रधानरूपसे वर्णन किया गया है । अथवा-“हिरण्यगर्भः  
 समवर्तताग्रे ।-पहिले हिरण्यगर्भ हुआ” ऋग्वेदके इस १० । १२१ । १  
 मन्त्रके अनुसार परमात्माने प्रजापतिको पहिले रचा है । उसका  
 पिता सकल जगत्का अधिष्ठान परब्रह्म है और माता चित्प्रति-  
 विम्बिता मूल-प्रकृति है । उनको प्रजापति स्वामेदसे जानते हैं ।  
 यहाँ पुत्रशब्द मुख्यार्थवाची है । कारणके परिज्ञानसे कार्य भी  
 उससे अभिन्न होनेके कारण परिज्ञात होजाता है, इस प्रकार  
 कारणभूत माता पिताका परिज्ञान मात्र यहाँ कहा, केवल परि-  
 ज्ञाता नहीं कहा; और वह प्रजापति सब जगत्के सृज्जु होते हैं  
 अर्थात् सब जगत्को अपने २ कर्ममें प्रेरित करते हैं । इसी  
 बातको कौषीतकि उपनिषत् ३ । ८ में कहा है, कि-“एष  
 उ एव साधु कर्म कारयति तम् ।-यही उससे साधु कर्म कराता  
 है” ० । और यही प्रजापति कर्म होते हैं और यही भोक्ता होते  
 हैं और यह प्रजापति पुण्यात्माओंको मिलने योग्य व्यक्तियोंको अपने  
 आपसे व्याप्त कर लेते हैं और आकाशमें भी व्याप्त रहते हैं ।  
 तथा वह पुण्यभोगके स्थान स्वर्गको भी व्याप्त करके स्थित हैं ।

यद् पृथिवी आदिका उपलक्षण है । व्याप्यकी अपेक्षा व्यापक अधिक वृत्तिमें रहता है अतएव प्रजापति सब लोकोंसे भी अधिक-वृत्ति हैं-अधिक देशमें रहते हैं । इसी बातको आन्दोग्योपनिषत् की ३ । १४ । ३ श्रुतिमें भी कहा है, कि-“ज्यायान् पृथिव्या ज्यायान् अंतरिक्षाज्ज्यायान् दिवः ।-बड़ पृथिवीसे भी श्रेष्ठ है, अन्तरिक्षसे भी बड़ा है और द्यौसे भी बड़ा है” । अधिक क्या कहें, वह प्रजापति इस परिदृश्यमान नामरूपात्मक सकल जगत् होगए हैं । विश्वात्मारूपसे वही अवस्थित है, वह सब ओरसे व्याप्त होकर स्थित है । कारणात्मारूपसे स्थित हैं । ऐसे प्रजापति देवता हमारे सकल अभिमत फलोंको सिद्ध करें । यही हम प्रार्थना करते हैं ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अथर्वाणं पितरं देवर्वाणं मातुर्गर्भं पितुरसुं युवानम् ।

य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः ।

अथर्वाणम् । पितरम् । देवर्वाणम् । मातुः । गर्भम् । पितुः ।

असुम् । युवानम् ।

यः । इमम् । यज्ञम् । मनसा । चिकेत । प्रः । नः । वोचः । तम् ।

इह । इह । ब्रवः ॥ १ ॥

अथर्वशब्दः प्रजापतिराची । तथा च गोपथब्राह्मणे । “ब्रह्म वा उदम् अग्र आसीत् । स्वयंभ्वेरुमेव तद् ऐक्षत । मन्माघं द्वितीयं देवं निर्ममे ” [ गो० ब्रा० १. १ ] प्रक्रम्य “तद् अथर्वाभवत्” इत्यथर्वसृष्टिम् अभिधाय तस्याथर्वणः परब्रह्मणश्च अभेदं प्रतिपाद्य समाम्नायते । “तम् अथर्वाणं ब्रह्माववीत् प्रजापते-प्रजा सृष्ट्वा

पालयस्वेति । तद् यद् अत्रवीत् प्रजापतेः प्रजाः सृष्ट्वा पालयस्वेति  
तस्मात् प्रजापतिरभवत् । तत् प्रजापतेः प्रजापतित्वम् । अथर्वा  
वै प्रजापतिः" इति [ गो० ब्रा० १. ४. ] । "प्रजापतिरथर्वा देव-  
स्तपस्तप्त्वेतं चातुष्पाशं ब्रह्मौदनं निरमिषीत" इति [ गो० ब्रा०  
२. १६ ] । अतः अथर्वशब्देन प्रजापतिरुक्तः । तस्य प्रजानां स्रष्टृत्वं  
पालकत्वं च अनेन प्रदर्श्यते । पितरम् पालकं प्रजानाम् । न केवलं  
पालकः अपि तु देवबन्धुम् देवानां बन्धुं कारणं स्रष्टारम् । "समुद्रो  
बन्धुः" [ १५. ११. १० ] [ वृ० आ० १. १. २ ] इत्यत्र बन्धु-  
शब्दः कारणम् आहेति व्याख्यातम् । मनुष्यादिसृष्टेर्देवसृष्टिः पूर्व-  
भाविनीति सा प्रथमम् उक्ता । स्त्रीपुंससृष्टिरपि तस्मादेव भवती-  
त्याह । मातुर्गर्भम् यस्य गर्भस्य या माता तस्यास्तं गर्भं युवानम्  
मिश्रयन्तं कुर्वन्तम् । पितुर्गर्भजनकस्य असुम् प्राणं प्राणसहितम् ।  
रेत इत्यर्थः । तच्च युवानम् सिञ्चन्तम् । "न ह वा ऋते प्राणाद्  
रेतः सिञ्च्यते" इति [ ऐ० आ० ३. २. २ ] "आ सिञ्चन्तु प्रजा-  
पतिर्धाता गर्भं दधातु ते" इति [ ऋ० १०. १८४. १ ] च श्रुति-  
भ्यः । ❀ युवानम् इति । यौतेरादादिकात् लटः शानचि उषङा-  
देशो रूपम् ❀ । स्त्रीपुंससृष्टिः इतरसृष्टेरुपलक्षणम् । यद्वा "स इदं  
सर्वम् अभवत्" इति स्वस्यैव जगदात्मना भवनाद् गर्भरूपत्वम्  
असुरूपत्वं च संपद्यते । "यच्चासुः पुरुषो जायते यच्च पुत्रः" इति  
हि श्रुतिः । तथापि युवानम् नित्यतरुणम् । न कदाचिदपि जन-  
नादिभावत्रिकारवन्तम् इत्यर्थः । एतादृशम् अथर्वाणम् । ❀ धर्वा-  
तिश्वरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः इति हि यास्कः [ नि० ११. १८ ] ।  
अत्र चरतिना च्युतिर्विवक्ष्यते ❀ । च्युतिरहितं प्रजापतिं स्वमनी-  
पितसिद्धये प्रार्थय इति शेषः । एवं सम्यग्विदिताथर्वस्वरूपो मन्त्र-  
द्रष्टा महर्षिः स्वेन ज्ञातं तत्स्वरूपं परेषां प्रत्याययितुं स्वयम् अजा-  
तन्निव, तदस्थम् अभिज्ञं पृच्छति उत्तरार्धेन य इति । यः अथर्वा ।

“एतद् वा अथर्वणो रूपं यद् उष्णीषी ब्रह्मा” [गो० ब्रा० २. १६]  
 इत्याम्नानाद् अथर्वात्मकं श्रुतिगभूतो ब्रह्मा इमम् अनुष्णीयमानं  
 सर्वफलसाधनं यज्ञं स्वर्गादिसाधनं प्रसिद्धम् अग्निष्टोमादि यज्ञं  
 वा मनसा चिकेत । ॐ कितीं संज्ञाने ॐ । जानाति अनु-  
 संधत्ते । एतद् उक्तं भवति । यज्ञस्य हि द्वौ पक्षौ । तत्रैकः पक्षः  
 त्रिभिर्होत्रादिभिर्वाचा संस्क्रियते । अपरस्तु ब्रह्मणा मनसेति । अत्र  
 “तस्य वाक् च मनश्च वर्तनी” इति प्रक्रम्य ब्राह्मणे सामान्या-  
 यते । “स वा एष त्रिभिर्वैदेर्यज्ञस्यान्यतरः पक्षः संस्क्रियते मनसैव  
 ब्रह्मा यज्ञस्यान्यतरं पक्षं संस्करोति” इति [गो० ब्रा० ३. २] ।  
 तं मनसा यज्ञान् अनुसंधानम् अथर्वाणं नः अस्माकं प्र बोचः  
 प्रकर्षेण ब्रूहि । हे विद्वन्निनि शेषः । किं यदा कदाचित् । नेत्याह ।  
 इहेह अस्मिन्नस्मिन् अभिलपितसाधने कर्मणि ब्रवः ब्रूहि । जानासि  
 चेद् ब्रूहि । मद्यतिरिक्तो न कोपि जानातीत्यर्थः । ॐ बोच इति ।  
 ब्रवीतेत्यन्तसे लुङि च्लेरङि अडभावे रूपम् । इहेहेति । वीप्सायां  
 द्विर्वचनम् । “अनुदात्तं च” इति आग्नेदितस्य अनुदात्तत्वम् ।  
 ब्रव इति । पञ्चमलकारे “लेटोडाटी” इति अडागमः ॐ ॥ यद्वा  
 प्रजापतिस्वरूपं सामान्यतो ज्ञात्वा तद्विशेषजिज्ञासार्थं पार्श्वस्थं  
 पृच्छति । यो विद्वान् इमम् अथर्वाणं पितरं देवबन्धुमित्याद्युक्त-  
 लक्षणं सर्वैः स्वात्मत्वेन अनुभूयमानं वा यज्ञम् यष्टव्यं यज्ञात्मकं  
 वा प्रजापतिं मनसा मनसैव चिकेत जानाति । न केवलं श्रुति-  
 वाक्यश्रवणेन किं तु मनननिदिध्यासनाभ्यां यस्तत्त्वं साक्षात्करोति  
 तम् अभिज्ञं नः अस्माकं प्रब्रूहि । “आचार्यवान् पुरुषो वेद” इति  
 श्रुतेः [ छा० ६. १४. २ ] आचार्योपदेशेनैव अधिगतं देवता-  
 स्वरूपं पुरुषार्थार्थं भवतीति विवक्षया अभिज्ञप्रश्नः । अथ तेना-  
 भिज्ञेन प्रदर्शितं तत्त्वोपदेष्टारं गुरुं पृच्छति तम् इहेह ब्रव इति । यष्ट-  
 व्यदेवतास्वरूपपरिज्ञाने क्रियमाणं कर्म सगुणं भवेद् इति मनीषया

प्रशः ॥ अथवा मन्त्रद्रष्टा महर्षिः स्वात्मानमेव संबोध्य ब्रूते । य उक्तविधः प्रजापतिः तं नः अस्मदर्थं प्र बोचः प्रकर्षेण ब्रूहि यष्टव्य-  
देवतास्वरूपं सम्यग् ज्ञात्वा ब्रूहि । इहेह ब्रूहीति पुनर्वचनम् आद-  
रार्थम् । तथाहि देवतास्तुतिकरणविषये मन्त्रद्रष्टुः स्वात्मानम्  
अभिमुखीकृत्य वचनं शालान्तरे समाम्नायते । “अग्निं स्तुहि दैव-  
चातं देवश्रवः” इति [ अ० ३. २३. ३ ] ॥

अथर्वशब्द प्रजापतिका वाचक है । इस विषयमें गोपथब्राह्मण  
प्रमाण है । यथा—‘ब्रह्म वा इदं अग्र आसीत् । स्वयंभवेकमेव तद्  
ऐक्षत । मन्मात्रं द्वितीयं देवं निर्ममे । पहिले ब्रह्म ही था, उस  
अकेले स्वयंभुने देखा, उसने केवल मुझ दूसरे देवको रचा” यह  
आरम्भ कर ‘तदथर्वा अभवत् ।—फिर वह अथर्वा हुआ’ इस  
प्रकार अथर्वसृष्टिको कह कर उस अथर्वाके और परब्रह्मके अभेद  
का प्रतिपादन कर कहा है, कि—‘तस्म अथर्वाणं ब्रह्मा अब्रवीत्  
प्रजापते प्रजाः सृष्ट्वा पालयस्वेति तस्मात् प्रजापतिरभवत् । तत्  
प्रजापतेः प्रजापतित्वम् । अथर्वा वै प्रजापतिः ।—उस अथर्वासे  
ब्रह्माजीने कहा, कि—हे प्रजापते ! तुम प्रजाकी रचना कर उस  
का पालन करो, इस कारण वह प्रजापति हुए’ । ( गोपथब्राह्मण  
१ । ४ ) तथा ‘प्रजापतिरथर्वा देवस्तपस्तप्त्वेतं चातुष्प्राश्यं ब्रह्मौ-  
दनं निरमिमीत ।—प्रजापति अथर्वादेवने तप करके इस चातु-  
ष्प्राश्य ओदनको बनाया” । [ गोपथब्राह्मण २ । १६ ] अतः  
अथर्वा शब्दसे प्रजापति कहे जाते हैं । उनका प्रजाओंका सृष्टव्य  
और पालकत्व इस मन्त्रमें कहा है, कि—वह देवताओंके वन्धु  
अर्थात् कारण हैं । ‘समुद्रो वन्धुः’ ( ५ । ११ । १० ) में वन्धु  
शब्दसे कारण अर्थ लिया है अतएव यहाँ पर भी वन्धु शब्दका  
कारण अर्थ किया है । और मनुष्य आदिकी सृष्टिसे देवताओंकी  
सृष्टि पहिले होती है अतएव पहिले उसका वर्णन किया है ।

और स्त्री पुरुषकी सृष्टि भी उन प्रजापतिसे ही होती है अत एव मन्त्रमें कहा है, कि वह प्रजापति जिस गर्भकी जो माता होती है उस गर्भको उस मातासे मिलाते हैं और गर्भजनक पिताके वीर्यसहित प्राणको साँचते हैं । ऐतरेय आरण्यक ३ । २ । २ में कहा है, कि—‘न ह वा ऋते प्राणाद् रेतः सिच्यते ।—प्राणके बिना वीर्य सिक्त नहीं होता है । ऋग्वेदसंहिता १०। १८४ । १ में भी कहा है, कि—‘आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते ।—प्रजापति तुझमें वीर्यको सिक्त करें और धाता देवता अपनी महिमा के द्वारा तेरे गर्भको स्थिर रखें’ । स्त्रीपुरुषकी सृष्टिका वर्णन अन्य सृष्टियोंके उपलक्षणके लिये हैं। ऐसे च्युतिरहित प्रजापति अथर्वकी मैं अपनी अभिलाषाको सिद्ध करनेके लिये प्रार्थना करता हूँ । अथवा ‘स इदं सर्वं अभवत् ।—वह यह सब कुछ होगया’ इस प्रकार अपनेको ही जगत्स्वरूपमें होनेके कारण गर्भरूपत्व और प्राणरूपत्व संमतिपन्न होसकता है । श्रुतिमें भी कहा है, कि—‘यद्यासुः पुरुषो जायते यच्च पुत्रः’ इस पक्षमें इस अर्थश्रुतिका यह अर्थ होगा, कि—“देवताओंके कारण प्रजाओंके पालक, माताके गर्भरूप और पिताके प्राणमय वीर्यरूप तथापि सर्वदा जनन आदि भावविकारोंसे रहित होनेके कारण नित्यतरुण प्रजापति (अथर्व) की मैं अपनी अभिलाषाकी सिद्धिके लिये प्रार्थना करता हूँ ।” इसप्रकार अथर्वके स्वरूपसे भली प्रकार परिचित हुए मन्त्रद्रष्टा महर्षि अपने आप जाने हुए उस स्वरूपको दूसरोंको जतानेके लिये अपने आप अज्ञानसे बन कर तटस्थ अभिज्ञसे मन्त्रके उत्तरार्धके द्वारा ब्रुवते हैं, कि—जो ‘एतद् वा अथर्वणो रूपं उप्सीषी ब्रह्मा ।—जो पगड़ीधारी ऋत्विग्भूत ब्रह्मा है यही अथर्वका रूप है’ अथर्व-त्मक ऋत्विग्भूत ब्रह्मा इस अनुष्ठीयमान सर्वफलसाधन यज्ञका वा अग्निष्टोम आदि स्वर्ग आदिके साधन यज्ञोंका मनसे अनुसंधान

करता है, हे विद्वन् ! उस अथर्वाको हमें प्रकृष्टरूपसे बताइये । कभी बता देंगे इस बात पर मत टाल दीजिये किंतु इस अभिलषित साधन कर्ममें ही कहिये ॥ यहाँ यह विशेष बात है, कि-यज्ञके दो पक्ष होते हैं । उनमें होता आदि तीन पहिले पक्षको वाणीसे संस्कृत करते हैं और दूसरे पक्षको ब्रह्मा मनसे संस्कृत करता है । गोपथब्राह्मणमें 'तस्य वाक् च मनश्च वर्तनी' कहकर आगे कहा है, कि- 'स वा एष त्रिभिर्वेदैर्यज्ञस्यान्यतरः पक्षः संस्क्रियते मनसैव ब्रह्मा यज्ञस्यान्यतरं पक्षं संस्करोति' ( गोपथब्राह्मण ३।२ ) ॥

अथवा-प्रजापतिके रूपको सामान्यरीत्या जान कर विशेष-भावसे जाननेके लिये पासमें बैठे हुएसे बृभूते हैं, कि-जो विद्वान् इन पालक देवबन्धु आदि गुणोंसे संपन्न अथर्वाको स्वात्मत्वरूपसे अनुभव करके जानता हो वा यज्ञात्मक प्रजापतिको मनसे जानता हो अर्थात् केवल श्रुतिवाक्यश्रवणसे नहीं, किन्तु मनन निदिध्यासन आदिसे तत्तत्का साक्षात्कार करने वाला हो उस अभिज्ञ पुरुषका हमसे वर्णन करिये । छान्दोग्योपनिषत् ६ । १४।२ में कहा है, कि- 'आचार्यवान् पुरुषो वेद ।-आचार्य वाला पुरुष तत्त्वको समझ सकता है' अत एव आचार्यके उपदेशसे ही जाना हुआ देवताका स्वरूप पुरुषार्थके युक्त होसकता है इस आकांक्षा से अभिज्ञ पुरुषको बृभूता है । यहाँ गुरुको इस लिये बृभूता है, कि-यष्ट्यदेवताके स्वरूपका परिज्ञान होने पर जो कर्म किया जाता है वह सगुण ( सफल ) होता है । अथवा-यह अर्थ भी होसकता है, कि-मन्त्रद्रष्टा महर्षि अपने आपको ही सम्बोधित करके कहते हैं, कि-जो ऐसे प्रजापति हैं उनका हमसे भली प्रकार वर्णन करिये-यष्ट्य देवताके स्वरूपको भली भाँति समझ कर कहिये । अन्य शाखाओंमें भी मन्त्रद्रष्टा ऋषिने देवता-स्तुति-करणविषयमें अपने आपको अभिमुख करके वचन कहा है । यथा- 'अग्निं स्तुहि देवतातं देवश्रवः ।' ( ऋग्वेदसंहिता ३।२३।३ ) १

चतुर्थी ॥

अया विष्टा जनयन् कर्वराणि स हि घृणिंरुर्वराय  
गातुः ।

स प्रत्युदैद् धरुणं मध्वो अग्रं स्वयां तन्वा तन्वमैस्यत  
अया । विष्टा । जनयन् । कर्वराणि । सः हि । घृणिः । उरुः ।  
वराय । गातुः ।

सः । प्रतिऽवदैद् । धरुणम् । मध्वः । अग्रम् । स्वयां । तन्वा ।  
तन्वम् । ऐस्यत ॥ १ ॥

अया अनया । ❀ तृतीयाया याजादेशः । “हलि लोपः”  
इति लोपः ❀ । उक्तीत्या विष्टाः । विविधं तिष्ठतीति । ❀ “क्विप्  
च” इति क्विप् ❀ । सर्वात्मभावेन स्थित इत्यर्थः । अथवा अया  
अयम् । ❀ प्रथमाया आकारः ❀ । अयं प्रजापतिः विष्टा विश्वा-  
त्मना स्थितः कर्वराणि । कर्मनामैतत् । यज्ञादिकर्माणि कार्यजातानि  
वा जनयन् उत्पादयन् वर्तते । स प्रजापतिः घृणिः दीप्यमानः ।  
❀ घृण दीप्ता । आणादिक इन् प्रत्ययः ❀ । वराय वरणीयाय  
कर्मफलाय । ❀ तादर्थ्ये चतुर्थी ❀ । उरुः महान् गातुः मार्गः ।  
फलप्राप्ते अयमेव साधनान्तरनिरपेक्षो महान् उपाय इत्यर्थः ।  
हि शब्दो हेतुः । यस्मात् फलप्राप्तिमार्गः तस्मात् स तादृशो धरु-  
णम् धारकं चिरकालं भगत्वेनावस्थायि मध्वः मधुनः । ❀ जुम-  
मावरञ्चान्दसः ❀ । मधुवद् आस्वाद्यस्य फलस्य अग्रंसारं प्रत्यु-  
दैद् । ❀ अन्तर्भावितव्यर्थः ❀ । प्रत्युद्गमयति स्तोतृभ्यः ।  
❀ एनेरञ्चान्दसो लुङ् । गादेशाभावे सिचि वृद्धिः ❀ । सर्वेषां  
फलप्रदत्वं स्वस्य सर्वनियन्तृत्वम् अन्तरेण न संभवतीति तद् उप-



पादयति स्वयेति । स्वया स्वीयया तन्वा विराडात्मिकया तन्वम् ।  
 ❀ जात्येकवचनम् ❀ । सर्वप्राणिशरीराणि ऐरयत प्रेरयति  
 तत्तत्कर्षस्विति । ❀ ईर गतौ कम्पने च । आन्दसो लङ् ❀ ॥  
 अस्य मन्त्रस्य अभिनवे रये जयकामस्य नृपतेरास्थापने विनि-  
 योगात् तत्परतया व्याख्यायते । अया अयं जयकामो राजा कर्ष-  
 राणि शत्रुनासनादीनि कर्माणि जनयन् । ❀ “लक्षणहेत्वोः  
 क्रियायाः” इति हेतौ शतृप्रत्ययः ❀ । नासनादिजननाद्धेतोः  
 विष्टाः विशेषेण विशिष्टे वा रये स्थितः । मन्त्रायुधादिसंस्काराद्  
 रयस्य वैशिष्ट्यम् । स तादृशः खलु राजा दीप्यमानः स्वसेनयेति  
 शेषः । तेजस्वी वा वराय वरिष्ठाय जयलक्षणाय फलाय महान्  
 मार्गः । स राजा वरुणम् ध्रियमाणं परैः अनभिभाव्यं मधुनः  
 जयलक्षणस्य सारं प्रत्युदेत् प्रत्युद्गच्छतु प्राप्नोतु । स च पराभि-  
 भयनम् अन्तरेण न घटत इति तद् उपपादयति स्वया स्वीयेन  
 तन्वा शरीरेण स्वगतबलेन सेनालक्षणबलेन वा तन्वम् शत्रुशरी-  
 राणि कम्पयति उच्चाटयति ॥

यह प्रजापति विश्वात्मारूपसे स्थित रहते हुए यज्ञ आदि  
 कर्मोंको उत्पन्न करते रहते हैं, यह दीप्यमान प्रजापति  
 वरण करने योग्य कर्मफलके महान् मार्ग हैं, तात्पर्य यह  
 है, कि—फलप्राप्तिके यही किसी अन्य साधनकी अपेक्षासे  
 शून्य महान् उपाय हैं, क्योंकि—यह फलप्राप्तिके मार्ग हैं, इस  
 कारण यह चिरकाल तक भाग्यरूपसे स्थिर रहने वाले धारक  
 मधुकी समान आस्थाद्य फलके सारभागको स्तोताओंकी ओर  
 प्रेरित करते हैं । ( सबका फलप्रदत्व और अपना ही सर्वनिय-  
 न्त्व दूसरेके बिना नहीं होसकता अत एव कहते हैं, कि—यह  
 अपने विराडात्मक शरीरसे सब प्राणियोंके शरीरोंको उनके कर्मों  
 में प्रेरित करते हैं । ( इस मन्त्रका विजयाभिलाषी राजाको नवीन

रथमें बैठानेके लिये भी विनियोग किया है, उस पक्षमें यह अर्थ होगा, कि—) यह विजयाभिलाषी राजा शत्रुनासन आदि कर्मों को करनेके लिये मन्त्राद्युपादिसंस्कारसम्पन्न विशिष्ट रथमें स्थित होगया है, अब यह दमकता हुआ राजा जयरूप श्रेष्ठ फलका महान् मार्ग है, यह राजा धारण किये हुए और शत्रुसे तिरस्कृत न होसम्ने वाले जयरूप सारको प्राप्त हो, यह अपने सेनारूप शरीरसे अपने शरीरमें स्थित उलसे शत्रुओंके शरीरोंका उच्चाटन कर रहा है ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

एकया च दशभिश्चा सुहुते द्वाभ्यामिष्टेयं विंशत्या च ।  
तिसृभिश्च वहसे त्रिंशता च वियुग्भिर्वाय इह ता  
वि मुञ्च ॥ १ ॥

एकया । च । दशभिः । च । सुहुते । द्वाभ्याम् । इष्टेये । विंशत्या । च ।  
तिसृभिः । च । वहसे । त्रिंशता । च । वियुग्भिः । वायो इति ।  
इह । ताः । वि । मुञ्च ॥ १ ॥

हे सुहुते शोभनाद्दानं सुष्ठु हातव्यं वा हे वायो । सर्वमेरकः  
मजापतिः प्रसिद्धो वा वायुः । एकया च दशभिश्च । ॐ परस्पर-  
समुच्चयाया चणर्द्धा ॐ । एकादशभिः वियुग्भिः विशेषेण  
धुज्यन्ते रथे इति वियुजो बहवाः । ॐ युजेः कर्मणि विच्प् ॐ ।  
ताभिर्वहसे । वहतिरत्र गतिमात्रवाची । आगच्छ । निमर्थम् । इष्टेये  
यागाय । ॐ “क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्” इति कर्मणः संप्रदानत्वात्  
चतुर्थी ॐ । अस्माभिरनुष्ठीयमानं नम्रं आयाहि । यद्वा इष्टेये  
इन्द्राय । ॐ “मन्त्रे वृषेपच०” इति तिन्नुदात्तः । “क्रियार्थो  
पपदस्थ०” इति चतुर्थी ॐ । अस्मदीयफलकामनां पूरयितुम्

एकाशदभिरश्वाभिः बहसे । ॐ व्यत्ययेन कर्मार्थे कर्तृप्रत्ययः ॐ ।  
 उवासे । ॐ दशभिरिति “भन्पुपोत्तमम्” इति स्वरेण मध्योदात्तं  
 पदम् ॐ । तथा द्वाभ्यां च विंशत्या च द्वाविंशत्या बड्वाभिर्वहसे ।  
 ॐ विंशत्येति । “उदात्तयणो हल्पूर्वात्” इति विभक्तिरुदात्ता ॐ ।  
 तथा तिसृभिश्च त्रिंशता च त्रयस्त्रिंशता अश्वाभिर्वहसे । अयम्  
 अर्थः । सुहुत इति विधेयविशेषणम् यतस्त्वं सुहुतिः अतः अस्म-  
 दाहानानुसारेण अस्माकं फलप्रदानानुसारेण वा शीघ्रम्  
 आगन्तुं कदाचिद् एकादशभिः कदाचिद् द्वाविंशत्या कदाचित्  
 त्रयस्त्रिंशता बड्वाभिः अस्मदीयं यागं प्राप्नुहीति । अतित्वराग-  
 मनविवक्षायां वायोः अपरिमिता अश्वाः शाखान्तरे समान्नायन्ते ।  
 “आ वायो भूप शुचिपा उप नः सहस्रं ते नियुतो विश्ववार” इति  
 [ ऋ० ७. ६२. १ ] । वायोरश्वा नियुत इत्युच्यन्ते । आगत्य  
 च हे वायो इह अस्मिन् अस्मदीये कर्मणि अश्वशान्तिलक्षणे वा  
 ता बड्वा वि सुश्च । इहैव स्थापय । इतः प्रदेशात् प्रदेशान्तरम्  
 आभिर्वड्वाभिर्मा प्राप इत्यर्थः ॥

हे शोभनरीतिसे आह्वान करने योग्य सर्वमेक प्रजापते वा  
 वायो ! आप ग्यारह घोड़ियोंसे, चाईस घोड़ियोंसे वा तैंतीस  
 घोड़ियोंसे यज्ञमें ( हमारी इच्छाको पूर्ण करनेके लिये ) आइये  
 और उन घोड़ियोंको यहाँ छोड़ दीजिये अर्थात् यहाँसे अन्यत्र न  
 जाइये + ॥ १ ॥

॥ + फलप्रदानकी आवश्यकतानुसार वायु ग्यारह-चाईस व  
 तैंतीस घोड़ियों पर शीघ्रतासे आसकते हैं । अति-शीघ्रताकी  
 इच्छा होने पर वायुके असंख्य घोड़ोंका वर्णन अन्य शाखाओंमें  
 मिलता है । यथा—“आ वायो भूप शुचिपा उप नः सहस्रं ते  
 नियुतो विश्ववार” ( ऋग्वेदसंहिता ७. ६२. १ ) ॥

पृष्ठी ॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।  
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वं साध्याः सन्ति  
देवाः ॥ १ ॥

यज्ञेन । यज्ञम् । अयजन्त । देवाः । तानि । धर्माणि । प्रथमानि ।  
आसन् ।

ने । ह । नाकम् । महिमानः । सचन्त । यत्र । पूर्वं । साध्याः ।  
सन्ति । देवाः ॥ १ ॥

देवाः कर्मणा देवत्वं प्राप्ता यजमानाः पूर्वं यज्ञेन अग्निना निर्म-  
न्थ्येन यज्ञं होमाधारम् आहवनीयम् अग्निम् अयजन्त । ॐ यजि-  
रत्र संगतरुणवाची ॐ । अनुष्ठानाय संयोजितवन्त इत्यर्थः ।  
“यद् अग्नावग्निं मथित्वा प्रहरति तेनैवाग्नय आतिथ्यं क्रियते” इति  
हि तैत्तिरीयकम् [ तै० सं०, ६. २. १. ७ ] । तानि धर्माणि  
अग्निसाधनानि कर्माणि प्रथमानि । प्रथम इति मुख्यनाम । प्र-  
थमानि प्रकृतमानि आसन् । फलप्रसवसमर्थानि अभवन्तित्यर्थः ।  
ॐ धर्माणीति । धर्मशब्दः अपूर्वं पुंलिङ्गः तत्साधने नपुंसक इति  
“अर्धर्चाः पुंसि०” इति सूत्रे वृत्तिकारेण लिङ्गानुशासनं कृतम् ॐ ।  
ते ह ते खलु देवा महिमानः महत्त्वयुक्ता नाकम् कं मुखम्, अकं  
दुःखं तद् अत्र नास्तीति नाकः स्वर्गः त सचन्तः संगताः । ॐ पंच  
समवाये । लङि “०अमाह्वयोगेपि” इति अडभावः ॐ । यत्र  
यस्मिन् नाके पूर्वं पुरातनाः साध्याः । प्राणाभिमानिनो देवाः  
साध्या इत्युच्यन्ते । तथा च वाजसनेयकम् । “प्राणा वै साध्या

देवास्त एतम् अग्रम् एवम् असाधयन्" इति [ श० ब्रा० १०. २. ४ ] । यद्वा छन्दोभिमानिनो देवा आदित्या अङ्गिरसश्च साध्या देवा इत्युच्यन्ते । ते देवाः सन्ति निवसन्ति । तस्माद् इदानीमपि यज्ञाधिकारिभिः एवं कर्तव्यम् इत्यर्थः । अत्र ऐतरेयक ब्राह्मणम् । "यज्ञेन देवा वै तद् देवा यज्ञम् अयजन्त यद् अग्निनाग्निम् अयजन्त ते स्वर्गं लोकम् आयन्" इति [ ऐ० ब्रा० १. १६ ] । "यत्र पूर्वं साध्याः सन्ति देवा इति । छन्दांसि वै साध्या देवाः । तेऽग्निनाग्निम् अयजन्त । ते स्वर्गं लोकम् आयन्नादित्याश्चैवेहासन्नङ्गिरसश्च । तेऽग्निनाग्निम् अयजन्त । ते स्वर्गं लोकम् आयन्" इति [ ऐ० ब्रा० १. १६ ] । यद्वा देवा इदानीं देवभावम् आपन्नाः पूर्वं यज्ञनाग्निना पशुभूतेन यज्ञं यष्टव्यम् अग्निम् अयजन्त पूजितवन्तः । अग्नेरेव मूर्तिभेदेन देवत्वं पशुत्वं च द्रष्टव्यम् । "अग्निः पशुरासीत् । तम् आलभन्त । तेनायजन्तेति च ब्राह्मणम्" इति हि यास्कः [ नि० १२. ४१ ] । साध्याः यज्ञादिसाधनवन्तः । "साधनाः द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः" इति हि यास्कः [ नि० १२. ४१ ] । शिष्टं पूर्ववद् व्याख्येयम् । अथवा यज्ञेन ज्ञानयज्ञरूपेण यज्ञः । "यज्ञो वै विष्णुः" इति श्रुतेः [ तै० ब्रा० १. ३. ८. ५ ] विष्णुः । तम् अयजन्त आत्मत्वेन ध्यातवन्तः । ते नाकं स्वर्गम् दुःखेन यन्नं संभिन्नं न च अस्तम् अयन्तरम् ।

अभिलाषोपनीतं यत् सुखं स्वर्गपदास्पदम्

इत्युक्तनित्यसुखरूपम्

यद्वा गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं यम ।

इति [ भ० गी० १५. ६ ] भगवतोक्तं स्थानं सचन्त सेवन्ते प्राप्नुवन्ति । साध्याः । ॐ व्यत्ययेन कर्तरि कृत्यप्रत्ययः ॐ साधकाः । अहंशुहोपासका इत्यर्थः । यद्वा साध्या ज्ञानेन प्राप्यं वस्तु येषाम् आत्मत्वेन अस्तीति । ॐ अर्शआदित्वाद् अच् प्रत्ययः ॐ । शिष्टं समानम् ॥

देवता अर्थात् कर्मसे देवत्वको प्राप्त हुए यजमानोंने, मय कर निकाली हुई अग्निरूप यज्ञसे होमाधारआहवनीयअग्निरूप यज्ञ को संगत किया था + । ये अग्निसाधन आदि कर्म मुख्य हुए थे अर्थात् फलको देनेमें समर्थ हुए थे । वे देवता महस्वसंपन्न होकर जहाँ दुःखका लेश भी नहीं होता, उस नाकस्थानसे संगत होगए हैं, उस नाक ( स्वर्ग ) में पुरातन प्राणाभिमानी साध्य देवता रहते हैं § । इस कारण इस समय भी यज्ञाधिकारियोंको ऐसा ही करना चाहिये X ।

अथवा-इस समय जो देवत्वको प्राप्त हैं उन्होंने पहिले यज्ञसे अर्थात् पशुभूत अग्निसे पूजनीय अग्निका पूजन किया था + ।

+ तैत्तिरीयसंहिता ६ । २ । १ । ७ में कहा है, कि-“यदमावग्निं मथित्वा प्रहरति तेनैवाग्नय आतिथ्यं क्रियते ।-जो अग्निमें अग्निको मथकर डाला जाता है उसीसे अग्निके लिये अतिथि सत्कार किया जाता है” ।

§ प्राणाभिमानी देवता साध्य कहलाते हैं, इसी बातको वाजसनेयस्में कहा है, कि-“प्राणा वै साध्या देवास्त एतं अग्रं एवं असाधयन्” ।-प्राण ही साध्य देवता हैं, उन्होंने इस मुख्य धर्मका साधन किया था । अथवा छन्दोऽभिमानी देवता आदित्य और अंगिरस् भी साध्य देवता कहलाते हैं ।

X इस विषयमें ऐतरेयक ब्राह्मणमें कहा है, कि-“यज्ञेन वै तद् देवा यज्ञम् अयजन्त । यद् अग्निनाऽग्निम् अयजन्त ते स्वर्गं लोकं आयन्” ( ऐतरेयब्राह्मण १ । १६ ) “यत्र पूर्वं साध्याः सन्ति देवा इति । छन्दांसि वै साध्या देवाः । तेऽग्रेऽग्निनाऽग्निम् अयजन्त । ते स्वर्गं लोकं आयन्” ( ऐतरेय ब्राह्मण १ । १६ )

+ निरुक्त १२ । ४१ में कहा है, कि-“अग्निः पशुरासीत् ।

ये पूजन आदि धर्म मुख्य हैं, ऐसा करनेसे ये स्वर्गसे संयुक्त होगए हैं, तहाँ पहिले साध्य देवता रहते हैं ।

अथवा—देवताओंने ज्ञानरूपयज्ञसे यज्ञरूप ‡ विष्णुका आत्मत्वरूपसे ध्यान किया । अतः वे दुःखसे शून्य — भगवान्‌के कहे हुए स्थानको ॐ प्राप्त होगए । ये आत्मरूपसे ध्यान आदि मुख्य कर्म हैं, तहाँ साध्य अर्थात् ज्ञानसे प्राप्य वस्तुको आत्मरूपमें मानने वाले देवता रहते हैं ॥ १ ॥

सप्तमी ॥

यज्ञो बभूव स आ बभूव स प्र जज्ञे स उ वावृधे पुनः ।  
स देवानामधिपतिर्बभूव सो अस्मासु द्रविणमा दधातु  
यज्ञः । बभूव । सः । आ । बभूव । सः । प्र । जज्ञे । सः । उ ।  
इति । वावृधे । पुनः ।

तम् आलभन्त । तेनायजन्तेति च ब्राह्मणम् ।—अग्नि पशुधा, उसका आलभन किया और उससे यजन किया” ।

‡ तैत्तिरीय ब्राह्मण १।३।८।५ में कहा है, कि—‘यज्ञो वै विष्णुः ।—यज्ञ विष्णु हैं ।

— ‘दुःखेन यज्ञ संभिन्नं न च ग्रस्तं अनन्तरम् । अभिलाषोपनीतं यत् सुखं स्वर्गपदास्पदम् ॥—जो दुःखसे भिदता न हो और जिसके अनन्तर प्राणी दुःखसे ग्रस्त न होजाता हो और जो अभिलाषा करते ही मिला हो उस सुखको स्वर्ग कहते हैं’ वह नित्य सुखरूप स्थान नाक कहलाता है ।

ॐ भगवान्‌ने भगवद्गीताके १५ वें अध्यायके ६८ श्लोकमें कहा है, कि—“यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं यम ।—प्राणी जहाँ जाकर फिर नहीं लौटते हैं वह मेरा परम धाम है” ॥

सः । देवानाम् । अधिपतिः । बभूव । सः । अस्मासु । द्रवि-  
णम् । आ । दधातु ॥ २ ॥

यज्ञः यज्ञरूपः प्रजापतिः प्रसिद्धो वा यज्ञः स बभूव विश्वात्मना  
व्याप्तः निर्वृत्तो वा अभूत् । स आ बभूव सर्वतः कारणात्मना  
अभवत् । [ यज्ञा ] स निर्वृत्तो यज्ञः आवृत्त्य भवतु पुनःपुनर्भवतु ।  
❀ चान्दमो लिट् ❀ । स प्र जज्ञे । ❀ जानातेर्जायतेर्वा रूपम् ❀ ।  
प्रज्ञातः प्रसिद्धो यज्ञः प्ररूपेण जातः । फलोन्मुखो जात इत्यर्थः ।  
उशब्दः अग्रधारणे । स एव पुनर्वावृधे अद्यापि जगदात्मना पुनः-  
पुनर्वर्धते वर्धता वा यज्ञः । ❀ तुजादिस्वाङ् अभ्यासस्य दीर्घः ❀ ।  
स देवानाम् इन्द्रादीनाम् अधिपतिः अधिको मुख्यः स्वामी  
बभूव । यज्ञो वा हेतुत्वाद् देवानाम् अधिकं पालयितोभूत् । स  
यज्ञः अस्मासु हविषा परिचरत्तु द्रवणिम् धनम् अभिमतं फलम्  
आ दधातु स्थापयतु ॥

यज्ञरूप, प्रजापति वा प्रसिद्ध यज्ञ विश्वात्मारूपसे व्याप्त हुआ  
है और चारों ओर कारणात्मारूपसे व्याप्त है और वह यज्ञ, फलो-  
न्मुख होता है और वह आजगल जगदात्मारूपसे बारंबार बढ़ता  
है, वह इन्द्र आदि देवताओंका स्वामी हुआ है । ऐसा यज्ञ हम हवि  
से सेवा, करने वालोंमें-धन-अभिमत फल-को स्थापित करे ॥२॥

॥ अष्टमी ॥

यद् देवा देवान् हविषायजन्तामर्त्यान् मनसामर्त्येन ।  
मदेम तत्र परमे व्योमन् पश्येम तदुदितौ सूर्यस्य ३  
यत् । देवाः । देवान् । हविषा । अयजन्त । अमर्त्यान् । मनसा ।  
अमर्त्येन ।



मदेम । तत्र । परमे । विऽओमन् । पश्येम । तत् । उत्ऽइतो । सूर्यस्य

देवाः कर्मणा देवत्वं प्राप्ताः यत् फलम् । उद्दिश्येति क्रियाध्याहारः । अमर्त्यान् अमरणधर्मणो देवान् इन्द्रादीन् अमर्त्येन अमर्त्यसंवन्धिना । देवविषयेणेत्यर्थः । अविनाशिना वा । भोगायतनेष्वगमापाधिष्वपि मनसोवस्थानाद् नित्यत्वम् । तादृशेन चिरकालावस्थायिना मनसा हविषा चरुपुरोडाशादिना अयजन्त इष्टवन्तः इति स्वेषामेव परोक्षेणाभिधानम् । “विद्वान् यजेत” इति “विद्वान् याजयेत्” इति वचनाद् अनुष्ठेयार्थप्रकाशकमन्त्रार्थयष्टव्यदेवताकर्तृज्ञानरूपं वैदुष्यं कर्मसु अपेक्षितम् तच्च पूर्वापरानुसंधानसाधनभूतेन मनसा विना न संभवतीति मनसेत्युक्तम् । “यस्यै देवतायै हविर्मुहीतं स्यात् तां ध्यायेद् वषट्करिष्यन्” इति हि [ ऐ० ब्रा० ३. ८ ] श्रुतिः । वषट्कारवचनम् उपलक्ष्यम् । तत्र तस्मिन् परमे उत्कृष्टे केवलपुण्यफलभोगस्थाने व्योमन् व्योमनि द्युलोके मदेम वयं यजमाना ह्वंयास्म । ॐ भाद्यतेः “लिङ्ग्याशिष्यङ्” प्रत्ययः ॐ । अपि च सूर्यस्योदितौ । द्युलोके हि नित्योदितः सूर्यः । सूर्यप्रकाशे यावत्सूर्यप्रकाशं तत् फलं पश्येम । ॐ पश्यतिरत्र आलोचनवाची ॐ । भोग्यत्वेन जानीमः । चिरकालं पुण्यफलम् अनुभवेमेत्यर्थः ॥ एवं द्रव्ययज्ञस्वरूपतत्फलतद्भोगस्थानपरतया व्याख्यातः ज्ञानयज्ञपरत्वेनापि अयं मन्त्रो व्याख्यायते । आत्मविषयविद्यया दीव्यन्ति क्रीडन्तीति देवाः विविदिषवः । यत् ॐ सप्तम्या लुक् ॐ । यस्मिन् ब्रह्मार्थं देवान् । देवशब्देन देवनसाधनभूता इन्द्रियवृत्तयो विवक्ष्यन्ते । तासां मनसश्च विषयेषु सांतत्येन प्रवर्तनाद् अमर्त्यत्वाभिधानम् । अथवा तत्त्वविद्योदयपर्यन्तम् इन्द्रियवासनानां मनसश्चावस्थानाद् अविन्नश्चरत्वम् । ॐ मनसेति सहाधे वृताया ॐ । अक्षरवृत्त्युपर-

मेपि मनसो व्यापारसद्भावात् पृथगुपादानम् । मनःसंहिता, अक्षः  
वृत्तीः इविषा । ॐ भावपरोपं निर्देशः ॐ । इविष्टेन । संकल्प्येति  
शेषः । ॐ यद्वा इविष्टसंकल्पे मनसः करणत्वात् तृतीया ॐ अम-  
त्येन । मर्त्यशब्देन क्षयिष्णवो वाद्यविषया उच्यन्ते । विनाशि-  
विषयानासक्तेनेत्यर्थः ।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

बन्धाय विषयासक्तं मुक्तेर्निर्विषयं स्मृतम् ॥

इति श्रुतेः । तादृशेन विषयानासक्तिना मनसा इन्द्रियवृत्तीर्इवि-  
ष्टेन संकल्प्य अयजन्त तथाविधा वयं तत्र तस्मिन् परमे । तस्य  
सर्वजगदधिष्ठानत्वात् तस्य वा अधिष्ठानान्तराभावात् परमत्वम् ।  
“स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे गहिम्नि” इति [ छा० उ०-  
७, २४, १ ] श्रुतेः स्वमहिममतिष्ठे व्योमनि व्योमवद् असंगे सर्व-  
गते चिदानन्दलक्षणे ब्रह्मणि विषये मदेम तुष्यास्म । न केवलं  
संतोषः अपि तु सूर्यस्य सुष्ठुमेरकस्य परमात्मनः उदिता परि-  
पूर्णप्रकाशसाक्षात्कारेण अविद्यास्तमये सति तत् प्रकाशात्मकं  
तत्त्वं पश्येम स्वात्मतया अनुभवेम । ॐ संपश्ये लिङ् ॐ ॥

कर्मसे देवत्वको प्राप्त हुए मनुष्य जिस फलको उद्देश्यमें रख  
कर अमरणधर्मों इन्द्र आदि देवताओंका-उत्पन्न और नष्ट होने  
वाले भोगरूप स्थानोंमें भी रहनेके कारण नित्य मनसे-चरु पुरो-  
डाश आदिके द्वारा यजन करते हुए ‡ ऐसे हम यजमान केवल  
सुखफलभोगके स्थान दुलोकमें आनन्द पावें और दुलोकमें

‡ मनके विषयमें श्रुतिमें कहा है, कि-‘मन एव मनुष्याणां  
कारणं बन्धमोक्षयोः । बन्धाय विषयासक्तं मुक्तेर्निर्विषयं मतम् ॥  
‘मन’ ही मनुष्योंके बन्ध और मोक्षका कारण है, विषयासक्त मन-  
बन्धनका कारण होता है और विषयशून्य मन मुक्तिका कारण होता  
है’ अतः यहाँ विषयासक्त मनकी आहुति देनेका ही अभिप्राय है ॥

सूर्य नित्य उदित रहता है अतः हम सूर्यके उदयको देखते रहें अर्थात् चिरकाल तक पुण्यफलका अनुभव करें ॥

यह मन्त्र ज्ञानयज्ञपरक भी है, उस समय इसकी व्याख्या इस प्रकार होगी, कि-आत्मविषयक विद्यासे क्रीड़ा करने वाले जाननेकी इच्छा वाले यहाँ देवता माने गए हैं अतः ऐसे देवता ब्रह्माग्निमें विषयोंमें सन्तत प्रवर्तनके कारण अमर्त्य देवनकी साधन-भूत इन्द्रियरूप देवताओंको, तत्त्वविद्याके उदय तक स्थिर रहनेके कारण नित्य मनके साथ हविरूपमें कल्पना करके होमते हुए ऐसे हम सब जगत्का अधिष्ठान होनेसे परम और दूसरा अधिष्ठान भी न होनेसे परम ‡ अपनी महिमामें प्रतिष्ठित व्योमकी संमान असंगत, सर्वगत चिदानन्दरूप ब्रह्ममें हर्षको पावें, केवल हर्ष ( सन्तोष ) को ही न पावें, किंतु भली प्रकार प्रेरणा करने वाले ( सूर्य ) परमात्माका उदय होने पर परिपूर्ण प्रकाशका साक्षात्कार होनेसे अविद्याका अस्त होजानेके कारण प्रकाशात्मक तत्त्वका स्वात्मरूपसे अनुभव करें ॥ ३ ॥

नवमी ॥

यत् पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत ।

अस्ति नु तस्मादोजीयो यद् विहव्येनेजिरे ॥ ४ ॥

यत् । पुरुषेण । हविषा । यज्ञम् । देवाः । अतन्वत ।

अस्ति । नु । तस्मात् । ओजीयः । यत् । विहव्येन । ईजिरे ४

‡ छान्दोग्योपनिषत् ७। २४। १ की श्रुतिमें कहा है, कि-  
“स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि ।-हे भगवन् ! वह किसमें प्रतिष्ठित है, वह अपनी महिमामें प्रतिष्ठित है” ॥

सर्वातिशायिसर्वात्मकहिरण्यगर्भरूपफलप्रापकात् पुरुषमेधारय-  
महाक्रतोरपि सर्वात्मकब्रह्मस्वरूपावाप्तिफलप्रापको ज्ञानयज्ञ श्रेयान्  
इत्यनया अभिधीयते । पुरुषमेधविधायनं वाचनम् एवं वाजसनेय  
ब्राह्मणे सामान्यायते । “पुरुषो ह वै नारायणोऽमयत । अति-  
तिष्ठेयं सर्वाणि भूतान्यहमेवेदं सर्वं स्याम् इति । स एतं पुरुषमेधं  
पञ्चरात्रं यज्ञक्रतुम् अपश्यत् । तम् आहरत् । तेनायजत । तेनेद्वा-  
त्यतिष्ठत् । सर्वाणि भूतानीदं सर्वम् अभवत्” इति [ शं० ब्रा०  
१३. ५. ५. १ ] । देवाः दीव्यन्तीति देवा यजमानाः पुरुषेण अश्व-  
रूपेण हविषा । “अथ स पुरुषोऽश्व आसीत्” इति वाजसनेयश्रुतेः ।  
अत्र साक्षात् पुरुषस्य अनालम्भनात् पर्यग्निकरणानन्तरम् उत्सर्ग  
विधानाद् अश्वमेधातिदिष्टोऽश्वः पशुः पुरुषशब्देन विवक्ष्यते । तेन  
हविषा यज्ञं पुरुषमेधारण्यम् अतन्वत विस्तारितवन्तः । ॐ यद्-  
वृत्तयोगाद् अनिघातः ॐ । “ब्रह्मणे ब्राह्मणम् आलभते” [ तै०  
ब्रा० ३. ४. १. १ ] इत्यादिना समाम्नाता ब्राह्मणक्षत्रियवैश्य  
शूद्रादिरूपा बहवः पुरुषपशवो विगन्ते इति यज्ञविस्तारोक्तिः । एवं  
पुरुषहविष्कयज्ञ इति यद् अस्ति तस्माद् ओजीयः अतिशयेन  
ओजस्वि सारवत् अस्ति नु विद्यते खलु । सामान्यनिर्देशेन यज्ञ  
स्वरूपापेक्षया वा नर्पुंसकत्वम् । ॐ ओजीय इति ओजस्विशब्दाद्  
ईयसुनि विनो लुकि रूपम् ॐ । ओजीयोस्तीति प्रतिज्ञातम् तद् दर्श-  
यति । विहव्येन हव्यं होतव्यं हविः । विगतहविष्केण ज्ञानयज्ञेन  
ईजिरे इष्टवन्तः स्वात्मानं परमात्माभेदेन साक्षात्कृतवन्त इति यत्  
तद् ओजीय इति । द्रव्ययज्ञज्ञानयज्ञयोरुभयोः सार्वार्वात्म्यलक्षण-  
फलसाम्येऽपि पुरुषमेधफलस्य कर्मजन्यत्वेन विनाशित्वं ज्ञानयज्ञ-  
फलं तु न तथेति तस्माद् ओजीय इत्युक्तम् । भगवतापि उक्तम् ।  
श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप । इति [ भ० गी०  
४. ३३ ] ॥

[सबसे अधिक सत्त्वात्मक हिरण्यगर्भरूप फलको प्राप्त कराने वाले पुरुषमेध नाम वाले महाक्रतुसे भी सर्वात्मक ब्रह्मस्वरूप फलकी प्राप्ति कराने वाला ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, इसी बातका इस ऋचामें प्रतिपादन किया है, पुरुषमेधविधायक वाक्य वाजसनेयकमें इस प्रकार कहा है, कि—“पुरुषो ह वै नारायणोऽक्रामयत् । अतिष्ठेयं सर्वाणि भूतान्यहमेवेदं सर्वं स्याम् इति । स एतं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं यज्ञक्रतुं अपश्यत् । तम् आहरत् । तेनायजत् । तेनेष्ट्वात्यतिष्ठत् । सर्वाणि भूतानीदं सर्वं अभवत् ।—पुरुषरूपमें स्थित नारायणने कामना की, कि—यै सब भूतोंमें अधिष्ठित होऊँ, यह सब मैं ही होजाऊँ । तब उसने इस पाँच रात्रिमें पूर्ण होनेवाले पुरुषमेध यज्ञक्रतुको देखा । उसकी सामग्रीको एकत्रित कर उससे यजन किया और यजन करनेके अनन्तर स्थित होगया, फिर सब भूत और यह सब होगया” ( शतपथब्राह्मण १३ । ५ । ५ । १ ) । मन्त्रके पुरुषशब्दका अर्थ अश्वरूप हवि है । क्योंकि—वाजसनेयककी श्रुतिमें कहा है, कि—“अथ स पुरुषोऽश्व आसीत् । तदन्तरं वह पुरुष अश्व होगया” । यहाँ साक्षात् पुरुषका आलम्बन न होने पर पर्यायिकरणके अनन्तर उत्सर्गका विधान होनेसे अश्वमेधके लिये अतिदिष्ट अश्वपशु पुरुषशब्दसे विवक्षित है । ]  
स्तुति करने वाले यजमानरूप देवताओंने पुरुषपशुकी हविसे पुरुषमेध नाम वाले यज्ञको विस्तृत किया † । ऐसे पुरुषहविष्क यज्ञसे भी, हविरहित यज्ञसे जो यजन किया जाता है वह ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है ‡ ॥ ४ ॥

+ ‘ब्रह्मणे ब्राह्मणम् आलभते’ ( तैत्तिरीयब्राह्मण ३।४।१।१ ) में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र आदिरूप बहुतसे पुरुषपशु हैं उनसे यज्ञके विस्तार करनेका वर्णन किया है ।

‡ अपने आत्माका परमात्माके अभेदसे साक्षात्कार करना

दशमी ॥

मुग्धा देवा उत शुनायजन्तोत गोरङ्गैः पुरुषायजन्त ।

य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः

मुग्धाः । देवाः । उत । शुना । अयजन्त । उत । गोः । अङ्गैः ।

पुरु॒षा । अ॒यजन्त ।

यः । इ॒मम् । य॒ज्ञम् । म॒नसा । चि॒केत । प्र । नः । वो॒चः । तम् ।

इ॒ह । इ॒ह । ब्र॒वः ॥ ५ ॥

एवं कर्मयज्ञात् ज्ञानयज्ञस्य उत्कर्षं श्रुत्वा कर्मयज्ञं निन्दन् अविनाशिफलकामस्तदस्यो द्यूते । मुग्धाः कार्याकार्यविवेकरहिता देवा यजमानाः । उतशब्दः अप्यर्थे । शुनापि अयजन्त । यज्ञो हि पशुसाधनकः । तत्र अत्यन्तगर्हितस्यापि शुनः पशुत्वेन निर्देशात् कर्मयज्ञस्य निन्दा दर्शिता । अखाद्यानां परमावधिः श्वा । तथा । उतशब्दः अप्यर्थे । गोः गोरूपपशोः अङ्गैः अवयवैरपि । “हृदयस्याग्रेवद्यति” [ तै० सं० ६. ३. १०. ४ ] इति अंगावदानश्रवणाद् अङ्गैरित्युक्तम् । अवध्यानां परमावधिर्गाः । पुरुषा बहुधा अयजन्त । एकदा करणे प्रमादाज्ञानादिकृतम् इति संभावना भवति । अतस्तन्निरासाय पुरुषेत्युक्तम् । सर्वदा शुनकगवादिरूपैः पशुभिर्यज्ञं कुर्वन्तीत्यर्थः । एवं पूर्वार्धेन कर्मयज्ञं निन्दित्वा ही ज्ञानयज्ञ कहलाता है । इन द्रव्ययज्ञ और ज्ञानयज्ञ दोनोंमें सार्वार्त्थ्यलक्षणफलकी समानता होने पर भी पुरुषमेघका फल कर्मजन्य होनेसे दिनाशी है और ज्ञानयज्ञका फल विनाशी नहीं है अत एव वह श्रेष्ठ है । भगवान् ने भी कहा है, कि—‘श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप’ । ( भगवद्गीता ४ । ३३ ) ॥

उत्तरार्धेन ज्ञानयज्ञप्राप्तये तदभिज्ञं प्रार्थयते । यो विद्वान् इमं यज्ञम्  
यष्टव्यं परमात्मानं मनसा चिकेत जानाति स्म तं तथाविधं गुरुं  
नः अस्माकं प्र बोचः प्रकर्षेण ब्रूहि । तेन प्रदर्शितं गुरुं ब्रूते । इहैव  
इहैव इदानीमेव ब्रवः परमात्मस्वरूपं ब्रूहि ॥

[ इति ] सप्तमे काण्डे प्रथमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

( इस प्रकार कर्मयज्ञसे ज्ञानयज्ञके उत्कर्षको सुनकर कर्मयज्ञकी  
निन्दा करता हुआ अविनाशी फलको चाहने वाला तटस्थ कहता  
है, कि-) कार्य और अकार्यके विवेकसे रहित यजमानोंने कुत्तेसे  
यज्ञ किया है और गौंके अंगोंसे भी अनेक बार यज्ञ किया है  
( यज्ञ पशुसे सिद्ध होता है । उसमें परमगर्हित कुत्तेको भी पशु-  
रूपसे ग्रहण किया है अतः कर्मयज्ञको निन्दनीय बताया है, क्योंकि-  
अखाद्य वस्तुओंमें कुत्ता परम अखाद्य है और गौ परम अवध्य  
है तथापि “हृदयस्याग्नेऽवद्यति” तैत्तिरीयसंहिता ६ । ३ । १० । ४  
में अंगोंका अंशदान करना कहा है । एक बार कोई बात प्रमाद  
से भी होसकती है अतः अनेक बार कहा है । इस प्रकार पूर्वार्धसे  
कर्मयज्ञकी निन्दा करके उत्तरार्धसे ज्ञानयज्ञकी प्राप्तिके लिये उस  
को जानने वालेकी प्रार्थना करते हैं, कि-) जो विद्वान् यष्टव्य  
परमात्माको मनसे जान चुका हो ऐसे गुरुको ध्यान देकर बताइये  
( और प्रदर्शित गुरुसे कहते हैं, कि-) इसी समय आप परमात्म-  
स्वरूपको कहिये ॥ ५ ॥

सप्तम काण्डके प्रथम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त

“अदितिर्द्यौरदितिः” इति द्वितीयं सूक्तम् । तत्र आधा-  
भिश्चतसृभिः सर्वफलकामः अदितिं यजते उपतिष्ठते वा । “अथर्वा-  
णम् [ ७. २ ] अदितिर्द्यौः [ ७. ६ ] दितेः पुत्राणाम्” [ ७. ८ ]  
इति [ कौ० ७. १० ] सूत्रात् ॥

तथा आधाने पवमानेष्टौ आदित्यद्वित्रिनुमन्त्रणे “अदितिर्द्यौः”

इति विनियुक्ता । आधानं प्रक्रम्य त्रैताने सूत्रितम् । “पवमानः  
पुनातु [ ६. १६. २ ] त्वेषस्ते [ १८. ४. ५६ ] अग्नी रक्षांसि  
[ ८. ३. २६ ] यदिदित्योः” [ ७. ६ ] इति [ वै० २. २ ] ॥

“महीम् पु” [ ७. ६. २ ] इति तृचेन नौघटादिभिरुदकतरणे  
स्वस्त्ययनकामो नावादिकम् अभिमन्त्र्य तेन तरेत् ॥

तथा नावादिभिर्दूरदेशगमने स्वस्त्ययनकामः अनेन तृचेन नावं  
संपात्य तरेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन तृचेन नौमणिं संपात्य अभिमन्त्र्य  
नाविकेभ्यो वन्नीयात् ॥

मूत्रितं हि । “महीम् प्विति तरणान्यारोहयति । दूरान्नावं  
संपातवर्ती नौमणिं वन्नाति” इति [ कौ० ७. ३ ] ॥

“महीम् पु” इति ऋचा विवाहे चतुर्थिकार्ष्णि स्वर्वां स्पर्श-  
येत् । “महीम् प्विति तल्पम् आलम्भयति” इति [ कौ० १०. ५ ]  
सूत्रात् ॥

तथा आवसथ्याधाने ऋग्यद्विमर्जनानंतरं गृहसमीपे नदीरूपाणि  
कृत्वा उदकेन आपूर्य “महीम् पु” “सुत्रामाणम्” इत्याभ्यां नावम्  
आरोहयेत् । मूत्रितं हि । “माग्दक्षिणं सप्त नदीरूपाणि कारयित्वा  
उदकेन पूरयित्वा आ रोहत सत्रितुर्नावम् एताम् [ १२. २. ४८ ]  
सुत्रामाणम् [ ७. ७. १ ] महीम् पु [ ७. ६. २ ] इति सहिरण्यां  
सयवां नावम् आरोहयति” इति [ कौ० ६. ३ ] ॥

सोमयागे दीक्षायां “सुत्रामाणम्” इत्येनां कृष्णाजिनस्थो यज-  
मानो जपेत् । “पुनन्तु मा [ ६. १६. १ ] इति पाव्यमानः सुत्रा-  
माणम् [ ७. ७. १ ] इति कृष्णाजिनम् उपवेशितः” इति हि  
वैतानं मूत्रम् [ वै० ३. १ ] ॥

अग्निचरणे “वाजस्य नु ममवे” इति वाजपसवीयहोमान् ब्रह्मा



अनुमन्त्रयेत् । “वाजस्य नु प्रसव इति वाजप्रसवीयहोमान्” इति  
[ वै० ५. २ ] वैतानसूत्रात् ॥

सर्वफलकामो “दितेः पुत्राणाम्” इति देवान् यजते उपतिष्ठते  
वा । “अथर्वाणाम् अदितिर्द्यौर्दितेः पुत्राणाम्” इति [ कौ० ७. १० ]  
हि कौशिकं सूत्रम् ॥

प्रवासे द्रव्यलाभार्थं “भद्रादधि” इति ऋचा आज्यसमित्पुरो-  
डाशादीनाम् अन्यतमं जुहुयाद् ऋचं जपेद् वा ॥

तथा अश्वादियानेन गच्छन् अनया अश्वादिकं संपात्य अभि-  
मन्त्र्य उदकेन संप्रोक्षयेद् मोचयेच्च ॥

तथा विक्रयं वस्त्रादिकम् अनया संपात्य अभिमन्त्र्य लाभ-  
कामः अभिमतं देशं नयेत् ॥

तथा लाभकामः अनया वस्त्रादिकम् अभिमन्त्र्य स्वीकुर्यात् ॥  
सूत्रितं हि । “भद्रादधीति प्रवत्स्यन्नुपदधीत् । जपति । यानं  
संप्रोक्ष्य विमोचयति । द्रव्यं संपातवद् उत्थापयति । निर्मृज्योप-  
यच्छति” इति [ कौ० ५. ६ ] ॥

तथा ग्रहयज्ञे “भद्रादधि” इत्यनया हविराज्यसमिदाधानोप-  
स्थानानि बृहस्पतये कुर्यात् । तद् उक्तं शान्तिकल्पे । “स बुध्न्यात्  
[ ४. १. ५ ] भद्रादधि श्रेयः प्रेहि [ ७. ६ ] बृहस्पतिर्नः [ ७. ५३ ]  
इति बृहस्पतये” इति [ शा० क० १५ ] ॥

“प्रपथे पथाम्” इति चतुर्ऋचेन नष्टद्रव्यलाभार्थं नष्टद्रव्या-  
काञ्चिणां दक्षिणं पाणिम् उन्मृज्य संपात्य विमृज्य वा उत्थापयेत् ॥  
तथा तत्रैव कर्मणि अनेन चतुर्ऋचेन एकविंशतिशर्करा अभि-  
मन्त्र्य चतुष्पथे निधाय विकिरेत् ॥

सूत्रितं हि । “प्रपथ” इति नष्टैपिणां प्रक्षान्तिताभ्यक्तपाणि-  
पादानां दक्षिणं पाणिं निर्मृज्योत्थापयेत् । एवं संपातव्रतो विमृ-  
ज्यैकविंशतिशर्कराश्चतुष्पथे निक्षिप्यावकिरति” [ कौ० ७. ३ ] ॥

तथा चातुर्मास्ये वैश्वदेवपर्वणि “प्रपथे पथाम्” इत्यनया पौष्ण्यां हविरनुमन्त्रयेत् । “चातुर्मास्यानि प्रयुञ्जीत” इति प्रक्रम्य “प्रपथे पथाम् [ ७. १० ] मरुतः पर्वतानाम् [ ५. २४. ६ ]” इति [ वै०-२. ४ ] वैताने सूत्रितम् ॥

“अदितिर्द्यौरदितिः” यह दूसरा सूक्त है । सर्वफलकाम व्यक्ति इसकी पहिली चार ऋचाओंसे अदितिका उपस्थान वा यजन करे । कौशिकसूत्र ७।१० में कहा है, कि—“अथर्वाणाम् (७।२) अदितिर्द्यौः (७।६) दितेः पुत्राणाम् (७।८)” ॥

तथा आधानकी पवमानेष्टिके आदित्यहविके अनुमन्त्रणमें ‘अदितिर्द्यौः’ का विनियोग होता है । आधानके प्रकरणमें वैतानसूत्रमें कहा है, कि—“पवमानः पुनातु (६।१६।२) त्वेपस्ते (१८।४।५६) अग्नी रक्षांसि (८।३।२६) अदितिर्द्यौः (७।६)” (वैतानसूत्र २।२) ॥

‘महीम् पु’ (७।६।२) इस वृचसे नाँका घट आदिकें द्वारा जलके तरनेमें स्वस्त्ययनको चाहने वाला नाँका आदिको अभिमन्त्रित करके उस नाँका आदिसे तरे ।

तथा दूरदेशमें नाँका आदिसे जाना चाहने वाला स्वस्त्ययन चाहता हो तो इस वृचसे नाँकाको सम्पातित करके तरे ।

तथा तहाँ ही कर्ममें इस वृचसे नाँमणिका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके नाविकोंके बाँध देय ।

कौशिकसूत्र ७।३ में कहा है, कि—“महीम् ध्विति तरणान्यारोहयति । दूरान्नावं संपातवतीं नाँमणिं बध्नाति” (कौशिकसूत्र ७।३) ॥

विवाहके चतुर्थिकाकर्ममें ‘महीम् पु’ इस ऋचासे खट्वाका स्पर्श करे । कौशिकसूत्र १०।५ में कहा है, कि—“महीम् ध्विति तत्प्यं आलम्भयति” ॥

तथा आवसथ्याध्यानमें क्रयद्विसर्जनके अनन्तर घरके नदी-  
रूपोंको बना कर जलसे भरे फिर 'महीमू पु' 'सुत्रामाणम्'  
इन दोनोंसे नौका पर चढ़े। सूत्रमें इस विषयका प्रमाण  
है, कि—“प्राग्दक्षिणं सप्त नदीरूपाणि कारयित्वा उदकेन  
पूरयित्वा आ रोहत सवितुर्नावम् एताम् ( १२ । २ । ४८ )  
सुत्रामाणम् ( ७ । ७ । १ ) महीमू पु ( ७ । ६ । २ ) इति सहि-  
रण्यां सयवां नावं आरोहयति ।—अर्थात् प्राग्दक्षिण सात नदी-  
रूपोंको बना कर उनको जलसे भरे फिर चारहवें काण्डके दूसरे  
अनुवाकके अड़तालीसवें 'आरोहत सवितुर्नावम् एताम्' सूक्तसे,  
सप्तम काण्डके सातवें अनुवाकके प्रथम सूक्त 'सुत्रामाणम्' से  
और सातवें काण्डके छठे अनुवाकके दूसरे सूक्त 'महीमू पु' से  
सुवर्ण और जौं वाली नौका पर चढ़े” ( कौशिकसूत्र ६ । ३ ) ।

सोमयागकी दीक्षामें कृष्णमृगचर्म पर विराजमान यजमान  
'सुत्रामाणम्' इस ऋचाका जप करे। वैतानसूत्र ३ । १ में कहा  
है, कि—पुनन्तु मा ( ६ । १६ । १ ) इति पाव्यमानः सुत्रामा-  
णम् ( ७ । ७ । १ ) इति कृष्णानिनं उपवेशितः” ॥

अग्निचयनमें ब्रह्मा वाजप्रसवीयहोमका 'वाजस्य तु प्रसवे' से  
अनुमन्त्रण करे। वैतानसूत्र ५ । २ में कहा है, कि—'वाजस्य तु  
प्रसव इति वाजप्रसवीयहोमान्' ॥

सर्वफलकाम “दितेः पुत्राणाम्” से देवोंका यजन वा उप-  
स्थान करे। इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि—  
'अथर्वाणं अदितिर्वादितेः पुत्राणाम्' ( कौशिकसूत्र ७ । १० ) ॥

प्रवासमें द्रव्यका लाभ होनेके लिए 'भद्रादधि' इस ऋचासे  
घृत समिधा पुरोडाश आदिमेंसे किसी एककी आहुति देवे वा  
इस ऋचाका जप करे।

तथा अश्वादियानसे चलता हुआ इससे अश्व आदिका संपा-  
दन और अभिमन्त्रण करके जलसे मोक्षण करे और छोड़ देय।

तथा वेचनेके वस्त्र आदिको इससे सम्पातित और अभिमन्त्रित करके लाभ चाहने वाला अभीष्ट स्थानको चला जावे ।

तथा लाभ चाहने वाला इससे वस्त्र आदिको अभिमन्त्रित करके स्वीकार करे ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—‘भद्रादधीति प्रवत्स्यन्नुपदधीत । जपति । यानं संप्रोच्य विप्रोचयति । द्रव्यं संपातवद् उत्थापयति । निमृज्योपयच्छति’ ( कौशिकसूत्र ( ५ । ६ ) ॥

तथा ग्रहयज्ञमें ‘भद्रादधि’ इस ऋचासे हवि धृत समिदाधान और उपस्थानोंको बृहस्पतिके लिये करे । इसी बातको शान्तिकल्पमें कहा है, कि—“स बुध्न्यात् ( ४ । १ । ५ ) भद्रादधि श्रेयः मेहि ( ७ । ६ ) बृहस्पतिर्नः ( ७ । ५३ ) इति बृहस्पतये ( शान्तिकल्प १५ ) ॥

नष्ट द्रव्य चाहने वालोंके नष्ट द्रव्यके लाभके लिये ‘प्रपथे पथाम्’ इस चतुर्ऋचसे दक्षिण पाणिको शुद्ध संपातित करे उठावे ॥ तथा तहाँ ही कर्ममें इस चतुर्ऋचसे इक्कीस रेतके कणोंको अभिमन्त्रित करके चौराहमें रख कर बखेर देय ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—‘प्रपथे इति नष्टैपिणां प्रक्षालिताभ्यक्तपाणिपादानां दक्षिणं पाणि निमृज्योत्थापयेत् । एवं संपातवतो विमृज्यैकविंशतिशर्कराथतुप्पथे निक्षिप्यावकिरति’ ( कौशिकसूत्र ७ । ३ ) ॥

तथा चातुर्मास्यके वैश्वदेवपर्वमें ‘प्रपथे पथाम्’ इस ऋचासे पूजा देवताकी हविका अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—‘चातुर्मास्यानि प्रयुज्जीत’ इति प्रक्रम्य ‘प्रपथे पथाम् ( ७ । १० ) मरुतः पर्वतानाम् ( ५ । २४ । ६ )’ ( वैतानसूत्र २।४ )

तत्र प्रथमा ॥

अदितिर्द्यौरदितिर्न्तरिक्षमादितिर्माता स पिता स पुत्रः

विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिः  
जनित्वम् ॥ १ ॥

अदितिः । द्यौः । अदितिः । अन्तरिक्षम् । अदितिः । माता ।  
सः । पिता । सः । पुत्रः ।

विश्वे । देवाः । अदितिः । पञ्च । जनाः । अदितिः । जातम् ।  
अदितिः । जनित्वम् ॥ १ ॥

अदितिः अदीना अखण्डनीया वा पृथिवी देवमाता वा । सैव  
द्यौः द्योतनशीलो नाकः । सैव अन्तरिक्षम् अन्तराद्यावापृथिव्यो-  
र्मध्ये ईक्ष्यमाणं व्योम । सैव माता निर्मात्री जगतो जननी । सैव  
पिता उत्पादकस्तातश्च । स पुत्रः मातापित्रोर्जातः पुत्रोपि सैव ।  
विश्वे देवाः सर्वेपि देवा अदितिरेव । पञ्च जनाः निषादपञ्च-  
माश्वत्वारो वर्णाः । यद्वा गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसि ।  
तद् उक्तं यास्केन । गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसित्येके ।  
चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवः इति [ नि० ३. ८ ] ।  
ऐतरेयब्राह्मणे तु एवम् आम्नातम् । “सर्वेषां वा एतत् पञ्चजना-  
नाम् उक्तं देवमनुष्याणां गन्धर्वाप्सरसां सर्पाणां च पितॄणां च”  
इति [ ऐ० ब्रा० ३. ३१ ] । तत्र गन्धर्वाप्सरसाम् ऐक्यात् पञ्च-  
जनत्वम् । एवं विधाः पञ्च जना अपि अदितिरेव । जातम् जननं  
प्रजानाम् उत्पत्तिः सापि अदितिरेव । जनित्वम् जन्माधिकरणम् ।  
यद्वा जातम् उत्पन्नं जनित्वम् उत्पत्त्यमानं च यद्वा अस्ति तदपि  
अदितिरेव । एवं सकलजगदात्मना अदितिः स्तूयते । उक्तं च  
यास्केन । इत्यदितेर्विभूतिम् आचष्टे इति [ नि० ४. २३ ] ।  
❀ अदितिः । दो अखण्डने । अस्मात् कर्मणि क्तिनि “द्यति-  
स्यतिमास्थाम्” इति इत्त्वम् । यास्कपक्षे तु दीङ् क्षये इत्यस्मात्

क्तिनि व्यत्ययेन ह्रस्वत्वम् । नञ्समासे अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर-  
त्वम् । स पितेति स पुत्र इति “निर्दिश्यमानप्रतिनिर्दिश्यमानयो-  
रेकताम् आपादयन्ति सर्वनामानि पर्यायेण तन्लिङ्गताम् उपा-  
ददते” इत्युद्देश्यलिङ्गतया पुंलिङ्गत्वम् । जनित्वम् । जनेरौणा-  
दिक इत्वं प्रत्ययः ॥

अखण्डनीय पृथिवी वा अदीना देवमाता-अदिति ही शोत-  
नशीला द्याः (स्वर्ग) है, वही द्यावापृथिवीके मध्यमें दीखता हुआ  
अन्तरिक्ष है, और वही अदिति माता अर्थात् जगत्का निर्माण  
करने वाली जननी है, वही पिता अर्थात् उत्पादक तात है, माता  
पितासे उत्पन्न हुआ पुत्र भी वही है और सब देवता भी अदिति  
ही है, निषाद पञ्चम जन भी अदिति ही हैं । प्रजाकी उत्पत्ति  
जनन भी अदिति ही हैं, जो कुछ उत्पन्न हुआ है और हो रहा  
है वह सब अदिति ही है ( इस प्रकार सकलजगदात्मारूपसे  
अदितिकी स्तुति की है यास्कमुनिने भी कहा है, कि-‘इत्यदि-  
तेर्विभूतिमाचष्टे’ ( नि० ४ । २३ ) ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

महीम् पु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हवामहे  
तुविस्तत्रामजरन्तीमुरुचीं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्  
महीम् । ऊं इति । सु । मातरम् । सुव्रतानाम् । अमृतस्य ।

पत्नीम् । अवसे । हवामहे ।

तुविस्तत्राणाम् । अजरन्तीम् । उरुचीम् । सुशर्माणम् । अदितिम् ।

सुप्रणीतिम् ॥ २ ॥

महीम् महती मंहनीयां वा सुव्रतानाम् । व्रतम् इति कर्मनाम ।

शोभनकर्मणां पुरुषाणां मातरम् मातृस्थानीयाम् ऋतस्य सत्यस्य  
 यज्ञस्य वा पत्नीम् पालयित्रीं तुविचित्राम् बहुवलां बहुधनां वा ।  
 ❀ त्रिचक्रादित्वाद् उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀ । अजरन्तीम् अवि-  
 नश्यरीम् उरुचीम् उरुन् महतः अञ्जतीम् उरु महद् अतिदूरं वा  
 गच्छन्तीं बहुप्रकारगतिं वा । ❀ “चौ” इति पूर्वपदस्य दीर्घ-  
 त्वम् ❀ । सुशर्माणम् सुसुखाम् । ❀ “सोर्मनसी अलोभोपसी”  
 इति उत्तरपदाधुदात्तत्वम् ❀ । सुप्रणीतिम् सुखेन कर्मणां प्रणेत्रीं  
 सुष्ठु प्रणीयमानां वा अदितिम् अखण्डनीयां देवमातरं नावं वा  
 अवसे रक्षणाय सु सुष्ठु हवामहे आह्वयामः । ❀ व्यत्ययेन  
 शः ❀ । उ इति पदपूरणे ॥

शोभन कर्म वाले पुरुषोंकी मातृस्थानीया, सत्य और यज्ञका  
 पालन करने वाली, परम धनवलवती, अविनाशिनी, सुन्दर सुख  
 से सम्पन्न अनेक प्रकारकी गति वाली, सुखसे प्रणीत विशाल  
 देवमाता अदिति वा नौकाका हम रक्षाकेलिये आह्वान करते हैं २  
 तृतीया ॥

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणी-  
 तिम् ।

दैवीं नावं स्वरित्रामनागसो अक्षवन्तीमा रुहेमा  
 स्वस्तये ॥ १ ॥

सुत्रामाणम् । पृथिवीम् । द्याम् । अनेहसम् । सुशर्माणम् ।

अदितिम् । सुप्रणीतिम् ।

दैवीम् । नावम् । सुस्वरित्राम् । अनागसः । अक्षवन्तीम् । आ ।

रुहेम । स्वस्तये ॥ १ ॥

मुत्रामाणम् सुष्ठु त्रायमाणां पृथिवीम् विस्तीर्णाम् । ❀ प्रथेः  
 पिवन संप्रसारणं च [ उ० १. १४८ ] इति प्रत्ययसंप्रसारणे ।  
 पित्वात् डीप् ❀ । ग्राम् द्योतमानाम् अभिगन्तव्यां वा अनेह-  
 सम् अपापाम् । सुजर्माणम् इति पादः पूर्वस्याम् ऋचि व्या-  
 ख्यातः । स्वरित्राम् शोभनारित्राम् । अरित्रम् उदकक्षेपणसाधन-  
 भूतो दण्डः । अस्तवन्तीम् अच्छिद्रां देवीम् देवानाम् इयम् ।  
 ❀ “देवाद् यजर्जा” इति अय् प्रत्ययः ❀ । देवमातरं देवसं-  
 यन्धिर्नी वा नावम् नौसदृशीं प्रसिद्धां वा नावम् अनागसः अन-  
 पराधा वयं स्वस्तये क्षेमाय आ रुहेम आरूढा भूयास्म ।  
 ❀ “लिङ्याशिष्यङ्” । “अन्येषामपि दृश्यते” इति सांहितिको  
 दीर्घः ❀ ॥ अस्य मन्त्रस्य दीक्षायां कृष्णाजिनादिरूढेन यज-  
 मानेन जप्यत्वाद् नौशब्देन कृष्णाजिनं चित्रक्ष्यते । तथा च ऐत-  
 रेयब्राह्मणे । “कृष्णाजिनं वै सुतर्मा नौः” । इत्याम्नातम् [ ऐ०-  
 ब्रा० १. १३ ] । सर्वाणि विशेषणानि पूर्ववद् योज्यानि ॥

भली प्रकार रक्षा करने वाली विस्तीर्ण, गन्तव्य, पापरहित  
 सुन्दर सुखमे सम्पन्न अखण्डनीय देवमाता अदिति वा नौका  
 की हम शरण लेते हैं—आरोहण करते हैं—। यह सुखपूर्वक कर्मोंका  
 प्रणयन करती हैं वा भली प्रकार प्रणीत हैं । छिद्ररहित हैं देव-  
 ताओंसे इनका सम्बन्ध है और नौकाकी समान तारने वाली हैं  
 इनके पार उतारनेका ( वा नौकाका दण्ड शोभन है, और यह  
 निरपराधा है अत एव ऐसी नौका पर हम चढ़ते हैं, वा देवमाता  
 अदितिकी हम शरण लेते हैं ॥ १ ॥

‡ इस मन्त्रको कृष्णमृगचर्म पर आरूढ़ यजमान जपता है अत  
 एव नौकाशब्दसे कृष्णमृगचर्म लिया जाता है । इसी वातको ऐत-  
 रेयब्राह्मणमें कहा है, कि—“कृष्णाजिनं वै सुतर्मा नौः—कृष्णमृग-  
 चर्म सुन्दरतासे तारने योग्य नौ है” ( ऐतरेयब्राह्मण १ । १३ ) ॥



चतुर्थी ॥

वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदिति नाम वचसा करा-  
महे ।

यस्या उपस्थे उर्वं अन्तरिक्षं सा नः शर्म त्रिवरुथं  
नि यच्छात् ॥ २ ॥

वाजस्य । नु । प्रसवे । मातरम् । महीम् । अदितिम् । नाम ।  
वचसा । करामहे ।

यस्याः । उपस्थे । उर्वं । अन्तरिक्षम् । सा । नः । शर्म । त्रिवरु-  
थम् । नि । यच्छात् ॥ २ ॥

वाजस्य अन्नस्य प्रसवे उत्पत्तौ उत्पत्त्यर्थम् । ❀ “थाय०”  
इत्यादिस्वरेण अन्तोदात्तः ❀ । मातरम् अन्नस्य निर्मात्री महीम्  
महतीम् अदिति नाम । अदितिः अदीना अखण्डनीया, वा । एवं-  
नामधेयाम् एवं स्वभावां नावं वा नु क्षिप्रं वचसा स्तुत्या करामहे  
कुर्महे । अदितिं नावं वा अन्नप्रसवार्थं स्तुम इत्यर्थः । ❀ करो-  
तेर्व्यत्ययेन शप् ❀ । यस्या अदित्या उपस्थे उत्सङ्गे समीपे उरु  
विस्तीर्णम् अन्तरिक्षम् आकाशं वर्तते सा अदितिः नः अस्माकं  
त्रिवरुथम् त्रिभूमिकं त्रिकक्ष्यं शर्म गृहं नियच्छात् नियच्छतु प्रय-  
च्छतु । ❀ यमेलेति आढागमः । “इषुगमियमां हः” इति आदेशः ❀ ॥

अन्नकी उत्पत्तिके लिये, अन्नका निर्माण कर सकने वाली  
विशाल अखण्डनीय नौकाकी हम बाणीसे स्तुति करते हैं, जिस  
अखण्डनीय नौकाके समीपमें विशाल आकाश है, वह अदिति  
अर्थात् अखण्डनीया नौका हमको तिलन्ना भवन देवे ।

अथवा—अन्नकी उत्पत्तिके लिये हम, अन्नका निर्माण करने वाली विशाला देवमाता अदिति देवीकी वाणीसे स्तुति करते हैं, उन अदिति देवीकी गोदमें बड़ा आकाश है वह अदितिदेवी हम को तिमँजला भवन देवें ॥ २ ॥

पञ्चमी ॥

दितेः पुत्राणामदितेस्कारिपमव देवानां बृहतामनर्म-  
णाम् ।

तेषां हि धाम गभिषक् समुद्रियन्नैनान् नमसा परो  
अस्ति कश्चन ॥ १ ॥

दितेः । पुत्राणाम् । अदितेः । अकारिपम् । अव । देवानाम् ।  
बृहताम् । अनर्मणाम् ।

तेषाम् । हि । धाम । गभिऽसक् । समुद्रियम् । न । एनान् ।  
नमसा । परः । अस्ति । कः । चन ॥ १ ॥

कश्यपस्य द्वे भार्ये अदितिर्दिनिश्च । तत्र अदितेरुत्पन्ना देवाः ।  
दितेस्तु दैत्या दानवाः । तथा सति देवयागे अस्या ऋचो विनि-  
योगाद् देवप्रशंसापरत्वेन व्याख्यायते । दितेः पुत्राणाम् दैत्यानां  
संवन्धि । तेषां हि धामेति तृतीयपादे दैत्यस्थानस्य उक्तत्वाद्  
अत्र पठ्या तत्संवन्धि स्थानं विवक्ष्यते । दैत्यानां स्थानम् अव ।  
❀ उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः ❀ । अवकृष्य दैत्येभ्यः अपहृत्य  
अदितेः । जन्ये जनकशब्दः । पुत्राणाम् इति वा अनुपदः । अदितेः  
पुत्राणां देवानाम् । अर्थायेति शेषः । दितेः पुत्राणां स्थानम् अया-

कारिणम् अवकिरामि अवक्षिपामि । यथा तद् धाम दैत्यानां निवा-  
साय न भवेत् तथा विप्रकीर्णं करोमीत्यर्थः । ॐ कं विक्षेपे ।  
लुङि “आर्धधातुकस्येड्वत्लादेः” इति इडागमे वृद्धौ रूपम् ॐ ।  
देवा विशेष्यन्ते । बृहताम् गुणैर्महताम् अनर्मणाम् अर्म हतस्था-  
नम् तद्रहितानां शत्रुभिरनभिभाव्यानाम् । हिर्हेता । हि यस्मात्  
समुद्रियं समुद्रे भवम् । ॐ “समुद्राभ्राद् घः” इति घः ॐ ।  
समुद्रम् अन्तरिक्षं प्रसिद्धो वा समुद्रः । तत्र दैत्या निवसन्तीति  
हि प्रसिद्धिः । तादृशं समुद्रभवं तेषां दैत्यानां धाम स्थानं गभि-  
पक् । गम्भीरम् इत्यर्थः । परैर्दुष्प्रवेशम् । दुर्जयम् इति यावत् ।  
अतः अवकृष्य किरामि अवक्षिपामि तेषामिति संबन्धः । किमिति  
दैत्यतिरस्कारः तद् आह । एनान् । देवानां बृहताम् अनर्मणाम्  
इति गुणाधिक्यस्य उक्तत्वात् ते देवा अत्र अन्वादिश्यन्ते । एनान्  
देवान् परः । ॐ परशब्दयोगे पञ्चम्या भवितव्यम् । अत्र छान्दसो  
विभक्तिव्यत्ययः ॐ । एतेभ्यो देवेभ्यः परः अन्यः कश्चन । चतेति  
निपातसमुदायः अप्यर्थे । कश्चिदपि नमसानमस्कारेण हविर्लक्ष-  
णेन अन्नेन वा न संभाव्योस्ति । अतो देवानामेव यष्टव्यत्वेन  
प्रशस्तत्वात् तदर्थे नानेन यागेन अस्माभिरभिलषितसिद्धिराशास्यते  
... ( कश्यप मुनिकी दिति और अदिति नाम वाली दो भार्यायें  
थीं । इनमें अदितिसे देवता उत्पन्न हुए और दितिसे दैत्य उत्पन्न  
हुए । और देवयागमें इस ऋचाका विनियोग है अतः देवताओंकी  
प्रशंसामें इसकी व्याख्या की जाती है, कि- ) दैत्योंके स्थानको  
मैं दैत्योंसे छीन कर अदितिके पुत्र देवताओंका करता हूँ अर्थात्  
जिस प्रकार वह धाम दैत्योंके निवासके लिये न हो तिस प्रकार  
उसको विप्रकीर्ण करता हूँ, ये देवता गुणोंसे बड़े हैं और हत-  
स्थानसे रहित हैं । उन दैत्योंका स्थान समुद्र ( वा ) अन्तरिक्षमें  
है और वह गम्भीर है अर्थात् शत्रु उसमें कठिनतासे प्रवेश कर

सकृते हे और इन देवताओंसे अधिक हविष्ठा वा नमस्कारका पात्र और कोई नहीं है, अतः पूजनीय होनेके कारण देवताओंके निमित्त किये हुए इस यागसे हम अपनी अभिलषित सिद्धिही आशा करते हैं ॥ १ ॥

पृष्ठी ॥

भद्रादधि श्रेयः मेहि बृहस्पतिः पुरस्तात् अस्तु ।

अथेममस्या वर आ पृथिव्या आरेशन्तु कृणुहि सर्ववीरम्

भद्रात् । अधि । श्रेयः । म । इहि । बृहस्पतिः । पुरःस्तात् । ते । अस्तु ।

अथ । इमम् । अस्याः । वर । आ । पृथिव्याः । आरेशन्तुम् ।

कृणुहि । सर्ववीरम् ॥ १ ॥

हे बलधनदिलाभकाम पुरुष भद्रात् मङ्गलात् संपदः । ❀ अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀ । श्रेयः संपदं मेहि मगच्छ प्रकर्षेण गच्छ । उत्तरोत्तरं संपदं प्राप्नुहीत्यर्थः । यद्वा भद्रात् भन्दनीयाद् अस्मात् स्थानात् श्रेयः अतिशयितलाभहेतुं स्थानं मेहि । देशान्तरं गच्छतः पुरुषस्य बृहस्पतिसाहायकं दर्शयति । ते लाभार्थं । गच्छतस्तव बृहस्पतिः बृहतां देवानां पतिः हिताचरणेन पालयिता एतन्नामा देवः पुरस्ता अस्तु पुरतो गन्ता अग्रगामी भवतु । ❀ मात्तमाले लोट् । “पुरोव्ययम्” इति गतित्वाद् “गतिकारकोपपदात् कृत्” इति उत्तरपदमकृतिस्वरत्नम् ❀ ॥ उत्तरार्धे बृहस्पतिः संबोध्यते । हे बृहस्पते त्वम् अथ पुरतो गमनानन्तरम् इमं लाभकामं पुरुषम् अस्याः पृथिव्या वर उत्कृष्टे लाभस्थाने आ । ❀ उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः ❀ । आस्यापय । यस्मिन् प्रदेशे

धनादिलाभविशेषो भवति तत्र इमं पुरुषं संयोजयेत्यर्थः । अपि च सर्ववीरम् सर्वे वीराः पुत्रभृत्यादयः [ यस्य ] तादृशं शत्रुम् आरे दूरे कृणुहि कुरु । लाभस्थाने लाभकामस्य पुरुषस्य ये परिपन्थिनो जनाः तान् दूरम् अपसारयेत्यर्थः । ॐ कृविहिंसाकरणयोश्च । “धिन्विकृण्व्योर च” इति उपत्ययः । “उतश्च प्रत्ययाच्छन्दसि वा वचनम्” इति हेतुर्गभावः ॐ ॥

हे वस्त्र धन आदिके लाभको चाहने वाले ! आप इस मङ्गलमय कर्मसे उत्कृष्टसम्पत्तिको प्राप्त करिये, अथवा—इस कल्याणमय स्थानसे परमलाभ कराने वाले स्थानको भेजिये ( देशान्तरको जाने वाले पुरुषकी बृहस्पतिसाहाय्यको दिखाते हैं, कि—) लाभार्थ जानेवाले तुम्हारे आगे २ बड़े २ देवताओंके पति बृहस्पति-देव चले । और हे बृहस्पते ! आप आगे २ होने पर इस लाभ चाहने वाले पुरुषको इस पृथिवीके लाभके श्रेष्ठ स्थानमें स्थापित करिये । और जिसके पास पुत्र भृत्य आदि सब वीर हैं उस शत्रुको दूर करिये अर्थात् लाभस्थानमेंसे इसके प्रतिद्वन्द्वियोंको हटादीजिये ।

सप्तमी ॥

प्रपथे पथामजनिष्ट पूषा प्रपथे दिवः प्रपथे पृथिव्याः ।  
उभे अभि प्रियतमे सधस्थे आ च परा च चरति  
प्रजानन् ॥ १ ॥

प्रपथे । पथाम् । अजनिष्ट । पूषा । प्रपथे । दिवः । प्रपथे ।  
पृथिव्याः ।

उभे इति । अभि । प्रियतमे इति प्रियस्तमे । सधस्थे इति सधस्त्ये ।

आ । च । परा । च । चरति । प्रजानन् ॥ १ ॥

पूषा पोषको मार्गरक्षको देवः पथाम् मार्गाणां प्रपथे प्रक्रान्तः पन्थाः प्रपथः । मार्गमुखे अजनिष्ट प्रादुर्भवति रक्षणार्थम् । तथा पूषैव दिवः, द्यलोकस्य प्रपथे प्रवेशद्वारे, पृथिव्याः प्रपथे प्रवेशद्वारे । अजनिष्ट इति संबन्धः । सोयं पूषा प्रियतमे अतिशयेन प्रीतिमत्पूँ सधस्ये परस्परं सहैव अवस्थिते । ॐ “सध मादस्य-योरद्धन्दसि” इति सहस्य सधादेशः ॐ । तादृश्यौ उभे द्यावा-पृथिव्यौ अभिलक्ष्य प्रजानन् यजमानैः कृतं कर्म तत्फलं च प्रकर्षेण विद्वान् आ चरति च परा चरति च दिवः पृथिवीम् आगच्छति पृथिव्या दिवं परागच्छति । सर्वप्राणिकृतस्य कर्मणः साक्षी भूत्वा उभयोरपि लोकयोर्गमनागमने करोतीत्यर्थः ॥

मार्गरक्षक पोषक पूषा देवता प्रवेश मार्गमें रक्षा करनेके लिये प्रादुर्भू होजाने हैं, तथा पूषा देवता ही द्युलोकके प्रवेशद्वारमें रक्षा करनेके लिये आविर्भूत होते हैं और, पृथिवीके प्रवेशद्वारमें रक्षाके लिये आविर्भूत रहते हैं । और, यह पूषा देवता परमप्रेमी परस्पर साथ ही साथ स्थित दोनों द्यावापृथिवीको लक्ष्य कर यजमानोंके किये हुए कर्म और कर्मफलको जानते हुए द्यौसे पृथिवी पर आते हैं और, पृथिवी परसे द्यौ पर जाते हैं । अर्थात् सब प्राणियोंके किये हुए कर्मोंके साक्षी बन कर दोनों लोकोंमें गमनागमन करते हैं ?  
- अष्टमी ॥

पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेपत् ।

स्वस्तिदा आष्टृणिः सर्ववीरोऽप्रयुञ्चन् पुर एतु प्रजानन् पूषा । इमाः । आशाः । अनुः । वेदः । सर्वाः । सः । अस्मान् । अभयऽतमेन । नेपत् ।

स्वस्ति॒ऽदाः । आ॒ष्टु॒णिः । सर्व॑ऽवीरः । अ॒प्र॒यु॒च्छन् । पु॒रः । ए॒तु ।  
प्र॒जानन् ॥ २ ॥

पूषा पोषको देवः इमाः सर्वा आशाः दिशः अनु वेद अनुक्रमेण जानाति । स पूषा देवः अस्मान् अभयतमेन अत्यन्तभयरहितेन मार्गेण नेषत् नयतु । ॐ नयतेर्लो॒टि “सि॒व्वहु॒लम्०” इति सिप् । अडागमः ॐ । सोयं पूषा स्वस्तिदाः क्षेमस्य कन्याणस्य वा दाता आष्टुणिः आगतदीप्तिर्व्याप्तदीप्तिर्वा सर्ववीरः सर्ववीरैः पुत्रादिभिर्युक्तः अमयुच्छन् । ॐ युञ्ज प्रमादे ॐ । प्रमादम् अकुर्वन् प्रजानन् अस्मदभिप्रायं मार्गं वा प्रकर्षेण जानन् पुर एतु पुरतो गच्छतु । अस्मदभिलषितसाधनायेति शेषः ॥

पोषक पूषा देव इन सब दिशाओंको अनुक्रमसे जानते हैं, वह पूषा देवता हमको परम निर्भय मार्गसे लेजावे यह पूषादेवता क्षेम और कन्याणके देने वाले हैं और दीप्तिसे व्याप्त रहते हैं, पुत्र आदि सब वीरोंसे युक्त हैं—ऐसे सूर्यदेव हमारे अभिलषित मार्गको जानते हुए हमारे आगे २ हमारे अभिलषितको जाननेके लिये चलें ॥ २ ॥

नवमी ॥

पू॒षन् तव॑ व्र॒ते व॒यं न रि॑ष्येम क॒दा च॒न ।

स्तो॒तार॑स्त इ॒ह स्म॑सि ॥ ३ ॥

पू॒षन् । तव॑ । व्र॒ते । व॒यम् । न । रि॑ष्येम । क॒दा । च॒न ।

स्तो॒तारः । ते । इ॒ह । स्म॑सि ॥ ३ ॥

हे पूषन् पोषक देव तव व्रते कर्मणि यागरूपे वर्तमाना वयं कदा चन कदाचिदपि न रिष्येम न विनश्येम । पुत्रमित्रादिभि-

धनेन च वियुक्ता मा भूमेत्यर्थः । ॐ रूप रिष हिंसायाम् । दैवा-  
विक्रः ॐ ॥ किं च इह अस्मिन् कर्मणि इदानीं वा ते तव स्तो-  
तारः स्तुतिं कुर्वाणाः स्मसि भवामः ॥

हे पूषन् ! हम आपके यागरूप कर्ममें वर्तमान रहते हुए कभी  
भी नष्ट न होवें अर्थात् पुत्र मित्र और धनसे भी वियुक्त न होवें,  
क्योंकि-हम इस कर्ममें आपकी स्तुति करते हैं ॥ ३ ॥

दशमी ॥

परि पूषा परस्ताद्धस्तं दधातु दक्षिणम् ।

पुनर्नो नष्टमाजंतु सं नष्टेन गमेमहि ॥ ४ ॥

परि : पूषा । परस्तात् । हस्तम् । दधातु । दक्षिणम् ।

पुनः । नः । नष्टम् । आ । अजतु । सम् । नष्टेन । गमेमहि ॥४॥

पूषा पोषको देवः परस्तात् परतः अतिदूरद्व देशादपि । धनम्  
आदातुम् इति शेषः । दक्षिणं हस्तं परिदधातु प्रसारयतु । यत्र-  
यत्र अस्माकं दिक्षितं धनम् अस्ति तद् धनम् अस्माकं दातुं तत्र-  
तत्र देशे हस्तं प्रसारयतु इत्यर्थः । न अस्मान् नष्टं धनं पुनः  
आजतु पुनरागच्छतु । ॐ अज गतिक्षेपणयोः ॐ । न केवलम्  
आगमनं किं तु नष्टेन पुनरागतेन धनेन सं गमेमहि संगच्छेमहि ।  
धनेन संगता भवेमेत्यर्थः । ॐ संपूर्वाद् गमेरात्मनेपदिनो “लिङ्या-  
शिष्यद्” इति अह् प्रत्ययः ॐ ॥

इति सप्तमे काण्डे प्रथमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

पोषक पूषा देव अतिदूर देशसे भी धन लेनेके लिये दाहिने  
हाथको फैलावें । अर्थात् जहाँ २ हमारे देने योग्य धन है उस  
धनको हमको देनेके लिये उस २ देशमें हाथ फैलावें, हमारा नष्ट



हुआ धन हम पर आवे, वह धन हम पर आवे ही नहीं, किन्तु हम उस पुनर्वार आये हुए धनसे संयुक्त होवें ॥ ४ ॥

सप्तम काण्डके प्रथम अनुवाक्यमें द्वितीय सूक्त समाप्त ( ३२१ ) ॥

“यस्ते स्तनः” इति तृतीयं सूक्तम् । तत्र जम्भगृहीतबालक-  
पैषज्यार्थं “यस्ते स्तनः” इत्यनया स्तनम् अभिमन्त्र्य बालं पाययेत्  
तथा तत्रैव कर्मणि म्रियंगुतण्डुलानाम् उपरि क्षीरं दुग्ध्वा  
अनया ऋचा अभिमन्त्र्य व्याधितं पाययेत् ॥

सूत्रितं हि । “यस्ते स्तन इति जम्भगृहीताय स्तनं प्रयच्छति ।  
म्रियंगुतण्डुलान् अभ्यवदुग्धान् पाययति” इति [ कौ० ४. ८ ] ॥

अशनिनिवारणकर्मणि “यस्ते पृथु स्तनयित्नुः” इति ऋचा  
अशनिम् उपतिष्ठेत् । “यस्ते पृथु स्तनयित्नुरित्यशनिम्” इति  
[ कौ० ५. २ ] सूत्रात् ॥

तथा ग्रहयज्ञे अनया हविराज्यहोमसमिदाधानोपस्थानानि केतवे  
कुर्यात् । तद् उक्तं शान्तिकल्पे । “यस्ते पृथु स्तनयित्नुः [ ७. १२ ]  
देवो देवान्” [ १८. १. ३० ] इत्यादि “केतुं कृण्वन्नकेतवे [ ऋ०  
१. ६. ३ ] इति केतवे” [ शा० क० १५ ] इत्यन्तम् ॥

तथा उपाकर्मणि अनया आज्यं जुहुयात् ॥

“सभा च मा” इति पञ्चर्चेन सभाजयकर्मणि क्षीरौदनं पुरो-  
डाशं रसान् वा संपात्य अभिमन्त्र्य अश्नीयात् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि पञ्चर्चं जपन् सभास्तम्यं गृह्णीयात् ॥ :

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन पञ्चर्चेन सभाम् उपतिष्ठेत् ॥

“सभा च मेति भक्षयति । स्यूणे गृह्णाति उपतिष्ठते” इति  
[ कौ० ५. २ ] कौशिकसूत्रात् ॥

कृत्याप्रतिहरणकर्मणि कृत्यानिःसारणानन्तरं स्वगृहम् आगत्य  
“यथा सूर्यः” इत्यृचं जपन् प्रदक्षिणं गच्छेत् । “यथा सूर्य इत्या-  
वृत्त्याव्रजति” इति सूत्रात् [ कौ० ५. ३ ] ॥

- अभिचारकर्मणि “यथा सूर्यो नक्षत्राणाम्” इति व्युत्पत्तिः । शत्रुं दृष्ट्वा जपेत् ॥

तत्रैव कर्मणि “यावन्तो मा सपत्नानाम्” इति जपित्वा शत्रून् निरीक्षते ॥

तथा नैष्ठिककर्मणि निष्ठितप्रतिकृतिविसर्जनानन्तरं “यथा सूर्यः” इति जपन् पुनः स्वगृहम् आगच्छेत् । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । “उपानहायुपमुच्य यथा सूर्य इत्यावृत्त्याव्रजति” इति [ न० क० १५ ]

“यस्ते स्तनः” यह दूसरा सूक्त है । इसकी ‘यस्ते स्तनः’ ऋचासे जम्भगृहीत बालककी चिकित्साके लिये स्तनको अभिमन्त्रित करके पिला देय ।

तथा तहाँ ही कर्ममें कँगनीके चावल्लोके ऊपर, दूध दुह कर इस ऋचासे अभिमन्त्रित कर रोगीको पिला देय ।

इस विषयमें, सूत्रका प्रमाण भी है, कि—“यस्ते स्तन इति जम्भगृहीताय स्तनं प्रयच्छति । प्रियंगुतण्डुलान् अभ्यवदुर्गन्धान् प्राययति” ( कौशिकसूत्र ४ । ८ ) ॥

अशनिनिवारणकर्ममें ‘यस्ते पृथुस्तनयित्नुः’ इस ऋचासे अशनिका उपस्थान करे । कौशिकसूत्र ५ । २ में कहा है, कि—‘यस्ते पृथुस्तनयित्नुरित्यशनिम्’ ।

तथा ग्रहयज्ञमें इस ऋचासे हवि घृत होम समिदाधान और उपस्थानोंको केतुके लिये करे । इसी बातको शान्तिकल्पमें कहा है कि—‘यस्ते पृथुस्तनयित्नुः ( ७ । १२ ) देवो देवान् ( १८ । १ । ३० ) इत्यादि ‘केतुं कृण्वन्नकेतवे ( ऋ० १ । ६ । ३ ) इति केतवे’ ( शान्तिकल्प १५ ) ॥

तथा उपाकर्ममें इस ऋचासे आहुति देय ।

‘समा च मा’ इस पञ्चर्चसे सभाजयकर्ममें क्षीरीदनको पुरोडाशको वा रसोंको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके प्राशन करे ।

तथा तहाँ ही कर्ममें पञ्चर्चको पढ़ता हुआ सभास्तम्भको ग्रहण करे ।

तथा तहाँ ही कर्ममें इस पञ्चर्चसे सभामें बैठे ।

कौशिकसूत्र ५ । २ में कहा है, कि—‘सभा च मेति भक्षयति । स्थूणे गृह्णाति उपतिष्ठते’ ॥

कृत्याप्रतिहरणकर्ममें कृत्यानिःसारणके अनन्तर अपने घरमें आकर ‘यथा सूर्यः’ इस ऋचाको जपता हुआ प्रदक्षिण जावे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ५ । ३ का प्रमाण है, कि—“यथा सूर्य इत्याहुत्याव्रजति” ॥

अभिचार कर्ममें ‘यथा सूर्यो नक्षत्राणाम्’ इस ऋचाका शत्रुको देख कर जप करे ।

तथा तहाँ ही कर्ममें ‘याचन्तो मा सपत्नानाम्’ को जप कर शत्रुओंको देखे ।

तथानैष्ठिककर्ममें नैष्ठिकी प्रतिकृतिके विसर्जनके अनन्तर ‘यथा सूर्यः’ को जपता हुआ फिर अपने घरको आवे । इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि—‘उपानहावुपमुच्य यथा सूर्य इत्याहुत्याव्रजति’ ( नक्षत्रकल्प १५ ) ॥

तत्र प्रथमा ॥

यस्ते स्तनः शशयुर्यो मयोभूर्यः सुम्नयुः सुहव्रो यः  
सुदत्रः ।

येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह  
आतवेकः ॥ १ ॥

यः । ते । स्तनः । शिशुः । यः । मयःऽभूः । यः । मुन्नऽयुः ।  
मुहवः । यः । मुदत्रः ।

येन । विश्वा । पुष्यसि । वार्याणि । सरस्वति । तम् । इह ।  
धातवे । नः ॥ १ ॥

हे सरस्वति वर्णपदवाक्यादिना सरणवति वाग्देवते ते तव यः  
स्तनः शिशुः शिशोः पोषं कुर्वन् भवति । ॐ “प्रातिपदिकाद्  
धात्वर्थे बहुलम् इष्टवच्च” इति शिशुशब्दात् पुष्पातिधात्वर्थे  
णिच् प्रत्ययः । इष्टवद्भावात् शिशोऽष्टिलोपः । एयन्ताद् औणा-  
दिश्च उप्रत्ययः । णिलोपाभावश्चान्दसः । एयन्तत्वादेव अनव-  
ग्रहः ॐ । शेतेर्वा । शिशुः निगूढः । अनुपासकानाम् अमकाश  
इत्यर्थः । “यस्ते स्तनो गुहायां निहितः” इति वाजसनेयश्रुतेः ।  
यश्च स्तनो मयोभूः । मय इति मुखनाम । मुखस्य भावयिता ।  
यश्च मुन्नयुः मुन्नं मुखं परेषाम् इच्छतीति मुन्नयुः । ॐ “छन्दसि  
परेच्छायाम्” इति क्यच् ॐ । सामान्यविशेषविवक्षया मयोभूः  
मुन्नयुरिति विशेषणद्वयम् । मुहवःशोभनादानः सर्वैराप्यायनार्थं  
सम्यग् आहूयमानः । काम्यमान इत्यर्थः । यश्च मुदत्रः कन्याण-  
दानः मुदनां वा । येन च स्तनेन विश्वा विश्वानि वार्याणि वर-  
णीयानि धनानि पुष्यसि पोषयसि । स्तोतृभ्य इति शेषः । तं  
तादृशगुणोपेतं स्तनम् इह अस्मिन् जन्मगृहीते बालके धातवे धातुं  
पातुं योग्यं कः कुर । ॐ घेद् पाने । तुमर्थे तवेन् प्रत्ययः ।  
करिति । ऋतेरश्चान्दसे लुङि “मन्त्रे घस०” इति च्लेलुङि  
गुणे । “हल्ङ्या०” इत्यादिना सिपो लोपे “०अमाहयोगेपि”  
इति अडभावे रूपम् ॐ ॥

हे वर्णपदवाक्यादिरूपसे सरने वाली सरस्वती देवि ! आपका

जो स्तन बालकोंको पुष्ट करने वाला है अथवा अनुपासकोंके लिये सोता रहता है † और आपका जो स्तन सुख देने वाला है, सबसे काम्यमान है, सुन्दर धन वाला है और जिस स्तनसे आप वरणीय समस्त धनोंको स्तोताओंके पुष्ट लिये करती हैं ऐसे स्तनको पीनेका पात्र इस बालकको करिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यस्ते पृथु स्तनयित्सुर्न ऋष्वो देवः केतुर्विश्वमाभूष-  
तीदम् ।

मा नो वधीर्विश्रुता देव सस्यं मोत वधी रश्मिभिः  
सूर्यस्य ॥ १ ॥

यः । ते । पृथुः । स्तनयित्सुः । यः । ऋष्वः । देवः । केतुः ।

विश्वम् । आऽभूषति । इदम् ।

मा । नः । वधीः । विश्रुता । देव । सस्यम् । मा । उत । वधीः ।

रश्मिभिः । सूर्यस्य ॥ १ ॥

हे देव द्योतनशील पर्जन्य ते तव स्वभूतः पृथुः विस्तीर्णो महान् यः स्तनयित्सुः गर्जनरूपशब्दं कुर्वन् अशनिः यश्चरुष्वः बाधकः ।  
❀ रूपं हिंसायाम् । औणादिकः क्वन् प्रत्ययः ❀ । देवः देवस्य पर्जन्यस्य संबन्धी देवैर्निर्मितो वा । ❀ 'देवाद् यञञौ' इति

† वाजसनेयश्रुतिमें कहा है, कि 'यस्ते स्तनो गृहायां निहितः ।— आपका जो स्तन ( अङ्गानियोंके लिये ) गृहामें स्थित रहता है— अप्रकाशित रहता है' ।

अन्नं प्रत्ययः ॐ । केतुः अनर्थज्ञापकोशनिःकेतुरूपो वा ग्रहः इदं  
परिदृश्यमानं विश्वम् आभूषति व्याप्नोति । बाधितुम् इति शेषः ।  
हे देव पर्जन्य विद्युता तादृश्या अशन्या नः अस्माकं सस्यम्  
शान्यादिकं मा वधीः मा बाधिष्ठाः । ॐ हन्तेर्लुङि वधादेशः ॐ ।  
उत अपि च सूर्यस्य सवितुः रश्मिभिः संतापकरैः किरणैः अस्म-  
दीयं सस्यं मा वधीः मा शोषय । अयम् अर्थः । क्षेत्रेषु उप्ताः  
शान्यादयः अतिवृष्ट्यनावृष्टिभ्यां बाध्यन्ते । सस्यविनाशेन तदुप-  
जीविन्यः प्रजा विनश्यन्ति । अतोऽत्र तत्परिहारः प्रार्थ्यत इति ॥

हे द्योतनशील पर्जन्य ! आपका जो विस्तृत गर्जनरूप धाव्त्रको  
करने वाला अशनि है वह बाधक केतु ( वह अनर्थसूचक अशनि  
वा केतुग्रह ) बाधा देनेके लिये सारे विश्वमें व्याप्त होजाता  
है । हे देव ! तैसी अशनिसे हमारे सड़ी आदि धान्यको नष्ट न  
होने दीजिये और सूर्यदेवकी ( सन्तापदायिनी ) किरणोंके द्वारा  
हमारे धान्यको न सुखाइये । तात्पर्य यह है, कि-खेतोंमें बोये  
हुए अन्न अतिवृष्टि और अनावृष्टिसे नष्ट होजाते हैं और धान्य  
का नाश होनेसे उससे आजीविका चलाने वाली प्रजा विनष्ट  
होजाती है, अतः उसका परिहार करनेके लिये यहाँ प्रार्थना की है ।

द्वितीया ॥

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरां संविदाने  
येनां संगच्छा उप मा स शिञ्चाचारुं वदानि पितरः  
संगतेषु ॥ १ ॥

सभा । च । मा । सम्पत्तिः । च । अवताम् । प्रजापतेः ।

दुहितरां । संविदाने इति सम्पत्तिदाने ।

येन । सम्गच्छैः । उप । मा । सः । शिज्ञात् । चारु । वदानि ।

पितरः । सम्गतेषु ॥ १ ॥

सभा विदुषां समाजः । समितिः संयन्ति संगच्छन्ते युद्धाय  
अत्रेति समितिः संग्रामः । सांग्रामीणजनसमेत्यर्थः । यद्वा संग्रा-  
मनामानि यद्गतामानि भवन्तीति यास्केनोक्तत्वात् समितिश्चन्देन  
यद्ग उच्यते । ॐ परस्परसमुच्चार्यौ चकारौ ॐ । ते उभे अपि  
मा मां वादिनम् अवताम् रक्षताम् । कीदृशौ । प्रजापतेः सर्व-  
जगत्सण्डुदुहितरौ पुत्र्यौ ।

चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्यत् त्रैविद्यमेव वा ।

सा ब्रूते यं स धर्मः स्यात् [ या० सू० १. ६ ]

इति “यद्वा आर्याः प्रशंसन्ति स धर्मः” इति [ च ] स्मृतेर्विद्व-  
त्संघस्य सभात्वात् तदुक्तेश्च सर्वशास्त्रनिर्णीतधर्मरूपत्वात् प्रजा-  
पतिपुत्रीत्वव्यपदेशः । ते च सभे संविदाने अस्मद्वक्तृणां विषयम्  
एकमत्यं प्राप्ते । ॐ विदेः संपूर्वात् “समो गम्यच्छि०” इति  
आत्मनेपदम् ॐ । किं च येन वादिना संगच्छै वक्तुं संगतो  
भवानि । ॐ पूर्ववद्वा आत्मनेपदिनो गमेल्लोऽति रूपम् ॐ । स  
विद्वान् मा मां संगतम् उप शिज्ञात् उपेत्य शिज्ञयतु । समीचीनं  
वादिपक्षित्वार्थः । ॐ शिज्ञ विद्योपादाने । एयन्तात् लोटि आडा-  
गमः ॐ । यद्वा शिज्ञात् मा वक्तुं शक्तं समर्थम् इच्छतु । ॐ शक्तेः  
सन्नन्तात् पञ्चमलकारे रूपम् ॐ । अयम् अर्थः । येन सह अहं विवदे  
स स्वयं मदुक्तवचनविघटनपट्टनि चाक्यानि अभाषमाणः प्रत्युत  
मामेव स्ववचनतिरस्कारकवाक्यवादिनं करोत्विति । अहि च हे  
पितरः पालकाः मदुक्तं वाक्यं साधु साध्विति अनुमोदमानाः  
पितृभूता वा हे सभासदो जनाः संगतेषु मया सह वक्तुं मिलितेषु  
वादिषु चारु न्यायोपेत सदुत्तरं वदामि । यथासम्यग् वदामि तथा  
अनुगृहीतेत्यर्थः ॥

विद्वान् पुरुषोंका समूह सभा कहलाती है, और यज्ञसभा वा संग्रामसभा समिति कहलाती है ये दोनों सभासमितियों प्रजापतिकी पुत्रियों एकमत होकर ‡ शुभ्र वादीकी रक्षा करें। जिस वादीसे मैं मंगत होऊँ वह शुभ्रसे अपने वचनोंका तिरस्कार कराने वाले वाक्योंका ही उच्चारण करा सके, हे पालकों ! वा मेरे कहे हुए वाक्योंका साधु २ कहकर अनुमोदन करनेसे पितारूप सभासदों ! मैं अपने साथ वाद करते हुए मनुष्योंसे सदुत्तर ही कहूँ, तिस प्रकार शुभ्र पर अनुग्रह करो ॥ १ ॥

चतुर्थी ॥

विद्म ते सभे नाम नरिष्ठा नाम वा असि ।

ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः ॥ २ ॥

विद्म । ते । सभे । नाम । नरिष्ठा । नाम । वै । असि ।

ये । ते । के । च । सभाऽसदः । ते । मे । सन्तु । सवाचसः २

हे सभे ते तव नाम नामधेयं विद्म जानीमः । ❀ “विदो लदो वा” इति मसो मादेशः, ❀ । तन्नाम दर्शयति । हे सभे नाम ।

‡ सभा और समितिको प्रजापतिकी पुत्री कहनेका तात्पर्य यह है कि—‘चत्वारो वेदधर्मज्ञाः परित् त्रैविद्यमेव वा । सा व्रते यं स धर्मः स्यात् ॥’—वेद धर्मको जाननेवाले चार पुरुष वा त्रैविद्य पुरुष परित् कहलाते हैं, ऐसी परित् ( सभा ) जो कुछ कहे वह धर्म है’ ( याज्ञवल्क्यस्मृति १ । ६ ), और यद् आर्याः प्रशंसन्ति स धर्मः ।—शिष्ट पुरुष जिसकी प्रशंसा करें वह धर्म है” । के अनुसार विद्वत्संघके सभा होनेसे और उसकी उक्तिके सर्वशास्त्रनिर्णीतधर्मरूप होनेसे उन दोनोंको सब जगत्के रचयिता प्रजापतिकी पुत्री कहा है ।



नाम्नेति यावत् । नरिष्टा । ❀ रिषिणा क्तान्तेन नसमासः ❀ ।  
 अहिंसिता परैरनभिभाव्या । एतन्नामिका असि वै भवसि खलु ।  
 एकस्य वचनम् अन्यैराद्रियते तिरस्क्रियतेपि । बहवः संभूय यद्येकं  
 वाक्यं वदेयुस्तद्धि न परैरतिलङ्घ्यम् अतः अनतिलङ्घ्यवाक्य-  
 त्वाद् नरिष्टेति नाम सभाया युज्यते । अतस्ते तव संबन्धिनः ये  
 के च सभासदः सभायां सीदन्तो विद्वांसस्ते सर्वे मे मम सवाचसः  
 समानवाक्याः [ सन्तु ] भवन्तु । न हि सभा सर्वा संभूय एकं  
 प्रति ब्रूते अपि तु तत्रत्याः कतिपये । तेषां मद्रिषये अर्जुनकूलवाक्या  
 भवन्तु इति प्रार्थ्यते ॥

हे सभे ! हम तेरे नामको जानते हैं, तू नरिष्टा नाम वाली है  
 ( अर्थात् दूसरोंसे अनभिभूत नामवाली है ) एकके वाक्यको कुछ  
 पुरुष आदर करते हैं और कुछ तिरस्कार भी करते हैं और जो  
 बहुतसे एकजित होकर एक वाक्यको कहें तो वह वाक्य अलंघ-  
 नीय होता है अतः अनतिलङ्घ्य वाक्य वाली होनेसे सभाका नाम  
 नरिष्टा नाम ठीक ही है । अतः तेरे जो संबन्धी सभासद् हैं वे  
 सब विद्वान् मेरे समानवाक्य हों ॥ २ ॥

पञ्चमी ॥

एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमा ददे ।

अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु ॥ ३ ॥

एषाम् । अहम् । सम् । आसीनानाम् । वर्चः । विज्ञानम् । आ । ददे ।

अस्याः । सर्वस्याः । सम् । सदः । माम् । इन्द्र । भगिनम् । कृणु ३

समासीनानाम् सभायाम् अवतिष्ठमानानाम् एषाम् पुरोवर्तिनां  
 वादिनां वर्चः तेजो वैदुष्यजनितप्रभावविशेषम् विज्ञानम् वेदशास्त्रार्थ-  
 विषयं ज्ञानं च । विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोरिति तद्विदः । तद् अहम्

आ ददेस्वीकरोमि । अपहरामीत्यर्थः । ॐ ददाते: “आदो दोना-  
 स्यविहरणे” इति आत्मनेपदम् ॐ । किं बहुना । हे इन्द्र । इन्द्र-  
 स्यैव वागनुशासनकर्तृत्वात् सभाजयकर्मणि तस्यैव प्रार्थनम् । तथा  
 च तैत्तिरीयके । “ते देवा इन्द्रम् अमुवन्निमां नो वाचं व्याकुरु”  
 इति प्रक्रम्य आम्नातम् । “ताम् इन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्  
 तस्माद् इयं व्याकृता वाग् उद्यते” इति [ तै० सं० ६. ४. ७. ३ ] ।  
 तादृशेन्द्र अस्याः पुरः स्थितायाः सर्वस्याः संसदः सभाया अभि-  
 नम् । भगो भाग्यं वैदुष्यलक्षणं जयलक्षणं वा । तद्वन्तं मां  
 कृणु कुरु । सर्वामपि सभां मदेकवाक्यश्रवणपरां कुर्वित्यर्थः ।  
 अथवा भगो भागः । तद्वन्तं कुरु । सर्वस्याः सभायाः यावती वैदुष्य-  
 कृता संभाषणा तावद्भागभाजं कुर्विति इन्द्रः प्रार्थ्यते ॥

इन भवामें सामने बैठे हुए वादियोंके विद्वत्ताके कारण उत्पन्न  
 हुए प्रभावविशेषात्मक तेजको और वेदशास्त्रार्थविषयकज्ञानरूप  
 विज्ञानको मैं अपहृत करता हूँ (‘अधिक क्या ? इन्द्र ही वाणीके  
 अनुशासनकर्ता हैं अतः सभाजय कर्ममें उनकी ही प्रार्थना की  
 जाती है । इसी बातको तैत्तिरीयकमें कहा है, ‘कि-‘ते देवा इन्द्रं  
 अमुवन् इमां नो वाचं व्याकुरु ।—उन देवताओंने इन्द्रसे कहा,  
 कि-‘हमारी इस वाणीको व्याकृत करिये । इसका आरम्भ करके  
 कहा है, कि-‘तां इन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् तस्माद् इयं  
 व्याकृता वाग् उद्यते ।—इन्द्रने उसको मध्यमें अवक्रम करके व्याकृत  
 किया है, इस कारण यह व्याकृत वाणी कही जाती है” ) ऐसे  
 इन्द्रदेव ! इस पूरी सभाके सामने मुझे भाग्यसम्पन्न करें ॥३॥

पृष्ठी ॥

यद् वो मनः परागतं यद् वृद्धमिह वेह वा ।

तद् व आ वर्तयामसि मेयि वो स्मृतां मनः ॥ ४ ॥

यत् । वः । मनः । परागतम् । यत् । वद्धम् । इह । वा । इह । वा ।  
तत् । वः । आ । वर्तयामसि । मयि । वः । रमताम् । मनः ४

हे सभासदः वः युष्माकं यन्मनः मानसं परागतम् अस्मत्तः  
परागत्य अन्यत्र गतम् । अस्मदनभिमुखम् इत्यर्थः । यच्च मनः  
इह वा अस्मिन् वा विषये बद्धं संसक्तम् । मनसो विषयानासङ्गेन  
अनवस्थानात् तत्संबन्धार्हान् सर्वान् पदार्थान् अभिनयेन दर्शयति ।  
इह वा इह वेति अस्मद्यतिरिक्तसर्वविषयेषु संसक्तं वर्तते । तत्  
तादृशं वः युष्माकं मनः आ वर्तयामसि अस्मदभिमुखं कुर्मः । आ-  
वर्तितं च वो मनः मयि रमताम् मदनुकूलार्थचिन्तापरं भवत्वित्यर्थः ॥

हे सभासदो ! तुम्हारा जो मन हमसे विमुख होकर अन्यत्र  
चला गया है और जो मन हमसे व्यतिरिक्त अमुक अमुक विषय  
में आसक्त होरहा है, तुम्हारे ऐसे मनको हम अपनी ओर अभि-  
मुख करते हैं, और मेरी ओर लौटा हुआ तुम्हारा मन मुझमें  
रमण करे-मेरे अनुकूल विचार करे ॥ ४ ॥

सप्तमी ॥

यथा सूर्यो नक्षत्राणामुद्यंस्तेजांस्याददे ।

एवा स्त्रीणां च पुंसां च द्विषतां वर्च आ ददे ॥१॥

यथा । सूर्यः । नक्षत्राणाम् । उद्यज्यन् । तेजांसि । आददे ।

एव । स्त्रीणाम् । च । पुंसाम् । च । द्विषताम् । वर्चः । आ । ददे ?

उद्यन् उदयं प्राप्नुवन् सूर्यः नक्षत्राणाम् तारकाणाम् तेजांसि  
दीप्तिं यथा आददे आदत्ते निस्तेजस्कानि करोति । ☸ चान्दसो  
लिट् ☸ । एव एवम् । ☸ अन्त्यलोपरञ्चान्दसः ☸ । स्त्रीणां  
पुंसां च द्विषताम् स्त्रीणां द्विषतीनां पुरुषाणां द्विषतां च । ☸ “पुमान्

स्त्रिया” इति पुंसो द्विपत एकशेषः ॐ । वर्चः तेजः पराभिभवन-  
सामर्थ्यम् । आ ददे स्वीकरोमि अपहरामि । ॐ ददातेर्वर्तमाने लटि  
उत्तमैकवचने रूपम् ॐ ॥

जिस प्रकार उदय होते हुए सूर्य नक्षत्रोंके तेजको ग्रहण कर  
लेते हैं अर्थात् नक्षत्रोंको निस्तेज कर देते हैं, इसी प्रकार मैं द्वेष  
करने वाले स्त्री पुरुषोंके पराभिभवनशक्तिरूप तेजको हरता हूँ ?

अष्टमी ॥

यावन्तो मा सपत्नानामायन्तं प्रतिपश्यथ ।

उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विपतां वर्च आ ददे ॥२॥

यावन्तः । मा । सपत्नानाम् । आयन्तम् । प्रतिपश्यथ ।

उत्पश्यन् । सूर्यः इव । सुप्तानाम् । द्विपताम् । वर्चः । आ । ददे २

सपत्नानाम् शत्रूणां मध्ये यावन्तः यत्परिमाणाः शत्रवो यूयम्  
आ यन्तम् युद्धाय युष्मान् अभिगच्छन्तम् मा मां प्रतिपश्यत प्रति-  
कूलं निरीक्षन्तम् । ॐ अतिसर्गे लोट् ॐ । द्विपताम् तेषां प्रति-  
कूलं परयतां शत्रूणां युष्माकं वर्चः पराक्रमरूपं तेजः आ ददे अप-  
हरामि । तत्र दृष्टान्तः । उद्यन् उदयं गच्छन् [ सूर्य इव ] । सूर्यो  
यथा सुप्तानां उदयकाले स्वपतां जनानां वर्चः अपहरति तद्वत् ।  
सूर्यस्योदये अस्तमये वा स्वपतां पुरुषाणां वचसः सूर्येण अपहृत-  
त्वात् तत्समाधानाय आपस्तम्बेन प्रायश्चित्तरूपाणि कर्माणि विधि-  
तानि । “स्वपन्नभिनिम्नुक्तो नारवान् वाग्यतो रात्रिम् आसीत् ।  
श्वोभूत उदरम् उपस्पृश्य वार्चं विसृजेत् । स्वपन्नभ्युदितो नारवान्  
वाग्यतो हस्तिष्टेद् । आ तमितोः प्राणम् आयच्छेदित्येके” इति  
[ आप० घ० २. १. १२. १२-१५ ] ॥

सप्तमकाण्डे प्रथमोऽनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

[ इति ] अथर्ववेदार्थप्रकाशे सप्तमकाण्डे प्रथमोऽनुवाकः ॥

हे शत्रुओंमेंसे जितने शत्रु तुम मुझको आता हुआ देख रहे हो, द्वेष करने वाले तुम शत्रुओंके तेजको मैं इस प्रकार अप-  
हृत करता हूँ जिस प्रकार सूर्य उदय होते समय सोने वालोंके तेजको हर लेता है ‡ ॥ २ ॥

सप्तम काण्डक प्रथम अनुवाकमें तृतीय सूक्त और प्रथम

अनुवाक समाप्त ( ३८९ )

द्वितीयेनुवाके द्वे सूक्ते । तत्र “अभि त्यम्” इत्याद्ये सूक्ते आदि-  
तथतुष्टृचेन सूत्रोक्तं स्थानं गत्वा तत्र उदपात्रं संपात्य सोममिश्रं  
कृत्वा सारूपवत्सम् ओदनं संपात्य अभिमन्त्र्य पुष्टिकामः अश्नीयात्  
“तां सवितः” इति ऋचा एकवारमसूनाया गोर्बन्धरज्जुमणिं  
कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य पुष्टिकामो वधनीयात् ॥

सूत्रितं हि । “अभि त्यम् [ ७. १५ ] इति महावकाशेरण्य  
उन्नते विमिते प्राग्द्वारे मध्यद्वारे वाप्सु संपातान् आनयति ।  
कृष्णाजिने सोमांश्च विचिनोति । सोममिश्रेण संपातवन्तम्

‡ सूर्योदय वा सूर्यास्तके समय सोने वालोंके तेजको सूर्यदेव  
हर लेते हैं, इसका समाधान करनेके लिये आपस्तम्ब मुनिने प्राय-  
श्चित्तरूप कर्म कहे हैं, कि—‘स्वपन्नभिनिष्पृक्तो नाश्वान् वाग्यतो  
रात्रिम् आसीत् । श्वोभूत उदकमुपस्पृश्य वाचं विसृजेत् । स्वपन्न-  
भ्युदितोऽनाश्वान् वाग्यतोऽहस्तिष्ठेद् । आ तपितो प्राणम् आय-  
च्छेद् ।—सूर्यके अस्तके समय सोनेसे अभिनिष्पृक्तसंज्ञक होजावे  
तो कुछ खावे नहीं, बाणीको नियममें रखे और रात्रि भर बैठा  
रहे और दूसरा दिन होने पर जलमें स्नान कर बाणीको खोले,  
सूर्योदयके समय सोता हो तो भोजन न करे और दिन भर  
बाणीको नियममें रखे वा जब तक अंगोंमें ग्लानि न आवे तब  
तक प्राणवायुको धारण करे’ ( आपस्तम्बधर्मसूत्र द्वितीयप्रश्न पञ्चम  
पटल बारहवीं खण्डिकाके १३ । १४ । १५ सूत्र ) ॥

अश्नाति । आदीप्ते संपन्नं तां सवितः [ ७. १६ ] इति गृष्टिदाम  
वध्नाति” इति [ कौ० ३. ७ ] ॥

तथा सोमकपणानन्तरम् “अभित्यम्” इत्यनेन ब्रह्मा हिरण्य-  
पाणिः सोमं विचिनुयात् । “चर्मणि सोमम् अभित्यम् इति हिरण्य-  
पाणिर्विचिनोति” इति हि वैतानं सूत्रम् [ वै० ३. ३ ] ॥

“बृहस्पते सवितः” इत्यनया सूर्योदयपर्यन्तं सुप्तं ब्रह्मचारि-  
णम् उत्थापयेत् ॥

तथा आधाने संभारस्पर्शनदिवसे सुप्तान् यजमानादीन् अनया  
उत्थापयेत् । “अथाग्न्याधेयम्” इति प्रक्रम्य वैताने सूत्रितम् ।  
“वाग्यता जाग्रतो रात्रिम् आसते । अपररात्र वा बृहस्पते सवित-  
रिति सुप्तान् बोधयेत्” इति [ वै० २. १ ] ॥

“धाता दधातु” इति चतुश्चर्चन सर्वफलकामो धातारं यजेत  
उपतिष्ठेन वा । सूत्रितं हि । “अदितिर्घाः [ ७. ६ ] दितेः पुत्रा-  
णाम् [ ७. ८ ] बृहस्पते सवितः [ ७. १७ ] धाता दधातु”  
[ ७. १८ ] इति [ कौ० ७. १० ] ॥

तथा वीरपुत्रप्रजननार्थम् अनेन चतुश्चर्चन गर्भिण्या उदरम्  
अभिमन्त्रयेत् । “याम् इच्छेद् वीरं जनयेद् इति धातुर्व्याभिरुदरम्  
अभिमन्त्रयेत्” इति [ कौ० ४. ११ सूत्रात् ] ॥

द्वितीय अनुवाकमें दो सूक्त हैं । तहाँ ‘अभित्यम्’ ये आदिके  
सूक्त हैं इनमेंके पहिले चतुश्चर्चसे मंत्रोक्त स्थानमें जाकर तहाँ  
जलपूर्ण पात्रका सम्पातन कर सोममें मिलावे फिर सारूपवत्स  
ओदनका सम्पातन और अभिमन्त्रण कर पुष्टि चाहने वाला  
उसका भक्षण करे ।

‘तां सवितः’ इस ऋचासे एक बार व्याही हुई गाँके बाँधनेकी  
रस्सीकी मणि बना सम्पातन और अभिमन्त्रण कर पुष्टिको  
चाहने वाला बाँध लेय ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—‘अभित्यम्’ ( ७।१५ ) इति महावकाशोरण्य उन्नते विभिते प्राग्द्वारे वाप्सु सम्पातान् आनयति । कृष्णाजिने सोमांशून् विचिनोति । सोममिश्रेण सम्पातवन्तं अश्नाति । आद्रीमे सम्पन्नं तां सवितः ( ७।१६ ) इति शृष्टिदाम बध्नाति’ ( कौशिकसूत्र ३।७ ) ॥

तथा सोमकृषणके अनन्तर हाथमें सुवर्ण लिये हुए ब्रह्मा ‘अभित्यम्’ से सोमको ढिल्लावे । इस विषयमें वैतानसूत्रका प्रमाण है, कि—‘चर्मणि सोमं अभि त्यम् इति हिरण्यपाणिर्विचिनोति’ ( वैतानसूत्र ३।३ ) ॥

‘बृहस्पते सवितः’ इस ऋचासे सूर्योदय तक सोने वाले ब्रह्मचारीको उठावे ।

तथा आधानके संभारस्पर्शन दिवसमें सोते हुए यजमान आदिको इस ऋचासे उठावे । ‘अथाग्न्याधेयम्’ का आरंभ करके वैतानसूत्रमें कहा है, कि—‘वाग्यता जाग्रतोरात्रिम् आसते । अपररात्रं वा बृहस्पते सवितरिति सुप्तान् बोधयेत्’ ( वैतानसूत्र २।१ ) ॥

सर्वफलकाम ‘धाता दधातु’ उस चतुर्ऋचसे धाताका यजन वा उपस्थान करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—‘अदितिर्घौः ( ७।६ ) दितेः पुत्राणाम् ( ७।८ ) बृहस्पते सवितः ( ७।१७ ) धाता दधातु ( ७।१८ ) ( कौशिकसूत्र ७।१० ) ॥

तथा वीरपुत्र उत्पन्न होनेके लिये इस चतुर्ऋचसे गर्भिणीके उदरका अभिमंत्रण करे । कौशिकसूत्र ४।११ में कहा है, कि—‘याम् इच्छेद् वीरं जनयेद् इति धातव्याभिरुदरम् अभिमंत्रयेत्’ ॥

तत्र प्रथमा ॥

अभि त्यं देवं सवितारमोरण्योः कविक्रतुम् ।

अर्चामि सत्यसंव रत्नधामभि प्रियं मतिम् ॥ १ ॥

अभि । त्यम् । देवम् । सवितारम् । ओण्योः । कविऽकृतम् ।

अर्चामि । सत्यऽसवम् । रत्नऽधाम् । अभि । मियम् । मतिम् १

त्य तं प्रमिद्धं देवम् द्योतनात्मकम् ओण्योः सर्वस्य अविज्यो-  
र्थावापृथग्योः सवितारम् प्रसवितारम् एतन्नामधेयं देवम् अभ्य-  
र्चामि अभिष्टामि । ॐ ओण्योरिति । अवतेः आणादिको  
निप्रत्ययः । “उवरस्त्वर०” इत्यादिना ऊङ् गुणः । द्वान्दसं एत्वम् ।  
“उदात्तस्वरितयोः०” इति ओकारः स्वर्यते “उदात्तयणो हन्पूर्वात्”  
इत्येष स्वरो व्यत्ययेन न प्रवर्तते ॐ । सवितारं विशिनष्टि । कवि-  
कृतं कवीनां मेधाविनामिव क्रतुः कर्म यस्य तादृशं कमनीयकर्माणं  
वा सत्यसवम् सत्यानुज्ञं यथार्थप्रेरणम् रत्नधाम् रमणीयधनानां  
धारयितारं दातारं वा मियमभि मियं प्रेमप्रीणयितारं स्तोतारं वा  
अभिलक्ष्य । रत्नधाम् इति संबन्धः । यद्वा अभि आभिमुख्येन मियं  
सर्वस्य प्रीतिकरम् अत एव मतिम् सर्वैर्मन्तव्यम् । ॐ “मन्त्रे  
वृषेप०” इति क्तिन्नुदात्तः ॐ । ईदृशं देवम् अभ्यर्चामि । ॐ अर्चतिः  
स्तुतिकर्मा । पादादित्वात् न निघातः ॐ ॥

उन कमनीय कर्म वाले, यथार्थ प्रेरणा वाले, रमणीय धनोंको  
धारण करने वाले अत एव सबको मिय और मन्तव्य तथा रक्षा  
कर्मने वाली द्यावापृथिवीके सवितानामरुदेवकी मैं पूजा करता हूँ १

द्वितीया ॥

ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सवीमनि ।

हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपात् स्वः ॥ २ ॥

ऊर्ध्वा । यस्य । अमतिः । भाः । अदिद्युतत् । सवीमनि ।

हिरण्यपाणिः । अमिमीत । सुऽक्रतुः । कृपात् । स्वः ॥ २ ॥



यस्य सवितुर्देवस्य अयतिः अमनशीला व्यापनशीला । ❀ अम-  
 तेर्गतिकर्मण औणादिकः अतिप्रत्ययः । अत एव मध्योदात्तः ❀ ।  
 एतादृशी भाः दीप्तिः ऊर्ध्वा उत्कृष्टा अदिद्युतत् द्योतयति । विश्वम्  
 इति शेषः । ❀ द्योततेर्त्यन्तात् चङि उपधाह्रस्वत्वम् ❀ । यस्य  
 च देवस्य सवीमनि सवे अनुज्ञायां सत्याम् । ❀ पू प्रेरणे ।  
 “अन्येभ्योपि दृश्यन्ते” इति मनिन् । आन्दसम् इटो दीर्घत्वम् ❀ ।  
 येन सवित्रानुज्ञातः सुक्रतुः शोभनकर्मा पुष्टिकामो ब्रह्मा वा हिरण्य-  
 पाणिः हिरण्यहस्तः सन् कृपा कल्पनया अंगुल्यादिविषयया स्वः  
 स्वर्गप्रदं सुखप्रदम् । सोमम् इत्यर्थः । अपिमीत मिमीते । ❀ आन्दसो  
 लङ् ❀ । [ त्वं प्रसिद्धम् इति पूर्वमन्त्रेण संबन्धः ] ॥ यद्वा ।  
 ❀ सवीमनीति निमित्तसप्तमी । सुनोतेरौणादिक ईमनिन् प्रत्ययः ❀ ।  
 अधिपवार्थं हिरण्यपाणिः हितरमणीयरश्मिः हिरण्यहस्तो वा ।  
 “हिरण्यपाणिम् ऊतये सवितारम् उप स्तुहि” इति हि निगमः  
 [ ऋ० १. २५. ५ ] । स्वः आदित्यः सविता कृपा कृपया पुष्टि-  
 कायं ब्रह्माणं वा आविश्य स्वयमेव मिमीते । सोमम् इति शेषः ।  
 ❀ कृपा । कृपू सामर्थ्ये । विवृप् । “सावेकाचः०” इति विभक्ते-  
 रुदात्तत्वम् ❀ ॥

जिन सविता देवताकी व्याप्तिस्वभावा कान्ति उत्कृष्ट रूपसे  
 विश्वको दमकाती है और जिन देवताकी अनुज्ञा होने पर शोभन  
 कर्म वाला ब्रह्मा हितरमणीय हाथसे अंगुलि आदिकी कल्पनासे  
 स्वर्ग देने वाले सोमको बनाते हैं उन सविता देवताकी हम स्तुति  
 करते हैं ॥ २ ॥

तृतीया ॥

सावीर्हि देव प्रथमायं पित्रे वर्ष्माणमस्मै वरिमाणमस्मै

अथास्मभ्यं सवितर्वायाणि दिवोदिव आ सुवा भूरि  
पश्वः ॥ ३ ॥

सावीः । हि । देव । प्रथमाय । पित्रे । वर्ष्माणम् । अस्मै । वरि-  
माणम् । अस्मै ।

अथ । अस्मभ्यम् । सवितः । वायाणि । दिवःऽदिवः । आ ।  
सुव । भूरि । पश्वः ॥ ३ ॥

हे देव द्योतनात्मक सवितः प्रथमाय । प्रथम इति मुख्यनाम ।  
प्रथमनाय प्रकृष्टमाय पित्रे पालकाय यजमानाय सावीर्हि प्रेरयैव ।  
फलम् इति शेषः । सामान्येनोक्तं विशिनष्टि । अस्मै पुष्टिकामाय  
वर्ष्माणम् देहम् । पुत्रपौत्रादिलक्षणां संततिम् इत्यर्थः । तां प्रय-  
च्छेति संबन्धः । अस्मै पुष्टिकामाय यजमानाय वरिमाणम् उरुत्वं  
च प्रयच्छ । यद्वा वर्ष्माणम् देहं यथा यजमानस्य देहः पुत्रपौत्रादि-  
जननक्षमो भवति तथा कुरु । वरिमाणम् पुत्रपौत्रादिलक्षणम्  
उरुत्वं प्रयच्छेति ॥ अथ अनन्तरं हे सवितः अस्मभ्यं वायाणि  
वरणीयानि फलानि आ भवेति क्रियया संबन्धः । अपि च दिवो-  
दिवः दिवसान् दिवसान् प्रतिदिवसम् । “दिवेदिव आ सुव” इति  
शाखान्तरे [ अ० ३. ५६. ६ ] पठ्यते । भूरिभूरीन् । ॐ सुपो  
लुक् ॐ । पश्वः पशून् । ॐ छान्दसो यण् आदेशः ॐ । आ  
सुव अस्मदभिमुखं प्रेरय ॥

हे द्योतनात्मक सवितः देव ! आप इस श्रेष्ठ पालक यजमानके  
लिये फलोंको प्रेरित ही करिये । इस पुष्टि चाहनेवालेको देहको  
अर्थात् पुत्र पौत्र आदिरूप देहको दीजिये और इसको महत्व  
दीजिये, वा-इस यजमानका देह जिस प्रकार पुत्र पौत्र आदिको

उत्पन्न करनेमें समर्थ हो तैसा करिये और इसको पुत्र पौत्र आदि-  
रूप महत्त्व दीजिये । और हे सविता देवता ! आप हमारे लिये  
प्रतिदिन वरणीय फलोंको और बहुतसे पशुओंको हमारे अभि-  
मुख प्रेरण करते रहिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

दमूना देवः सविता वरेण्यो दधत् रत्नं दक्षं पितृभ्य  
आयुंषि ।

पिवात् सोमं ममददेनमिष्टे परिज्जमा चित् क्रमते अस्य  
धर्माणि ॥ ४ ॥

दमूनाः । देवः । सविता । वरेण्यः । दधत् । रत्नम् । दक्षम् ।  
पितृभ्यः । आयुंषि ।

पिवात् । सोमम् । ममदत् । एनम् । इष्टे । परिज्जमा । चित् ।  
क्रमते । अस्य । धर्माणि ॥ ४ ॥

दमूनाः दान्तमना दानमना वा वरेण्यः वरणीयः सविता सर्व-  
प्रेरको देवः रत्नम् रमणीयं धनं दक्षम् । धलनामैतत् । वलं च  
दधत् प्रयच्छन् तथा पितृभ्यः पूर्वैभ्यः सकाशात् आयुंषि शत-  
संवत्सरपरिमितम् आयुः । तपनपरिस्पन्दबाहुल्यात् तत्कालाव-  
च्छिन्नस्यापि आयुषो बहुत्वम् पुत्रपौत्राद्यपेक्षया वा बहुवचनम् ।  
तादृशम् आयुश्च दधत् विदधत् प्रयच्छन् सोमम् अभिषुतं पिवात्  
पिवतु । ॐ पातेर्लोठि आडागमः ॐ । पीतः स सोमः इष्टे यागे  
सवितृदेवत्ये एनं सवितारं ममदत् मदयतु । ॐ माघनेर्गन्तात्  
लुङि चङि रूपम् । वाक्यादित्वात् न निघातः “चङ्चन्यतरस्याम्”

इति उपोत्तमस्य उदात्तत्वम् ॐ । ततः परिज्मा चित् परितो व्यापनशीलोपि स सोमः अस्य सवितुः धर्मणि धारके स्थाने जठररूपे क्रमते अमतिवद्धो वर्तताम् । ॐ “वृत्तिसर्गतायनेषु प्रमः” इति आत्मनेपदम् ॐ ॥

दान देनेमें मनको परायण रखने वाले, वरणीय सर्वमेरक सविता देवता रमणीय धन और बलको देते हुए हमें पितरोंसे आयुओंको देते हुए इस अभिषुत सोमको पियें, और वह पिया हुआ सोम इस सवितुदेवत्य यागमें सविता देवताको प्रसन्न करे । उस समय वह व्यापनशील भी, सोम इन सविता देवताके धारक जठरस्थानमें अमतिवद्धरूपसे रहे ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

तां सवितः सत्यसवां सुचित्रामाहं वृणुं सुमतिं विश्वं वाराम् ।

यामेस्य कण्वो अदुहत् प्रपीनां सहस्रधारां महिषो भगाय ॥ १ ॥

ताम् । सवितः । सत्यसवाम् । सुचित्राम् । आ । अहम् । वृणुं । सुमतिम् । विश्ववाराम् ।

याम् । अस्य । कण्वः । अदुहत् । प्रपीनाम् । सहस्रधाराम् । महिषः । भगाय ॥ १ ॥

हे सवितः प्रसवितः सर्वस्य प्रेरयितः तां तादृशीम् उत्तरार्धे वक्ष्यमाणगुणां त्वदीया सत्यसवाम् सत्यानुज्ञां सुचित्राम् मृणु चायनीया विश्ववाराम् सर्ववरणीयां सुमतिम् शोभनाम् अनुग्रहबुद्धिम् ।

❀ “मन्क्तिन्व्याख्यान०” इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀ । ताम्  
अहम् आ वृणे आभिमुख्येन याचे । याम् अस्य सवितुः संबन्धिनीं  
सुमतिं महिषः । महन्नामैतत् । महान् कण्वः एतन्नामा ऋषिः  
अदुहत् दुग्धवान् । स्वाधीनां कृतवान् इत्यर्थः । कीदृशीम् । प्रपी-  
नाम् प्रवृद्धाम् । ❀ प्यायतेः पीभावः ❀ । सहस्रधाराम् बहुधा-  
राम् । ❀ सुमतेर्गोसादृश्यविवक्षया पीनत्वादिविशेषणयोगाद्  
दुद्धिधातुमयोगः ❀ । किमर्थं दुग्धवान् । भगाय भाग्याय । यां  
कण्वो दुग्धवान् तां सवितुसंबन्धिनीं सुमतिम् आ वृणे इति संबन्धः ॥

हे सर्वप्रेरक सविता देव ! मैं उस सत्य अनुज्ञा वाली, भली  
प्रकार चयन करने योग्य, सर्वोसे वरणीय शोभना अनुग्रहरूपा  
बुद्धिकी याचना करता हूँ, कि-जिस आपकी प्रवृद्ध अनेक धारा  
वाली बुद्धिकी भाग्यके लिये महान् कण्व ऋषिने दुहा था-  
अपने अधीन कियों था ॥ १ ॥

पृष्ठी ॥

बृहस्पते सवितर्वर्धयैनं ज्योतयैनं महते सौभगाय ।  
संशितं चित् संतरं सं शिशाधि विश्व एनमनु मदन्तु  
देवाः ॥ १ ॥

बृहस्पते । सवितः । वर्धय । एनम् । ज्योतय । एनम् । महते । सौभगाय ।  
सम्शितम् । चित् । सम्स्तरम् । सम् । शिशाधि । विश्वे ।  
एनम् । अनु । मदन्तु । देवाः ॥ १ ॥

हे बृहस्पते बृहतां महतामपि देवानां पते हे सविनः प्रसवितः एत-  
न्नामक देव । ❀ “नामन्त्रिते समानाधिकरणे०” इति पूर्वस्यामन्त्रि-  
तस्य अविद्यमानत्वात्प्रतिषेधाद् द्वितीयं इदं सवितृपदं निहन्यते ❀ ।

एनं सूर्योदयपर्यन्तं स्रुप्तं ब्रह्मचारिणं यजमानादिकं वा वर्धय । उदय-  
काले स्वपनः पुरुषस्य दोषश्रवणात् तद्दोषपरिहारेण एनं यजमानं  
समर्पयेत्यर्थः । ॐ द्वितीयस्य आमन्त्रितस्य अविद्यमानत्वाद् वर्ध-  
येति पदं न निहन्पते ॐ । किं च एनं यजमानादिकं महते मभू-  
ताय सौभगाय सौभाग्याय द्योतय । यथा महत् सौभाग्यं भवति  
तथा दीप्तं कुर्वित्यर्थः । अपि च संशितम् संशितव्रतं चित् अपि  
व्रतवन्तमपि संतरम् सम्यक् अतिशयेन । ॐ समस्तरपि प्रत्यये  
“अमु च छन्दसि” इति अम् ॐ । सं शिशाधि सम्यक् तीक्ष्णी-  
कुरु । संतरं सं शिशाधि इत्पुपसर्गद्वयश्रुतेर्व्रतलोपपरिहारेण यज-  
मानादेः कर्मसाफल्यम् आशास्यते । ॐ शो तनूकरणे । लोटि  
“बहुलं छन्दसि” इति शपः रलुः । इत्वं च अभ्यासस्य छान्द-  
सम् । “वा छन्दसि” इति अपित्वे प्रतिषिद्धे पित्वेन द्वित्वाभा-  
वात् “अडितश्च” इति हेर्धिभावः ॐ । किं च विश्वे सर्वे देवाः  
एनं यजमानादिकम् अनुमदन्तु अनुमोदन्ताम् । साधीयान् असा-  
विति सर्वेऽनुमन्यन्ताम् इत्यर्थः ॥ —

हे बृहस्पति नामक देव ! और हे सविता देव ! इस सूर्योदय  
तक सोते रहने वाले ब्रह्मचारी वा यजमान आदिको बढ़ाइये,  
तात्पर्य यह है, कि-उदयकालमें भी सोने वालेकेलिये दोषश्रुति  
है उस दोषको दूर कर इस यजमानको बढ़ाइये । और इस यज-  
मानको बड़े भारी भाग्यके लिये प्रदीप्त करिये, यद्यपि यह व्रत  
का पालन करता है, इसको और भी व्रतोंका भी पालन करने  
वाला करिये सब देवता इसका अनुमोदन करें, कि-यह साधु है ?  
सप्तमी ॥

धाता दधातु नो रयिमीशानो जगत्स्पतिः ।

स नः पूर्णेन यच्छतु ॥ १ ॥

धा॒ता । द॒धातु॑ । नः । र॒धिम् । ई॒शानः । जग॑तः । पतिः ।

सः । नः । पू॒र्णेन॑ । य॒च्छतु॑ ॥ १ ॥

धाता विश्वस्य धारयिता एतन्नामको देवः नः अस्मभ्यं रधिम् धनं दधातु विदधातु प्रयच्छतु । कीदृशः । ईशानः सर्वार्थसाधनशक्तः । ❀ अनुदात्तेच्चात् लसार्वधातुकानुदात्तत्वम् ❀ । जगत्-स्पतिः पालयिता । ❀ “पृष्ठ्याः पतिपुत्र०” इति सत्वम् ❀ । किं च स धाता देवः नः अस्मान् पूर्णेन आप्यायितेन संयुद्धेन धनेन यच्छतु नियच्छतु । योजयत्वित्यर्थः ॥

विश्वको धारण करने वाले धाता नामक देवता हमको धन देवें, यह धाता देवता सब प्रयोजनोंको सिद्ध करनेमें समर्थ हैं और जगत्का पालन करने वाले हैं, ऐसे ये धाता देवता हमको पूर्ण धनसे संयुक्त करें ॥ १ ॥

अष्टमी ॥

धा॒ता द॒धातु॑ दा॒शुपे॑ प्रा॒चीं जी॒वातु॑म॒क्षिताम् ।

व॒यं दे॒वस्य॑ धी॒महि॑ सु॒मतिं॑ वि॒श्वरा॑धसः ॥ २ ॥

धा॒ता । द॒धातु॑ । दा॒शुपे॑ । प्रा॒चीम् । जी॒वातु॑म् । अ॒क्षिताम् ।

व॒यम् । दे॒वस्य॑ । धी॒महि॑ । सु॒मतिम् । वि॒श्वरा॑धसः ॥ २ ॥

धाता सर्वस्य विधारको देवः दाशुपे हविर्दत्तवते मह्यं यजमानाय प्राचीम् प्रकृष्टगमनाम् अस्मदभिमुखगमनां जीवातुम् जीवनकारिणीम् । ❀ जीवेः आतुप्रत्ययः ❀ । अक्षिताम् अनुपक्षीणाम् । सुमतिम् इति अनुषज्यते । तां दधातु धारयतु ॥ वयमपि विश्वराधसः सर्वधनस्य अतिप्रभूतधनस्य देवस्य धातुः सुमतिम् कल्याणीं मतिम् अनुग्रहात्मिकां धीमहि धारयेम । ❀ धीर् आधारः ।

श्यनोलुक् ॐ । यद्वा-दाशुपे यजमानाय प्राचीम् माश्वनाम् अनु-  
गुणां जीवातुम् जीवनाय पर्याप्तम् अक्षितां रयि दधातु ॥ वय-  
मपि धनप्रदानार्थं धातुः सुमतिं धीमहि ध्यायेम ॥ योचेमेत्यर्थः ॥

सबको धारण करने वाले धाता देवता मुझ हवि अर्पण करने  
वाले यजमानको जीवनदायिनी अक्षय सुमतिको देवें, हम परम  
धनी देवकी अनुग्रहात्मिका बुद्धिको धारण करते हैं । अथवा-  
वह मुझ हवि देने वाले यजमानको प्राचीनकालके योग्य जीवन-  
निर्वाहक्षम अक्षय धनको देवें, हम भी धनप्रदानके लिये धाताकी  
अनुग्रहरूपा बुद्धिका ध्यान करते हैं-अर्थात् याचना करते हैं २  
नवमी ॥

धाता विश्वा वार्या दधातु प्रजाकामाय दाशुपे दुरोणे ।  
तस्मै देवा अमृतं सं व्ययन्तु विश्वे देवा अदितिः  
सजोषाः ॥ ३ ॥

धाता । विश्वा । वार्या । दधातु । प्रजाऽकामाय । दाशुपे । दुरोणे ।  
तस्मै । देवाः । अमृतम् । सम् । व्ययन्तु । विश्वे । देवाः ।  
अदितिः । सजोषाः ॥ ३ ॥

धाता देवः विश्वा विश्वानि वार्या वार्याणि वरणीयानि फलानि  
दधातु विदधातु । तस्मै, तस्मिन्निति । तद् आह । प्रजाकामाय  
पुत्रादिकम् इच्छते, दाशुपे हविर्दत्तवते यजमानाय, दुरोणे ।  
ॐ दुरोण इति गृहनाम दुरवा भवन्तीति यास्कः [ नि० ४. ५ ] ॐ ।  
दुरवने । गृहे । अपि च तस्मै यजमानाय देवा इन्द्राद्याः अमृतम्  
अमरणसाधनम्, अविनाशं वा सं व्ययन्तु संवृण्वन्तु । प्रयच्छन्तु  
इत्यर्थः । ॐ व्येष् संवरणे ॐ । के, ते देवाः । विश्वे सर्वे देवाः ।



अदितिः अदीना अखण्डनीया वा देवमाता । सजोषाः सहप्रीय-  
माणा परस्परं स्निग्धा । ॐ जुषी प्रीतिसेवनयोः । अमुनि रूपम् ।  
अदितेर्विशेषणम् । देवविशेषणपक्षे जसो लुक् ॥

धाता देवता समस्त वरणीय फलोंको हवि देने वाले प्रजाभि-  
लाषी यजमानको देवें और इस यजमानके घरमें देवता अमरण-  
साधन वस्तु स्थापित करें सब देवता और अदितिदेवी प्रसन्न  
होकर ( इसको वरणीय फल देवें ) ॥ ३ ॥

दशमी ॥

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपतिर्नो  
अग्निः ।

त्वष्टा विष्णुः प्रजयां संस्त्राणो यजमानाय द्रविणं दधातु

धाता । रातिः । सविता । इदम् । जुषन्ताम् । प्रजाऽपतिः ।

निधिऽपतिः । नः । अग्निः ।

त्वष्टा । विष्णुः । प्रजया । सम्स्त्राणः । यजमानाय । द्रविणम् ।

दधातु ॥ ४ ॥

धाता सर्वस्य स्रष्टा रातिः दाता सर्वश्रेयसाम् । ॐ कर्तरि क्तिच् ।  
येद्वा “मन्त्रे वृषेप०” क्तिन्नुदात्तः व्यत्ययेन कर्त्रर्थे भवति ॐ ।  
सविता सर्वस्य प्रेरकः अभ्यनुज्ञाता वा । प्रजापतिः प्रजानां स्रष्टा  
पालयिता च परमेश्वरी । स एव विशेष्यते । निधिपतिः निधी-  
यन्ते पुरुषार्था येष्वति निधयो वेदाः तेषां पाता रक्षिता । अग्निः  
अंगनादिगुणयुक्तो बहिः । त्वष्टा रूपाणां कर्ता । विष्णुः व्यापको  
देवश्च । एते धात्रादयः सर्वे नः अस्मदीयम् इदं हविः जुषन्ताम्  
सेवन्ताम् । इदानीम् एत एव एकैकं उच्यन्ते । एष धात्रादि-

देवः प्रजया पुत्रपौत्रादिकया संरराणः सम्यग् रममाणः प्रजो-  
स्पत्यादिभ्यः । यद्वा प्रजया सह संरराणः संमयच्छन् । अभि-  
मतं फलम् इति शेषः । ॐ रमतेः अन्त्यलोपरब्धान्दसः । रातेर्वा  
णपः श्लुः ॐ । यजमानाय यागं कुर्वते द्रविणम् धनं दधातु  
मयच्छतु ॥

[ इति ] सप्तमे काण्डे द्वितीयेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

सबके स्रष्टा धाता देवता, सब कल्याणोंके दाता सर्वप्रेरक  
सूर्यदेव प्रजाओंके पालक और जिनमें पुरुषार्थ स्थापित किये  
गए हैं उन वेदोंके रक्षक परमेश्वरी, अंगनादि गुणयुक्त, अग्निदेव,  
रूपोंके कर्ता त्वष्टा देवता, व्यापक विष्णुदेव-इनमेंसे प्रत्येक देवता  
इस हमारी इच्छा सेवन करें । और प्रजाके साथ अभिमत फल  
को देकर इस याग करने वाले यजमानको धन भी देवें ॥ ४ ॥

सप्तम काण्डक द्वितीय अनुवाकम प्रथम सूक्त समाप्त ( ३३३ ) ॥

“म नमस्व” इति श्रुत्वेन वृष्टिकामो मरुद्भ्यो मान्नवर्णिकीभ्यो  
वा देवताभ्यः क्षीरादनहोमः आज्यहोमः काशादिविधुवक्वेत-  
साख्या ओषधीरेरुस्मिन् पात्रे कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य जलमध्ये  
अधोमुखं निनयनम् तासामेव काशादीनां संपातिताभिमन्त्रिता-  
नाम् अप्सु सावनम् श्वशिरसो मेपशिरसश्च अभिमन्त्रितस्य अप्सु  
प्रक्षेपणम् मानुषमेशमरदुपानहां वंशाग्रे बन्धनम् तुपसहितम् आम  
पात्रम् अभिमन्त्रितोदकेन संप्रोक्ष्य त्रिपदे शिख्ये निधाय अप्सु  
प्रक्षेपणं च इत्येनानि अभिवर्षणकर्माणि कुर्यात् । सूत्रितं हि ।  
“सुमत् पतन्तु [ ४. १५ ] म नमस्व [ ७. १६ ] इति वर्षकामो  
द्वादशरात्रम्” इत्यादि “त्रिपादेस्मानम् अवघायाप्सु निदधाति”,  
इत्यन्तम् [ कौ० ५. ५ ] ॥

तथा उपतारकाहुतशान्तौ अनेन सूक्तेन आज्यं जुहुयात् ।  
सूत्रितं हि । “अय यत्रैनदुनारका” इति मन्त्रस्य “सुपुत्पतन्तु, म,

नभस्वेति वार्षीर्जुहुयात् । सा तत्र प्रायश्चित्तिः” इत्यन्तम्  
[ कौ० १३. ११ ] ॥

दर्शपूर्णमासयोः पत्नीसंयाजेषु सौम्ययागं “न ग्रंस्तताप” इत्य-  
नया अनुमन्त्रयेत् । “न ग्रंस्तताप [ ७. १६. २. ] सं वर्चसा  
[ ६. ५३. ३ ] देवानां पत्नीः [ ७. ५१ ] सुगार्हपत्यः [ १२.  
२. ४५ ] इति पत्नीसंयाजान्” इति वैतानात् [ वै० १. ४ ] ॥

“प्रजापतिर्जनयतु” इति ऋचा वन्ध्यायाः पुत्रलाभकर्मणि  
तस्या उत्संगे आड्यं जुहुयात् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनया लोहिताजमांसं संपात्य अभिमन्त्र्य  
भक्षयेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनया ऋचा उदकुम्भं सुराकुम्भं वा  
संपात्य अभिमन्त्र्य प्रजाकामां स्त्रियं परिभ्राम्य अग्रे निनयेत् ॥

तथा अनया ओदनं सुरां प्रपां वा संपात्य अभिमन्त्र्य प्रजा-  
कामायै दद्यात् ॥

सूत्रितं हि । “प्रजापतिरिति प्रजाकामाया उपस्थे जुहोति ।  
लोहिताजाया पिशितान्याशयति प्रपान्तानि” इति [ कौ० ४. ११ ] ॥

तथा अभिलषितफलकामः अनया प्रजापतिं यजेत् उपतिष्ठेत् वा ॥

“अन्वद्य नोनुमतिः” इति षडृचेन अभिलषितफलकामः अनु-  
मतिं यजेत् उपतिष्ठेत् वा । सूत्रितं हि । “धाता दधातु [ ७. १८ ]  
प्रजापतिर्जनयतु [ ७. २० ] अन्वद्य नोनुमतिः” [ ७. २१ ] इति  
[ कौ० ७. १० ] ॥

पूर्णमासयागे अनुमतिदेवताम् “अन्वद्य नः” इति षडृचेन परि-  
गृहीयात् । उक्तं वैताने । “देवताः परिगृह्णाति” इति मक्रम्य  
“अन्वद्य न इति पौर्णमास्याम्” इति [ वै० १. १ ] ॥

पितृमेघकर्मणि इष्टकाभिश्चितं शमशानं “समेत विश्वे” [ ७. २२ ]  
इत्यनया सर्वे बान्धवाः परिषिञ्चेयुः ॥

“अयं सहस्रम्” इति द्वाभ्यां पृश्निसवे हविर्भर्शनसंपातप्रदानादीनि कर्माणि कुर्यात् । सूत्रितं हि । “आयं गौः पृश्निः [ ६. ३१ ] अयं सहस्रम् [ ७. २३ ] इति पृश्नि गाम्” इति [ कौ० ८. ७ ] ॥

“प्र नभस्व” इस ऋचसे वृष्टि चाहने वाला मरुतु देवताओंके लिये या मन्त्रोक्त देवताओंके लिये क्षीरौदनहोम और घृतहोम करे । काश दिविधुवक और वेत नाम वाली औषधियोंको एक पात्रमें करके सम्पातन और अभिमन्त्रण करके जलमें नीचेको मुख करके लंजाय, उन ही सम्पातित और अभिमन्त्रित कास आदिको जलमें डुबावे, कुत्तेके और मेढ़के अभिमन्त्रित शिरको जलमें फेंक देवे, मनुष्यके केश और पुराने जूतोंको बाँसके अग्रभागमें बाँधे, भूसीसहित कच्चे पात्रको अभिमन्त्रित जलसे संप्रोक्षित करके तीन लड़वाले छींके पर रखे फिर उसको जलमें फेंक देवे—इन अभिवर्पण कर्मोंको करे ॥ इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—“समुत्पतन्तु ( ४ । १५ ) प्र नभस्व ( ७ । १६ ) इति वर्षतामो द्वादशरात्रम्” इत्यादि “त्रिपादेऽश्मानम् अवधायान्धु निदधाति” इत्यन्तम् ( कौशिकसूत्र ५ । ५ ) ॥

तथा उपतारकाद्भुतशान्तिमें इस सूक्तसे घृतकी आहुति देय । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—“अथ यत्रैतदुपतारका इति प्रक्रम्य “समुत्पतन्तु प्र नभस्वेति वार्षार्जुहुयात् । सा तत्र प्रायश्चित्तिः” इत्यन्तम् ( कौशिकसूत्र १३ । ११ ) ॥

दर्शपूर्णमासके पत्नी संयोजोंमें सौम्ययागका “न ग्रंस्तताप” ऋचासे अनुमन्त्रण करे । वैतानसूत्र १ । ४ में कहा है, कि—“न ग्रंस्तताप ( ७ । १६ । २ ) सं वर्चसा ( ६ । ५३ । ३ ) देवानां पत्नीः ( ७ । ५१ ) सुगार्हपत्यः ( १२ । २ । ४५ ) इति पत्नीसंयोजान्” “प्रजापतिर्जनयतु” इस ऋचासे बन्ध्याके पुत्रलाभकर्ममें उसके उत्संग ( समीप ) में घृतको होमें ॥

तथा तहाँ ही कर्ममें इससे लाल वकरेके मांसको सम्पातन और अभिमन्त्रण करके भक्षण करे ।

तथा इसी कर्ममें इस ऋचासे जलपूर्ण कलश वा सुराकुम्भ का संपातन और अभिमन्त्रण करके प्रजाभिलाषिणी स्त्रीको घुमा कर आगे लावे ।

तथा इस ऋचासे ओदन सुरा वा पौंका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके उसको प्रजाभिलाषिणी स्त्रीको देदेय ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—“प्रजापतिरिति प्रजाकामाया उपस्थे जुहोति । लोहिताजायाः पिशितान्याशयति प्रपातान्तानि” ( कौशिकसूत्र ४ । ११ ) ॥

तथा अभिलपित फलको चाहने वाला इस ऋचासे प्रजापति का यजन वा उपस्थान करे ।

“अन्वद्य नोनुमितिः” इस पट्टचसे अभिलपित फलको चाहने वाला अनुमंतिका यजन वा उपस्थान करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—“धाता दधातु ( ७ । १८ ) प्रजापतिर्जनयतु ( ७ । २० ) अन्वद्य नोनुमिति ७ । २१” ( कौशिकसूत्र ७ । १० ) ॥

पूर्णमासयागमें अनुमति देवताको “अन्वद्य नः” इस पट्टच से परिग्रहण करे । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—“देवता परिगृह्णाति” इति प्रक्रम्य “अन्वद्य न इति पूर्णमास्याम्” ( वैतानसूत्र १ । १ ) ॥

पितृमेधकर्ममें ईंटोंसे चिने हुए शमशानकी “समेत विश्वे” ( ७ । २२ ) ऋचासे सब बान्धव परिपिञ्चन करें ॥

“अयं सहस्रम्” इन दो ऋचाओंसे पृश्निस्वमें हविमर्शन संपात प्रदान आदि कर्म करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण है, कि—“आयं गौः पृश्निः ( ६ । ३१ ) अयं सहस्रम् ( ७ । २३ ) इति पृश्नि गाम्” ( कौशिकसूत्र ८ । ७ ) ॥

तत्र प्रथमा ॥

प्र नभस्व पृथिवि भिन्द्हीदं दिव्यं नभः ।

उद्गो दिव्यस्य नो धातरीशानो वि ष्या दृतिम् ॥१॥

प्र । नभस्व । पृथिवि । भिन्दि । इदम् । दिव्यम् । नभः-।

उद्गः । दिव्यस्य । नः । धातः । ईशानः । वि । स्य । दृतिम् १

अत्र द्वितीयादिपादत्रये वृष्ट्यर्थं पर्जन्यः प्रार्थ्यते । तदर्थम् आदौ अतिवृष्ट्या भूमेर्वाया मा भूद् इति तस्याः स्मर्यं प्रथमपादे आशा-  
स्यते । हे पृथिवि विस्तीर्णे भूमे त्वं प्र नभस्व । ॐ नभस्तिर्गति-  
कर्मा ॐ । प्रकर्षेण संगता उच्छ्वसिता भव । अयम् अर्थः । सस्यादि-  
वृष्ट्यर्थं पर्जन्यस्तत्रोपरि महतीं वृष्टिं करिष्यति तथातिवृष्ट्या त्वं  
शिथिलावयना मा भव किं तु दृढा भवेति । यद्वा । ॐ नभ तुभ  
हिंसायाम् । क्रैयादिकः । व्यत्ययेन शप् ॐ । कुष्ट्या प्रकर्षेण  
वाधिता मृदिता भव । शान्यादिबीजवापनार्थं क्षेत्रादिकर्पणवृत्तेश-  
वनी भवेत्यर्थः । ॐ नह्यतेर्वा विकरणव्यत्ययः । इकारस्य भकारः ॐ ।  
प्र नह्यस्व संनद्धा भवेति । एवं पृथिवीं संस्तुभ्य वृष्ट्यर्थं देवः  
प्रार्थ्यते । इदं पुरोवर्ति दिव्यम् दिवि भवं नभः मेघं भिन्दि विदा-  
रय । इति सामर्थ्यात् पर्जन्यः संबोध्यते । तथा कृत्वा दिव्यस्य  
दिवि भवस्य उद्गः उदकस्य । ॐ “पद्मं” इत्यादिना उदकस्य  
उदन् आदेशः । कर्मार्थे णी ॐ । उदकस्य भागम् इति वा नः  
अस्मभ्यं धातु घेहि प्रयच्छ । ॐ दधातेर्लोडि शपो लुकि “तिडो  
तिडो भवन्ति” इति हेस्तादेशः ॐ । एतदेव प्रकारान्तरेणाह ।  
ईशानः वृष्टिप्रदानशक्तस्त्वं दृतिम् जलपूर्णा भस्त्रा मेघरूपा विष्य  
विमुञ्च । ॐ स्यतिः उपसृष्टो विमोचने । पो अन्तर्कर्मणि । श्रोतः  
श्यनि” इति ओकारलोपः ॐ । यथा जलपूर्णदृतिमुत्वात् महज्जलं  
स्रवति एवं मेघेभ्यो महतीं वृष्टिं कुर्वित्यर्थः ॥

हे पृथिवि ! तू मकुष्टरूपसे संगत होकर उद्ध्वसित हो, तात्पर्य यह है, कि—सस्य आदिकी वृद्धिके लिये पर्जन्य तेरे ऊपर बड़ी भारी वृष्टि करेगा उस वृष्टिसे तू शिथिल अवयव वाली न होना बड़ ही रहना अथवा जोतनेसे बाधित होकर मृदित हो—सही आदिके बीज बोनेके लिये सेनादिकर्षण क्लेश वाली हो। हे पर्जन्य ! आप इस दिव्य मेघको विदीर्ण करिये और ऐसा करके दिव्य अर्थात् आकाशमें हुए जलको हमें दीजिये। वृष्टिको प्रदान करने में समर्थ आप जलपूर्ण मेघरूपा भस्त्राको खोलिये अर्थात् जैसे जलसे भरी हुई मशकके मुखसे पानी निकलता है तिस प्रकार मेघोंसे बड़ी भारी वृष्टिको करिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

न प्रंस्तताप न हिमो जघान प्र नभतां पृथिवी जीरदानुः  
आपश्चिदस्मै घृतमित् क्षरन्ति यत्र सोमः सदमित्  
तत्र भद्रम् ॥ २ ॥

न । प्रन् । तताप । न । हिमः । जघान । प्र । नभताम् । पृथिवी ।  
जीरऽदानुः ।

आपः । चित् । अस्मै । घृतम् । इत् । क्षरन्ति । यत्र । सोमः ।  
सदम् । इत् । तत्र । भद्रम् ॥ २ ॥

प्रन् । अनुकरणशब्दोपमम् । घर्म इत्यर्थः । “यद् घञ्चित्य-  
पतत् तद् घर्मस्य घर्मत्वम्” इति तैत्तिरीयश्रुतेः [ तै० आ० ५. १. ५ ] ।  
अनेन घर्मशब्दवाच्यः कालो लक्ष्यते । स घर्मः ग्रीष्मो न तताप ।  
❀ अन्तर्भावितव्यर्थः ❀ । न तापयति संतापेन न बाधते । हिमः

हेमन्तर्तुः न जग्रान् । अतिशीत्येन गात्रसंकोचनरूपवाधां न करो-  
तीत्यर्थः । पृथिवी च जीरदानुः जीवनप्रदा । ७३ जीवे रदानु-  
प्रत्ययः ७४ । यद्वा । ७५ रकि ज्यः प्रसारणे जीर इति भवति ।  
“दाभाभ्यां नुः” [ उ० ३. ३२ ] इति नुप्रत्यये दानुरिति ।  
अस्यां व्युत्पत्तो अग्रहो युज्यते ७६ । जीरदानुः प्रवृद्धदानासती  
प्र नभताम् । उक्तो नभनिशब्दार्थः । वर्षेण आप्यायिता भवत्वित्य-  
त्यर्थः । किं च अस्मै यजमानाय आपश्चिन् आपोपि घृतम् इत् घृत-  
मेव सत्यः क्षरन्ति घृतयत् प्रीतिकारणयो भवन्ति । “आपो भद्रा  
घृतमिदं आप आसुः” इति [ तै० सं० ५. ६. १. ३ ] श्रुत्यन्त-  
रात् । यद्वा आपः घृतमेव क्षरन्ति कुर्वन्ति । दृष्ट्यागोसमृद्धा घृत-  
वृद्धिर्भवतीति यावत् । घर्महेमन्तजनितसंतापशैत्यवाधाभावः पृथि-  
व्याप्यायनं घृतक्षरणं च केन हेतुना भवतीति तद् आह । यत्र  
यस्मिन् देशे सोमः एतन्नामा देवः । इज्यन् इति शेषः । तत्र  
तस्मिन् देशे सदम् इत् सर्वदेव भद्रम् कल्याणं भवति । सौम्य-  
यागेन अनिष्ट निवृत्तिः इष्टप्राप्तिश्च भवतीत्यर्थः ॥

जिस देशमें सोम नामक देवताकी पूजा होनी है उस देशमें  
सर्वदा कल्याण ही होता है । उसमें घन अर्थात् ‡ ग्रीष्म ताप  
नहीं देता है और हेमन्त ऋतु भी अतिशीतके कारण गात्रसंको-  
चनरूप वाधाको नहीं करता है । और पृथिवी भी जीवनप्रदान  
करती हुई बढ़ती है और जल भी घृतरूप होते हुए ही बरसते

‡ घन यह अनुरूप शब्द है इसका घर्म अर्थात् ग्रीष्म अर्थ  
है । तैत्तिरीय आरण्यक ५ । १ । ५ में कहा है कि-“यद् घ्नित्य-  
पतत् तद् घर्मस्य घर्मत्वम् । जो घन करना हुआ गिरता है यही  
घर्मका घर्मत्व है ।”



हैं-घृतका समान प्रीति देने वाले होते हैं + अथवा जल घृतको ही करते हैं अर्थात् वृष्टिसे गोसमृद्धि होने पर घृतकी वृद्धि होती है २  
तृतीया ॥

प्रजापतिर्जनयति प्रजा इमा धाता दधातु सुमनस्यमानः  
संजानानाः समनसः सयोनयो मयि पुष्टं पुष्टपतिर्द-  
धातु ॥ १ ॥

प्रजाऽपतिः । जनयति । प्रजाः । इमाः । धाता । दधातु । सुमन-  
स्यमानः ।

सम्जानानाः । समनसः । सयोनयः । मयि । पुष्टम् । पुष्ट-  
पतिः । दधातु ॥ १ ॥

प्रजापतिः प्रजानां स्रष्टा पालयिता स देवः इमाः प्रजाः पुत्रा-  
दिका जनयतु उत्पादयतु । धाता पोषको देवः सुमनस्यमानः  
सुमना इवाचरन् । ❀ “कर्तुः क्यङ् सलोपश्च” इति क्यङ् । सलोपो  
व्यत्ययेन न प्रवर्तते ❀ । समनस्यं प्राप्तो दधातु पोषयतु । प्रजा  
इत्यनुपङ्गः । किं च ताः प्रजाः संजानानाः समानज्ञानाः । कार्य-  
विषये परस्परम् ऐकमत्यं प्राप्ता इत्यर्थः । ❀ “संप्रतिभ्याम्  
अनाध्याने” इति जानातेरकर्त्रभिप्रायेऽपि आत्मनेपदम् ❀ । स-  
मनसः संगतमनस्काः । अन्योन्याविसंवादिकार्यचिन्तापरा इत्यर्थः ।  
सयोनयः समानकारणाः । यथा प्रजा उक्तविशेषणविशिष्टा भवन्ति

+ तैत्तिरीयसंहिता ५ । ६ । १ । ३ में कहा है कि—“आपो  
भद्रा घृतमिदं आप आसुः ।—जलं कन्याणकारकं है और जल  
ही घृत है” ॥

तथा पुष्टपतिः पोषस्य पतिः एतन्नामा देवो मयि पुष्टम् पोषं प्रजा-  
विषयं दधातु विदधातु ॥

प्रजाओंके स्रष्टा प्रजापति देव पुत्र पौत्र आदिरूप प्रजाओंको  
उत्पन्न करें, पोषक चाता देव सुमनकी समान आचरण करते  
हुए पुष्ट करें । और वह प्रजायें प्रत्येक कार्यमें एकमत रहें-एक  
मन रहें और एक कारण रहें-ऐसा करनेके लिये पुष्टिपति नामक  
देवता मुझमें प्रजाविषयक पुष्टिको स्थापित करें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अन्वद्य नोनुमतिर्यज्ञं देवेषु मन्यताम् ।

अग्निश्च हव्यवाहनो भवतां दाशुपे मम ॥ १ ॥

अनु । अद्य । नः । अनुऽमतिः । यज्ञम् । देवेषु । मन्यताम् ।

अग्निः । च । हव्यऽवाहनः । भवताम् । दाशुपे । मम् ॥ १ ॥

अनुमतिः अनुमन्त्री सर्वकर्मसु अनुज्ञात्री पार्ष्णिमासाभिमा-  
निनी देवता । कलाहीने सानुमतिः पूर्ण राका निशाकरे ।  
इति हि तद्विदः । अद्य इदानीं नः अस्माकं यज्ञं देवेषु यष्टव्येषु  
अनु मन्यताम् अनुमानातु । ज्ञापयत्वित्यर्थः । अग्निश्च अग्निरपि  
दाशुपे । ॐ विभक्तिव्यत्ययः ॐ । इविर्दत्तवतो मम हव्यवाहनः  
हव्यं प्रापयिता यष्टव्यान् देवान् भवताम् भवतात् । ॐ व्यत्यये-  
नात्मनेपदम् । हव्यवाहन इति । “हव्येनन्तःपादम्” इति ऽशुट् ॐ ॥

सब कर्मोंकी अनुमन्त्री पार्ष्णिमासकी अभिमानी देवता ‡ आज

‡ कलाहीने सानुमतिः पूर्ण राका निशाकरे ।—कलाहीनमें  
यह अनुमति कहलाती है और पूर्णकला वाला चन्द्रमा होने पर  
वह पूर्णमासी राका कहलाती है ॥

हमारे यज्ञको पूजनीय देवताओंको विदित करे और अग्निदेव भी मुझ हवि देने वाले की हविको पूजनीय देवताओंको प्राप्त कराने वाले बनें ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

अन्विदनुमते त्वं मंससे शं च नस्कृधि ।

जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः ॥ २ ॥

अनु । इत् । अनुऽमते । त्वम् । मंससे । शम् । च । नः । कृधि ।

जुषस्य । हव्यम् । आऽहुतम् । प्रजां । देवि । ररास्व । नः । २ ।

हे अनुमते एतन्नामिके देवते त्वं अनु मंसिषे अनुमन्येथाः ।  
 ❀ इत् अवधारणे । मन्यतेः पञ्चमलकारे रूपम् ❀ । किं च नः  
 अस्माकं शम् सुखं कृधि कुरु । आहुतम् आभिमुख्येन अग्नौ  
 प्रक्षिप्तं हव्यम् हविः जुषस्व सेवस्व । हे देवि द्योतमाने अनुमते  
 नः अस्मभ्यं प्रजां पुत्रादिलक्षणां ररास्व प्रयच्छ । ❀ रातेः “बहुलं  
 अन्दसि” इति शपः श्लुः । व्यत्ययेन आत्मनेपदम् ❀ ॥

हे अनुमति नामक देवते ! तुम अनुमति दो, और हमें सुख  
 दो और अग्निमें होमी हुई हविका सेवन करो, हे देवि अनुमते !  
 हमें पुत्र आदिरूपा प्रजा दीजिये ॥ २ ॥

पष्ठी ॥

अनुमन्यतामनुमन्यमानः प्रजावन्तं रयिमक्षीयमाणम्  
 तस्य वयं हेडंसि मापि भूम सुमृढीके अस्य सुमतौ  
 स्याम ॥ ३ ॥

अनु । मन्यताम् । अनुऽमन्यमानः । प्रजाऽवन्तम् । रयिम् ।  
अक्षीयमाणम् ।

तस्य । वयम् । हेडसि । मा । अपि । भूम । सुऽमृडीके । अस्य ।  
सुऽमर्ता । स्याम ॥ ३ ॥

अनुमन्यमानः अनुमन्ता पुंदेवः । यद्वा लिङ्गव्यत्ययः । अत  
एव शाखान्तरे स्त्रीलिङ्गत्वेन पठ्यते । “अनु मन्यताम् अनुमन्य-  
माना” इति “तस्यै वयं हेडसि” इति च [ तै० सं० ३. ३. ११. ४ ] ।  
अनुमन्त्री अनुमतिर्देवता रयिम् अनु मन्यताम् अनुजानातु ।  
फीदशम् । प्रजावन्तम् पुत्रादियुक्तम् अक्षीयमाणं च । किं च तस्य  
अनुमन्तुः पुंदेवस्य तस्या अनुमतेर्वा हेडसि । ॐ क्रोधनामैतत् ॐ ।  
क्रोधेपि वयं मा भूम । क्रोधविषया मा भूमेत्यर्थः । किं तु अस्य  
अनुमन्तुः अस्या अनुमतेर्वा सुमृलीके । मृलीकम् इति सुखनाम ।  
शोभनसुखरूपे शोभनसुकारिण्यां वा सुमर्ता अनुग्रहात्मिकायां  
शोभनायां बुद्धी स्याम भवेम ॥

अनुमन्यमान अर्थात् अनुमन्ता पुंदेव ! हमें पुत्र आदिसे सम्पन्न  
अक्षय धन देवें, इन देवताके क्रोधमें हम न पड़ें और इनकी सुख-  
दायिनी अनुग्रहात्मिका बुद्धिमें रहें ॥ ३ ॥

सप्तमी ॥

यत् ते नाम सुहवं सुप्रणीतेनुमते अनुमतं सुदानु ।  
तेनां नो यज्ञं पिपृहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे  
सुवीरम् ॥ ४ ॥

यत् । ते । नाम । सुऽहवम् । सुऽप्रणीते । अनुऽमते । अनुऽमतम् ।  
सुऽदानु ।

तेन । नः । यज्ञम् । पिपृहि । विश्वञ्चारे । रयिम् । नः । धेहि ।

सुभगे । सुवीरम् ॥ ४ ॥

हे सुप्रणीते सुप्रणयने यजमानानां धनादेः सुष्ठु प्रणेत्रि वा हे अनुमते ते तव सुहवम् सुष्ठु हातव्यम् अनुमतम् सर्वेषाम् अभिमतं सुदानु शोभनदानम् अभिमतफलप्रदायकं यन्नाम नामधेयम् अनुमतिरूपम् अस्ति तेन नाम्ना नः अस्मदीयं यज्ञं पिपृहि पूरय । ❀ “अतिपिपत्योश्च” इति अभ्यासस्य इत्थम् ❀ । हे विश्वचारे विश्वैः सर्वैर्वरणीये किं च हे सुभगे शोभनभाग्ययुक्ते अनुमतेनः अस्माकं सुवीरम् शोभनापत्यं रयिम् धनं धेहि ॥

हे यजमानोंके धनका भली प्रकार प्रणयन करने वाली अनुमति देवते । तेरा जो भली प्रकार आदान करने योग्य सर्वोंका अभिमत, अभिमत फलको देने वाला अनुमतिरूप नाम है, उस नामसे हमारे यज्ञको पूर्ण कर, हे सर्वोंसे वरणीय शोभनभाग्ययुक्त अनुमति देवते ! तू हमको शोभनधनसम्पन्न धन दे ॥ ४ ॥

अष्टमी ॥

ए॒मं य॒ज्ञम॒नु॒म॒तिर्ज॒गाम॒ सु॒क्षेत्र॒तायै॑ सु॒वीर॒तायै॑ सु॒जा॒तम्  
भ॒द्रा ह्य॒स्याः प्र॒म॒तिर्व॒भूव॒ से॒मं य॒ज्ञम॒वतु॑ दे॒वगो॑पा ५

आ । इ॒मम् । य॒ज्ञम् । अ॒नु॒म॒तिः । ज॒गाम॒ । सु॒क्षेत्र॒तायै॑ ।

सु॒वीर॒तायै॑ । सु॒जा॒तम् ।

भ॒द्रा । हि । अ॒स्याः । प्र॒म॒तिः । व॒भूव॒ । सा । इ॒मम् । य॒ज्ञम् ।

अ॒वतु॑ । दे॒वगो॑पा ॥ ५ ॥

अनुमतिर्देवी इमम् अनुष्ठीयमानम् अस्मदीयं यज्ञम् आ जगाम

आगच्छतु । ॐ छान्दसो लिट् ॐ । किमर्थम् । सुक्षेत्रतार्यं सुभूमित्वाय फलाय । सुवीरतार्यं शोभनपुत्रत्वरूपफलाय सुक्षेत्रपुत्रादिरूपं फलं दातुम् । कीदृशं यज्ञम् । मृजातम् मन्त्रद्रव्यादिना सुष्ठु निष्पन्नम् । किं च हि यस्माद् अस्या अनुमतेः भद्रा भन्दनीया कल्याणी प्रमतिः प्रकृष्टानुग्रहबुद्धिः बभूव अतः देवगोपा देवानाम् अग्न्यादीनां गोप्त्री सा अनुमतिः इमं यज्ञम् अवतु रक्षतु ॥

अनुमति देवी हमारे इस अनुष्ठीयमान मन्त्र द्रव्य आदिसे भली प्रकार सम्पन्न यज्ञमें सुक्षेत्र पुत्र आदिरूप फल देनेके लिये आवे, क्योंकि—इस अनुमतिसे कल्याणी श्रेष्ठ अनुग्रहरूपा बुद्धि होनी है अतः अग्नि आदिकी रक्षक अनुमति इस यज्ञकी रक्षा करे ५ नवमी ॥

अनुमतिः सर्वमिदं बभूव यत् तिष्ठति चरति यदु च विश्वमेजति ।

तस्यांस्ते देवि सुमतौ स्यामानुमते अनु हि मंससे नः अनुमतिः । सर्वम् । इदम् । बभूव । यत् । तिष्ठति । चरति ।

यत् । ऊं इति । च । विश्वम् । एजति ।

तस्याः । ते । देवि । सुमतौ । स्याम । अनुमते । अनु । हि । मंससे । नः ॥ ६ ॥

अनुमतिर्देवी इदं परिदृश्यमानं सर्वं जगद् बभूव । सर्वशब्दार्थं विशिनष्टि । यत् जगत् तिष्ठति स्थावरवृक्षशुल्भादिरूपेण वर्तते । चरति यत् जगत् अबुद्धिपूर्वं चेष्टते । यदु च यदपि च विश्वम् सर्वं जगद् एजति बुद्धिपूर्वकं चेष्टते । ॐ एज कम्पने ॐ । स्था-

वरजङ्गमात्मकं सर्वं जगद् अनुमतिर्बभूव । हे हेवि अनुमते तस्या-  
स्तादृश्यास्ते तव सुपतौ शोभनायाम् अनुग्रहबुद्धौ स्याम भवेम ।  
हे अनुमते हि यस्मात् नः अस्मान् अनु मंसिषे अनुमन्वसे ।  
❀ मन्यतेः पञ्चमलकारे “सिप् बहुलं लोटि” इति सिप् ❀ ॥

जो जगत् स्थावर वृक्ष शुष्म आदिरूपसे स्थित है और जो  
जगत् अबुद्धिपूर्वक चेष्टा करता है और जो जगत् बुद्धिपूर्वक चेष्टा  
करता है वह सब स्थावरजङ्गमात्मक जगत् अनुमतिरूप है, हे  
ऐसी अनुमतिदेवि ! ऐसी आप हमारा अनुमोदन करिये ॥ ६ ॥

दशमी ॥

समेत विश्वे वचसा पतिं दिव एको विभूरतिथिर्जनाना-  
नाम् ।

स पूर्व्यो नूतनमाविवांसत् तं वर्तनिरनु वावृत एक-  
मित् पुरु ॥ १ ॥

सम्पूत । विश्वे । वचसा । पतिम् । दिवः । एकः । विभूः ।

अतिथिः । जनानाम् ।

सः । पूर्व्यः । नूतनम् । आविवांसत् । तम् । वर्तनिः । अनु ।

वावृते । एकम् । इत् । पुरु ॥ १ ॥

पैतृमेधिककर्मणा संस्कृतस्य पुरुषस्य सूर्यप्रशंसापूर्वकं तदनु-  
ग्रहं प्रार्थयते । हे विश्वे सर्वे वान्धवाः दिवः द्युलोकस्य पतिम्  
स्वामिनं सूर्यं वचसा मन्त्ररूपेण स्तोत्रेण समेत संप्राप्नुत । संस्तु-  
तेत्यर्थः । ❀ इण् गतौ । लोटि तस्य तत्रादेशः ❀ । सूर्यो दिशे-  
ष्यते । जनानाम् जन्मवर्तां प्राणिनाम् एकः मुख्यो विभूः स्वामी

अतिथिः संततम् अतनशीलः । ॐ अत सातत्यगमने । अतन्य-  
ज्जीत्यादिना [ उ० ४. २ ] इयिन् प्रत्ययः ॐ । अतिथिवद्  
अर्घ्यादिना पूज्यो वा । पूज्यः पुरातनः । ॐ स्वार्धिको यत् ॐ ।  
[ स ] सूर्यः नूतनम् पितृभूतम् इमं पुरुषम् आनिवासत् । ॐ विवा-  
सतिः परिचरणकर्मा ॐ । परिचरतु । स्वीयोयम् इति अनुष्टुप्छात्वि-  
त्यर्थः । यद्वा पूज्यः । ॐ “पूर्वः कृतम् इनयां च” इति यप्रत्ययः ॐ ।  
पूर्वः पितृभिः अभ्यदीयायम् इति स्वीकृतः स पुरुषो नूतनम् पुनः-  
पुनरुदयेन अभिनयं सूर्यं परिचरतु । अथ वा पूज्यः स पितृभूतः  
नूतनम् इष्टरुचितम् अभिनयं प्रदेशम् अभिगच्छत्विति । तम् एक-  
मेव सूर्यं पुरु बहुधा वर्तनिः सत्कर्ममार्गः अनु ववृते अनुवर्तते ॥

( पितृमेधिकर्मसे संस्कृत होने वाले पुरुष पर अनुग्रह करने  
के लिये सूर्यकी प्रशंसा करते हैं, कि—) हे सब बान्धवों ! ध्रुलोक  
के स्वामी सूर्यकी मन्त्ररूप वचनसे स्तुति करो, यह सूर्यदेव जन्म  
वाले प्राणिपोंके प्रधान स्वामी हैं और अतिधिकी समान अधे  
आदिसे पूजनीय हैं, यह प्राचीन सूर्यदेव इस पितृभूत नूतन पुरुष  
को अपना-समझ कर इस पर अनुग्रह करें । इन एक सूर्यसे  
ही अनेक प्रकारका सन्मार्ग चलता है ॥ १ ॥

अयं सदृशमानो दृशे कवीनां मतिज्योतिर्विधर्मणि १

अयम् । सदृशम् । आ । नः । दृशे । कवीनाम् । मतिः । ज्योतिः ।

विधर्मणि ॥ १ ॥

ब्रध्नः समीचीरुपसः समैरयन् ।

अरेपसः सचेतसः स्वसरे मन्युमत्तमाश्रिते गोः ॥ २ ॥

ब्रध्नः । समीचीः । उपसः । सम् । ऐरयन् ।



अरेपसः । सचेतसः । स्वसरे । मन्थुमत्स्तपाः । चित्ते । गोः २

एकादशी ॥ अयं परिदृश्यमानः सर्वैः स्वात्मत्वेन अनुभूयमानो वा सूर्यः न अस्माकं सद्वत्तम् । ❀ “कालाध्वनोः” इति द्वितीया ❀ । सहस्रसप्तसरकालपर्यन्तं दृशे दर्शनाय । ❀ “दृशे विरुये च” इति केशत्ययान्तत्वेन निपातितः । आ उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः ❀ । [ आ भवतु ] अनेककालपर्यन्तसूर्यः अस्मच्चक्षुर्गोचरो भवत्वित्यर्थः । तं विशिनष्टि । कवीनाम् क्रान्तदर्शिनां पुंसां मतिः मननीयः । ❀ कर्मणि क्तिन् ❀ । ज्योतिः प्रकाशरूपः । किं च विधर्मणि विविधे धर्मसाधने कर्मणि । ❀ निमित्तसप्तमी ❀ । ब्रध्नः सर्वेषां स्वस्वकर्मसु तत्फलेषु च बन्धकः संयोजकः सूर्यः । ❀ बन्धेर्ब्रधिवुधी च [ उ० ३. ५ ] इति नक् प्रत्ययः ❀ । उपसः उपःकालोपलक्षितानि अहानि समीचीः संगतानि अनुक्रमेण प्राप्तानि समैरयन् । ❀ वचनव्यत्ययः ❀ । सम्यक् प्रेरयतु । सत्कर्मकरणाय पुनःपुनरहानि प्रेरयत्वित्यर्थः ॥

द्वादशी ॥ उपसो विशेष्यन्ते । अरेपसः अपापाः पापहारिण्यः सचेतसः समानज्ञानाः स्वसरे । अहर्नामैतत् अह्नि विषये मन्थुमत्तमाः । ❀ मन्यतिर्दीप्तिकर्मा ❀ । अतिशयेन दीप्तिमत्यः प्रकाशयुक्ताः गोः पृश्निरूपायाः चित्ते । ❀ चायतेश्चित्तशब्दो निपातितः ❀ । पूजादानादिकर्मणि निमित्ते ब्रध्नः प्रेरयत्विति पूर्वेषां संबन्धः । यद्वा । ❀ चिनोतेः संपदादिलक्षणे भावे चित्रप् ❀ । गोशब्देन आदित्य उच्यते । ❀ गौः विष्टप् नभ इति षट् पदानि दिवश्चादित्यस्य च साधारणानीति हि यारुकः [ निघ० १. ४ ] ❀ । तस्य आदित्यस्य चित्ते चयनाय ज्ञापनाय । भवन्तु इति शेषः । अथ वा स्वसरे गोश्चित इति सामानाधिकरण्येन संबन्धः । ❀ चायतेर्निशामनार्थादेव चित्तशब्दः ❀ । गोः आदित्यस्य चित्ते दर्शनयोग्ये स्वसरे अह्नि विषये उपसो भवन्तु इति ॥

यह सबसे स्वात्मत्वरूपसे अनुभूयमान सूर्य हमें सदस्र वर्ष तक दर्शन देते रहें, यह सूर्यदेव चतुर पुरुषोंके माननीय हैं, प्रकाश रूप हैं और अनेक प्रकारके धर्मोंका साधन करने वाले कर्ममें और फलमें सबको ठिके रखने वाले हैं, ऐसे सूर्यदेव उपःकालोपलक्षित दिनोंको अनुक्रमसे संगत करते रहें—सत्कर्म करनेके लिये दिनोंको बारम्बार प्रेरित करें ॥ १ ॥

पापहारिणी समान ज्ञानवाली उपाएँ दिनमें परमप्रकाशयुक्त होती हैं वे आदित्यको जताने वाली हों ॥ २ ॥

त्रयोदशी ॥

दौःस्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षोः अश्वमेधस्यः ।

दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि ॥ १ ॥

दौःस्वप्न्यम् । दौःजीवित्यम् । रक्षोः । अश्वमेधम् । अश्वमेधस्यः ।

दुःस्वप्न्याः । सर्वाः । दुर्वाचः । ताः । अस्मत् । नाशयामसि १

व्याख्याता । [ ४. १७. ५ ] ॥

द्वितीयं सूक्तम् । [ इति ] सप्तमे काण्डे द्वितीयोऽनुवाकः ॥

दुःस्वप्नमें होने वाले अरिष्टदर्शनरूपी दौःस्वप्नचक्रों, कठिनतासे जीवन बितानेकी स्थितिको, राजसजातिको, अभिचारक्रियासे उत्पन्न हुए बड़े भारी भयको, असमृद्धि करनेवाली पापलक्ष्मियों को, छेदिका भेदिका आदि बुरे नाम वाली पिशाचियोंको, और काट डालूँ खालूँ आदि दुर्वचनोंका नित्य उच्चारण करनेवाली पिशाचियोंको हम इससे दूर करते हैं ॥ १ ॥

सप्तम काण्डके द्वितीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त ( ३३६ ) ॥

द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥

तृतीयेनुवाके त्रीणि सूक्तानि । तत्र “यन्न इन्द्रः” इति प्रथमं सूक्तम् । यत्र आद्ययर्चा मन्त्रोक्ता इन्द्राद्या नव देवताः सर्वफलकामो यजेत उपतिष्ठेत वा ॥

तत्रैव कर्मणि “ययोरोजसा” इति द्वाभ्यां विष्णुवरुणौ यजेत उपतिष्ठेत वा ॥

सर्वसंपत्कामो “विष्णोर्नु कम्” इत्यष्टर्चेन विष्णुं यजेत उपतिष्ठेत वा ॥

तद् उक्तं कौशिकेन । “यन्न इन्द्रः [ ७. २५ ] ययोरोजसा [ ७. २६ ] विष्णोर्नु कम्” [ ७. २७ ] इति [ कौ० ७. १० ] ॥

तथा “वैष्णवीम् अन्नकामस्यान्नक्षये च” इति [ न० क० १७ ] विहितायां वैष्णव्याख्यायां महाशान्तौ “विष्णोर्नु कम्” इति आचपेत् । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । “विष्णोर्नु कम् इति वैष्णव्याम्” इति [ न० क० १८ ] ॥

आतिथ्येष्टौ “विष्णोर्नु कम्” इति वैष्णवं हविरभिमृशेत् । तद् उक्तं वैताने । “आतिथ्यायां हविरभिमृशति यज्ञेन यज्ञम् [ ७. ५ ] इति वैष्णवं विष्णोर्नु कम्” [ ७. २७ ] इति [ वै० ३. ३ ] ॥

तथा सोमयागे औपवसथ्याहनि हविर्धानयोः उपस्तभ्यमानम् उपस्तम्भनकाष्ठम् अनया अनुमन्त्रयेत् । “विष्णोर्नु कम् इत्युपस्तम्भनम् उपस्तभ्यमानम्” इति वैतानसूत्रात् [ वै० ३. ५ ] ॥

सोमयागे “यस्योरुषु” इति सोमक्रयणार्थं निष्क्रामेत् । “यस्योरुष्विति निष्क्रम्य” इति [ वै० ३. ३ ] वैतानसूत्रात् ॥

पशुयागात् प्राक् क्रियमाणायाम् इष्टौ “उरु विष्णो” इत्यनया वैष्णवं पूर्णहोमं ब्रह्मा अनुपन्त्रयेत् । “अथ पशुः । वैष्णवं पूर्णहोमम् उरु विष्णो” [ वै० २. ६ ] इति हि वैतानम् ॥

तथा अद्भुतशान्तौ “उरु विष्णो” इत्यनया विष्णुं यजेत् । उक्तं नक्षत्रकल्पे । “उरु विष्णो विक्रमस्वेति विष्णोः” इति [ न० क० १४ ] ॥

दर्शपूर्णमासयोः प्रणीताप्रणयनप्रभृति हविष्कृदुद्गादनाद् अर्वाक् अभिवदनप्रायश्चित्तार्थम् “इदं विष्णुः” इति जपेत् । “प्रणीतासु प्रणीयमानासु वाचं यच्छ्रत्वा हविष्कृत उद्गादनाद् । यदि वदेद् वैष्णवीं जपेत्” इति हि वैतानं सूत्रम् [ वै० १. २ ] ॥

सोमयागे उत्तरवेद्यग्निप्रणयनानन्तरं दक्षिणहविर्धानस्य वर्त्म-होमम् “इदं विष्णुः” इति ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् ॥

तस्मिन्नेव कर्मणि उत्तरहविर्धानस्य वर्त्महोमं “त्रीणि पदा” इति अनुमन्त्रयेत् ॥ तद् उक्तं वैताने । “दक्षिणहविर्धानस्य वर्त्मा-भिहोमम् इदं विष्णुः [ ७. २७. ४ ] इत्युत्तरस्य त्रीणि पदा [ ७. २७. ५ ]” इति [ वै० ३. ५ ] ॥

तृतीयसवने सोमयागानन्तरम् “इदं विष्णुः” इति चमसान् अप्सु प्रक्षिपेत् । “अप्सुसोमचमसान् वैष्णव्यर्चा निनयति” [ वै० ३. १३ ] इति वैताने सूत्रितम् ॥

तथा “त्वाष्ट्रीं वज्रक्षये” इति [ न० क० १७ ] विहितायां त्वाष्ट्र्याख्यायां महाशान्ता “इदं विष्णुः” इत्यनया त्रिवृन्मणि-चन्धनं कुर्यात् । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । “अग्निः सूर्यः [ ५. २८. २ ] इदं विष्णुः [ ७. २७. ४ ] इति त्रिवृतं त्वाष्ट्र्याम्” इति [ न० क० १६ ] ॥

पशुतन्त्रे अवटे स्थापितं गुपं “विष्णोः कर्माणि” इति द्वाभ्याम् अग्न्यां ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । “धर्ता ध्रियस्व [ १२. ३. ३५ ] इति पादेनावटे निधीयमानं विष्णोः कर्माणि [ ७. २७. ६ ] इति द्वाभ्याम् उच्छ्रितम्” इति [ वै० २. ६ ] वैतानं सूत्रम् ॥

तथा अग्निचपने कूर्माभ्यञ्जनानन्तरम् उलूखलशुसलं च “विष्णोः कर्माणि” इति ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । “विष्णोः कर्माणीत्युलूखल-शुसलं निधीयमानम्” इति [ वै० ५. २ ] वैताने सूत्रितत्वात् ॥

तीसरे अनुवाक्ये तीन सूक्तं है । उनमें “यन्न इन्द्रः” यह

सूक्त है। इसकी पहिली ऋचासे मन्त्रोक्त इन्द्र आदि नौ देवताओं का यजन वा उपस्थान करे।

तहाँ ही कर्ममें 'ययोरोजसा' इन दो ऋचाओंसे विष्णु और वरुणदेवका यजन वा उपस्थान करे।

सर्वसम्पत्काम 'विष्णोर्नु कम्' इस अष्टर्चसे विष्णुका यजन वा उपस्थान करे।

इसी वातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि—“यन्न इन्द्रः ( ७।२५ ) ययोरोजसा ( ७।२६ ) विष्णोर्नु कम् ( ७।२७ )” इति ( कौशिकसूत्र ७।१० ) ॥

तथा “वैष्णवी अन्नकामस्यान्नक्षये च—। अन्नक्षय होने पर अन्नकामके क्षिये वैष्णवी शान्तिको करे” इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित वैष्णवी नाम वाली महाशान्तिमें “विष्णोर्नु कम्” को पढ़े। इसी वातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि—“विष्णोर्नु कम् इति वैष्णवकाम्” ( नक्षत्रकल्प १८ ) ॥

आतिथ्ययेष्टिमें “विष्णोर्नु कम्” से वैष्णव हविका अभिमर्शन करे। इसी वातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—“आतिथ्यायां हविरभिमृशति यज्ञेन यज्ञम् ( ७।५ ) इति वैष्णवं विष्णोर्नु कम्” ( ७।२७ ) इति ( वैतानसूत्र ३।३ ) ॥

तथा सोमयागके औपवसथ्य दिनमें हविर्धानमें उपस्तभ्यमान उपस्तंभन काष्ठका इस ऋचासे अनुमन्त्रण करे। वैतानसूत्र ३।५ में कहा है, कि—“विष्णोर्नु कम् इत्युपस्तम्भनम् उपस्तभ्यमानम्” ॥

सोमयागमें 'यस्योरुषु' से सोमक्रयणके क्षिये निष्क्रमण करे। वैतानसूत्र ३।३ में कहा है, कि—“यस्योरुष्विति निष्क्रम्य” ॥

पशुयागसे पहिले की जाने वाली इष्टिमें 'उरु विष्णो' ऋचा से वैष्णव पूर्णहोमका ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे। इसी वातको वैतान-

( १०० ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

सूत्र २ । ६ में कहा है, कि—“अथ पशुः । वैष्णवं पूर्णहोमं उरु विष्णोः” ॥

तथा अद्भुतशान्तिमें “उरु विष्णोः” इस श्रुत्यासे विष्णुका यजन करे । इसी बातको नक्षत्रकल्प १४ में कहा है, कि—“उरु विष्णो विक्रमस्वेति विष्णोः” ॥

दर्शपूर्णमासके प्रणीतामणयन आदि हविष्कृद्वादानसे पहिले आभेवदनके प्रायश्चित्तके लिये “इदं विष्णुः” का जप करे । वैतानसूत्र १ । २ में कहा है, कि—“प्रणीतासु प्रणीयमानासु वाचं यच्छ्रुत्या हविष्कृत उद्वादनात् । यदि वदेद् वैष्णवीं जपेत्” ॥

सोमयागमें उत्तरवेदीकी अग्निके प्रणयनके अनन्तर दक्षिण-हविर्धानके वर्त्महोमका ‘इदं विष्णुः’ से ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे ।

उसी कर्ममें उत्तरहविर्धानके वर्त्महोमको “त्रीणि पदा” से अनुमन्त्रित करे । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि “दक्षिण-हविर्धानस्य वर्त्माभिहोमं ‘इदं विष्णुः’ ( ७ । २७ । ४ ) इत्यु-त्तरस्य त्रीणि पदा ७ । २७ । ५ ) ( वैतानसूत्र ३ । ५ ॥ )

तृतीयसवनमें सोमयागके अनन्तर ‘इदं विष्णुः’ से चमसोंको जलमें डाले । इस बातका वैतानसूत्र ३ । १३ में प्रमाण है, कि—“अप्सु सोमचमसान् वैष्णव्यर्चा निनयति” ॥

तथा “द्वाष्ट्रीं वस्त्रक्षये-वस्त्रक्षय होने पर त्वाष्ट्री शान्तिकी करे” इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित त्वाष्ट्री नाम वाली महा-शान्तिमें ‘इदं विष्णुः’ इस श्रुत्यासे तिलड़ी पण्डिको चोंधे इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि—“अग्निः सूर्यः ( ५ । २८ । २ ) इदं विष्णुः ( ७ । २७ । ४ ) इति त्रिवृतं त्वाष्ट्र्याम्” ( नक्षत्र-कल्प १६ ) ॥

पशुतन्त्रमें अक्षुटमें स्थापित यूपका “विष्णोः कर्माणि” इन दो श्रुत्याओंसे ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्रका

प्रमाणं भी है, कि—“धर्ता ध्रियस्व ( १२ । ३ । ३५ ) इति पादेनावटे निधीयमानं विष्णोः कर्माणि ( ७ । २७ । ६ ) इति द्वाभ्यां उच्छ्रितम्” ( वैतानसूत्र २ । ६ ॥

तथा अग्निचयनमें कूर्माभ्यञ्जनके अनन्तर उलूखल और मुसलको भी “विष्णोः कर्माणीत्यूलुखलमुसलं निधीयमानम्” ( ५ । २ ) ॥

तत्र प्रथमा ॥

यन्म इन्द्रो अखनद् यदग्निर्विश्वे देवा मरुतो यत् स्वर्काः  
तदस्मभ्यं सविता सत्यधर्मा प्रजापतिरनुमतिर्नि यच्छात्

यत् । नः । इन्द्रः । अखनत् । यत् । अग्निः । विश्वे । देवाः ।

मरुतः । यत् । सुऽअर्काः ।

तत् । अस्मभ्यम् । सविता । सत्यऽधर्मा । प्रजाऽपतिः । अनुऽ-  
मतिः । नि । यच्छात् ॥ १ ॥

इन्द्रः । ॐ इति परमैश्वर्ये । “ऋजेन्द्राग्र०” इत्यादिना [ उ० २. २८ ] रक्प्रत्ययान्तो निपातितः । यास्कस्तु इन्द्र इरां दृणाति [ नि० १०. = ] इत्यादिना इन्द्रशब्दं बहुधा निरुवाच ॐ । पर-  
मैश्वर्यादिगुणविशिष्टो देवः न अस्मभ्यं यत् फलम् असनत् अद-  
दात् । ॐ षणु दाने । व्यत्ययेन शप् ॐ । संभजनार्थस्य भौवादि-  
कस्य वा रूपम् । यत् फलं समभजत् । अग्निः अङ्गनादिगुणवि-  
शिष्टो देवो यत् । असनद् इति सर्वत्र क्रियानुपङ्गः । विश्वे देवाः  
एतन्नामका गणदेवाः । मरुतः एकोनपञ्चाशत्संख्याका मरुद्गणाः ।  
स्वर्काः । ॐ अर्को मन्त्रो भवति यद् अनेनार्चन्ति । अर्को देवो  
भवति यद् एनम् अर्चन्तीति यास्कः [ नि० ५. ४ ] ॐ । सु-

( १०२ ) अथर्ववेदसंहिता समाप्य-भाषानुवादसहित

मन्त्राः सृदेवा वा एतन्नामानो देवाश्च । यद् असनन् इति क्रिया-  
पदस्य बहुवचनान्तत्वेन विपरिणामः । तत् फलम् अस्मभ्यं सविता  
सर्वस्य प्रेरकः सत्यधर्मा यथार्थकर्मा एतन्नामा देवः प्रजापतिः  
अनुमतिश्च नि यच्छात् नि यच्छतु स्थापयतु । ॐ पत्येकवि-  
क्षया एकवचनम् यम उपरमे । अस्मात् पञ्चमलकारे “इषुग-  
मियमां हः” । आडागमः ६३ ॥

परम ऐश्वर्य आदि गुणोंसे सम्पन्न इन्द्रदेवने हमको जो फल  
दिया है, अंगनादिगुणसम्पन्न अग्निदेवने हमको जो फल दिया  
है, विश्वेदेवा और उड़-आस मरद्गण देवताओंने हमको जो फल  
दिया है, उस फलको मूर्त्यदेव, सत्यधर्मा, प्रजापति और अनु-  
मति देवी भी हमको देवें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

ययोरोजसा स्कभिता रजांसि यौ वीर्यैर्वीरतमा  
शविष्ठा ।

यौ पत्येने अप्रंतीतौ सहोभिर्विष्णुमगन् वरुणं पूर्व-  
हृतिः ॥ १ ॥

ययोः । ओजसा । स्कभिता । रजांसि । यौ । वीर्यैः । वीरतमा ।  
शविष्ठा ।

यौ । पत्येने इति । अप्रतिष्ठतौ । सहः अभिः । विष्णुम् । अगन् ।  
वरुणम् । पूर्वहृतिः ॥ १ ॥

ययोः विष्णुवरुणयोः ओजसा वशेन रजांसि । ॐ लोका  
रजांस्युच्यन्त इति हि निरुक्तम् [ ४१. ६ ] ॐ । रञ्जनात्मकानि  
पृथिव्यादीनि स्थानानि स्कभिता स्कम्भितानि । दृढीकृतानीत्यर्थः ।



❀ शैलोपः ❀ । यौ विष्णुवरुणौ वीर्यैः वीरकर्मभिः शत्रुजयादि-  
रूपैः पराक्रमैः वीरतमा अत्यन्तशूरौ शविष्ठा । शत्रु इति बलनाम ।  
अतिशयेन बलवन्तौ । ❀ शत्रुस्विशब्दाद् इष्टानि विनो लुक् ।  
उभयत्र सुप आकारः ❀ । किं च यौ विष्णुवरुणौ सहोभिः बलैः  
अप्रतीतौ अप्रतिगतौ अतिरस्कृतौ सन्तौ पत्येते । ❀ पत्यतिरैश्वर्य-  
कर्मा ❀ । ऐश्वर्यं सामर्थ्यं प्राप्नुतः । तादृशं विष्णुम् व्यापन-  
शीलं देवं वरुणम् अनर्थनिवारकं देवं च पूर्वहृतिः पूर्वाहानः इत-  
रेभ्यः फलार्थिभ्यः प्रथमाहानोऽयं यष्टा अगन् गच्छतु । हविषा संयो-  
जयतु इत्यर्थः । गमेश्चानन्दसे लुङि “मन्त्रे घस०” इति चलेलु किं  
“मो नो धातोः” इति मकारस्य नत्वे रूपम् ❀ ॥

जिन विष्णु और वरुणके बलसे रंजन/त्मक पृथिवी आदि  
लोक दृढ़ हुए हैं, जो विष्णु और वरुण शत्रुजय आदि रूप वीर-  
कर्मोंसे अत्यन्त शूर हैं और जो विष्णु और वरुण अतिरस्कृत रह  
कर ही ऐश्वर्यको प्राप्त होते हैं, ऐसे व्यापनशील विष्णुदेव  
और अनर्थनिवारक वरुणदेवको अन्य फलार्थियोंसे पूर्व आहान  
वाला यह यष्टा हविसे संयुक्त करे ॥ १ ॥

तृतीया ॥

यस्येदं प्रदिशि यद् विरोचते प्र चानन्ति वि च चष्टे  
शचीभिः ।

पुरा देवस्य धर्मणा सहोभिर्विष्णुमगन् वरुणं पूर्वहृतिः २

यस्य । इदम् । प्रदिशि । यद् । विरोचते । प्र । च । अनन्ति ।

वि । च । चष्टे । शचीभिः ।

पुरा । दे॒स्य । ध॒र्मणा । सहैः ऽभिः । विष्णुम् । अ॒गन् । व॒रुणम् ।

पूर्व॑दृतिः ॥ २ ॥

यस्य विष्णोः वरुणस्य च । मत्प्रेकृतिवत्तया एव वचनम् ।  
प्रदिशि प्रदेशने आज्ञाया यद् इदं विश्वं विरोचने विशेषेण दीप्यते ।  
मानिति च प्रकर्षेण चेष्टते च । शस माखने । अन च इति  
धातुः । गचीभिः कर्मभिः चि चष्टे च । पश्यति कर्मतत् ।  
स्वस्ववर्तमानं फलं वा विशेषेण पश्यति च । किं च देवस्य द्योत  
मानस्य विष्णोर्वरुणस्य च धर्मणा धारणेन कर्मणा सहोभिः  
बलैश्च पुरा पूर्व जगद् व्यरोचिष्ट मानीत् व्यचष्टेति कालनिपदि-  
शामेन योज्यम् । पुराणवत्स्य निपातस्य रोचते इत्यादिधातु-  
योगे “यावत्पुरानिपातयोर्लट्” इति भविष्यदर्धे लट् । देवस्य  
धारणेन कर्मणा बलैश्च यद् इदं विश्वं विरोचिष्यते माणिष्यति  
विरूपास्यति विशेषेण द्रक्ष्यति । एवं विष्णुवरुणयोराज्ञायां विश्वं  
जगद् भूतभविष्यद्वर्तमानकालेषु रोचनादिव्यापारास्पदं भवति ।  
तादृशं विष्णुं वरुणं च पूर्वदृतिः इतरेभ्यः प्रथमाद्धानोय फलार्थं  
जनः अगन् गच्छतु । हविषा संयोजयतु इत्यर्थः ॥

जिन विष्णु और वरुणकी आज्ञामें जो यह विश्व दमक रहा  
है और चेष्टा कर रहा है । और अपने २ वर्तमान और फलोंको  
विशेषरूपसे देखता है । और जिन प्रकाशमान विष्णु और वरुण  
के धारण कर्मसे और बलोंसे जगत् चेष्टा कर चुका है कर रहा  
है और करेगा उन विष्णु और वरुणको यह पूर्वाधान होता हवि  
से संयुक्त करे ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

विष्णोर्नु कं प्रा वोचं वीर्याणि यः पार्थिवानि विमसे  
रजांसि ।

यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः १

विष्णोः । नु । कम् । प्र । वोचम् । वीर्याणि । यः । पार्थिवानि ।

विष्ममे । रजांसि ।

यः । अस्कभायत् । उत्तरम् । सधस्थम् । विचक्रमाणः ।  
त्रेधा । उरुगायः ॥ १ ॥

विष्णोः व्यापनशीलस्य देवस्य वीर्याणि वीरकर्माणि नु क्षिप्रं  
मा वोचम् प्रकर्षेण ब्रवीमि । ॐ छान्दसो लुङ् ॐ । कम् इति  
पूरणः । विष्णुर्विशेष्यते । यो देवः पार्थिवानि पृथिवीमयानि  
रजांसि लोकान् विममे निर्ममे । “तिस्रो भूमीर्धारयन्त्रीरुतधून्”  
इति [ ऋ० २, २७, ८ ] मन्त्रवर्णे एकैकस्य लोकस्य त्रित्व-  
संख्या श्रूयते । यद्वा “त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः” इति [ ऐ०  
वा० २, १७ ] एकैकस्य त्रिवृत्करणश्रवणात् पार्थिवानीत्यत्र  
पृथिवीशब्देन पृथिव्यन्तरिक्षद्यलोका उच्यन्ते । “द्वितीयस्यां  
पृथिव्यां तृतीयस्यां पृथिव्याम्” इति हि तैत्तिरीयश्रुतिः [ तै०  
सं० १, २, १२, १ ] । पृथिवीषु भवानि । ॐ पृथिवीशब्दाद्  
भवार्थे अञ् प्रत्ययः ॐ । रजांसि ज्योतींषि अग्निविद्युत्सूर्यात्म-  
कानि विममे निर्मितवान् । किं च यो विष्णुः उत्तरम् उद्गततरं  
सधस्थं स्थानम् । सह तिष्ठन्त्यस्मिन् देवा इति सधस्थम् स्वर्गम् ।  
ॐ “सध मादस्थयोश्छन्दसि” इति सहस्य सधादेशः ॐ । अस्क-  
भायत् अस्तभ्नात् अधारयत् । ॐ “स्तन्धुस्तन्धु०” इत्यादिना  
स्कभेः श्नाप्रत्यये “शायच् छन्दसि सर्वत्र” इति शायजादेशः ॐ ।  
किं कुर्वन् । त्रेधा त्रिधा पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवि च विचक्र-  
माणः पादप्रक्षेपं कुर्वन् उरुगायः उरुभिर्महात्मभिर्गीयमानः स्तूय-  
मानः उरुगमनो वा । तस्य विष्णोर्वीर्याणि प्रवर्त्तयामीति संवन्धः ॥

व्यापनशाल विष्णुके वीररुमोंको मैं तुमसे शीघ्रतासे कहता हूँ, कि-इन्होंने पृथिवी अन्तरिक्ष और स्वर्गको रचा है और इन विशालकीर्ति विष्णुदेवने श्रेष्ठ स्वर्गको धारण किया है इनको उन्होंने तीन पैर रख कर किया है ॥ १ ॥

प्र तद् विष्णुं स्तवते वीर्याणि मृगो न भीमः कुचरो  
गिरिष्ठाः ।

परावत आ जगम्यात् परस्याः ॥ २ ॥

प्र । तद् । विष्णुः । स्तवते । वीर्याणि । मृगः । न । भीमः । कुचरः ।  
गिरिऽस्थाः ।

पराऽध्वः । आ । जगम्यात् । परस्याः ॥ २ ॥

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि  
विश्वा ।

उरु विष्णो वि क्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि ।

घृतं घृतयोने पिव प्रप्र यज्ञपतिं तिर ॥ ३ ॥

यस्य । उरुषु । त्रिषु । विक्रमणेषु । अधिऽक्षियन्ति । भुवनानि ।  
विश्वा ।

उरु । विष्णो इति । वि । क्रमस्व । उरु । क्षयाय । नः । कृधि ।

घृतम् । घृतऽयोने । पिव । प्रप्र । यज्ञऽपतिम् । तिर ॥ ३ ॥

पञ्चमी ॥ तद् । ❀ लिङ्गव्यत्ययः ❀ । स महानुभायो विष्णुः

वीर्याणि वीरकर्मणि । उद्दिश्येति क्रियाध्याहारः । प्र स्तवते प्र-  
कर्षेण स्तूयते । ॐ स्तौतेः कर्मणि व्यत्ययेन शप् ॐ । मृगो न  
मृग इव सिंह इव भीमः भयानकः कुचरः कुत्सितं चरन् कौ भूम्यां  
वा चरन् गिरिष्ठाः पर्वते तिष्ठन् भूमौ संचरन्नपि सिंहः उत्सव-  
नेन पर्वतस्थितो भवति । एवं स विष्णुः परस्याः परावतः अति-  
दूराद् देशादपि आ जगम्यात् स्तुतिकर्मत्वेन आगच्छतु । ॐ गमे-  
रञ्जान्दसः शपः रलुः ॐ । यस्य विष्णोः उरुषु विस्तीर्णेषु त्रिषु  
विक्रमणेषु पादनिधानस्थानेषु विश्वा विश्वानि भुवनानि भूतानि  
अधिक्षियन्ति अधिवसन्ति । ॐ क्षि निवासगत्योः ॐ । प्रथमे  
विक्रमे भौमानि द्वितीये अन्तरिक्षाणि तृतीये दिव्यानि भूतानि  
वसन्तीत्यर्थः ॥

षष्ठी ॥ हे विष्णो व्यापक उरु प्रभूतं वि क्रमस्व लोकत्रये  
पादत्रयं कुरु । किं च नः अस्माकं क्षयाय निवासाय । ॐ षष्ठ्यर्थे  
चतुर्थी ॐ । निवासस्य उरु प्रभूतं धनादिकं कृधि कुरु । अस्माकं  
निवासं बहुधनादियुक्तं कुर्वित्यर्थः । हे घृतयोने घृतस्य योने  
कारणभूत घृतं योनिर्यस्येति वा घृतयोनिः । अत्र अग्न्यात्मना  
विष्णुः स्तूयते । हे विष्णो इदं हूयमानं घृतम् आज्यं पिव । अपि  
च यज्ञपतिम् । यजमानं मम तिर प्रवर्धय । ॐ प्रपूर्वस्तिरतिवर्ध-  
नार्थः । “प्रसमुपोदः पादपूरणे” इति प्रशब्दस्य द्विर्वचनम् ॐ ॥

इन मडानुभाव विष्णुके वीरकर्मोंकी प्रशंसाकी जाती है, कि जैसे  
भयानक सिंह पृथिवी पर घूमता हुआ भी कूद कर पर्वत पर जा  
चढ़ता है, इसी प्रकार बहुत दूर पर भी विराजमान विष्णुदेव स्तुतिके  
कारण यहाँ आजावें, जिन विष्णुके विस्तीर्ण पादनिधानस्थानोंमें  
सकल भुवन निवास कर रहे हैं अर्थात् पहिले पादनिधानस्थान  
में भूलोकके दूसरेमें अन्तरिक्षके और तीसरेमें दिव्य भूत निवास  
कर रहे हैं ( ऐसे विष्णुदेव स्तुतिकर्मसे यहाँ आजावें ) । हे व्या-

पक्ष विष्णुदेव ! आप तीनों लोकोंमें पैरोंको रखिये, और हमारे निवासके लिये बहुतसा धन आदि हमको दीजिये ( अग्निरूपमें विष्णुकी स्तुति करते हैं, कि—) हे घृतसे होने वाले ! इस होमे जाते हुए घृतको पीजिये और यज्ञपति यजमानको बढ़ाइये॥२॥३॥

सप्तमी ॥

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदा । समूढस्मय  
पांसुरे ॥ ४ ॥

इदम् । विष्णुः । वि । चक्रमे । त्रेधा । नि । दधे । पदा ॥ समूढम् ।  
अस्य । पांसुरे ॥ ४ ॥

विष्णुः व्यापी भगवान् इदं विश्वं वि चक्रमे विक्रान्तवान् । त्रिधा विचक्रमे इति तद् आह । त्रेधा त्रिधा पदा पदानि नि दधे स्थापयामास । “पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवि च विष्णुर्वामनो भूत्वेमोल्लोकांस्त्रिभिः क्रमैरभ्यजयत्” इति श्रुतेः । अस्य विक्रम-माणस्य विष्णोः पांसुरे पांसुमति । ॐ रो मत्वर्थायः ॐ । पादे लोकाग्रयं समूढम् सम्यग् ऊढं समवस्थापितं समाकृष्टं वा अभ-वत् । ॐ अत्र “विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा । यद् इदं किं च तद् वि चक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवीति शाक-पूणिः” [ नि० १२. १८ ] इत्यादि निरुक्तम् अनुसंधेयम् ॥

व्यापनशील भगवान् विष्णुदेवने इस विश्वका विक्रमण किया अर्थात् इसके ऊपर पैर रखे उन्होंने पैरको तीन बार रखला + इन विक्रममाण भगवान्के धूलिसे भरे चरणमें तीनोंलोक समागए थे

+ इस श्रुतिमें वामन अवतारका वर्णन है । अन्य श्रुतियोंमें भी कहा है, कि—“पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवि च विष्णुर्वामनो भूत्वेमोल्लोकांस्त्रिभिः क्रमैरभ्यजयत् ।—भगवान् विष्णुने वामन

अष्टमी ॥

त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ।

इतो धर्माणि धारयन् ॥ ५ ॥

त्रीणि । पदा । वि । चक्रमे । विष्णुः । गोपाः । अदाभ्यः ।

इतोः । धर्माणि । धारयन् ॥ ५ ॥

त्रीणि पदा पदानि वि चक्रमे विक्रान्तवान् । गोपाः गोपा-  
यिता अदाभ्यः अहिंस्यः परैरनभिभाव्यो विष्णुः । अतः अस्मात्  
लोकात् पृथिव्या आरभ्य धर्माणि कर्माणि अग्निहोत्रादीनि धार-  
यन् । अपि वा । अतः एभ्यस्त्रिभ्यः पदेभ्यो धर्माणि भूतधार-  
काणि रजांसि पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकरूपाणि धारयन् । विचक्रमे  
इति संबन्धः ॥

दूसरोंसे न दबने वाले रक्षक विष्णुदेवने तीन पैर रखे इन  
तीन पैरोंसे ही उन्होंने पृथिवी अन्तरिक्ष और स्वर्गलोकको धारण  
किया था ॥ ५ ॥

नवमी ॥

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो ब्रतानि पस्पशे ।

इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ६ ॥

विष्णोः । कर्माणि । पश्यत । यतः । ब्रतानि । पस्पशे ।

इन्द्रस्य । युज्यः । सखा ॥ ६ ॥

बन कर पृथिवी अन्तरिक्ष और स्वर्ग इन तीनोंमें तीन पैरोंसे  
तीनों लोकोंको नाप लिया था” ॥

विष्णोः व्यापकस्य देवस्य कर्माणि पर्यत । हे स्तोतार इति शेषः । यतः । ॐ “इतराभ्योपि दृश्यन्ते” इति तृतीयार्थे तसिल् प्रत्ययः ॐ । यैः कर्मभिः व्रतानि नानाविधानि युष्मदीयानि कर्माणि पस्पशे स्पृशति व-नाति वा । ॐ स्पश बन्धनस्पर्शनयोः । स्वरितेत् । छान्दसो लिट् । शर्पूर्वस्य खयः शेषः ॐ । पुनः कीदृशो विष्णोः । इन्द्रस्य देवस्य युज्यः योग्यः अनुगुणः सखा समान-ख्यानो मित्रभृगः ॥ ॐ युज्य इति । युजं संपदादिलक्षणे विवपि युग् इति पदं भरति । युजि योगे साधुः । “तत्र साधुः” इति यत् ॐ ॥

[ इति ] तृतीयनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे स्तोताओं ! व्यापक विष्णुदेवके कर्मोंको देखो ! कि-जिन कर्मोंसे वे तुम्हारे कर्मोंको बँधते हैं । और यह विष्णुभगवान् इन्द्रके योग्य सखा हैं ॥ ६ ॥

तृतीय अङ्गुष्ठाकर्म प्रथम सूक्त समाप्त ( ३५१ ) ॥

“तद् विष्णोः” इति द्वितीयं सूक्तम् । तत्र आद्ययोर्ऋचोः सर्वसंपत्कर्माणि “विष्णोर्नु कम्” इत्यत्र विनियोगोऽभिहितः ॥

दर्शपूर्णमासयोः “वेदः स्वस्तिः” इति वेदं विमुञ्चेत् । “वेदः स्वस्तिरिति वेदं विवृणोति” इति [ वै० १. ४ ] वैतानमूनात् ॥

प्रायणीयेष्टी अनया स्वस्तिपागम् अनुमन्त्रयेत् । “प्रायणीयायां पथ्यायाः स्वस्तेः” इति प्रक्रम्य “पथ्या रेवतीर्वेदः स्वस्तिः” इति [ वै० ३. ३ ] सूत्रितम् ॥

सर्वव्याधिभैषज्यार्थं व्याधितशरीरं मौञ्जैः पाशैः पर्वसु बद्ध्वा “अग्राविष्णु” इति द्वाभ्यां शरपिङ्गुलीभिः सह उदकघटं सपात्य अभिमन्त्र्य व्याधितम् आसावयेद् अरसिञ्चेद् वा । तद् उक्तं संहिताविधौ । “अग्राविष्णु [ ७. ३० ] सोमारुद्रा [ ७. ४३ ]” इति प्रक्रम्य “मौञ्जैः पर्वसु बद्ध्वा पिङ्गुलीभिरासावयत्यवसिञ्चति” इति [ का० ४. ८ ] ॥



तथा सर्वसंपत्कामः अनेन व्युत्थेन अग्नाविष्णू यजेत उपतिष्ठेन  
चा । [ कौ० ७. १० ] ॥

गोदानाख्ये संस्कारकर्मणि “स्वाक्तम्” [ १ ] इत्यनया अञ्ज-  
नम् अभिमन्त्र्य ब्रह्मचारिणोऽक्षिणी अभ्यञ्ज्यात् । “आयुर्दाः  
[ २. १३ ] इति गोदानं कारयिष्यन्” इति [ कौ० ७. ४ ]  
प्रक्रम्य “स्वाक्तं म इत्यनक्ति” इति [ कौ० ७. ५ ] हि सूत्रितम् ॥

पशावज्यमानं यूपम् अनया ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । “स्वाक्तं म  
इत्यज्यमानम्” इति वैतानसूत्रात् [ वै० २. ६ ] ॥

आभिचारकर्मणि “इन्द्रोतिभिः” [ १ ] इत्यनया अशनिहत-  
वृक्षसमिधम् आदध्यात् ॥

उपनयने आयुष्कामस्य माणवकस्य मूर्धानम् “उप प्रियम्”  
इत्यनुमन्त्रयेत् । “आवतस्ते [ ५. ३०. १ ] उप प्रियम् [ ७. ३३ ]  
अन्तकाय मृत्यवे” [ ८. १ ] इति [ कौ० ७. ६ ] सूत्रितम् ॥

पुष्टिकर्मणि तटाकादिसर्वजनसाधारणोदके मिश्रधान्यं प्रक्षिप्य  
“सं मा सिञ्चन्तु” [ १ ] इत्यनया संपात्य अभिमन्त्र्य पुष्टिका-  
मोऽक्षीयात् । “सं मा सिञ्चन्त्विति सर्वोदके मैश्रधान्यम्” इति  
[ कौ० ३. ७ ] कौशिकसूत्रात् ॥

तथा अग्निकार्ये अनया माणवकोऽग्निं पयुक्षेत् । “सं मा सिञ्च-  
न्त्विति त्रिः पयुक्षति” इति [ कौ० ७. ८ ] कौशिकसूत्रात् ॥

तथा अग्निचयने अभिषिच्यमानं यजमानं ब्रह्मा एनाम् ऋचं  
वाचयेत् । “सं मा सिञ्चन्त्वित्यभिषिच्यमानं वाचयति” इति  
वैतानसूत्रात् [ वै० ५. २ ] ॥

“तद् विष्णोः” यहदूसरा सूक्त है। इसकी पहिली दो ऋचाओं  
का सर्वसम्पत्कर्मके ‘विष्णोर्बु क्रम्’ में विनियोग कहा है ।

दर्शपूर्णमासके ‘वेदः स्वस्तिः’ से वेदका विमुञ्चन करे ।  
वैतानसूत्र १ । ४ में कहा है, कि—“वेदः स्वस्तिरिति वेदं विचृतति”

प्रायणीयेष्टिमें इस ऋचासे स्वस्तियागका अनुमन्त्रण करे ।  
वैतानसूत्र ३ । ३ में कहा है, कि—“प्रायणीयायां पथ्यायाः स्व-  
स्तेः” इति प्रक्रम्य “पथ्या रेवतीर्वेदः स्वस्तिः” ॥

सर्वव्याधिर्भेषज्यके लिये रोगीके शरीरको मूँजके पाशोंसे  
जोड़ों पर बाँध कर ‘अग्नाविष्णु’ इन दो ऋचाओंसे सेंटोंके मुट्टों  
के साथ जलपूर्ण घटका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके रोगी  
को स्नान करा देय अथवा उस पर जल छिड़के ॥ इसी वानको  
संहिताविधिमें कहा है, कि—“अग्नाविष्णु ( ७ । ३० ) सोमारुद्रा  
( ७ । ४३ )” इति प्रक्रम्य “मार्जः पर्वणु वद्ध्वा पिङ्गुलीभि-  
रासावयत्यवसिञ्चति” ( कौशिकसूत्र ४ । ८ ) ॥

तथा सर्वसम्पत्काम इस ऋचसे अग्नि और विष्णुका यजन  
वा उपस्थान करे । इस बातका कौशिकसूत्र ७ । १० में वर्णन है ।

गोदान नाम वाले संस्कारकर्ममें ‘स्वाक्तम्’ इस ऋचासे  
अञ्जनका अभिमन्त्रण करके उसको ब्रह्मचारीकी ओखोंमें डाले  
‘आधुर्दाः ( २ । २३ ) इति गोदानं कारयिष्यन्” इति ( कौशिक  
सूत्र ७ । ४ ) प्रक्रम्य “स्वाक्तं ॥ इत्यनक्ति” इति ( कौशिक-  
सूत्र ७ । ५ ) हि सूत्रितम् ॥

पशुमें बाँधे जाते हुए यूपका ब्रह्मा इस ऋचासे अनुमन्त्रण  
करे । वैतानसूत्र २ । ६ में कहा है, कि—“स्वाक्तं पइत्यज्यमानम्”

अभिचारकर्ममें “इन्द्रोर्तिभिः” ऋचासे विजलीसे मारे हुए  
वृत्तकी समिधाको रखे ।

उपनयनमें आयु चाहने वाले बालकके मूर्धाको ‘उपमियम्’ से  
अनुमन्त्रण करे ! इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण है, कि—  
“आवनस्ते ( ५ । ३० । १ ) उप मियम् ( ७ । ३३ ) अन्तकाय  
मृत्पत्रे” ( ८ । १ ) इति ( कौशिकसूत्र ७ । ८ ) ॥

पुष्टिकर्ममें पुष्टिकी कामना वाला तालाव आदि सर्वजनमुलभ

जलमें मिश्रधान्यको ढाल कर 'सं मा सिञ्चन्तु' ऋचासे सम्पातन और अभिमन्त्रण करके खावे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ३।७ का प्रमाण भी है, कि—“सं मा सिञ्चन्त्विति सर्वोदके मैश्र-धान्यम्” ॥

तथा माणवक इससे अग्निकार्यमें अग्निका पर्युत्तण करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७।८ का प्रमाण भी है, कि—“सं मा सिञ्चन्त्विति त्रिः पर्युत्तति” ॥

तथा ब्रह्मा अग्निचयनमें अभिषिच्यमान यजमानसे इस ऋचा का उच्चारण करावे । वैतानसूत्र ५।२ में कहा है, कि—“स मां सिञ्चन्त्वित्यभिषिच्यमानं वाचयति” ॥

तत्र प्रथमा ॥

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।

दिवीव चक्षुराततम् ॥ ७ ॥

तत् । विष्णोः । परमम् । पदम् । सदा । पश्यन्ति । सूरयः ।

दिविऽइव । चक्षुः । आऽततम् ॥ ७ ॥

तत् प्रसिद्धं पूर्वोक्तं वा विष्णोः व्यापकस्य देवस्य परमम् उत्कृष्टं पूर्णं वा पदम् स्थानम् पद्यते गम्यत इति पदं ज्ञातव्यं तत्त्वं सदा सर्वदा सूरयः मेषाविनः पश्यन्ति साक्षात्कुर्वन्ति । कादृशम् । दिवि द्युलोके चक्षुरिव आततम् । सर्वेषां चक्षुःस्थानीयं सूर्यमण्ड-लम् इह चक्षुःशब्देनोच्यते । “चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्रेः” इति हि निगमः [ अ० १. ११५. १ ] । आततम् सगन्ताद् विस्तारितम् । ❀ “गतिरनन्तरः” इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । सूर्यमण्डल-मिव सर्वत्र प्रकाशस्वरूपं तत्त्वं पश्यन्तीत्यन्वयः ॥

भगवान् विष्णुके उस उत्कृष्ट पूर्ण पद वा ज्ञातव्य तत्त्वको

बुद्धिमान् पुरुष देखते हैं, वह जैसे सबका चक्षुः स्थानीय सूर्य-  
मण्डल ( रूप चक्षु ) ब्रुलोकमें विस्तृत है, इसी प्रकार उस सर्वत्र  
प्रकाशस्वरूप तत्त्वको बुद्धिमान् पुरुष देखने हैं ॥ ७ ॥

द्वितीया ॥

दिवो विष्णो उत वा पृथिव्या महो विष्णो उरोऽन्तरिक्षात्  
हस्तौ पृणस्व बहुभिर्वसव्यैराप्रयच्छ दक्षिणादोत  
सव्यात् ॥ ८ ॥

दिवः । विष्णो इति । उत । वा । पृथिव्याः । महः । विष्णो इति ।  
उरोः । अन्तरिक्षात् ।

हस्तौ । पृणस्व । बहुभिः । वसव्यैः । आप्रयच्छ । दक्षिणात् ।  
आ । उत । सव्यात् ॥ ८ ॥

हे विष्णो देव दिवः ब्रुलोकात् उत वा अपि वा पृथिव्याः  
महः महतः दिवः पृथिव्याश्च महतोऽन्यस्मात् महर्लोकादेः । ॐ मह-  
च्छब्दात् पञ्चम्येकवचने दिलोपरब्धान्दसः । महतेरा पूजार्थात्  
विश्वन्तात् पञ्चम्येकवचनम् ॐ । यद्वा मह इति पदम् अन्तरिक्ष-  
स्य विशेषणम् । हे विष्णो । पुनरामन्त्रणम् आदरार्थम् । उरोः  
विस्तीर्णात् । ॐ भाषितपुंस्कर्त्वेन जुषभावः ॐ । अन्तरिक्षात्  
लोकात् । आनीर्तरिति शेषः । बहुभिः अधिकैः वसव्यैः वसूनां  
समूहैः । ॐ “वसोः समूहे च” इति यत्प्रत्ययः ॐ । हस्तौ त्र-  
दीयो पृणस्व पूरय । ब्रुलोकादिभ्य आनीर्तवहुभिर्धनेस्त्रदीयो  
हस्तौ पूरय । प्रभूतं धनराशिं हस्नाभ्यां शृङ्गाणेत्यर्थः । ततस्तं  
प्रभूतं धनराशिं दक्षिणात् हस्नाद् आप्रयच्छ आभिमुख्येन अस्मभ्यं

देहि । उत अपि च सव्यात् वामहस्ताच्च आ । प्रयच्छेत्पुनः ।

❀ दाण् दाने । “पात्रा०” इत्यादिना यच्छादेशः ❀ ॥

हे विष्णुदेव ! आप द्युलोकसे पृथिवीलोकसे महर्लोकसे और विशाल अन्तरिक्षलोकसे लाये हुए प्रदार्थोंसे अपने दोनों हाथों को भरिये अर्थात् विशाल धनको अपने दोनों हाथोंसे ग्रहण करिये, फिर उस विशाल धनराशिको अपने सीधे और बायें हाथसे हमको भली प्रकार दीजिये ॥ ८ ॥

तृतीया ॥

इडैवास्माँ अनु वस्नां व्रतेन यस्याः पदे पुनते देवयन्तः ।

घृतपदी शक्वरी सोमपृष्ठोप यज्ञमस्थित वैश्वदेवी ।

इडा । एव । अस्मान् । अनु । वस्ताम् । व्रतेन । यस्याः । पदे ।

पुनते । देवयन्तः ।

घृतपदी । शक्वरी । सोमपृष्ठा । उप । यज्ञम् । अस्थित । वैश्वदेवी

इडा धेनुरूपा । एवशब्दः अवधारणे । अस्मान् सत्कर्मकारिणः व्रतेन कर्मणा अनु वस्ताम् अनुक्रमेणाच्छादयतु । अस्माभिरनुष्ठीयमानं कर्म यथा फलप्रदं भवति तथा करोत्वित्यर्थः ।

❀ वस आच्छादने । आदादिकः अनुदात्तेत् ❀ । यस्या इडायाः पदे पादे देवयन्तः देवकामा यजमानाः पुनते स्वात्मानं पुनन्ति ।

❀ देवशब्दात् “मुप आत्मनः क्यच्” ❀ । घृतपदी घृतं पदे यस्याः सा । “यत्रयत्र न्यक्रामत् तत्र घृतमपीडयत तस्माद् घृतपद्युच्यते” इति तैत्तिरीयश्रुतेः [ तै० सं २. ६. ७. १ ] । शक्वरी शक्ता फलदाने समर्था । ❀ शक्वेः क्वनिपि “वनो र च” इति ङीष्प्रोक्तः ❀ । सोमपृष्ठा सोमः पृष्ठे यस्यास्तादृशी वैश्वदेवी विश्वेषां

देवानाम् इयं विश्वदेवात्मिका इडा नाम धेनुः यज्ञम् अस्मदीयम्  
उपास्वत सर्वत्र विस्तृतं करोतु । ॐ स्तुङ् आच्छादने । छान्दसे  
लुहिः सिचो लुकि रूपम् ॐ ॥

धेनु हम सत्कर्म करने वालोंको कर्मसे आच्छादित करे अर्थात्  
किया हुआ कर्म जिस प्रकार फलप्रद हो तिस प्रकार करे, जिस  
धेनुके पादमें देवताओंसे कामना करने वाले यजमान अपनेको  
पवित्र करते हैं, ऐसी यह घृतपदी ‡ फलदानमें समर्प, सीमपृष्ठा  
सम्पूर्ण देवताओंसे सम्बन्ध रखने वाली यह इडा ( धेनु ) हमारे  
यज्ञको सर्वत्र विस्तृत करे ॥ १ ॥

चतुर्थी ॥

वेदः स्वस्तिर्द्विषणः स्वस्तिः परशुर्वेदिः परशुर्नः स्वस्ति ।  
हविष्कृतो यज्ञियां यज्ञकामास्ते देवासो यज्ञमिमं जुप-  
न्ताम् ॥ १ ॥

वेदः । स्वस्तिः । द्विष्यनः । स्वस्तिः । परशुः । वेदिः । परशुः ।  
नः । स्वस्ति ।

हविःकृतः । यज्ञियाः । यज्ञकामाः । ते । देवासः । यज्ञम् । इमम् ।  
जुपन्ताम् ॥ १ ॥

वेदो नाम दर्भमुष्टिः स्वस्तिः अविनाशहेतुः अस्माकं भवतु ।

‡ तैत्तिरीयसंहिता २ । ६ । ७ । १ में कहा है, कि—“यत्र यत्र  
न्यक्रमत् तत्र घृतमपीडयत तस्माद् घृतपद्मच्यते ॥—उस गौने  
जहाँ २ पैर रक्खा तहाँ २ घृत पीड़ित हुआ—निकला, अतएव  
यह घृतपदी कहलाती है” ॥

❀ अयं स्वस्तिशब्दो निपातो गुणमात्रे अविनाशो वर्तते । अत्र मतुल्लोपाद् गुणिनि अविनाशहेतौ वर्तते । अत एव सुवृत्पत्तिः । यद्वा सुपूर्वात् अस्तेः क्तिनि भूभावाभावश्चान्दसः ❀ । द्रुघणः द्रुः द्रुमो हन्यते अनेनेति द्रुघणः लवित्रादिः । ❀ “करणेयोविद्रुषु” इति अप् घत्वं च ❀ । स च स्वस्तिः अविनाशहेतुर्भवतु । परशुः पशुः पारश्ववड्किः तृणादिच्छेदनी वेदिः हविरासादनाधारभूता परशुः वृक्षच्छेदनसाधनभूतश्च नः अस्माकं स्वस्तिः अविनाशहेतुर्भवतु । किं च हविष्कृतः हविःसंपादका यज्ञियाः यज्ञार्हा यज्ञकामा यज्ञकामयमानाः । अथ वा हविष्कृतः ❀ पष्ठ्यन्तं पदम् ❀ । हविःसंपादकस्य मम यज्ञकामास्ते प्रकृतरः वेदद्रुघणादयो देवासः देवात्मकः इमम् अस्मदीयं यज्ञं जुपन्ताम् सेवन्ताम् ॥

वेद अर्थात् दर्भकी मुट्टी हमारे अविनाशमें कारण हो और जिस से पेड़ काटा जाता है वह लवित्र ( गडाँसा ) आदि द्रुघण हमारे लिये स्वस्ति ( अविनाशहेतु ) हो जिस पर फरसेसे तृण आदि काटे जाते हैं वह परशुर्वेदि और फरसा हमारे लिये स्वस्ति हो ये देवात्मक वेद द्रुघण आदि हविका सम्पादन करने वाले सुभक्त यजमानके सेवन करें ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

अग्नाविष्णु महितद्वां महित्वं पाथो घृतस्य गुह्यस्य नाम ।

दमेदमे सप्त स्तना दधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमा चरण्यात् ॥ १ ॥

अग्नाविष्णु इति । महि । तत् । वाम् । महिऽत्वम् । पाथः । घृतस्य ।

गुह्यस्य । नाम ।

दमेऽदमे । सप्त । रत्ना । दधानौ । प्रति । वाम् । जिह्वा । घृतम् ।  
आ । चरण्यात् ॥ १ ॥

हे अग्नाविष्णु । ❀ “देवताद्वन्द्वे च” इति पूर्वपदस्य आनङ् ।  
वाम् युवयोस्तत् वक्ष्यमाणं प्रसिद्धं वा महित्वम् माहात्म्यं महि  
मदत् महनीयं पूजनीयम् । ❀ इन् सर्वधातुभ्यः इति [ उ० ४.११७ ]  
महेरिन् प्रत्ययः ❀ । यतः गुह्यस्य गोपनीयस्य गुढारूपजुहगतस्य  
वा नाम आज्यसांनायपादिनामवतो घृतस्य क्षरणशीलस्य वस्तुनः  
पायः विवधः । ❀ पा पाने । शपो लुक् चान्दसः ❀ । कीदृशौ ।  
दमेदमे गृहेगृहे सर्वेषु यज्वगृहेषु सप्त सप्तसंख्याकानि रत्ना रत्नानि  
रमणीयानि गवाश्वदिसप्तपशुरूपाणि रत्नानि दधानौ धारयन्तौ ।  
ति च वाम् युवयोः प्रति प्रत्येकं जिह्वा रसना घृतम् हूयमानम्  
आज्यम् आ चरण्यात् अभिमुख्येन प्राप्नोतु । भक्षयत्वित्यर्थः ।  
एतत् महित्वम् इति पूर्वेण संबन्धः । ❀ चरण गतौ इति कण्ठवादी  
पठ्यते । तस्मात् लोटि आडागमः ❀ ॥

हे अग्नि और विष्णुदेव ! आपका परमपूजनीय माहात्म्य है  
कि-जो स्वरूप गृफा वाले क्षरणशील आज्य सांनाय्य आदि  
नामक घृतको पीते हो, आप यजमानोंके घर २ घें गाँ अश्व  
आदि सात पशुरूप रत्नोंको स्थापित करते हैं, आप दोनोंमेंसे  
प्रत्येककी जिह्वा होमे हुए घृतको अभिमुख होकर प्राप्त करे १  
पद्यी ॥

अग्नाविष्णु महि धामं प्रियं वां वीथो घृतस्य गुह्यां  
जुयाणौ ।

दमेदमे सुष्टुत्या वांघृधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमुच्च-  
रण्यात् ॥ २ ॥



अग्नाविष्णू इति । महि । धाम । प्रियम् । वाम् । वीथः । घृतस्य ।  
गुह्या । जुषाणौ ।

दमेऽदमे । सुस्तुत्या । वृद्धानौ । प्रति । वाम् । जिह्वा । घृतम् ।  
उत् । चरण्यात् ॥ २ ॥

हे अग्नाविष्णू वाम् युवयोः धाम स्थानं तेजो वा महि महत्  
महनीयं वा प्रियम् इष्टं सर्वेषां प्रीतिकारि वा भवति । किं च  
घृतस्य गुह्या गुह्यानि सांनार्यचरपुरोडाशादीनि स्वरूपाणि वीथः  
भक्षयथः । ❀ वी गतिप्रजनकान्त्यशनखादनेषु ❀ । जुषाणौ  
परस्परं प्रीयमाणौ दमेदमे गृहेगृहे सर्वेषु यजमानगृहेषु सुस्तुत्या  
शोभनया गुणिनिष्ठगुणाभिधानरूपया स्तुत्या वावृधानौ अत्यर्थं  
वर्धमानौ । यस्माद् एवं तस्माद् वाम् युवयोः जिह्वा प्रति प्रत्येकं  
घृतम् उच्चरण्यात् प्राप्नोतु भक्षयतु ❀ चरयते रूपसिद्धिरुक्ता ❀ ॥

हे अग्नि और विष्णुदेव ! आप दोनोंका तेज ( वा धाम )  
विशाल है और सबको प्रिय हैं, आप घृतके सांनार्य चर पुरो-  
डाश आदि स्वरूपोंका भक्षण करते हैं और आप परस्पर प्रेम  
रख कर सब यजमानोंके घरमें अपने गुणोंकी वर्णनरूपा स्तुतिसे  
वृद्धते हैं, इस कारण आपमेंसे प्रत्येककी जिह्वा घृतका भक्षण करे २

सप्तमा ॥

स्वाक्तं मे द्यावापृथिवी स्वाक्तं मित्रो अक्रयम् ।

स्वाक्तं मे ब्रह्मणस्पतिः स्वाक्तं सविता कंरत् ॥ १ ॥

सुऽस्वाक्तम् । मे । द्यावापृथिवी इति । सुऽस्वाक्तम् । मित्रः । अक्रः ।

अयम् ।

( १२० ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

सुऽश्नाक्तम् । मे । ब्रह्मणः । पतिः । सुऽश्नाक्तम् । सविता । करत्

द्यावापृथिवी द्यावापथिव्यौ मे मदीयम् अक्षियुगं यूपं वा स्वा-  
क्तम् अञ्जनेन सुष्ठु आ सर्वतः अक्तम् रञ्जितं कुरुताम् । अयं  
परिदश्यमानो मित्रः सूर्यः स्वाक्तम् अकः करोतु । सर्वत्र अक्षि-  
युगं यूपो वा कर्म । ॐ अकः इति करोतेरब्जान्दसे लुङि “मन्त्रे  
घस०” इति च्लेर्लुकि गुणे “हङ्ङ्या०” इत्यादिना तिपो लोपे  
रूपम् ॐ ॥ तथा ब्रह्मणः मन्त्रस्य पतिः पालयिता देवः मेमदी-  
यम् अक्षि यूपं वा स्वाक्तं करोतु । सविता सर्वस्य प्रेरयिता देवोपि  
स्वाक्तं करत् करोतु । ॐ करोतेर्लुङि “कृमृदृरुहिभ्यश्चन्द्रसि”  
इति च्लेः अङ् । “अमाङ्योगेपि” इति अङभावः । पञ्चमलकारे  
वा अडागमे रूपम् ॐ ॥

द्यावापृथिवी मेरे नेत्रयुगलको वा यूपको अञ्जनसे भली प्रकार  
रञ्जित करें, यह सूर्यदेव मेरे दोनों नेत्रोंको वा यूपको भली प्रकार  
रञ्जित करें, तथा ब्रह्मणस्पति देवता भी मेरे नेत्रयुगलको वा यूप  
को भली प्रकार रञ्जित करें और सविता देवता मेरे दोनों नेत्रों  
को वा यूपको भली प्रकार रञ्जित करें ॥ १ ॥

अष्टमी ॥

इन्द्रोतिभिर्बहुलाभिर्नो अद्य यावच्छ्रेष्ठाभिर्मघवन्धूर  
जिन्व ।

यो नो द्वेष्ट्यधरः सस्पदीष्ट यमुं द्विष्मस्तमुं प्राणो  
जहातु ॥ १ ॥

इन्द्र । उतिऽभिः । बहुलाभिः । नोः । अद्य । यावत्श्रेष्ठाभिः ।  
मघऽवन् । शूर । जिन्व ।

यः । नः । द्वेष्टि । अधरः । सः । पदीष्ट । यम् । ऊं इति । द्विष्मः ।

तम् । ऊं इति । प्राणः । जहातु ॥ १ ॥

हे इन्द्र बहुलाभिः वहीभिः ऊतिभिः रक्षाभिः अथ इदानीं नः अस्मान् । पालयेति शेषः । हे मघवन् धनवन् हे शूर शौर्य-  
वन् इन्द्र श्रेष्ठाभिः प्रशस्यतमाभिस्ताभिरूतिभिः यावत् साकल्येन  
अस्मान् जिन्व प्रीणय । ❀ जिवि प्रीणने । इदित्वात् जुम् ❀ ।  
यः शत्रुः नः अस्मान् द्वेष्टि हिनस्ति सः अधरः अधोमुखः सन्  
पदीष्ट पततु । ❀ सांहितिकः सकाररश्चान्दसः ❀ । यं च शत्रुं  
वयं द्विष्मस्तं तदीयः प्राणो जहातु परित्यजतु । ❀ ओहाक् त्यागे ।  
जुहोत्यादित्वात् प्रापः रक्षुः । “श्रौ” इति द्विर्वचनम् । “तिङ्-  
ङतिङः” इति निघातः ❀ ॥

हे इन्द्र ! आप अनेक रक्षाओंसे हमारी रक्षा करिये, हे धन-  
वन् शूर इन्द्र ! आप श्रेष्ठतासे रक्षा कर हमको जीवित रखिये,  
जो शत्रु हमसे द्वेष करता है वह आँधे मुख होकर गिर पड़े, और  
जिस शत्रुसे हम द्वेष करते हैं उसको उसका प्राण त्याग देय ?  
नवमी ॥

उप प्रियं पनिप्रतं युवानमाहुतीवृधम् ।

अगन्म विभ्रतो नमो दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥ १ ॥

उप । प्रियम् । पनिप्रतम् । युवानम् । आहुतिवृधम् ।

अगन्म । विभ्रतः । नमः । दीर्घम् । आयुः । कृणोतु । मे ॥ १ ॥

प्रियम् सर्वेषाम् इष्टं प्रीणनकारिणं वा पनिप्रतम् शब्दायमानं  
स्तूयमानं वा । ❀ पण व्यवहारे स्तुतौ च । पन च इत्यस्माद्  
यङ्गुगन्ताच्छतरि क्कान्दसी रूपसिद्धिः ❀ । युवानम् फलस्य

मिश्रयितारं नित्यतरुणं वा आहुतिवृधम् आज्याद्याहुतिभिर्वर्ध-  
मानम् अग्निं नमः नमस्कारम् हविर्लक्षणम् अन्नं वा विभ्रतः  
धारयन्तो वयम् उपागन्म उपगच्छेम परिचरेम । ॐ गमेश्वरान्दसे  
लुङि “मन्त्रे घस०” इति च्लेलुकि “मो नो धातोः” “म्बोश्च”  
इति नकारे रूपम् ॐ । अतः मे मम मदीयस्य वा माणवकस्य  
दीर्घं शतसंवत्सरपरिमितम् आयुः कृणोतु करोतु ।

सबको मसन्न करनेवाले-सबको इष्ट, स्तुति पाते हुए, फलको  
कर्तासे मिलाने वाले, धृत आदिकी आहुतियोंसे बढ़ने वाले,  
अग्निदेवके पास हम हविरूप अन्न वा नमस्कारको लेकर जाते हैं  
इस कारण वह मेरी वा मेरे बालककी सौ वर्ष तककी आयु करें।  
दशमी ॥

सं मां सिञ्चन्तु मरुतः सं पूषा सं बृहस्पतिः ।

सं मायमग्निः सिञ्चतु प्रजया च धनेन च दीर्घमायुः  
कृणोतु मे ॥ १ ॥

सम् । मा । सिञ्चन्तु । मरुतः । सम् । पूषा । सम् । बृहस्पतिः ।

सम् । मा । अयम् । अग्निः । सिञ्चतु । प्रजया । च । धनेन ।

च । दीर्घम् । आयुः । कृणोतु । मे ॥ १ ॥

मरुदादयो देवताः मा मां फलार्थिनं यष्टारं प्रजया पुत्रादि-  
रूपया धनेन च सं सिञ्चन्तु संयोजयन्तु अभिषिञ्चन्तु वा । ॐ  
परस्परसमुच्चयार्थं चशब्दा । प्रतिदेवतं क्रियानुषङ्गश्रोतनार्थं सम्  
इति उपसर्गः ॐ । किं च मे मम मदीयस्य माणवकस्य वा दीर्घम्  
आयुः कृणोतु । अग्निः संनिहितत्वाद् आयुष्करणे संबध्यते । अपि  
वा मरुदादयः । तदा कृणोत्विति प्रत्येकविवक्षया एकवचनम् ॥

इति तृतीयेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

मरुत् आदि देवता मुक्त फल चाहने वाले यजमानको पुत्र आदिरूप प्रजासे और धनसे संयुक्त करें और मेरे बालककी दीर्घायु करें, पूषा देवता, बृहस्पति देवता और यह अग्निदेवता भी मुक्त को प्रजा धन और दीर्घायु देवें ॥ १ ॥

तीसरे अनुवाक्ये द्वितीय सूक्त समाप्त ( ३५९ ) ॥

विद्वेषिणः पुमपत्यराहित्याय “अग्ने जातान्” इत्यनया अश्व-  
तरीमूत्रं पाषाणेन संघृष्य अभिमन्त्र्य ओदनेन सह विद्वेषिण्यै  
प्रयच्छेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनया अश्वतरीमूत्रं पाषाणाभ्यां  
संघृष्य अभिमन्त्र्य तस्या अलंकारान् आलिम्पेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनया विद्वेषिण्याः सीमन्तम् ईक्षेत् ॥

विद्वेषिण्या वन्ध्याकरणकर्मणि “प्रान्यान्” इति वृत्तेन पूर्व-  
मन्त्रोक्तानि कर्माणि कुर्यात् ॥

सूत्रितं हि । “अग्ने जातान् [ १ ] इति न वीरं जनयेत् प्रा-  
न्यान् [ ७. ३६ ] इति न विजायेतेत्यश्वतरीमूत्रम् अश्वमण्ड-  
लाभ्या संघृष्य भक्तेऽलंकारे । सीमन्तम् अन्वीक्षते” इति [ कौ०  
४. १२ ] ॥

अभिचारकर्मणि “अग्ने जातान्” इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्याम्  
अश्वनिहतवृक्षसमिध आदध्यात् ॥

अग्निचयने पञ्चम्यां चितौ असपत्नेष्टकाम् उपधीयमानाम्  
“अग्ने जातान्” इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्यां ब्रह्मा अनुपन्त्रयेत् । “अग्ने  
जातान् इति द्वाभ्यां पञ्चम्यां चितावसपत्नेष्टका निधीयमानाः”  
इति [ वै० ५. २ ] हि वैतानं सूत्रम् ॥

विवाहे चतुर्थदिवसे “अक्षौ नौ” इत्यनया वरवध्वौ अन्यो-  
न्यम् अक्षिणी अज्जाताम् । “अक्षौ नाविति समज्जाते” इति  
[ कौ० १०. ५ ] सूत्रम् ॥

सौभाग्यसंवन्ननकर्मणि “इदं खनामि” इति पञ्चर्चेन सौवर्चल-  
मूलं संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन पञ्चर्चेन शङ्खपुष्पीपुष्पम् अभिमन्त्र्य  
स्त्रियः शिरसि बध्नीयात् ॥

“इदं खनामीति सौवर्चलम् ओपधिवत् शुक्लप्रमूनं शिरस्युप-  
वृत्त्य ग्रामं प्रविशति” इति सूत्रम् [ कौ० ४. १२ ] ॥

विद्वेषीके पुरुषको पुरुषसन्तानसे हीन करनेके लिये ‘अग्ने  
जातान्’ इस ऋचासे खिचरीके मूत्रको पत्थरसे घोटकर अभि-  
मन्त्रित करे फिर उसको ओदनके साथ मिलाकर विद्वेषिणीको देदेय

तथा इसी कर्ममें इससे खिचरीके मूत्रको पापाणोंसे घोट और  
अभिमन्त्रित करके उसके अलंकारोंको भिगोवे ।

तथा इसी कर्ममें इससे विद्वेषिणीके सीमन्तको देखे ।

विद्वेषिणीको बन्ध्या करनेके कर्ममें “ग्रान्यान्” वृचसे पूर्व-  
मन्त्रके लिये कहे हुए कर्मोंको करे ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—“अग्ने जातान् ( १ )  
इति न वीरं जनयेत् ग्रान्यान् ( ७ । ३६ ) इति न विजायेतेत्य-  
श्वनरीमूत्रम् अशममण्डलाभ्यां संघृष्य भक्तेऽलंकारे । सीमन्तम्  
अन्वीक्षते” ( कौशिकसूत्र ४ । १२ ) ॥

अभिचारकर्ममें “अग्ने जातान्” इन दो ऋचाओंसे अशनिसे  
भारे हुए वृक्षकी समिधाओंको रखे ॥

अग्निचयनकी पाँचवीं चितिमें रखी जाने वाली असपत्नेष्टका  
को “अग्ने जातान्” इन दो ऋचाओंसे ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे ।  
इस विषयमें वैतानसूत्र ५ । २ का प्रमाण है, कि—“अग्ने जातान्  
इति द्वाभ्यां पञ्चम्यां चितावसपत्नेष्टका निधीयमानाः” ॥

विवाहके चतुर्थ दिनमें “अक्षौ नाँ” ऋचासे वर और वधू

परस्परके नेत्रोंको स्वच्छ करें । कौशिकसूत्र १० । ५ में कहा है,  
“अक्षौ नाधिति समञ्जाते” ॥

सौभाग्यसंवन्धनकर्ममें “इदं खनामि” इस पञ्चर्चसे सौवर्चल-  
मूलको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके बाँधे ।

तथा तहाँ ही कर्ममें इस पञ्चर्चसे शहपुष्पीके पुष्पको अभि-  
मन्त्रित करके स्त्रीके शिरमें बाँधे ।

इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि—“इदं खना-  
मीति सौवर्चलम् ओपधिचत् शुक्रपमूनं शिरस्युपवृत्त्य ग्रामं प्रवि-  
शति ( कौशिकसूत्र ४ । १२ ) ॥

तत्र प्रथमा ॥

अग्ने जातान् प्र गुंदा मे सपत्नान् प्रत्यजातान् जात-  
वेदो नुदस्व ।

अधःस्पदं कृणुष्व ये पृतन्यवो नागसस्ते वयमदितये  
स्याम ॥ १ ॥

अग्ने । जातान् । प्र । नुद । मे । सपत्नान् । प्रति । अजातान् ।  
जातवेदः । नुदस्व ।

अधःस्पदम् । कृणुष्व । ये । पृतन्यवः । अनागसः । ते । वयम् ।  
अदितये । स्याम ॥ १ ॥

हे अग्ने मे मदीयान् जातान् निष्पन्नान् सपत्नान् शत्रून् प्र  
गुद प्रकर्षेण प्रेरय अतिदूरम् अपसारय ॥ तथा हे जातवेदः  
जातानां वेदितः जातमग्न वा अजातान् अनुत्पन्नान् उत्पत्स्यमा-  
नान् शत्रुपुत्रान् प्रति नुदस्व विनाशय ॥ किं च ये शत्रवः पृत-

न्यवः संग्रामेच्छवः । ❀ पृतनाशब्दाद् इच्छायां क्यचि “कप्य-  
ध्वरपृतनस्यचि लोपः” इति अन्त्यलोपः ❀ । तान् अस्माभिः  
सह योद्धुम् इच्छन् सपत्नान् अधस्पदम् पादस्याधस्ताद् देशे  
कृणुष्व कुरु । मत्तीयपादाधःप्रदेशवर्तिनः कुरु । एवं शत्रुवाधा  
प्रार्थिता । अथ तदोपपरिहारश्चतुर्थपादेन प्रार्थ्यते । ते तादृशाः  
शत्रुपीडाकांक्षिणो वयम् । ❀ पुत्रादिसाहित्यं वक्तुं बहुवच-  
नम् ❀ । अदिनये अदितिः अखण्डनीया पृथिवी अदीना वा  
देवमाता तभ्यै । ❀ पष्ठमर्थं चतुर्थी ❀ । अदित्याः प्रसादाद्  
अनागसः स्याम पापरहिता भवेम । अयम् अर्थः । भूमिर्हि पुण्य-  
कृतः स्वस्योपरि चिरकालम् अवस्थापयति पापकृतस्तिरस्करोति ।  
अतः अत्र शत्रुपीडाकांक्षिणोपि अस्मान् तत्पापपरिहारेण भूमि-  
श्चिरकालम् अवस्थापयत्विति प्रार्थ्यते । शत्रुहननार्थम् अग्नेः प्रार्थ-  
नाद् वा तन्माता अदितिः पापरहितान् अस्मान् करोत्विति आशा-  
स्यते । यद्वा अदितये अखण्डितत्वाय अदीनत्वाय अनभिशास्तये  
वा अनागसः स्यामेति ॥

हे अग्ने ! मेरे उत्पन्न हुए शत्रुओंको दूर हटाइये, और हे  
उत्पन्न हुआँको जानने वाले जातवेदा अग्ने ! आपअभी उत्पन्न  
न हुए किंतु उत्पन्न होने वाले शत्रुके पुत्रोंको नष्ट करिये और  
जो हमसे संग्राम करना चाहते हैं, उन संग्रामाभिलाषी शत्रुओं  
को पैरके नीचे दबाइये । ( इस प्रकार शत्रुवाधाकी प्रार्थना की  
अब उसके दोपके परिहारकी चौथे पादमें प्रार्थना करते हैं, कि—)  
अखण्डनीया पृथिवी वा अदीना देवमाता अदितिके प्रसादसे हम  
पापरहित होवें, अर्थात् अखण्डित रहनेके लिये अदीन रहनेके  
लिये और आक्रोशशून्य रहनेके लिये हम निष्पाप होवें ॥ १ ॥



द्वितीया ॥

प्रान्यान्त्सपत्नान्त्सहसा सहस्व प्रत्यजातान् जातवेदो  
नुदस्व ।

इदं राष्ट्रं पिपृहि सौभगाय विश्वं एनमनु मदन्तु देवाः १

प्र । अन्यान् । सपत्नान् । सहसा । सहस्व । प्रति । अजातान् ।

जातज्वेदः । नुदस्व ।

इदम् । राष्ट्रम् । पिपृहि । सौभगाय । विश्वं । एनम् । अनु ।

मदन्तु । देवाः ॥ १ ॥

हे जातवेदः अन्यान् अस्मत्प्रातिकूल्यकारित्वेन विभिन्नान् सपत्नान् सहसा बलेन शीघ्रं वा प्र सहस्व प्रकर्षेण अभिभव । प्रत्यजातान् इति पादो व्याख्यातः । किं च इदम् अनुभूयमानं स्वनिवासाश्रयं राष्ट्रम् अस्मदीयं जनपदं सौभगाय सौभाग्याय पिपृहि पूरय । यस्मिन् देशे परोपद्रवकारी वर्तते स देशः सस्यादिना अभि-  
वृद्धो न भवतीति प्रसिद्धिः । अतः अत्र राज्यस्य सौभाग्यपूर्तिः प्रार्थ्यते । किं च विश्वे सर्वे देवाः एनं शत्रुहननकर्मणः प्रयोक्ता-  
रम् अनु मदन्तु अनुमोदन्ताम् ॥

हे जातवेदा अग्ने ! आप हमारे साथ प्रतिकूलताका व्यवहार करनेके कारण शत्रुओंको शीघ्रतासे धर दवाइये, और जो अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं, उन उत्पन्न होने वाले शत्रुपुत्रोंको भी आप नष्ट करें, और इस निवासभूत राष्ट्रको सौभाग्यसे पूर्ण करिये, ( जिस देशमें उपद्रव करने वाला शत्रु रहता है वह देश धान्य आदिसे समृद्ध नहीं रह सकता, अत एव राज्यको सौभाग्यसे पूर्ण करनेकी प्रार्थना की है ) और सकल देवता भी इस शत्रु-  
हनन कर्मके प्रयोग करने वालेका अनुमोदन करें ॥ १ ॥

तृतीया ॥

इ॒मा यास्ते॑ श॒तं हि॒राः स॒हस्रं॑ ध॒मनी॑रु॒त ।

तासां॑ ते॒ सर्वा॑सा॒महम॑श्म॒ना विल॑मप्य॒धाम् ॥ २ ॥

इ॒माः । याः । ते । श॒तम् । हि॒राः । स॒हस्रम् । ध॒मनीः । उ॒त ।

ता॒साम् । ते । सर्वा॑साम् । अ॒हम् । अ॒श्मना॑ । विल॑म् । अ॒पि । अ॒धाम् २

हे विद्वेपिणि स्त्रि ते त्वदीया या इमाः शतम् शतसंख्याका हिराः नाड्यः गर्भधारणार्थम् अन्तरवस्थिताः सूक्ष्मा या नाड्यः सन्ति उत अपि च सहस्रम् सहस्रसंख्याका धमनी धमन्यः गर्भाशयस्य अवष्टम्बिका बाह्याः स्थूला या नाड्यः सन्ति ते त्वदीयानां तासां सर्वासां नाडीनां विलम्बम् मुखम् अश्मना पापाणेन अहम् बन्ध्याकरणकर्मप्रयोक्ता अप्यधाम् अपिहितवान् आच्छादितवान् अस्मि । यथा गर्भधारणक्षमा न भवन्ति तथा अकार्षम् । द्वान्दसो वा लुब्धः । अपिदधामि ॥

हे विद्वेप करने वाली स्त्रि ! तेरी जो साँ मूल्म नाड़ियें गर्भ धारण करनेके लिये भीतर स्थित हैं, और गर्भाशयको धामने वाली जो हजार स्थूल नाड़ियें बाहर हैं, बन्ध्याकरणकर्मका प्रयोग करने वाला मैं तेरी इन सब नाड़ियोंके मुखको पत्थरसे दबाता हूँ अर्थात् जिस प्रकार वे गर्भधारण करनेमें समर्थ न हों तैसा करना हूँ ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

परं॑ योने॒रवरं॑ ते कृ॒णोमि॒ मा त्वां प्र॒जाभि॒ भून्मो॑त सूनुः ।

अ॒स्वं ? त्वा॒प्रज॑सं कृ॒णोम्य॑श्मानं॑ ते अ॒पिधा॑नं कृ॒णोमि॑

परम् । योनेः । अवरम् । ते । कृणोमि । मा । त्वा । प्रजा ।

अभि । भूत । मा । उत । सूनुः ।

अस्वम् । त्वा । अग्रजसम् । कृणोमि । अश्मानम् । ते । अपिधानम् ।  
कृणोमि ॥ ३ ॥

हे प्रतिकूलो नारि ते त्वदीयं योनेः परं पुत्रजननक्षमत्वेन उत्कृष्टं स्थानं गर्भाशयं योनेः परस्तात् प्रदेशे वर्तमानं वा स्थानम् अवरं कृणोमि निकृष्टं गर्भं धारयितुम् अक्षमं करोमि । योनिप्रदेशात् नीचीनं वहिर्भूतं वा करोमि । यत एवम् अतः प्रजा स्त्र्यपत्य-रूपा त्वा त्वां मा अभि भूत् सर्वतो मा प्राप्नोतु । ॐ भवतेः प्राप्त्य-र्थात् लुङि रूपम् ॐ । उत अपि च सूनुः पुत्रो मा । अभि भूद् इत्यनुषङ्गः । एतदेवाह । त्वा त्वाम् अग्रजसम् न विद्यते प्रजा स्त्री-पुंसापत्यरूपा यस्यास्ताम् । ॐ नञ्पूर्वात् प्रजाशब्दात् “नित्यम् असिच् प्रजामेधयोः” इति असिच् प्रत्ययः समासान्तः ॐ । प्रजारहिताम् अश्वाम् अश्वतरीमेव कृणोमि करोमि । यथा अश्व-तरी स्त्रीव्यञ्जनयुक्तापि प्रजारहिता तथा त्वां करोमीत्यर्थः । किं च ते तव संवन्धिनः । गर्भधारणस्थानस्येति शेषः । अश्मानम् पाषाणम् अपिधानम् संवरणम् आच्छादनं कृणोमि करोमि ॥

हे प्रतिकूल नारि ! तेरी योनिमें पुत्र उत्पन्न करनेकी शक्तिसे सम्पन्न होनेके कारण उत्कृष्ट गर्भाशयस्थानको गर्भ धारण करने में असमर्थ अत एव निकृष्ट करता हूँ अथवा योनिप्रदेशसे नीचा अर्थात् बाहर करता हूँ । ऐसा होता है अतः स्त्रीसन्तानरूपा प्रजा तुझको प्राप्त न हो और पुत्र भी तुझको प्राप्त न हो, तुझ स्त्रीपुरुषसन्तानरहिताको खिचरीकी समान करता हूँ, तात्पर्य यह है, कि-जैसे खिचरी स्त्रीव्यञ्जनसे सम्पन्न होने पर भी प्रजा-

रहित रहती है, तिसी प्रकारकी मैं तुझको करता हूँ और तेरे गर्भधारणस्थानका पापाणको ढकन बनाता हूँ ॥ ३ ॥

पञ्चमी ॥

अ॒द्यो नो मधुसंकाशे अनीकं नौ समञ्जनम् ।

अ॒न्तः कृणुष्व मां हृदि म॒न इन्नौ स॒हासति ॥१॥

अ॒द्यो । नौ । मधुसंकाशे इति मधुसंकाशे । अनीकम् । नौ ।

सम्सञ्जनम् ।

अ॒न्तः । कृ॒णुष्व । माम् । हृ॒दि । म॒नः । इत् । नौ । स॒ह । अ॒सति १

नौ तव च मम च । ॐ “त्यदादीनि सर्वनित्यम्” इति अस्मद् एकशेषे पृष्ठीद्विवचनस्य नौ इत्यादेशः । आवयोर्दम्पत्योः अक्षौ अक्षिणी मधुसंकाशे मधुसदृशे । भवेताम् इति शेषः । यथा मधु मधुरं स्निग्धं च एवम् आवयोः अक्षिणी परस्परम् अनुरक्ते मधुरप्रेक्षणे अत्यन्तस्निग्धे च भवेताम् इत्यर्थः । तथा नौ आवयोः अनीकम् । अनीकशब्दः अग्रवाची । लोचनाग्रं समञ्जनम् समेताञ्जनं भवतु । किं च माम् । जाया पतिं प्रति पतिर्जायां प्रति स्वात्मानं माम् इति निर्दिशति । हृदि हृदये अन्तः कृणुष्व । यथा तव अहं हृदयंगमा मिया भवामि तथा कुर्वित्यर्थः । नौ आवयोः मन इत् । इच्छब्दः अप्यर्थे । मनोपि सह असति समानम् एककार्यकारि भवतु । ॐ अस्तेल्लेष्टि अडागमः ॥

तेरे और मेरे अर्थात् दोनों दम्पतीके नेत्र मधुकी समान हो-  
जावें, तात्पर्य यह है, कि—जैसे मधु मधुर और स्निग्ध होता है,  
इसी प्रकार हम दोनोंके नेत्र परस्पर अनुरागयुक्त मधुरतासे देखने  
वाले और परम स्निग्ध भी होजावें । हम दोनोंके नेत्रोंका अग्र-

भाग अञ्जनसे युक्त होवें । और ( जाया पतिसे और पति स्त्रीके लिये कहता है, कि—) तू मुझको हृदयके भीतर कर अर्थात् मैं जिस प्रकार हृदयङ्गम प्रिय होऊँ, तैसा कर । हमारा मन भी एक कार्यको करने वाला होवे ॥ १ ॥

पृष्ठी ॥

अभि त्वा मनुजातेन दधामि मम वाससा ।  
यथासो मम केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ॥ १ ॥

अभि । त्वा । मनुजातेन । दधामि । मम । वाससा ।

यथा । असः । मम । केवलः । न । अन्यासाम् । कीर्तयाः । चन १

स्वपतिं प्रति स्त्रिया वाक्यम् एतत् । हे पते त्वा त्वां मनुजातेन मनुना मन्त्रेण जातेन मन्त्रपूर्वकं परिहितेन मनोर्वा जातेन निष्पन्नेन मम वाससा वस्त्रेण अभि दधामि । ❀ अभिपूर्वो दधातिर्वन्धने वर्तते ❀ । वध्नामि । किमर्थं बन्धनम् तद् आह । यथा येन प्रकारेण मम केवलः असाधारणः असः भवेः । ❀ चनेति निपात-समुदायः चार्थे ❀ । यथा च अन्यासां नारीणाम् । नीमधेयम् इति शेषः । न कीर्तयाः न कीर्तयेः नोच्चरेः । तथा वध्नामीति शेषः । ❀ असः इति । अस्नेर्लेटि “इतश्च लोपः परस्मैपदेपु” इति इकारलोपः । अडागमः । [ कीर्तया इति ] । कृत संशब्दने । णिचि “उपधायाश्च” इति इच्चम् । तदन्तात् लेटि आडागमः ❀ ॥

( अपने पतिके प्रति स्त्रीका वाक्य है, कि—) हे पते ! मैं आपको मन्त्रपूर्वक धारण किये हुए वस्त्रसे इस लिये बाँधती हूँ, कि जिस प्रकार आप केवल मेरे ही रहें और अन्य स्त्रियोंके नामका भी उल्लेख न करें ॥ १ ॥

सप्तमी ॥

इदं खनामि भेपजं मांपश्यमभिरोरुदम् ।

परायतो निर्वर्तनमायतः प्रतिनन्दनम् ॥ १ ॥

इदम् । खनामि । भेपजम् । माम्पश्यम् । अभिरोरुदम् ।

परायतः । निर्वर्तनम् । आयतः । प्रतिनन्दनम् ॥ १ ॥

इदं वशीकरणकारि भेपजम् सौवर्चलाख्यं खनामि उद्धरामि ।  
 आप्यं विशिनष्टि । मांपश्यम् । पश्यतीति पश्यः । ❀ “पाघ्रा-  
 ध्माधेइहशः शः” इति शः । “शित्वात् पाघ्रा०” इत्यादिना  
 पश्यादेशः । “तत्पुरुषे कृति बहुलम्” इत्यत्र बहुलग्रहणात् मां-  
 पश्यम् इत्यत्र द्वितीयाया अलुक् ❀ । मामेव नारीं पश्यत् ममै-  
 वानुकूलम् । यद्वा । ❀ पश्यतिरन्तर्णीतण्यर्थः ❀ । मामेव असा-  
 धारण्येन पत्ये प्रदर्शयत् पतिवशीकारकम् अभिरोरुदम् पत्युः  
 अन्यनारीसंसर्गम् अभितो निरुन्धत् । ❀ रुधिर् आवरणे ।  
 यदन्तात् पचाद्यच् । ‘यङोचि च’ इति यङो लुक् । “न धातु-  
 लोप आर्थधातुके” इति लघूधगुणनिषेधः । धकारस्य दकारोप-  
 जनश्चान्दसः ❀ । परायतः स्वस्मात् पराङ्मुखं गच्छतः पत्युः  
 निर्वर्तनम् निषेधकं पुनरावर्तनकारणम् आयतः मां प्रति आगच्छतः  
 पत्युः प्रतिनन्दनम् आनन्दकारि । एवंगुणविशिष्टं भेपजं खना-  
 मीति संबन्धः । ❀ परायत इति । ‘परापूर्वाद् आङ्पूर्वाच्च इण्  
 गर्ता इत्यस्मात् शतरि “इणो यण्” इति यण् आदेशः । निर्वर्तनं  
 प्रतिनन्दनम् इत्यत्र करणे व्युट् ❀ ॥

मैं इस वशीकरण करने वाली सौवर्चल नामक आपधिको  
 खोदती हूँ, यह मुझ नारीको असाधारणरूपसे पतिके लिये  
 दिखाती है अत एव यह आपधि पतिवशीकारक है और पतिके

अन्यनारीसंसर्गको रोकने वाली है और अपनेसे पराङ्मुख पति को लौटाने वाली है और मेरी ओर आने वाले पति को आनन्दित करने वाली है, ऐसे गुणोंसे सम्पन्न औषधिको मैं खोदती हूँ?

अष्टमी ॥

येनां निचक्र आसुरीन्द्रं देवेभ्यस्परि ।

तेना नि कुर्वे त्वामहं यथा तेसानि सुप्रिया ॥ २ ॥

येना । निऽचक्रे । आसुरी । इन्द्रम् । देवेभ्यः । परि ।

तेन । नि । कुर्वे । त्वाम् । अहम् । यथा । ते । असानि । सुऽप्रिया

आसुरी असुरस्य माया । ❀ “असुरस्य स्वम्” “मायायाम् अण्” इति अण् प्रत्ययः ❀ । देवेभ्यः परि । ❀ “अपपरी वर्जने” इति परिः कर्मप्रवचनीयः । “पञ्चम्यपाङ्परिभिः” इति पञ्चमी ❀ । देवान् वर्जयित्वा इन्द्रं येन भेषजेन निचक्रे युद्धे स्वाधीनं कृतवती । यद्वा असुरः असुमान् । ❀ रो मत्वर्थीयः ❀ । बलवान् पुलोमाख्यः । तस्येयम् आसुरी शची । शेषं पूर्ववत् । तेन भेषजेन अहम् हे पते त्वां नि कुर्वे स्वाधीनं कुर्वे । यथा येन प्रकारेण ते तव सुप्रिया अत्यन्तं प्रिया असाधारण्येन प्रीतिजननी असानि भवानि । तथा नि कुर्वे इति संबन्धः । ❀ अस्तेलोटि “आहुत्तमस्य पिच्च” इति आढागमः ❀ ॥

पुलोमा नामवाले असुरकी पुत्री आसुरी शचीने जिस औषधि से देवताओंमें श्रेष्ठ इन्द्रको अपने वशमें कर लिया है, हे पते ! उसी औषधिसे मैं तुमको स्वाधीन करती हूँ, जिस प्रकार मैं आपको असाधारणरूपसे प्रीति देने वाली होऊँ तिस प्रकार स्वाधीन करती हूँ ॥ २ ॥

नवमी ॥

प्रतीची सोममसि प्रतीच्युत सूर्यम् ।

प्रतीची विश्वान् देवान् तां त्वाच्छावदामसि ॥३॥

प्रतीची । सोमम् । असि । प्रतीची । उत । सूर्यम् ।

प्रतीची । विश्वान् । देवान् । ताम् । त्वा । अच्छावदामसि ३

अनया प्रकृता शङ्खपुष्पाख्या ओपधिः स्तूयते । हे ओपधे सोमम् प्रतीची वशी करणार्थं प्रत्यगश्चना असि भवसि । उत अपि च सूर्यम् सुष्ठु प्रेरकम् आदित्यं प्रतीची भवसि । अहोरात्राभिमानिनोः सूर्यचन्द्रमसोः अभिमुखा भवसीत्यर्थः । किं बहुना विश्वान् देवान् प्रतीची असि । ॐ प्रतिपूर्वात् अश्नतेः विधन् । “अश्नतेओपसंख्यानम्” इति ङीप् । “अचः” इति अकारलोपः । “ची” इति पूर्वपदस्य दीर्घः ॐ । यत एवम् अतः तां सर्वदेववशीकरणसमर्थं त्वा त्वाम् अच्छावदामसि पतिरुचिकरणाय अभिमुखं स्तुमः । ॐ ‘अच्छ गत्यर्थवदेषु’ इति अच्छशब्दो गतिसंज्ञकः ॐ ।

( इस ऋचासे शङ्खपुष्पी नामक ओपधिकी स्तुति की है, कि—)  
हे ओपधे ! तू सोमको वशमें करनेके लिये उनके प्रति जाती है और सूर्यदेवकी ओर भी जाती है, अर्थात् दिन और रात्रिके अभिमानी देवता सूर्य और चन्द्रमाके अभिमुख होती है अधिक क्या सकल देवताओंके अभिमुख होती है अतएव तुझ सब देवताओंको वशमें करनेमें समर्थ ओपधिकी हम पतिफी रुचिको उत्पन्न करनेके लिये अभिमुख होकर स्तुति करती हैं ॥ ३ ॥

दशमी ॥

अहं वदामि नेत् त्वं सभायामह त्वं वद ।



ममदेसस्त्वं केवलो नान्यसां कीर्तयाश्चन ॥ ४ ॥

अहम् । वदामि । न । इत् । त्वम् । सभायाम् । अह । त्वम् । वद ।

मम । इत् । असः । त्वम् । केवलः । न । अन्यासाम् । कीर्तयाः । चन ४

पतिवशीकरणाय ओपधिं संप्रार्थ्य नारी पुनः स्वपतिं ब्रूते । हे पते अहं वदामि त्वं नेत् नैव वदेः । एवं पत्युः सर्वत्र वदननिपेधे प्राप्ते स्थानान्तरे तस्य वाग्व्यापारं दर्शयति । अहशब्दो विनिग्रहार्थीयः । त्वं तु सभायां विद्वत्समाजे वद । अयम् अर्थः । हे पते यदा मत्समीपम् आगच्छसि तदा अहमेव वदामि त्वं तु मदुक्तमेव अनुवद कदापि प्रतिकूलं मा चादीः । मञ्जतिरिक्तस्थानेपि सभायामेव यथेच्छं वद मान्यत्रेति । एतद् प्रकारान्तरेणाह । यथा हे पते त्वम् । इत् अवधारणे । ममैव केवलः असाधारणः असः भवेः । अन्यासां नारीणां नामधेयमपि [ न कीर्तयाः ] न कीर्तयेः ॥

( नारी पतिवशीकरणके लिये ओपधिकी प्रार्थना कर फिर अपने पतिसे कहती है, कि—) हे पते ! मैं ही कहूँ आप कुछ न कहें, ( इस प्रकार सर्वत्र पतिका भाषणनिषेध प्राप्त होने पर कहती है, कि—) आप तो विद्वानोंके समाजमें ही बोलें । तात्पर्य यह है, कि—हे पते ! जब आप मेरे समीपमें आवें उस समय मुझे ही बोलने दीजिये आप तो मेरी कही हुई बातको ही कहिये, जहाँ मैं न होऊँ उस सभास्थानमें ही यथेच्छ भाषण करिये । आप मेरे लिये असाधारणरूपमें प्राप्त हों अन्य स्त्रियोंके नामका भी आप कीर्तन न करें ॥ ४ ॥

एकादशी ॥

यदि वासिं तिरोजनं यदि वा न द्यास्तिरः ।

इयं ह मह्यं त्वामोपधिर्वद्भवेव न्यानयत् ॥ ५ ॥

यदि । वा । अस्ति । तिरःऽजनम् । यदि । वा । नद्यः । तिरः ।

इयम् । ह । मह्यम् । त्वाम् । ओपधिः । वद्भवाऽइव । निऽन्यानयत् ५

हे पते यदि तिरोचनम् । ❀ क्रियाविशेषणम् एतत् ❀ । तिरः  
तिरोभूतम् अचनं गमनं यस्मिन् कर्मणि तत् तिरोचनम् । तिरो-  
भूतगतिः मच्चतुर्विपयो न भवेः । वाशब्दो विकल्पे । यदि वा नद्यः  
निम्नगास्तिरः आवयोर्व्यवधायिका भवेयुः । ह । तथापीत्यर्थः ।  
इयं प्रस्तुता ओपधिः शङ्खपुष्पाख्या मह्यं पतिप्रीतिकामिन्यै त्वां  
पतिं वद्भवेव निगृह्येव न्यानयत् नितराम् अभिमुखं नयत् ।  
❀ नयतेर्लेटि अडागमः ❀ ॥

तृतीयं सूक्तम् ॥ [ इति ] सप्तमे काण्डे तृतीयोऽनुवाकः ॥

यदि किसी कार्यवश आपका मेरे सामनेसे चलना फिरना  
अन्तर्धान होजाय अर्थात् आप किसी अन्य स्थानको चले जावें  
अथवा कोई नदी हम दोनोंके बीचमें आ आपको मुझसे अन्त-  
र्हित कर देगी तो यह मेरी शङ्खपुष्पी नामक औपधि मुझ पतिकी  
प्रीतिको चाहने वालीके लिये आपको बाँध कर सी मेरे अभि-  
मुख ले आवे ॥ ५ ॥

तृतीय सूक्त समाप्त ( ३५४ )

सप्तमकाण्डमें तृतीय अनुवाक समाप्त

चतुर्थेऽनुवाके त्रीणि सूक्तानि । तत्र “दिव्यम् सुपर्णम्” इति  
आद्यसूक्ते आद्ययर्चा पुष्टिकर्मणि वृषभवपया इन्द्रं यजेत । “दिव्यं  
सुपर्णम् इत्यृषभदण्डिनो वपयेन्द्रं यजेत” इत्यादि [ कौ० ३. ७ ]  
सूत्रम् ॥

अन्वारम्भणीयेष्टौ सारस्वतं पुरोडाशं “यस्य व्रतम्” इति  
अनुमन्त्रयेत् । “सरस्वत्यै च चरुं सरस्वते द्वादशकपालं सरस्वति

ब्रनेषु [ ७. ७० ] यस्य व्रनम् [ ७. ४१ ] इति वैतानं सूत्रम्  
[ वै. २. ४ ] ॥

नवगृहकरणार्थं भृशुद्धये “अति धन्वानि” इति द्वाभ्याम्  
ऋभ्यां गृहनिर्माणस्याने श्येनदेवनाकं चरं जुहुयात् । सूत्रितं  
हि । “अति धन्वानीत्यवशाननिवेशनानुचरणानिनयनेज्या” इति  
[ कौ० ५. ७ ] ॥

अग्निष्टोमे हविर्धाने पुरोडाशपिण्डावापानन्तरम् उप्तान् पिण्डान्  
“श्येनो नृचक्षाः” इति अनुमन्त्रयेत् । सूत्रितं वैताने । “हविर्धानं  
यथाचमसं दक्षिणतः” इति प्रक्रम्य “एतं सयस्याः [ ६. १२३ ]  
श्येनो नृचक्षाः [ ७. ४२. २ ] इत्यनुमन्त्रयने” इति [ वै० ३. १२ ] ॥

सर्वव्याधिमैषज्यार्थं व्याधितशरीरं मौञ्जैः पाशैः पर्वसु वद्वद्वा  
“सोमारुद्रा” इति द्वाभ्यां शरपिंज्लीभिः सह उदकघटं संपात्य  
अभिमन्त्र्य व्याधिनम् आसावयेत् अवसिञ्चेद् वा । तद् उक्तं  
संहिताविधिं । “अग्नाविष्णु [ ७. ३० ] सोमारुद्रा [ ७. ४३ ]”  
इति प्रक्रम्य “मौञ्जैः पर्वसु वद्वद्वा पिंज्लीभिरासावयत्यवसिञ्चति”  
इति [ कौ० ४. ८ ] ॥

तथा सर्वसंपत्कामः अनेन श्रुत्वेन सोमारुद्रौ यजेत उपनिष्ठेत् वा ॥  
मिथ्याभिशास्तस्य लोकनिन्दानिवृत्त्यर्थं “शिवास्ते” इत्यनया  
ओदनं मन्यं वा अभिमन्त्र्य दद्यात् ॥

नया अनर्थव दुष्कर्मणि तदाकृतिं पलाशापोलोहद्विरण्यानाम्  
अन्यतमम्य मणिं वा संपात्य अभिमन्त्र्य वध्नीयात् ॥

सूत्रितं हि । “उतामृतानुः [ ५. १. ७ ] शिवास्ते [ ७. ४४ ]  
इत्यभ्याख्याताय प्रयच्छति । दुष्कर्मजिरो धन्वानि । प्रतिरूपं  
पलाशापोलोहद्विरण्यानाम्” इति [ कौ० ५. १० ] ॥

सांमनस्यकर्मणि “उभा जिग्यथुः” इत्यनया हस्त्यादियानं  
संपात्य अभिमन्त्र्य सांमनस्यकामान् आरोप्य सूत्रोक्तप्रकारेण

स्वयम् आगत्य ओदनं मन्यं वा संपात्य अभिमन्त्र्य सह भोज-  
येत् । सूत्रितं हि । “उभा जिम्यधुरित्याद्र्वादाभ्यां सामनस्यम् ।  
यानेन मत्पञ्चो ग्रामान् प्रतिपाद्य मयच्छति” इति [ कौ० ५. ६ ] ॥

तथा उक्थ्ये अच्चावाक्यान्वाहोमानुमन्त्रणम् अनया यज्ञा  
कुर्यात् । “एतेषां याज्याहोमान् इन्द्रावरुणा सुतर्षा [ ७. ६० ]  
वृहस्पतिर्नः [ ७. ५३ ] उभा जिम्यधुः” [ ७. ४५ ] इति हि  
वैतानं सूत्रम् [ वै० ४. १ ] ॥

ईर्ष्याविनाशार्थं “जनाद् विश्वजनीनात्” इत्येनाम् ईर्ष्यालुं  
पश्यन् जपेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनया सक्तुमन्त्रम् अभिमन्त्र्य ईर्ष्यावते  
दद्यात् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि ईर्ष्याकृतं स्पृशन् एनाम् ऋचं जपेत् ॥  
सूत्रितं हि । “ईर्ष्याया ध्राजिम् [ ६. १८ ] जनाद् विश्व-  
जनीनात् [ ७. ४६ ] स्वाष्ट्रेणाहम् [ ७. ७८. ३ ] इति प्रति-  
जापनदानाभिमर्शानाम्” इति [ कौ० ४. १२ ] ॥

चाँये अनुवाकमें तीन सूक्त हैं । इसके ‘दिप्यं सुपर्णम्’ के  
पहिले सूक्तकी पहिली ऋचासे पुष्टिकर्ममें वृषभकी वपासे इन्द्रका  
यजन करे । इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण है, कि-“दिप्यं  
सुपर्णं इत्यपभदण्डिनो वपयेन्द्रं यजते” ( कौशिकसूत्र ३ । ४ ) ॥

अन्वारंमणीयेष्टिमें सारस्वत पुरोडाशका ‘यस्य व्रतम्’ से अनु-  
मन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र २ । ४ का प्रमाण है, कि-  
“सरस्वत्यै च चरुं सरस्वतेद्वादशकपालं सरस्वतिव्रतेषु ( ७।७० )  
यस्य व्रतम्” ( ७।४१ ) ॥

नवीन घर बनानेकी भूमिकी शुद्धिके लिये “अति घन्वानि”  
इन दो ऋचाओंसे गृहनिर्माणस्थानमें श्येनदेवता वाले चरुकी  
आहुति देय । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-“अति-

धन्वानीत्यवशाननिवेशनानुचरणानिनयनेज्या” ( कौशिकसूत्र ५।७ ) ॥

अग्निष्टोमके हविर्धानमें पुरोडाशपिण्ड रखनेके अनन्तर रखे हुए पिण्डोंको “श्येनो नृचक्षाः” से अनुमन्त्रण करे। इस बातका वैतानसूत्रमें प्रमाण भी है, कि—“हविर्धाने यथाचमसं दक्षिणतः” इति प्रक्रम्य “एतं सपस्थाः ( ६।१२३ ) श्येनो नृचक्षाः ( ७।४२।२ ) इत्यनुमन्त्रयते” ( वैतानसूत्र ३।१२ ) ॥

सर्वव्याधिकी चिकित्साके लिये रोगीके शरीरको मूँजके पाशों से जोड़ों पर बाँध कर “सोमारुद्रा” इन दो ऋचाओंसे सैंटोंकी मुद्दीसहित जलपूर्ण घटका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके रोगीको आलायित वा अवसिञ्चित करे। इसी बातको संहिता-विधिमें कहा है, कि—अमाविष्णू ( ७।३० ) सोमारुद्रा ( ७।४३ )” इति प्रक्रम्य “मौञ्जैः पर्वसु बद्ध्वा पिञ्जुलीभिरास्त्रावयत्यव-सिञ्चति” ( कौशिकसूत्र ४।८ ) ॥

तथा सब प्रकारकी सम्पत्तियोंकी कामना वाला पुरुष इस धृत्यसे सोम और रुद्रदेवताका यजन वा उपस्थान करे ॥

जिसको भूँठा कलंक लग रहा हो उसकी लोकनिन्दाको दूर करनेके लिये “शिवास्ते” इस ऋचासे ओदन वा मन्थको अभिमन्त्रित करके देवे।

तथा इसी ऋचासे दुग्धमणिको वा उसकी समान आकार वाली पलाश लोहा और सुवर्णमेंसे एककी मणिको संपातित और अभिमन्त्रित करके बाँधे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—“उतामृतासुः ५।१।७) शिवास्ते ( ७।४४ ) इत्यभ्याख्याताय प्रयच्छति । दुग्धमणिरो वध्नाति । प्रतिरूपं पलाशायालोहहिरण्यानाम्” ( कौशिकसूत्र ५।१० ) ॥

सांमनस्यकर्ममें 'उभा जिग्यथुः' ऋचासे हाथी आदि सवारी को सम्पातित और अभिमन्त्रित करके सांमनस्य चाहनेवालोंको सूत्रोक्तरीतिसे अपने घर पर आ ओदन वा मंथको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके जिमावे - इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—“उभा जिग्यथुरित्याद्र्पादाभ्यां साम्नस्यम् । यानेनं मत्पञ्चो ग्रामान् प्रतिपाद्य प्रयच्छति” ( कौशिकसूत्र ५ । ६ ) ॥

तथा उक्थयमें ब्रह्मा इस ऋचासे अच्छावाक्याज्यहोमका अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें बैतानसूत्र ४ । १ का प्रमाण भी है, कि—“एतेषां याज्यहोमान् इन्द्रावरुणा सुतर्पा ( ७ । ६० ) बृहस्पतिर्न ( ७ । ५३ ) उभा जिग्यथुः” ( ७ । ४५ ) ॥

ईर्ष्या ( डाह ) को नष्ट करनेके लिये “जनाइ विश्वजनीनान्” ऋचाको ईर्ष्यालुको देखता हुआ जपे ।

तथा तहाँ ही कर्ममें इससे सक्तुमंथको अभिमन्त्रित करके डाह रखने वालेको देदेय ।

तथा तहाँ ही कर्ममें ईर्ष्या वालेको छता हुआ इस ऋचाका जप करे ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—“ईर्ष्याया धाम्निम् ( ६ । १८ ) जनाइ विश्वजनीनाद् ( ७ । ४६ ) त्वाष्ट्रेणाहम् ( ७ । ७८ । ३ ) इति प्रतिज्ञापप्रदानाभिर्गर्शनानि ( कौशिकसूत्र ४ । १२ ) ॥

तत्र प्रथमा ॥

दिव्यं सु॒पर्णं प॒यसं वृ॒हन्त॑म॒पां गर्भं वृ॒षभ॑मोप॒धीनाम् ।  
अ॒भीप॑नो वृ॒ष्ट्या त॑र्पयन्त॒मानो गो॑ष्ठे रं॒धिष्ठां स्था॑पयाति  
दिव्यम् । सु॒ष्पर्णम् । प॒यसम् । वृ॒हन्तम् । अ॒पाम् । गर्भम् । वृ॒षभम् ।  
ओप॑धीनाम् ।



यस्य । व्रतम् । पशवः । यन्ति । सर्वे । यस्य । व्रते । उपपत्तिं गन्ते ।  
आपः ।

यस्य । व्रते । पुष्टिपतिः । निर्विष्टः । तम् । सरस्वन्तम् । अवसे ।  
हवामहे ॥ १ ॥

यस्य सरस्वतो व्रतम् कर्म सर्वेपि पशवो यन्ति अनुगच्छन्ति । तन्निमित्तत्वात् पुष्टेः । यस्य च व्रते कर्मणि आपः उपपत्तिं गन्ते परस्परं संगच्छन्ते । तन्निमित्तत्वाद् वृष्टेः । ❀ “अकर्मकाश्च” इति आत्मनेपदम् ❀ । यस्य च व्रते कर्मणि पुष्टिपतिः तत्तत्पोषणपतिर्निर्विष्टः । तदधीनत्वाद् वृष्टेः पुष्टेश्च । तं तादृशं सरस्वन्तम् एतन्नामानं देवम् अवसे रक्षणाय तृप्तय वा हवामहे आह्वयामः ॥

जिन सरस्वान् देवताका सय पशु अनुगमन करते हैं और जिन के कर्मसे जल परस्पर मिलते हैं और जिनके कर्ममें मृत्येरु वस्तुओंके पोषणपति निर्विष्ट हैं, क्योंकि-वृष्टि और पुष्टि उनके ही आधीन है । उन सरस्वान् नामक देवताका हम तृप्ति वा रक्षण के लिये आह्वान करते हैं ॥ १ ॥

तृतीया ॥

आ मृत्यञ्च दाशुपे दाश्वंसं सरस्वन्तं पुष्टिपतिं रयिष्ठाम् ।  
रायस्पोषं श्रवस्युं वसाना इह हुवेम सदनं रयीणाम् २  
आ । मृत्यञ्चम् । दाशुपे । दाश्वंसम् । सरस्वन्तम् । पुष्टिपतिम् ।  
रयिष्ठाम् ।

रायः । पोषम् । श्रवस्युम् । वसानाः । इह । हुवेम । सदनम् ।  
रयीणाम् ॥ २ ॥



गत्यञ्चम् प्रत्यगञ्चनं हविर्दत्तवतः प्रीणयितुम् अभिमुखं गच्छन्तं  
 दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय दाश्वान्सम् इष्टफलं प्रयच्छन्तम् ।  
 ❀ “दाश्वान् साह्वान्” इति कसौ निपातितः ❀ । पुष्टपतिम्  
 पोषणपतिं रयिष्ठाम् धनस्थाने तिष्ठन्तं रायस्पोषम् रायो धनस्य  
 पोषं पोषकम् । ❀ पुष पुष्टौ । पचायच् ❀ । श्रवस्युम् । श्रव  
 इत्यन्ननाम श्रूयते इति यास्कः [ नि० १०. ३ ] । तद् यजमा-  
 नानां दातुम् इच्छन्तं रयीष्ठाम् धनानां सदनम् नित्यनिवासस्था-  
 नम् एवंविधं सरस्वन्तं देवं वसानाः । ❀ विवासतेः परिचरण-  
 कर्मत्वाद् अत्र केवलोपि वसतिः परिचरणार्थः ❀ । हविरादिना  
 परिचरन्तः । ❀ वस्तेरादादिकात् हेत्वर्थे शानच् ❀ । परिचर-  
 णाद्धेतोः । इह अस्मिन् कर्मणि आ ह्रुवेम आह्रुवेम । ❀ “ह्रुयतेः  
 लिङ्याशिष्यङ्” । “बहुलं छन्दसि” इति संप्रसारणम् ❀ ॥

हवि देने वालेको प्रसन्न करनेके लिये उसके अभिमुख जाने  
 वाले, हवि देने वाले यजमानको इष्ट फल देने वाले, पुष्टिके  
 स्वामी, धनके स्थानमें स्थित, धनके पोषक, अन्नको यजमानों  
 को देनेकी इच्छावाले, धनोंके नित्य निवास्थान सरस्वान् देवता  
 की हम हवि आदिसे सेवा कर इस कर्ममें जुलाते हैं ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

अति धन्वान्यत्यपस्ततर्दश्येनो नृचक्षा अवसानदर्शः ।  
 तरन् विश्वान्यवरा रजांसीन्द्रेण सख्या शिव आ जग-  
 म्यात् ॥ १ ॥

अति । धन्वा॑नि । अति । अपः । त॒र्द । श्ये॑नः । नृ॒चक्षाः ।  
 अव॒सान॒दर्शः ।

तरन् । विश्वानि । अवरा । रजांसि । इन्द्रेण । सख्या । शिवः ।  
आ । जगम्यात् ॥ १ ॥

नृचक्षाः नृणां द्रष्टा सर्वकर्मसाक्षी प्राणिभिर्द्रष्टव्यो वा । तदे-  
वाह । अवसानदर्शः अवसाने अन्तर्भूते द्युलोके द्रष्टव्यः । अथ  
वा अवसीयते निश्चीयत इति अवसानं कर्मफलं तद् दर्शयतीति  
अवसानदर्शः । तादृशः रयेनः शंसनीयगतिः सूर्यः धन्वानि मरु-  
देशान् अति अतिक्रम्य अपः उदकानि अति ततर्द । अतिशयेन  
करोत्वित्यर्थः । ॐ उवृदिर् हिंसानादरयोः ॐ । निरुदकमदेशेपि  
यथा वृष्टिर्भवति तथा प्रभूतं वर्षत्विति यावत् । किं च अवरा अव-  
राणि द्युलोकाद् अधस्तनानि विश्वानि रजांसि लोकान् तरन्  
अवतरन् अतिक्रामन् रयेनः सख्या समानख्यानेन मित्रभूतेन  
इन्द्रेण । ॐ सहयोगाभावेपि वृत्तीया ॐ । तेन सह शिवः कन्याण-  
कारी सन् आ जगम्यात् नवगृहनिर्माणस्थानम् आगच्छतु ॥

सब प्राणियोंके कर्मके साक्षी वा सकल प्राणियोंसे द्रष्टव्य,  
कर्मफलको दिखाने वाले वा अवसानके अर्थात् अन्तके द्युलोक  
में दीखने वाले प्रशंसनीय गति वाले सूर्यदेव मरुदेशोंको अना-  
दर कर जलोंको वर्षावें अर्थात् जिस प्रकार जलरहित स्थानोंमें  
भी वृष्टि हो तिस प्रकार बहुतसी वृष्टि करें और द्युलोकसे नीचेके  
लोकोंको अतिक्रमण कर सूर्यदेव अपने मित्र इन्द्रके साथ कन्याण-  
कारी हो हमारे नवीन घर बनानेके स्थानमें आवें ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

श्येनो नृचक्षां दिव्यः-सुपर्णः सहस्रपाञ्चतयोनिर्व-  
योधाः ।

स नो न यञ्छाद् वसु यत्पराभृतमस्माकंमस्तु पितृषु  
स्वधावत् ॥ २ ॥

श्येनः । नृचक्षाः । दिव्यः । सुपर्णः । सहस्रपात् । शतयोनिः ।  
वयोधाः ।

स । नः । नि । यच्छात् । वसु । यत् । पराभृतम् । अस्माकम् ।  
अस्तु । पितृषु । स्वधावत् ॥ २ ॥

नृचक्षाः नृणां द्रष्टा दिव्यः दिवि भवः सुपर्णः सुपतनः सहस्र-  
पात् सहस्रकिरणः । ॐ पादस्य लोपः समासान्तः ॐ । शत-  
योनिः शतस्य अपरिमितस्य कार्यस्य कारणभूतः अपरिमित-  
फलस्य मिश्रयिता वा । अथ वा शतसंख्याकानि योनयः कार-  
णानि प्रतिपदार्थं भिन्नानि असाधारणानि यस्येति । वयोधाः  
अन्नस्य धारयिता दाता स तादृशः श्येनः सूर्यः नः अस्मान् नि  
यच्छात् नियच्छतु । चिरकालं स्थापयत्स्विर्यर्थः । अपि च यद्  
वसु धनं पराभृतम् अन्यैथोरादिभिः पराहृतम् अपहृतम् अस्ति  
अथ वा यद् वसु पुरोडाशशकलरूपं पराभृतम् पराचीनेन पाणिना  
आहृतं मत्तितं तद् वसु अस्माकं पितृषु स्वधावत् स्वधाकारेण  
हुतम् अस्तु ॥

मनुष्योंको देखने वाले, स्वर्गमें रहने वाले, सुन्दरतासे चलाने  
वाले, अनन्त किरणों वाले, अपरिमित कार्योंके कारणभूत वा  
अपरिमित फलोंके सम्मेलक अन्नके धारण करने वाले-अन्नसे  
पुष्ट करने वाले सूर्यदेव हमको चिरकाल तक स्थापित रखें और  
जिस धनको चोर आदि लोग हैं अथवा जो पुरोडाशशकलरूप  
से पराचीन हाथसे अग्निमें होया गया है, वह हमारा धन पितरों  
में स्वधाकाररूपमें आहुत हो ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

सोमारुद्रा वि वृंहतं विष्णुचीममीवा यानो गयमादिवेशं

वाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्त-  
मस्मत् ॥ १ ॥

सोमारुद्रा । वि । बृहत् । विपूचीम् । अमीवा । या । नः ।  
गयम् । आऽविवेश ।

वाधेथाम् । दूरम् । निऽऽर्ऋतिम् । पराचैः । कृतम् । चित् । एनः ।  
प्र । मुमुक्तम् । अस्मत् ॥ १ ॥

हे सोमारुद्रा । ॐ सुप आकारः ॐ । हे सोमारुद्रौ विपूचीम्  
विष्वग्गमनां वक्ष्यमाणम् अमीवाशब्दवाच्यं रोगं वि बृहत् विना-  
शयतम् । ॐ बृह उद्यमने । तौदादिकः ॐ । या अमीवा रोगः  
नः अस्माकं गयम् गृहं शरीरं वा आविवेश सर्वतो व्याप्ता । तां  
वि बृहत् इति संबन्धः ॥ किं च निर्ऋतिम् निकृष्टगमनहेतुं  
रोगनिदानभूतां पिशाचीं पराचैः पराद्मुखं दूरं वाधेथाम् । यथा  
पुनरस्मान् नागच्छति तथा पराद्मुखं दूरं गमयित्वा नाशयतम् ।  
ॐ पराचैरिति । निपातोयम् उच्चैर्नीचैरिति वत् ॐ । किं च ।  
चिच्छब्दः चेदर्थे । एनः अस्माभिः कृतं चेत् । अप्यर्थे वा चिच्छब्दः ।  
कृतमपि एनः पापम् अस्मत् अस्मत्तः । ॐ पञ्चमीबहुवचने  
“पञ्चम्या अत्” ॐ । प्र मुमुक्तम् प्रकर्षेण मोचयतम् । ॐ मुञ्चतेः  
शपः रलुः ॐ ॥

हे सोम और रुद्र देवताओं ! विपूचीरोगको और अमीवारोग  
को आप नष्ट करिये, जो अमीवा रोग हमारे घरमें सब ओरसे  
व्याप्त हो रहा है उसको आप नष्ट करिये । आप निकृष्टगमनकी  
हेतु, रोगकी निदानभूत पिशाचीको दूर लेजाकर वाधित करिये,  
और यदि हमसे कुछ पाप बन गया हो तो उसको भी आप  
हमसे दूर करिये ॥ १ ॥

सप्तमी ॥

सोमारुद्रा युवमेतान्यस्मद् विश्वां तनूषु भेषजानि  
धत्तम् ।

अव स्यतं मुञ्चतं यन्नो असत् तनूषु वद्धं कृतमेनो  
अस्मत् ॥ २ ॥

सोमारुद्रा । युवम् । एतानि । अस्मत् । विश्वा । तनूषु । भेषजानि ।  
धत्तम् ।

अव । स्यतम् । मुञ्चतम् । यत् । नः । असत् । तनूषु । वद्धम् ।  
कृतम् । एनः । अस्मत् ॥ २ ॥

हे सोमारुद्रा हे सोमारुद्रौ युवम् युवाम् अस्मत् । पृथ्वाः “सुपां  
सुलुक्” इति लुक् । व्यत्ययो वा विभक्तौ ॐ । अस्मत् अस्माकं  
तनूषु शरीरेषु विश्वा सर्वाणि एतानि रोगनिर्हरणक्षमत्वेन प्रसि-  
द्धानि भेषजानि धत्तम् स्थापयतम् । किं च नः अस्माकं तनूषु  
वद्धम् संवद्धं यत् अस्माभिः कृतम् एनः पापम् असत् स्यात्  
अस्ति वा तद् अस्मत् अस्मत्सकाजाद् मुञ्चतम् मोचयतं विश्ले-  
पयतम् । ततो मुक्त्वा तद् अव स्यतम् अवसाययतं विनाशयतम् ।  
ॐ षो अन्तर्कर्मणि । लोटि रूपम् ॐ ॥

हे सोम और रुद्र देवताओं ! आप दोनों हमारे शरीरों में रोगों  
को दूर करने में प्रसिद्ध औषधियों को स्थापित करें, और हमारे  
शरीरों में जो हमारा किया हुआ पाप चिपट रहा हो उसको आप  
हमसे अलग करिये और अलग करके उनको नष्ट कर डालिये २

अष्टमी ॥

शिवास्तु एका अशिवास्तु एकाः सर्वा विभर्षि सुम-  
नस्यमानः ।

निस्त्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन् तासामेका वि  
पपातानु घोषम् ॥ १ ॥

शिवाः । ते । एकाः । अशिवाः । ते । एकाः । सर्वाः । विभर्षि ।  
सुमनस्यमानः ।

निस्त्रः । वाचः । निहिताः । अन्तः । अस्मिन् । तासाम् । एकाः ।  
वि । पपात । अनु । घोषम् ॥ १ ॥

सर्वा हि वाक् परावश्यन्तीमध्यमावैखरीरूपचतुरवस्थापन्ना ।  
तत्र पराद्यास्तिस्रोवस्था देहान्तरवस्थानाङ्गं न परेभ्योर्थं प्रतिपाद-  
यितुं क्षमाः । वैखरी तु तान्बोष्ठादिस्थानेषु वर्णपदवान्तरूपेण  
अभिव्यज्यमाना परश्रोत्रग्रहणयोग्या भवति । एवं पराद्यवस्था-  
पन्ना वाक् स्तुतिरूपा निन्दारूपा चेति द्विविधा भवति । तथा  
च अस्या ऋचः अयम् अर्थः । ते इति युष्मच्छब्देन विभर्षीति  
मध्यमपुरुषेण च मिथ्यामिश्रस्तः पुरुषोऽभिधीयते । हे अकारणं  
निन्दित पुरुष ते तत्र विषये शिवाः स्तुतिरूपाः कल्याण्यः एकाः  
अन्या वाचः सन्ति । तथा ते तत्र विषये अशिवाः अस्तुतिरूपा  
निन्दार्था एकाः अन्या वाचः सन्ति । सर्वास्ता उभयीर्वाचः त्वं  
सुमनस्यमानः । सुमना इवाचरन् । ॐ आचारार्थं “कर्तुः क्यङ्” ॐ ।  
स्तुतिमात्रश्रवणे यथा सुमनस्कृत्वं प्राप्नोषि एवं निन्दावाक्यश्रव-  
णिणे सौमनस्यं प्राप्नुान् विनीतिं विभृदि । ॐ लोडर्बे लट् ॐ ।

स्तुतिनिन्दाजातहर्षविषादयोरपि समानं सौमनस्यं प्राप्नुहीत्यर्थः ।  
 अथ वाचः पराश्रयस्थाचतुष्टयात्मकत्वेऽपि प्रथमावस्थान्नयक्याया  
 वाचो नार्थप्रत्यायकत्वं तुरीयावस्थापन्नायास्तु अर्थबोधकत्वम् इति  
 उत्तरार्थेनाह । तासां पूर्वोक्तानां द्वितयीनां वाचां मध्ये तिस्रो वाचः  
 पराद्याः अस्मिन् शब्दप्रयोक्तारि पुरुषे अन्तः देहमध्ये निहिताः  
 अवस्थिता भवन्ति । एका वैखरीरूपा घोषम् अनु तान्त्रोष्ठ्यापार-  
 जन्यं ध्वनिम् अनुलक्ष्य वि पपात विशेषेण वर्णपदादिरूपेण  
 वर्तते । यद्वा पूर्वार्थेन निन्दावाक्यस्य स्तुतिवाक्यसमानताप्रति-  
 पत्तिम् आपाद्य निन्दावाक्यनयोगेऽपि प्रयोक्तुरेव महती वाधा  
 नाभिद्युज्यमानस्य वाधेत्याह । तासाम् अशिवानां निन्दारूपाणां  
 वाचां मध्ये तिस्रो वाचः पराद्याः अस्मिन् मिथ्यापवदितरि अने  
 अन्तर्निहिताः । एका वाक् वैखरी घोषम् जनसंघध्वनिम् अनु-  
 लक्ष्य वि पपात निन्दात्वेन विरुद्धा पतिता । अयम् अर्थः । निन्दा-  
 वाक्यस्यापि परादिचतुष्टयात्मकत्वात् तादृशवाक्यप्रयोक्तृशरीर-  
 मध्ये त्रयाणां भागानाम् अवस्थानात् तस्मिन्नेव निन्दा महती ।  
 मिथ्याभिद्युज्यमाने तु एक एव भागः पतित इति नास्ति निन्देति ॥

( सब बाणियें परा पशन्ती मध्यमा और वैखरी इन चार  
 अवस्थाओंसे सन्पन्न होती हैं, इनमें परा आदि तीन अवस्थाएँ  
 शरीरके भीतर होनेसे दूसरेको अपना प्रयोजन नहीं जता सकती  
 और वैखरी तालु ओष्ठ आदि स्थानोंमें वर्ण पद वाक्यरूपसे प्रकट  
 होती हुई दूसरेके कानोंके ग्रहण करने योग्य होती है । इस प्रकार  
 परा आदि अनस्थाको प्राप्त होने वाली वाणी स्तुतिरूप और  
 निन्दारूपसे दो प्रकारकी होती है । अतः इस ऋचाका यह अर्थ  
 होगा, कि—) हे निष्कारण निन्दित पुरुष ! तरे त्रिषयमें एक स्तुति-  
 रूप वाणियें कही जाती हैं और दूसरी निन्दारूप वाणियें कही  
 जाती हैं, इन दोनों प्रकारकी वाणियोंको तू सुन्दर मसन्न ) मन

से ग्रहण कर अर्थात् अपनी स्तुतिके वचन को सुनकर जिस प्रकार तेरा मन प्रसन्न रहता है इसी प्रकार निन्दाकी बातोंको सुनकर भी तेरा मन प्रसन्न रहे दुःखी न हो, ( तात्पर्य यह है, कि—स्तुति और निन्दासे उत्पन्न हुए हर्ष और विषादके कारण भी तेरा मन एकसा रहे । ) पूर्वोक्त दो प्रकारकी वाणियोंकी तीन अवस्थाएँ शब्दप्रयोक्ता पुरुषके देहके भीतर होती हैं, एक बैखरी रूपा घोषके पीछे तालु ओष्ठ आदिसे उत्पन्न स्वनिको लक्ष्य कर वर्ण पदादि विशेषरूपसे पतित होती है । तात्पर्य यह है, कि—निन्दाप्रयोग करने वालेके शरीरमें ही तीन अवस्थाएँ रहनेसे उसमें ही बड़ी निन्दा रहती है और मिथ्या अभिशस्त होनेवाले में तो एक ही भाग पतित होता है, अत एव उसकी निन्दा नहीं होती है ॥ १ ॥

नवमी ॥

उभा जिग्यथुर्न परां जयेथे न परां जिग्ये कतरश्चैननयोः

इन्द्रेश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तैरयेथाम्

उभा । जिग्यथुः । न । परा । जयेथे इति । न । परा । जिग्ये ।

कतरः । चन । एनयोः ।

इन्द्रः । च । विष्णो इति । यत् । अपस्पृधेथाम् । त्रेधा । सहस्रम् ।

वि । तत् । ऐरयेथाम् ॥ १ ॥

हे इन्द्राविष्णु उभा उभा युवां जिग्यथुः सर्वदा जयथ एव ।

❀ द्वान्दसो लिट् । “सन्लिटोर्जेः” इति कृत्वम् ❀ । न कदाचिदपि परा जयेथे । अन्यैर्न जीयेथे इत्यर्थः । ❀ “विपराभ्यां जेः” इति आत्मनेपदम् ❀ । किम् एतां परस्परसाहाय्याज्जेतारौ अप-



राजितौ च । नेत्याह । एनयोः इन्द्राविष्णवोर्युवयोर्मध्ये कतरश्चन-  
 एकोपि । ❀ “कियच्चदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य दतरच्” ❀ । न  
 परा जिग्ये नान्यैः पराजितो भवति ॥ है विष्णो इन्द्रश्च त्वं च  
 युवां यद् वस्तु प्रति अपस्पृधेथाम् अस्पृधेथाम् असुरैः सह ।  
 ❀ “अपस्पृधेथाम् आनृचुः०” इति स्पर्धतेर्लङि द्विर्वचनं संप्र-  
 सारणं च निपात्यते ❀ । तद् वस्तु त्रेधा त्रिधा लोकवेदवागा-  
 त्मना स्थितं सहस्रम् अपरिमितं तद् वस्तु व्यैरयेथाम् । व्यक्रमे-  
 थाम् इत्यर्थः । विक्रमणं च वैष्णवमपि ऐकात्म्याद् उभयोरित्यु-  
 च्यते । अत्र ऐतरेयब्राह्मणम् । “उभा जिग्यथुरित्युभौ हि तौ  
 जिग्यतुः” इत्यादि “इन्द्रश्च ह वै विष्णुश्चासुरैर्युयुधाते । तान् ह  
 स्म जित्वोचतुः कल्पामहा इति । ते ह तथेत्यसुरा ऊचुः । सो-  
 ब्रवीद् इन्द्रो यावद् एवायं विष्णुस्त्रिविक्रमते तावद् अस्माकम्  
 अथ युष्माकम् इतरद् इति । स इमाँल्लोकान् विचक्रमेथो वेदान्  
 अथोवाचम् । तदाहुः किं तत् सहस्रम् इतीमे लोका इमे वेदा अथो  
 वाग् इति ब्रूयात्” इत्यन्तम् अनुसंधेयम् [ ऐ० ब्रा० ६. १५ ] ॥  
 हे इन्द्र और विष्णु देवताओं ! आप सर्वदा जीतते ही रहते  
 हैं कभी हारते नहीं हैं, अब यह शङ्का होती है, कि-क्या यह  
 परस्परकी सहायतासे जीतते हैं और अपराजित रहते हैं तो इसका  
 उत्तर यह है, कि-इन इन्द्र और विष्णुमें कोई एक भी दूसरोंसे  
 पराजित नहीं है । हे विष्णुदेव ! और हे इन्द्रदेव ! आप जिस  
 वस्तुके लिये असुरोंसे स्पर्धा करते हैं उस लोक वेद और वाणी  
 इन तीन प्रकारोंमें स्थित अपरिमित वस्तुको अपने वशमें करलेते हैं १

दशमी ॥

जनाद् विश्वजनीनात् सिन्धुतस्पर्याभृतम् ।

दूरात् त्वां मन्य उद्भृतमर्षिया नाम भेषजम् ॥ १॥

जनात् । विरवञ्जनीनात् । सिन्धुतः । परि । आऽभृतम् ।

दूरात् । त्वा । मन्ये । उद्भृतम् । ईर्ष्यायाः । नाम । भेषजम् ?

अत्र ईर्ष्यानिवर्तनक्षमम् औपधं संबोध्यते ॥ विश्वजनीनात् विश्वजनहितात् । ❀ “आत्मन्विरजनभोगोत्तरपदात् स्वः” इति स्वः ❀ । तादृशत् जनात् । जनपदाद् इत्यर्थः । एकदेशेन व्यपदेशो भीमयेनो भीम इति । तथा सिन्धुतः समुद्रात् । ❀ परिः पञ्चम्यर्थानुगादी ❀ । आभृतम् आहृतम् । ❀ “हृग्रहोर्भः” ❀ । तथा दूरात् दूरदेशाद् उद्भृतम् उद्भृतं त्वां सक्तुमन्धलक्षणम् औपधम् ईर्ष्यायाः क्रोधस्य नाम खलु भेषजम् निवर्तनक्षमम् औपधं मन्ये जानामि । ❀ मन ज्ञाने । दिवादित्वात् श्यन् । लटि उत्तमैकवचने रूपम् ❀ ॥

[ इति ] चतुर्थेऽनुवाके मथमं सूक्तम् ।

( इस मन्त्रमें ईर्ष्याको हटानेमें समर्थ औपधिको सम्बोधित कर कहते हैं, कि—) सम्पूर्ण मनुष्योंका हित करने वाले जनपदसे तथा समुद्रसे तथा दूर देशसे लाई हुई सक्तुमन्धरूप औपधिको मैं क्रोधको हटानेमें समर्थ औपधि जानता हूँ ॥ २ ॥

चतुर्थ अनुवाकमें मथम सूक्त समाप्त ( ३३१ ) ॥

ईर्ष्याविनाशकर्ताणि तप्तपरशुना वयाधितम् उदरम् “अग्नेरि रास्य दहतः” इत्यनया अभिमन्त्र्य ईर्ष्यालुं पायते । “अग्नेरिवेति परशु-फाण्टम्” इति [ कौ० ४. १२ ] सूत्रात् ॥

सर्पश्वाधि भैषज्यार्थं व्याधितशरीरं मौञ्जैः पाशैः पर्वतु बद्ध्वा “सिनीवालि” इति नखेन शरपिञ्जलीमृष्टिः सह उदक-घटं सपरा अभिमन्त्र्य व्याध्याम् आसावरेत् अथसिञ्चेद् वा । तद् उक्तं संहिताविर्गा । “सोपास्ट्रा [ ७. ४३ ] सिनीवालि [ ७. ४८ ] वि ते मुञ्चामि [ ७. ८३ ] शुम्भनी [ ७. ११७ ]

इति मौञ्जैः पर्वसु बद्ध्वा पिञ्जलीभिरास्तावत्यवसिञ्चति” इति  
[ कौ० ४. ८ ] ॥

तथा सर्वसंपत्कामः अनेन नवर्चेन यथालिङ्गं सिनीवाली कुहू  
राका देवपत्न्य इति चतस्रो देवता यजेत उपतिष्ठेत वा । ‘अमा-  
विष्य [ ७. ३० ] सोमारुद्रा [ ७. ४३ ] सिनीवालि पृथुष्टुके [ ७.  
४८ ] बृहस्पतिर्नः” [ ७. ५३ ] इति कौशिकं सूत्रम् [ कौ० ७. १० ] ॥

तथा दर्शयागे “सिनीवालि” इति वृत्तेन सिनीवालीदेवतां  
परिगृहीयात् । [ तद् उक्तं वैताने ] । “देवताः परिगृह्णाति । सिनी-  
वालि पृथुष्टुक इति मन्त्रोक्त्या अमावास्यायाम्” इति [ वै० १. १ ]

दर्शयाग एव “कुहूं देवीम्” इति वृत्तेन कुहूं देवीं परिगृहीयात् ॥  
पूर्णमासयागे “राकाम् अहम्” इति वृत्तेन राकां देवीं परिगृही-  
यात् ॥ “कुहूं देवीम् [ ७. ४६ ] यत् ते देवा अकृण्वन् भाग-  
धेयम् [ ७. ८४ ] इत्यमावास्यायाम् । राका अहम् [ ७. ५० ] पूर्णा  
पथात् [ ७. ८५ ] इति पूर्णमास्याम्” इति वैतानसूत्रात् [ वै० १. १ ] ॥

दर्शपूर्णमासयोः पत्नीसंयाजेषु “देवानां पत्नीः” इति वृत्तेन  
देवपत्नीयागम् अनुमन्त्रयेत् । “सं वर्चसा [ ६. ५३. ३ ] देवानां  
पत्नीः [ ७. ५१ ] सगार्हपत्यः [ १२. २. ४५ ] इति पत्नी-  
संयाजान्” इति हि वैतानं सूत्रम् [ वै० १. ४ ] ॥

ईर्ष्याविनाशकर्ममें तपे हुए फरसेसे धुआये हुए जलको ‘अग्ने-  
रिवास्य दहतः’ ऋचासे अभिमन्त्रित करके ईर्ष्यालुको पिला देवे  
इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि-“अग्नेरिवेति पर-  
शुफाण्डम्” ( कौशिकसूत्र ४। १२ ) ।

सर्वव्याधिकी चिकित्साके लिये रोगीके शरीरको मूँजके पाशों  
से जोड़ों पर बाँध कर ‘सिनीवालि’ आदि नौ ऋचाओंसे सैंदों  
के मुठोंके साथ जलपूर्ण घटको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके  
रोगीको आसावित वा अवसिञ्चित करे । इसी बातको संहिता-

( १५४ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

विधिमें कहा है, कि—“सोमारुद्रा ( ७।४३ ) सिनीवालि ( ७।४८ )  
वि ते मुञ्चामि ( ७।८३ ) शुंभनी ( ७।११७ ) इति मौञ्जैः  
पर्वसु बद्ध्वा पिञ्जलीभिरासावयत्यवसिञ्चति” ( कौशिकसूत्र  
४।८ ) ॥

तथा सर्वसम्पत्काम इस नौ श्रुचा वाले सूक्तसे लिंगानुसार  
सिनीवाली कुहू राका और देवपत्नी आदि चार देवताओंका  
यजन वा उपस्थान करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७।१० का  
प्रमाण है, कि—“अमाविष्णु ( ७।३० ) सोमारुद्रा ( ७।४३ )  
सिनीवालि पृथुष्टुके ( ७।४८ ) बृहस्पतिर्नः ( ७।५३ ) ॥

तथा दर्शयागमें ‘सिनीवालि’ श्रुचसे सिनीवाली देवताका  
परिग्रहण करे । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—“देवता परि-  
ग्रहाति । सिनीवालि पृथुष्टुक इति मन्त्रोक्ता अमावास्यायाम्”  
( वैतानसूत्र १।१ ) ॥

दर्शयागमें ही “कुहू देवीम्” इस श्रुचसे कुहू देवीका परिग्रहण  
करे ॥—पूर्णमासयागमें “राका अहम्” इस श्रुचसे राका देवीका  
परिग्रहण करे ॥ इस विषयमें वैतानसूत्र १।१ में कहा है, कि—  
“कुहू देवीम् ( ७।४६ ) यत् ते देवा अकुरुवन् भागधेयम्  
( ७।८४ ) इत्यमावास्यायाम् । राका अहम् ( ७।५० ) पूर्णा  
पश्चात् ( ७।८५ ) इति पूर्णमास्याम्” ॥

दर्श पूर्णमासके पत्नीसंयाजोंमें ‘देवानां’ पत्नीः’ इस श्रुचसे  
देवपत्नीयागका अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्रका प्रमाण  
भी है, कि—‘सं वर्चसा ( ६।५३।३ ) देवानां पत्नीः ( ७।५१ )  
सु गार्हपत्यः ( १२।२।४५ ) इति पत्नीसंयाजान् ( वैतान-  
सूत्र १।४ ) ॥

तत्र प्रथमा ॥

अग्नेरिवास्य दहतो दावस्य दहतः पृथक् ।

एतामेतस्येर्ष्यामुद्राग्निमिव शमय ॥ १ ॥

अग्नेऽइव । अस्य । दहतः । दावस्य । दहतः । पृथक् ।

एताम् । एतस्य । ईर्ष्याम् । उद्दना । अग्निम् । शमय ॥ १ ॥

अग्नेरिव दहतः क्रोधेन मदीयकार्याणि विनाशयतः अस्य पुरः  
परिदृश्यमानस्य ईर्ष्यालोः तथा पृथक् प्रत्येकं प्रतिपदार्थं दहतः  
भस्मीकुर्वतो दावस्य । अत्र उपमावाचक इवशब्दोऽध्याहार्यः ।  
दावस्य अग्नेरिव पृथक् दहतः एतस्य पुरोवर्तिनः क्रुध्यतः पुरु-  
षस्य । पुरोवर्तिनम् ईर्ष्यालुम् इदमेतच्छब्दाभ्याम् अंगुल्या निर्दि-  
शति । तादृशस्य पुरुषस्य एतां मद्विषये प्रयुज्यमानाम् ईर्ष्याम्  
उद्दना उदकेन । ❀ “पद्मन्नोमासू” इत्यादिना उदकस्य उद-  
न्भावः ❀ । तत्परशुक्वयितेनोदकेन शमय शान्तां कुर्विति ईर्ष्या-  
निवारको देवः संबोध्यते । तत्र दृष्टान्तः । अग्निमिवेति । यथा  
अग्निं उवलन्तम् उद्दना उदकेन शमयन्ति तद्वत् ॥

हे ईर्ष्यानिवारक देव ! अग्निकी समान मेरे कार्योंको भस्म  
करते हुए तथा दावाग्निकी समान मेरे प्रत्येक कार्योंको भस्म करते  
हुए इस ईर्ष्यालु पुरुषकी ईर्ष्याको इस प्रकार शांत करिये, जिस  
प्रकार जलसे अग्निको शान्त करते हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा ।

जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिद्वि नः ॥ १ ॥

सिनीवालि । पृथुष्टुके । या । देवानाम् । असि । स्वसा ।

जुषस्व । हव्यम् । आहुतम् । प्रजाम् । देवि । दिदिद्वि । नः ॥

दृष्टचन्द्रा अमावास्या सिनीवाली स्त्रीत्वेन रूप्यते । हे सिनी-  
वालि । अत्र यास्कः । सिनम् अन्नं भवति सिनाति भृतानि बालं  
पर्य वृणोतेस्तस्मिन्नन्नवती बालिनी वा बालेनैवास्याम् अणुत्वा-  
च्चन्द्रमाः सेवितव्यो भवतीति वेति [ नि० ११. ३१ ] । पर्वण्य-  
न्नवतीति अन्नपक्षलचन्द्रोपेतेति वेति तस्यार्थः । तादृशि हे सिनी-  
वालि पृथुपुङ्खे पृथुजयने पृथुकेशस्तुके वा । ॐ स्थायतेः स्तुक-  
शब्दः ॐ । बहुभिः संस्तुते वा । ॐ स्तौतेर्निष्ठातकारस्य वर्णोप-  
जनश्चान्दसः ॐ । या त्वं देवानां स्वसा स्वयं सारिणी दृष्ट्यादिना  
असि भवसि भगिनी वा समानकार्यत्वात् सा त्वम् आहुतम् अभि-  
मुखं प्रक्षिप्तं हव्यम् हविः जुपस्व सेवस्व । किं च हे देवि सिनी-  
वालि नः अस्माकं प्रजाम् पुत्रादिकां दिदिदि उपचिनु । देही-  
त्यर्थः । ॐ दिहेदिंशतेर्वा लोटि शपः रलुः ॐ ॥

हे अन्नपचन्द्रकला संयुक्त अमावास्याकी अधिष्ठात्री देवते  
सिनीवालि ! हे अनेकोंसे स्तुत सिनीवालि ! आप देवताओंकी  
स्वसा हैं अर्थात् दृष्टि आदिसे स्वयं सारिणी होती हैं और समान  
कार्य वाली होनेसे आप देवताओंकी भगिनी हैं ऐसी आप इस  
अभिमुख आहुत हविका सेवन करें और हे सिनीवालि देवते !  
आप हमको पुत्र आदि प्रजा दीजिये ॥ १ ॥

दृतीया ॥

या सुवाहु स्वङ्गुरिः सुभ्रूमां बहुसूवरी ।

तस्यै विश्वत्स्यै हविः सिनीवान्यै जुहोतन ॥ २ ॥

या । सुवाहुः । सुश्रङ्गुरिः । सुभ्रूमा । बहुसूवरी ।

तस्यै । विश्वत्स्यै । हविः । सिनीवान्यै । जुहोतन ॥ २ ॥

या सिनीवाली सुवाहुः सुपाणिः स्वङ्गुरिः शोभनाङ्गुलिः सुभ्रूमा

सुयोनिः । ❀ सूतेः सूमशब्दः ❀ । सुष्ठु प्रसवित्री वा । बहु-  
सूचरी बह्वीनां प्रजानां सवित्री । ❀ सूतेः कनिप् । “वनो रंच”  
इति ङीत्रेफौ ❀ । तस्यै सिनीवाल्यै विशपत्न्यै विशां प्रजानां  
पालयित्र्यै । ❀ “विभाषा सपूर्वस्य” इति पत्युर्नकारः । अय-  
स्पयादित्वेन भत्वाद् विशो जश्त्वाभावः ❀ । हविः जुहोतन जुहुत  
हे ऋत्विग्यजमानाः । ❀ “तप्तनप्तनथनाश्च” इति तस्य तनवा-  
देशः । पितृत्वेन द्वित्वाभावाद् गुणः ❀ ॥

हे ऋत्विज और यजमानों ! सिनीवाली देवता सुन्दर पाणि  
वाली, शोभन अंगुलि वाली, सुधूमा है उस प्रजाकी पालिका  
सिनीवालीके लिये हविकी आहुति दो ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

या विशपत्नीन्द्रमसि प्रतीचीं सहस्रस्तुकाभियन्तीं देवी  
विष्णोः पत्नि तुभ्यं राता हवींषि पतिं देवि राधसे  
चोदयस्व ॥ ३ ॥

या । विशपत्नी । इन्द्रम् । असि । प्रतीची । सहस्रस्तुका ।  
अभियन्ती । देवी ।

विष्णोः । पत्नि । तुभ्यम् । राता । हवींषि । पतिम् । देवि । राधसे ।  
चोदयस्व ॥ ३ ॥

या सिनीवाली विशपत्नी विशां पालयित्री इन्द्रम् परमेश्वर्य-  
संपन्नं देवं प्रतीचीं प्रत्यगश्चमा असि भवसि । अमावास्यायाम्  
इन्द्रस्य इज्यमानत्वाद् इन्द्रं प्रतीचीत्युक्तम् । कीदृशी । सहस्रस्तुका ।  
सहस्रशब्दो बहुवाची । बहुकेशस्तुका पृथुजघना वा सहस्रसंख्याकैः

स्तोतृभिः संस्तुता वा । अभियन्ती अभिमुखंगच्छन्ती यष्टव्यान्  
देवान् । यद्वा फलप्रदानाय अस्मान् अभिगच्छन्ती देवी द्योतन-  
शीला । किं च हे विष्णोः पत्नि विष्णोर्व्यापनशीलस्य देवस्य  
इन्द्रस्य वा पत्नि तुभ्यं हवींषि सता रातानि दत्तानि । अतः हे  
देवि सिनीवालि तुष्टा त्वं पतिम् त्वदीयम् इन्द्रं राधसे । राधइति  
धननाम । ❀ “क्रियार्थोपपदस्य०” इति चतुर्थी ❀ । अस्मभ्यं  
धनं दातुं चोदयस्व प्रेरयस्व ॥

जो सिनीवाली प्रजाओंकी पालिका है, परमेश्वर्यसंपन्न इन्द्र-  
देवके सामने जाती है और उनकी पूजा करती है, सहस्रों पुरुष  
उसकी स्तुति करते हैं, हे व्यापनशील देवताकी पत्नि ! तुझको  
हवि देनी है, अतः तू सन्तुष्ट होकर अपने पति इन्द्रको धन देनेके  
लिये प्रेरणा कर ॥ ३ ॥

पञ्चमी ॥

कुहूँ देवीं सुकृतं विद्वानापसमस्मिन् यज्ञे सुहवां जोह-  
वीमि ।

सा नो रयिं विश्ववारं नि यच्छाद् ददातु वीरं शत-  
दायमुक्थ्यम् ॥ १ ॥

कुहूम् । देवीम् । सुकृतम् । विद्वानापसम् । अस्मिन् । यज्ञे ।  
सुहवा । जोहवीमि ।

सा । नः । रयिम् । विश्ववारम् । नि । यच्छात् । ददातु ।  
वीरम् । शतदायम् । उक्थ्यम् ॥ १ ॥

नष्टचन्द्रा अमावास्या कुहूः । तां देवीम् । ❀ कुहूशब्दं बहुधा



यास्को निरुवाच । कुहूँरुहतेः क्वाभूद् इति वा क्व सती ह्यत इति  
 वा क्वाहुतं हविर्जुहोतीति वेति [ नि० ११. ३२ ] ॐ । तादृशीं  
 कुहूम् अस्मिन् यज्ञे दर्शयागे सर्वाभिलषितसाधने कर्मणि च जोह-  
 वीमि भृशम् आह्वयामि । ह्यतेरिदं रूपं जुहोतेर्वा । हविषा यजामि ।  
 तां विशिनष्टि । सुकृतम् सुकर्माणं विद्वानापसम् । अप इति कर्म-  
 नाप । विदितकर्माणम् । ॐ विदेः औणादिको मक् प्रत्ययः ।  
 [ विशो वदनम् । ] तद्वत् विद्वानम् । पामादिलक्षणे नप्रत्ययः ।  
 तादृशम् अपः कर्म यस्या इति विग्रहः ॐ । सुहवाम् शोभनाहा-  
 नाम् । सा कुहूः विश्ववारम् सर्वैर्वरणीयं रयिम् धनं नः अस्मभ्यं  
 नि यच्छात् नियमयतु स्थापयतु । प्रयच्छत्वित्यर्थः । तथा शत-  
 दायम् बहुधनं बहुप्रदं वा उक्थ्यम् प्रशस्यं स्तोत्रार्हं वा वीरम् वि-  
 क्रान्तं पुत्रं ददातु प्रयच्छतु ॥

नष्टचन्द्रा अमावास्या कुहूदेवी सुन्दर कर्म वाली है, विदित  
 कर्म वाली है और शोभन आह्वान वाली है उस कुहू देवीका मैं  
 इस दर्शयागमें और सब अभिलाषाओंके साधन कर्ममें भी बड़े  
 आग्रहके साथ आह्वान करता हूँ, वह कुहू देवी मुझको सबके  
 वरण करने योग्य धनको देवे और बहुतसा प्रदान करने वाले  
 और प्रशंसा पाने वाले विक्रमी पुत्रको देवे ॥ १ ॥

षष्ठी ॥

कुहूँदेवानांममृतस्य पत्नी हव्या नो अस्य हविषो जुपेत ।  
 शृणोतु यज्ञमुशती नो अद्य रायस्पोषं चिकितुषीं दधातु

कुहूः । देवानाम् । अमृतस्य । पत्नी । हव्या । नः । अस्य । हविषः ।

जुपेत ।

शृणोतु । यज्ञम् । उशती । नः । अथ । रायः । पोषम् । चिकितुषी ।  
दधातु ॥ २ ॥

देवानाम् । ❀ निर्धारणे पृष्ठी ❀ । देवानां मध्ये कुहूदेवी अमृतस्य अमृतत्वस्य अविनाशस्य उदकस्य वापत्री पालयित्री । यद्वा देवानां मध्ये यः अमृतः अविनश्वरो देवस्तस्य पत्नी नारी । अथवा देवानाम् इति सर्वविकारोपलक्षणम् । सर्वेषां भूतानाम् अमृतस्य च पत्नी पालयित्री इत्या आहानार्ह नः अस्मदीयस्य अस्य दीयमानस्य हविषः । ❀ कर्मणः संप्रदानत्वात् चतुर्थ्यर्थे पृष्ठी ❀ । अस्मदीयम् इदं हविः जुपेन सेवेत । किं च नः अस्मदीयं यज्ञम् उशती कामपमाना । ❀ यज्ञकान्ता । शतरि “ग्रहिज्या०” इत्यादिना संप्रसारणम् ❀ । अथ इदानीं शृणोतु । अस्मदीयम् आहानम् इति शेषः । ततः चिकितुषी अस्मदीयं यज्ञं ज्ञातवती रायः धनस्य पोषम् पुष्टिं दधातु अस्माकं विदधातु । ❀ चिकितुषीति । किं ज्ञाने । नवमीं टीपि संप्रसारणे रूपम् ❀ ॥

देवताओंमें कुहूदेवी अमृतस्वरूप जलका पालन करने वाली हैं, अथवा-देवताओंमें जो अविनाशी देवता हैं उनकी नारी हैं, वा सकल भूतोंका और अमृतका भी पालन करने वाली हैं और आहानके योग्य हैं, ऐसी कुहूदेवी इस हमारी हविका सेवन करें और हमारे यज्ञकी कामना करती हुई आज हमारे आहानको सुनें और हमारे यज्ञको जानती हुई हममें धनकी पुष्टि करें ॥२॥

सप्तमी ॥

राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतुं नः सुभगा वोधतु  
त्मना ।

सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदाय-  
मुक्थ्यम् ॥ १ ॥

राकाम् । अहम् । सुहृवा । सुस्तुती । हुवे । शृणोतु । नः ।  
सुभगा । बोधतु । त्मना ।

सीव्यतु । अपः । सूच्या । अच्छिद्यमानया । ददातु । वीरम् ।  
शतदायम् । उक्थ्यम् ॥ १ ॥

संपूर्णचन्द्रा पौर्णमासी राका । तां देवीं सुहवाम् शोभनाहानाम्  
आहानप्रयोजनकारिणीं सुस्तुती शोभनया स्तुत्या अहं हुवे आह-  
यामि । सा च सुभगा सुहानादिका नः अस्माकं शृणोतु आहा-  
नम् । श्रुत्वा च त्मना आत्मना । ❀ “मन्त्रेष्वाल्यादेरात्मनः”  
इति आकारलोपः ❀ । स्वयमेव बोधतु बुध्यताम् अस्मदभि-  
प्रायम् । बुद्ध्वा च अपः कर्म प्रजननलक्षणं सीव्यतु । अपः प्रज-  
ननकर्मेति हि यास्कः [ नि० ११. ३१ ] । तत् अच्छिद्यमानया  
सूच्या सूचिस्थानीयया सीव्यया नाहया सीव्यतु संतनोतु वध्नातु ।  
❀ पितु तन्तुसंताने । दैवादिकः । “हलि च” इति दीर्घः ❀ ।  
यथा वस्त्रादिकं सूच्या स्यूतं चिरं कार्यक्षमं भवति एवम् इदं  
करोतु । “राका इवा एतां पुरुषस्य सेवनीं सीव्यती येषां शिश्वेधि ।  
पुमांसोऽस्य पुत्रा जायन्ते” इति ऐतरेयश्रुतेः [ ऐ० ब्रा० ३. ३७ ] ।  
तथा च कृत्वा वीरम् विक्रान्तं पुत्रं शतदायम् बहुधनं बहुप्रदं वा  
उक्थ्यम् कर्मभिः स्तोत्रार्हं ददातु प्रयच्छतु ॥

सम्पूर्ण चन्द्रमा चाली पौर्णमासी राका कहलाती हैं । उन  
शोभन आहान वाली राका देवीका मैं सुन्दर स्तुतिके द्वारा  
आहान करता हूँ, वह सुन्दर ज्ञानवाली-हमारे आहानको सुनें

और सुन कर हमारे अभिप्रायको अपने आप जानलें और जान कर न टूटने वाली सूचिस्थानीया सीवनी नाड़ीसे प्रजननकर्मको सन्तन करें जैसे वस्त्र आदि सुईसे सीने पर चिरकालके लिये कार्यक्षम होता है इसी प्रकार ये इस कर्मको करें ‡ और इस प्रकार करके विक्रमी बहुत प्रदान करने वाले और स्तुतिके पात्र पुत्रको सुभक्तों देवें ॥ १ ॥

अष्टमी ॥

यास्ते राके सुमतयः सुपेशंसो याभिर्ददांसि दाशुपे वसूनि ।

ताभिर्नो अथ सुमनां उपागंहि सहस्रापोपं सुभगे रराणा ॥ २ ॥

याः । ते । राके । सुमतयः । सुपेशंसः । याभिः । ददांसि । दाशुपे । वसूनि ।

ताभिः । नः । अथ । सुमनां । उपआगंहि । सहस्रापोपम् । सुभगे । रराणा ॥ २ ॥

हे राके देवि यास्ते तव सुमतयः कन्याण्युद्धयः अनुग्रहात्मिकाः सुपेशंसः सुरुपाः शोभनविषया वा यास्ते सुपुत्रयः सुरुपा इति वा याभिः सृमतिभिः दाशुपे हविर्दत्तवने यजमानाय वसूनि धनानि

‡ ऐतरेय ब्राह्मण ३ । ३७ में कहा है, कि—“राका हि वा एतां पुरुषस्य सेवनीं सीव्यति येषां शिश्वेऽधि । पुमांसोऽस्य पुत्रा जायन्ते ।—राका अर्थात् पूर्णचन्द्रा रात्रि पुरुषकी शिश्वमेंकी सीवनी को सीती हैं, ऐसा करने पर इसके पुरुष पुत्र उत्पन्न होते हैं” ॥

ददासि प्रयच्छसि ताभिः सुगतिभिरुपलक्षिता तथाभूतसंकल्पा  
नः अस्मान् अथ इदानीं सुमना भूत्वा उपागहि उपागच्छ । ॐ गमेः  
शपो लुकि मलोपः । तस्यासिद्धत्वेन हेतुर्गभावः ॐ । किं कुर्वती ।  
हे सुभगे शोभनसौभाग्ये कल्याणधनप्रापिणि वा राके सहस्रपोषम्  
बहूनां धनानां पोषं पुष्टिं रराणां प्रयच्छन्ती उपागच्छेति । ॐ राते-  
र्व्यत्ययेन आत्मने पदम् । शपः रलुः ॐ ॥

हे राके देवि ! आपमें जो अनुग्रहरूपा कल्याणमयी मुरूपा  
बुद्धियें हैं कि-जिनसे आप हवि देने वाले यजमानके लिये धन-  
प्रदान करती हैं, आज आप उन बुद्धियोंसे संयुक्त हो प्रसन्न मन  
रख कर हमारे पास आइये, हे सुभगे ! आप बहुतसे धनोंकी  
पुष्टि देती हुई हमारे पास आइये ॥ २ ॥

नवमी ॥

देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाज-  
सातये ।

याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवाः  
शर्म यच्छन्तु ॥ १ ॥

देवानाम् । पत्नीः । उशतीः । अवन्तु । नः । प्र । अवन्तु । नः ।  
तुजये । वाजसातये ।

याः । पार्थिवासः । याः । अपाम् । अपि । व्रते । ताः । नः ।  
देवीः । सुहवाः । शर्म । यच्छन्तु ॥ १ ॥

देवानां पत्नीः पत्न्यः उशतीः उशत्यः कामयमानाः नः अस्मान्  
अवन्तु रक्षन्तु । तथा नः अस्माकं तुजये लोकाय अपत्याय वाज-

सातये अन्नलाभाय च प्रावन्तु प्रकर्षेण आगच्छन्तु रक्षन्तु वा ।  
 ❀ अथ रक्षणादिषु ❀ ॥ किं च या देवपत्न्यः पार्थिवासः  
 पार्थिव्यः । पृथिवीस्थाना इत्यर्थः । याश्च । अपिशब्दः ज्ञार्थे ।  
 अपां व्रते कर्मणि कारके अन्तरिक्षे स्थितास्ता देवीः देव्यः सुहवाः  
 शोभनाह्वाना नः अस्मभ्यं शर्म मुखं गृहं वा यच्छतु । ❀ वचन-  
 व्यन्त्ययः ❀ । यच्छन्तु प्रयच्छन्तु इत्यर्थः ॥

देवताओंकी पक्षियों हमारी रक्षा करनेकी कामना रखती हुई  
 हमारे पास आवें और हमको अन्नप्राप्ति करानेके लिये और हमको  
 उनका लाभ करानेके लिये आवें । जो देवियों पृथिवी पर रहती  
 हैं और जो जलका कर्म करने वाले अन्तरिक्षमें स्थित हैं वे शोभन  
 आह्वान वाली देवियों हमको मुख देवें ॥ १ ॥

दशमी ॥

उत ग्नाव्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राय १ ग्नास्यश्विनी राट् ।  
 आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतु-  
 जनीनाम् ॥ २ ॥

उत । आः । व्यन्तु । देवपत्नीः । इन्द्राणी । अमायी । अश्विनी ।  
 राट् ।

आ । रोदसी । वरुणानी । शृणोतु । व्यन्तु । देवीः । यः । ऋतुः ।  
 जनीनाम् ॥ २ ॥

उत अपि च देवपत्नीः देवाः पतयो यासां ताः देवानां पत्न्य  
 इति वा । ग्नाः देव्यः व्यन्तु कामयन्ताम् अश्नन्तु वा । हवीषीति  
 शेषः । ता देवपत्नीर्दर्शयति । इन्द्राणी इन्द्रस्य पत्नी । ❀ “इन्द्र-  
 वरुण०” इति टीपानुक्तौ ❀ । अमायी अग्नेः पत्नी । ❀ “वृष-

कप्यग्निकुसितकुसीदानाम् उदात्तः” इति ऐकारादेशो ङीप् च ॥  
 अश्विनी अश्विनोर्जाया राट् राजन्ती । ॥ राजतेः विवप् ॥  
 रोदसी रुद्रस्य जाया वरुणानी वरुणस्य पत्नी आ शृणोतु अभि-  
 मुखं सर्वतो वा शृणोतु । अस्मदीयं हव्यं व्यन्तु अश्रन्तु कामयन्ता  
 वा हवींषि देवीर्देव्यः । कस्मिन् काले हविःकामनं तम् आह ।  
 यः जनीनां जायानाम् ऋतुः कालस्तस्मिन् । पत्नीसंयाजकाल  
 इत्यर्थः । ॥ अत्र “अपि च या व्यन्तु देवपत्न्यः इन्द्राणीन्द्रस्य  
 पत्नी । अग्नाय्यग्नेः पत्नी । अश्विन्यश्विनोः पत्नी राट्  
 राजते । रोदसी रुद्रस्य पत्नी । वरुणानी [च] वरुणस्य पत्नी ।  
 व्यन्तु देव्यः कामयन्ताम् । य ऋतुः कालो जायानाम्” इति  
 निरुक्तम् अनुसंधेयम् [ नि० १२. ४६ ] ॥

[ इति ] चतुर्थेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

देवता जिनके पति हैं ऐसी देवपत्नियों हवियोंकी कामना करें  
 वा रक्षा करें, इन्द्रदेवकी पत्नी इन्द्राणी, अग्निदेवकी पत्नी अग्नायी  
 रुद्रकी जाया रोदसी, वरुणदेवकी स्त्री वरुणानी, अश्विनीकुमारों  
 की दमकती हुई पत्नी भली प्रकार सुनें और हमारी हवियों  
 पत्नियोंके ऋतुकालमें अर्थात् पत्नीसेयाजमें भक्षण करें † ॥२॥

चतुर्थ अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त ( ३६६ ) ॥

द्युतजयकर्मणि स्थलशुद्धिम् अक्षाधिवासनं च कृत्वा “यथा  
 वृक्षम् अशनिः” इति नवर्चेन अक्षान् अभिमन्त्र्य द्यूतं कुर्यात् ।  
 सूत्रितं हि । “पूर्वास्वपाढागु गर्तं खनति । उत्तरासु संभिनत्ति ।  
 आदेवनं संस्तीर्य । उद्भिन्दतीं संजयन्तीम् [ ४. ३८ ] यथा वृक्षम्  
 अशनिः [ ७. ५२ ] इदम् उग्राय [ ७. ११४ ] इति वासितान्  
 अक्षान् निवपति” इति [ कौ० ५. ५ ] ॥

सर्वफलकामः “बृहस्पतिर्नः” इति ऋचा बृहस्पतिं यजेत उप-

† यही बात निरुक्त १२।४६ में कही है ।

तिष्ठेत वा । “बृहस्पतिर्नः [ ७. ५३ ] यत् ते देवाः” [ ७. ८४ ]  
इति हि सूत्रम् [ का० ७. १० ] ॥

तथा उच्यते कर्ता ब्राह्मणान्छंसिनो याज्याहोमम् अनया ब्रह्मा  
अनुमन्त्रयेत् । उक्तं वैताने । “एतेषां याज्याहोमान् इन्द्रावरुणा  
मुनयो [ ७. ५८ ] बृहस्पतिर्नः [ ७. ५३ ] उभा जिग्यधुः”  
[ ७. ४५ ] इति [ वै० ४. १ ] ॥

तथा ग्रहयज्ञे अनया हविराज्यहोमसमिदाधानोपस्थानानि बृह-  
स्पतये कुर्यात् । तद् उक्तं शान्तिकल्पे । “भद्रादधि श्रेयः प्रेहि  
[ ७. ६ ] बृहस्पतिर्नः [ ७. ५३ ] इति बृहस्पतये” इति [ शा०  
क० १५ ] ॥

तथा “वार्हस्पत्यां राज्यश्रीब्रह्मवर्चसकामस्य” [ न० क० १७ ]  
इति रिहिताया वार्हस्पत्याख्यायां महाशान्तौ बृहस्पतिर्नः इत्ये-  
नाम् आवपेत् । उक्तं नक्षत्रकल्पे । “बृहस्पतिर्नः परिपातु पश्चात्  
[ ७. ५३ ] अमुत्र भूपात् [ ७. ५५ ] इति वार्हस्पत्यायाम्” इति  
[ न० क० १८ ] ॥

द्युतजयकर्ममें स्थलशुद्धिको और अक्षाधिवासनको करके  
“यथा वृक्षम् अशनिः” इस नीं ऋचा वाले ढुकड़ेसे फाँसोंको  
अभिमन्त्रित करके जुआ खेले । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी  
है, कि—“पूर्वास्वपादापु गर्तं खनति । उत्तरामु संभिनत्ति । आ-  
देवनं संस्तीर्य । उद्भिन्दन्तीं सञ्जयन्तीं ( ४ । ३८ ) यथा वृक्षं  
अशनिः ( ७ । ५२ ) इदं उग्राय ( ७ । ११४ ) इति वासितान्  
अक्षान् निवपति ।—पूर्वापादामें गड्ढेको खोदे, उत्तरापादमें भली  
प्रकार विदारण करे, फिर आदेवनको ठीक करे फिर चौथे फाँड  
के अड़तीसवें और सातवें काण्डके वावनवें और एकसौ चौदहवें  
सूक्तसे वासित अक्षोंसे खेले” ( काँशिकसूत्र ५ । ५ , ॥

सर्वफली कामना वाला “बृहस्पतिर्नः” ऋचासे बृहस्पति का



यजन वा उपस्थान करे, इस विषयमें कौशिकसूत्र ७।१० का प्रमाण भी है, कि—“वृहस्पतिर्नः ( ७।५३ ) यत् ते देवाः ( ७।८४ )”

तथा ब्रह्मा, उक्थ्य ऋतुमें ब्राह्मणाच्छंसीके याज्यहोमका इस ऋचासे अनुमन्त्रण करे। इसी बातको वैतानसूत्र ४।१ में कहा है, कि—“एतेषां याज्याहोमान् इन्द्रावरुणासुतपौ ( ७।५८ ) वृहस्पतिर्नः ( ७।५३ ) उभा जिग्यथुः ( ७।४५ ) ॥

तथा ग्रहयज्ञमें वृहस्पतिके लिये इस ऋचासे हवि, घृत, होम की समिधाओंका रखना आदि, करे इसी बातको शान्तिकल्पमें कहा है, कि “भद्रादधि श्रेयः प्रेहि ( ७।६ ) वृहस्पतिर्नः ( ७।५३ ) इति वृहस्पतये” ( शान्तिकल्प १५ ) ॥

तथा “बार्हस्पत्यां राज्यश्रीब्रह्मवर्चसकामस्य-राज्यश्री और ब्रह्म तेजकी कायना वालेके लिये बार्हस्पत्या शान्तिको करे” इस नक्षत्र-कल्प १७ से विहित बार्हस्पत्या महाशान्तिमें “वृहस्पतिर्नः” इस ऋचाको पढ़े। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि—“वृहस्पतिर्नः परिपातु पश्चात् ( ७।५३ ) अमुत्र भूयात् ( ७।५५ ) इति बार्हस्पत्यायाम्” ( नक्षत्रकल्प १८ ) ॥

तत्र, प्रथमा ॥

यथा वृत्तमशनिर्विश्वाहा हन्त्यप्रति ।

एवाहमद्य कितवानैक्ष्वर्यासमप्रति ॥ १ ॥

यथा । वृत्तम् । अशनिः । विश्वाहा । हन्ति । अप्रति ।

एव । अहम् । अद्य । कितवान् । अक्षैः । वध्यासम् । अप्रति ॥ १ ॥

अशनिः वैद्युतोग्निः अप्रति । ॐ प्रतिनिध्यर्थे प्रतिः कर्मप्रवचनीयः ॐ । न विद्यते प्रति प्रतिनिधिः समानो यस्य अप्रतिमः सन् विश्वाहा विश्वेषु सर्वेष्वहःसु यथा वृत्तम् तत् हन्ति

वाधते । यद्वा विश्वस्य हन्ता । ॐ हन्तेः क्विप् ॐ । अशनिः अप्रति  
 अप्रतिपक्षं यथा वृक्षं विनाशयति एव एवम् अहम् अप्रति अप्रति-  
 निधिः सन् । प्रतिकितवपराजये मम सदृशः अन्यो नास्तीत्यर्थः ।  
 यद्वा अप्रति अप्रतिपक्षं वध्यासम् इति संबन्धः । अथ इदानीं कित-  
 वान् । ॐ कितवः किं तवास्तीति शब्दानुकृतिरिति यास्कः [ नि०  
 ५, २२ ] । अक्षैर्दोष्यन् पुरुषः परैरपहियमाणधनः किं तवास्ति  
 न किंचिद् इति सर्वैर्भाष्यत इत्यर्थः ॐ । तादृशान् कितवान्  
 अक्षैः देवनसाधनैः अप्रति अप्रतिपक्षं वध्यासं हनिष्यामि । यथा  
 प्रतिकितवा घृतक्रियायां मम प्रतिस्पर्धिना न भवन्ति तथा अक्षैः  
 पराजितान् करिष्यामीत्यर्थः । ॐ “हनो वध लिङि” इति हन्ते-  
 र्यधादेशः ॐ ॥

बैशुन अग्नि अपनी सांजी न रखता हुआ जिस प्रकार प्रति-  
 दिन वृक्षोंको मारता रहता है, इसी प्रकार मैं आज कितवों ‡  
 ( जुआरियों ) को अपना प्रतिद्वन्द्वी न रखता हुआ अप्रतिम धन  
 कर फाँसोंके द्वारा मारता हूँ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

२१-१

तुराणामतुराणां विशामवर्जुषीणाम् ।

समैतु विश्वतो भगो अन्तर्हस्तं कृतं मम ॥ २ ॥

तुराणाम् । अतुराणाम् । विशाम् । अवर्जुषीणाम् ।

‡ निरुक्त ५ । २२ में कितव ( जुआरी ) शब्दकी व्याख्या  
 इस प्रकारकी है, कि—“कितवः किं तवास्तीति शब्दानुकृतिः—  
 तेरा क्या है किं तव अस्ति—इस शब्दकी अनुकृति कर कितव  
 शब्द कहा जाता है तात्पर्य यह है, कि—फाँसोंसे खेलने वाले  
 पुरुषका धन जब छिन जाता है तब उससे सब कहने लगते हैं,  
 कि—तेरा क्या है ? ।

सम्प्रेतु । विश्वतः । भगः । अन्तःहस्तम् । कृतम् । मम ॥२॥

तुराणाम् । ॐ तुर त्वरणे । इगुपधलक्षणः कः ॐ । द्यूतकर्मणि  
 त्वरमाणानाम् अतुराणाम् अत्वरमाणानाम् । अहमेव प्रथमः अक्ष-  
 प्रक्षेपेण प्रतिकादिनं जेष्यामि अहमेवेति अहमहमिकया त्वरमाणा-  
 स्तुराः । विमृश्यकारिण्यः अतुराः । तासाम् अवर्जुषीणाम् अव-  
 र्जनशीलानां प्रतिकितवैः पराजयेपि पुनरहमेव जेष्यामीति द्यूत-  
 क्रियाम् अपरित्यजन्तीनां पुनःपुनर्वर्ज्यलाभाद् अवर्जयन्तीनां वा ।  
 सर्वदा द्यूतव्यसनवतीनाम् इत्यर्थः । विशाम् प्रजानां भगः भाग्यम्  
 जयलक्षणं विश्वतः समैतु सर्वतः सम्यग् अभिमुखम् आगच्छतु ।  
 द्यूतजयकामिनं माम् इति शेषः ॥ न केवलं तत् एव जयप्रार्थना अपि  
 तु मम अन्तर्हस्तम् हस्तमध्ये कृतम् । कृतशब्दवाच्यश्चतुःसंख्या-  
 युक्तः अक्षविषयः अयः । स हस्तमध्ये स्थितो वर्तते । एकादयः  
 पञ्चसंख्यानता अक्षविषया अयाः । तत्र चतुर्णां कृतम् इति संज्ञा ।  
 तथा च तैत्तिरीयकम् । “ये वै चत्वारः स्तोमाः कृतं तत् । अथ  
 ये पञ्च कलिः सः” इति [ तै० ब्रा० १. ५. ११. १ ] ॥ तत्र  
 कृतस्य लाभाद् द्यूतजयो भवति । अत एव दाशतर्थां लब्धकृता-  
 यात् कितवाद् भीतिराज्ञायते । “चतुरश्चिद् ददमानाद् विभी-  
 याद् आ निधातोः” इति [ ऋ० १. ४१. ६ ] तत्र निरुक्तम् ।  
 चतुरोक्तान् धारयत इति तद् यथा कितवाद् विभीयाद् इति [ नि०  
 ३. १६ ] ॥

द्यूतकर्ममें त्वरा करने वाले और शीघ्रता न करने वालोंमें  
 मैं ही ( मुख्य हूँ ) द्यूतका त्याग न करने वालीं प्रजाओंका भाग  
 मुझ कृत† नामक फाँसेको हाथमें धारण करने वालेके पास चारों  
 ओरसे दृष्ट पड़े ॥ २ ॥

† कृत शब्द चार फाँसोंका नाम है । एकसे लेकर पाँच तकके  
 फाँसे अय कहलाते हैं उनमें चारकी कृत संज्ञा है । इसी बातको

तृतीया ॥

ईहे अग्निं स्वावंसुं नमोभिरिह प्रसक्तो वि चयत् कृतं नः ।  
स्थेरिव प्र भरे वाजयद्भिः प्रदक्षिणं मरुतां स्तोममृ-  
ध्याम् ॥ ३ ॥

ईहे । अग्निम् । स्वऽवसुम् । नमःऽभिः । इह । प्रऽसक्तः । वि ।  
चयत् । कृतम् । नः ।

स्थैःऽइव । प्र । भरे । वाजयत्ऽभिः । प्रऽदक्षिणम् । मरुताम् ।

स्तोमम् । ऋध्याम् ॥ ३ ॥

स्ववसुम् स्वकीयधनं स्वकीयेभ्यः स्तोतृभ्यो दीयमानं धनं यस्य  
तम् अग्निं नमोभिः स्तोमैः ईले स्तामि । इह द्यूतकर्मणि प्रसक्तः  
प्ररूपेण आसक्तोभिः देवनकर्माधिपतिः नः अस्माकं दीव्यतां कृतम्  
कृतशब्दवाच्यं लाभहेतुम् अयं वि चयत् विचिनोतु करोत्वित्यर्थः ।  
❀ विनोतंलेंटि अद्यागमः ❀ । वाजयद्भिः वाजम् अन्नं कुर्वद्भिः ।

तैत्तिरीयब्राह्मणमें कहा है, कि—“ये वै चत्वारः स्तोमाः कृतं तत् ।  
अथ ये पञ्च कलिः सः । जो चार स्तोम हैं यह कृत हैं, जो पाँच  
फॉसे हैं वे कलि कहलाते हैं” ( तैत्तिरीयब्राह्मण १ । ५ । ११ । १ )  
इनमें कृतका लाभ होनेसे द्युतमें विजय होती है । अत एव जिस  
को कृतकी प्राप्ति होजाती है उस कितवसे भीति होनेका वर्णन  
ऋग्वेदसंहितामें कहा है, कि—“चतुरश्रिद् ददमानाद् विभीयाद्  
आ निधातोः ॥ अर्थात् चार फॉसे देने वाले जुआरीसे डरे”  
ऋग्वेदसंहिता १ । ४१ । ८ ) इस विषयको निरुक्तमें इस प्रकार  
कहा है, कि—“चतुरोक्तान् धारयत इति तद् यथा किनवाद् विभी-  
यात्” ( निरुक्त ३ । १६ ) ॥

❀ वाजशब्दात् करोत्यर्थे णिच् ❀ । अन्नलाभकरणै रथैरिव स्थितैरक्षैः प्र भरे प्रहरे । प्रतिकितवान् इति शेषः । ❀ “हृग्रहोर्भः” इति भत्वम् ❀ । ततः मरुताम् । देवोपलक्षणम् । ‘सर्वेषां देवानां स्तोमम् स्तोत्रं संधं वा प्रदक्षिणम् अनुक्रमेण ऋध्याम् समर्थयेयम् ॥

जो अपने धनको स्तोताओंको देते रहते हैं ऐसे स्वावसु अग्नि-देवकी मैं स्तोत्रोंसे स्तुति करता हूँ, इस द्यूतकर्ममें प्रसक्त देवन-कर्माधिपति अग्निदेव हम जुआड़ियोंको कृत नामक फाँसेको देवें, तब जैसे रथमें स्थित अक्षोंके द्वारा अन्नको लाते हैं तिसी प्रकार मैं इन अक्षोंके द्वारा शत्रुओंकी सामग्रीको लाऊँ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

वयं जयेम त्वया युजा वृतमस्माकमंशमुदवा भरेभरे ।  
अस्मभ्यमिन्द्र वरीयः सुगं कृधि प्र शत्रूणां मघवन्  
वृणया रुज ॥ ४ ॥

वयम् । जयेम । त्वया । युजा । वृतम् । अस्माकम् । अंशम् ।  
उत् । अत्र । भरेभरे ।

अस्मभ्यम् । इन्द्र । वरीयः । सुगम् । कृधि । प्र । शत्रूणाम् ।  
मघवन् । वृणया । रुज ४ ॥

हे इन्द्र त्वया युजा सहायेन वृतम् वृणोति अक्षैः संरुणद्धीति वृत् प्रतिकितवः । ❀ वृणोतेः क्तिप् ❀ । तादृशं कितयं वयं जयेम । तथा भरेभरे संग्रामेसंग्रामे द्यूतलक्षणे अस्माकं जिगीषू-णाम् अंशम् जयलक्षणम् उद् अत्र उद्गमय । ❀ अत्र रक्षणा-दिषु ❀ । किं च अस्मभ्यं वरीयः उस्तरं धनं सुगम् सुगमनं कृधि

कुरु । ॐ उरुशब्दाद् ईयसुनि “मिषस्थिर०” इति वर् आदेशः ॐ । हे मधवन् धनवन् इन्द्र शत्रूणाम् शातयितॄणां प्रतिक्रितवानां वृष्ण्या वृष्ण्यानि वृष्णि भवानि । ॐ “भवे छन्दसि” इति यत् । टिलोपः ॐ । वीर्याणि जयलक्षणानि प्र रुज निवारय । ॐ रुजो भङ्गे तौदादिकः ॐ । यथा प्रतिक्रितवा अस्मान् न जयेयुः यथा तान् वयं जयेम जयेन च तेभ्यो धनं स्वीकुर्याम तथा कुर्विति इन्द्रः प्रार्थ्यते ॥

हे इन्द्रदेव ! आपकी सहायतासे मैं जिसका अच्छोंके द्वारा वरण करता हूँ उस प्रतिपक्षीको जीत लूँ और जो घूतलक्षण-रूप संग्राममें हमको जीतना चाहते हैं, उनके जयलक्षणरूप अंश को आप उच्चाटित करिये । और हमारे लिये बहुतसे धनको सुगमतासे आने वाला करिये । हे धनवन् इन्द्र ! आप शत्रुओंके जयरुमोंको निवारित करिये । अर्थात् इन्द्रदेव ! हमारी यह प्रार्थना है, कि-जैसे प्रतिपक्षी हमको न जीत सकें और हम जीत कर उनसे धन लेलेवें तैसा आप करें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

अजैपं त्वा संलिखितमजैपमुन संरुधम् ।

अविं वृको यथा मथदेवा मथ्नामि ते कृतम् ॥ ५ ॥

अजैपम् । त्वा । सम्ऽलिखितम् । अजैपम् । उत । सम्ऽरुधम् ।

अविम् । वृकः । यथा । मथत् । एव । मथ्नामि । ते । कृतम् ५

लोके हि कितवाः अस्मिन् पदे प्रतिक्रितवम् अक्षशलाकादिभिः संरोत्स्यामीति अङ्कान् कुर्वन्ति तत्रैव च संरुधन्ति । तादृशः प्रतिक्रितवोत्र संवोच्यते । हे कितव संलिखितम् पदेषु सम्यग् अङ्कान् लिखितवन्तमपि त्वा त्वाम् अजैपम् अहमेव जयामि । उत अप्यर्थः ।

संरुधम् । ॐ रुधेः निवप् ॐ । संरोद्धारमपि त्वाम् अजैषम्  
जयामि । यद्वा संलिखितम् सन्त्यग् लिखितं चिह्नितं पदम् अभि-  
लक्ष्य त्वां जयामि । उत अपि च संरुधम् । ॐ संरुधन्ति अत्रेति ।  
अधिकरणे कप्रत्ययः ॐ । तादृशं स्थानम् अभिलक्ष्य त्वां जयामि ।  
किं च वृकः अरण्यश्वा अविष् अजं यथा मयत् मथ्नाति एव  
एवं ते तत्र कृतं कृतशब्दवाच्यं लाभहेतुम् अयं मथ्नामि विनाशयामि  
( संसारमें जुआरी मैं इस पदमें अक्षशलाका आदिसे कितव  
को रोकूँगा, इस प्रकार अङ्कित करते हैं और वहाँही रोकते भी  
हैं । तैसे ही प्रतिकितवको वहाँ सम्बोधित किया है, कि—) हे  
कितव ! पदमें भली प्रकार अंकोंको लिखते हुए भी तुझको मैं  
ही जीतूँगा और संरोद्धा भी तुझको मैं जीतूँगा, जिस प्रकार  
भेड़िया भेड़को मथ डालता है, इसी प्रकार मैं तेरे कृत नामक  
पाशको मथता हूँ ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

उत प्रहामतिदीवा जयति कृतमिव श्वघ्नी वि चिनोति  
काले ।

यो देवकामो न धनं रुणद्धि समित् तं रायः सृजति  
स्वधाभिः ॥ ६ ॥

उत । प्रहाम् । अतिदीवा । जयति । कृतम् इव । श्वघ्नी । वि ।  
चिनोति । काले ।

यः । देवकामः । न । धनम् । रुणद्धि । समित् । इत् । तम् ।  
रायः । सृजति । स्वधाभिः ॥ ६ ॥

उत अपि च अतिदीवा अतिशयेन दीव्यन् पुरुषः । ॐ कनिन्  
मुष्टपित्तिराजिधन्विद्यु प्रतिदिवः इति [ उ० १. १५४ ] अति पूर्वाद्  
दीव्यतेः कनिन् । किस्वादेव गुणाभावः ॐ । महाम् अक्षैः महन्तारं  
प्रतिकितव्यं जयाति । यतः स्वप्नी । स्वप्नी कितवो भवति स्वं  
हन्ति स्वं पुनराहृतं भवतीति यास्कः [ नि० ५. २२ ] ॐ । पर-  
स्वस्य हन्ता कितवः काले घूतकाले कृतमिव । इवशब्द एवार्थे ।  
कृतशब्दवाच्यं लाभहेतुम् अयमेव वि चिनोति मृगयते । हस्तस्थे-  
ष्वक्षेपु प्रागेव निधानात् कृतत्वम् अक्षाणां लाभाय अन्विष्यते  
अतो जयातीति संबन्धः ॥ यो देवकामः देवान् कामयग्रानः  
दीव्यन् पुरुषः धनं न रुणद्धि घूतलब्धं धनं न व्यर्थं स्थापयति  
किं तु देवतार्थं विनियुक्ते तं राया धनेन स्वधाभिः अन्नैर्बलैर्वा  
सं सृजत्येव संयोजयत्येव । इन्द्र इति देवता गम्यते । इत् अव-  
धारणे ॥

यद्वा भारी खिलाड़ी पुरुष अक्षोंसे प्रहार करने वाले प्रति-  
कितवको जीत लेता है, क्योंकि—वह जुआड़ी घूतके समयमें लाभ  
के हेतु कृत नामक अयको ही हूँदता है, वह देवताओंकी इच्छा  
करता हुआ खिलाड़ी पुरुष उस धनको रोकता नहीं है अर्थात्  
व्यर्थ ही स्थापित नहीं करता है, किन्तु देवताके निमित्त विनि-  
युक्त करता है और उसको स्वधासे संयुक्त करता है ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

गोभिष्टरेमामनिं दुरेवां यवेन वा क्षुधं पुरुहून् विश्वं ।

वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिष्टासो वृजनीभिर्जयेम ७

गोभिः । तरेम । अमतिम् । दुःष्णकाम् । यवेन । वा । क्षुधम् ।

पुरुहून् । विश्वं ।



वयम् । राजऽसु । प्रथमाः । धनानि । अरिष्टासः । वृजनीभिः । जयेम ।

हे इन्द्र दुरेवाम् दुष्टगमनां दारिद्र्याद् आगताम् अमतिम् दुर्बुद्धिं गोभिः पशुभिः तरेम । हे पुरुहूत बहुभिराहूत इन्द्र विश्वे सर्वे वयं यवेन वा । यवशब्दो धान्योपलक्षणम् । धान्येन वा जुधम् बुभुक्षां तरेम निवारयेम ॥ राजसु वृषेषु राजमानेषु दीव्यस्तु वा पुरुषेषु । स्थितानीति शेषः । प्रथमा प्रथमानि मुख्यानि प्रकृतमानि धनानि वयम् अरिष्टासः अहिंसिताः प्रतिकितवैरपराजिताः सन्तः वृजनीभिः बलकारिणीभिरक्षशलाकाभिः जयेम साधयेम ॥

हे इन्द्रदेव ! हम दुष्ट गति वाली दारिद्र्यासे आई हुई दुर्बुद्धि को पशुओंके द्वारा तरें, यव आदि धान्यके द्वारा बुभुक्षाका निवारण करें, राजाओंमें स्थित श्रेष्ठ धनको हम प्रतिकितवोंसे पराजित न होकर बलकारिणी अक्षशलाकाओंसे जीत लें ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः ।

गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनं जयो हिरण्यजित् ॥

कृतम् । मे । दक्षिणे । हस्ते । जयः । मे । सव्ये । आहितः ।

गोऽजित् । भूयासम् । अश्वऽजित् । धनम्ऽजयः । हिरण्यऽजित् ॥

मे मम दक्षिणे हस्ते पाणौ कृतम् कृतशब्दवाच्यो लाभहेतुः अयः अस्ति । कृतायलाभो हि महान् द्यूतजयः । तद् उक्तं द्यूतक्रियाम् अधिकृत्य आपस्तम्बेन । “कृतं यजमानो विजिनाति” इति [ आप० ५. २०. १ ] । तथा मे मम सव्ये हस्ते जय आहितः कृतायसाध्यो जयो निहितोस्ति । अतः अहं गोजित् परकीयानां गवां जेता भूयासम् । अश्वजित् प्रतिकितवसंवन्धिनाम् अश्वानां जेता । धनं जयः । धनशब्दः सामान्यवाची । दासीभूम्यादिधनस्य

जेता । ॐ “संज्ञायां भृतृवृजिघारिसहितपिदमः” इति जयतेः खच् प्रत्ययः । “अरुद्विपदजन्तस्य मुम्” इति मुम् ॐ । हिरण्यजित् सुवर्णस्य जेता भूयासम् । लोके हि कितवा इत्यतः कर्मणि गवादि- धनं शुल्कं कृत्वा दीव्यन्ति तत्र ये जयन्ति ते तद्धनं स्वीकुर्वन्ति । अत्र जयस्य पूर्वार्धेन उक्तत्वाद् गवादिधनजयलाभः उत्तरार्धेन प्रार्थ्यते ॥

मेरे दाहिने हाथमें कृतनामक अथ है, तथा मेरे बायें हाथमें जय नामक अथ है, अत एव मैं दूसरोंकी गाँथोंका जीतनेवाला होऊँ, अश्वोंका धनका तथा दासी भूमि आदिका भी जीतने वाला होऊँ तथा सुवर्णका भी जीतने वाला भी होऊँ ॥ ८ ॥

नवमी ॥

अक्षाः फलवतीं द्युवं दत्त गां क्षीरिणीमिव ।

सं मां कृतस्य धारया धनुः स्नान्वेव नह्यत ॥ ९ ॥

अक्षाः । फलवतीम् । द्युवम् । दत्त । गाम् । क्षीरिणीम् ॥ इव ।

सम् । मा । कृतस्य । धारया । धनुः । स्नान्वा ॥ इव । नह्यत ॥ ९

अनया देवनसाधनभूतान् अक्षान् जयाय प्रार्थयते । हे अक्षाः द्युवम् द्यूतक्रियाम् । ॐ दीव्यतेः संपदादिलक्षणो भावे विधुम् । “च्छोः शृङ्गनुनासिके च” इति ऊट् । तदन्ताद् द्वितीयैकवचने अमि उवद् आदेशः ॐ । द्यूतक्रियां फलवतीं फलोपेतां दत्त प्रयच्छत । यथा द्यूतेन धनलाभो भवति तथः कुस्तेत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः क्षीरिणीं गामिवेति । फलं कस्माद् भवति तम् आह । कृतस्य कृतशब्दवाच्यस्य चतुःसंख्यायुक्ताक्षविषयस्य लाभहेतोः अयस्य धारया संतत्या उपर्युपरिलाभहेतुकृतायप्रवाहेण मां मां सं नह्यत संयोजयत । तत्र दृष्टान्तः धनुः स्नान्वेवेति । यथा धनुः कामुकं स्नान्वा स्नाननिमित्तया मौर्व्या संनहन्ति । यथा मौर्वी-

संनद्धं कार्मुकं जयकारि भवति एवं मां कृतायपरंपरया जयिनं  
कुरुतेत्यर्थः ॥

( इस ऋचासे खेलनेके साधन अक्षोंकी विजयके लिये प्रार्थना  
करते हैं, कि—चौरिणी गौरी समान फलवती धूतक्रियाको  
दीजिये अर्थात् जिस प्रकार धूममें धनलाभ हो तैसा करिये, जैसे  
धनुष ताँतकी डोरोसे बँधा हुआ होता है, इसी प्रकार आप मुझे  
कृनकी धारासे बाँधिये । अर्थात् जिस प्रकार प्रत्यक्षा बँधा हुआ  
धनुष जय करने वाला होता है इसी प्रकार कृतायकी परम्परा  
से आप मुझको विजयी करिये ॥ ६ ॥

दशमी ॥

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुत्तस्मादधरादघायोः ।

इन्द्रः पुरस्तादुत्त मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीयः

कृणोतु ॥ १ ॥

बृहस्पतिः । नः । परि । पातु । पश्चात् । उत्त । उत्तस्मात् ।

अधरात् । अघायोः ।

इन्द्रः । पुरस्तात् । उत्त । मध्यतः । नः । सखा । सखिभ्यः ।

वरीयः । कृणोतु ॥ १ ॥

बृहस्पतिः बृहतां देवानां पाता हितकारित्वेन पालयिता एत-  
न्नामा देवः नः अस्मान् परि पातु परितः सर्वतो रक्षतु । सर्वत  
इत्युक्तम् कस्माद् इति तद् आह । पश्चात् प्रतीच्या दिशः ।  
❀ “पश्चात्” इति अस्नात्यर्थे निपातितः ❀ । उत्त अपि च उत्त-  
रस्मात् ऊर्ध्वाल्लोकात् अधरात् अधस्तनाल्लोकात् अघायोः अघं

हिंसालक्षणं परेषाम् इच्छतीति अघायुः । ॐ अघशब्दात् “छन्दसि परेच्छायाम्” इति क्यच् । “अश्वाघस्यात्” इति आचवम् । “क्याच्छन्दसि” इति उपत्ययः ॐ । अभिजिघांसतः पुरुषात् । परि पात्विति संबन्धः । तथा इन्द्रः पुरस्तात् प्राच्या दिशः उत अपि च मध्यतः मध्यात् प्रदेशात् नः अस्मान् परि पात्विति । सर्वाभ्यो दिग्भ्यो योऽघायुरागच्छति ततोऽस्मान् इन्द्रावृहस्पती परिपालयताम् इत्यर्थः । अपि च सखा सखिभूत इन्द्रः सखिभ्यः समानखयानेभ्यः स्तोतृभ्यः अस्मभ्यं वरीयः उरुतरं धनं कृणोतु करोतु ॥

तृतीयं सूक्तम् । समाप्त्यनुयोनुवाकः ॥

पङ्के २ देवताओंका हित करके उनका पालन करने वाले बृहस्पति नामक देवता पश्चिमकी ओरसे ऊपरकी ओरसे नीचेकी ओरसे और हिंसा-लक्षण अघको चाहने वाले अघायुकी ओरसे इस प्रकार सब ओरसे हमारी रक्षा करें । भगवान् इन्द्रदेव पूर्व-दिशासे और मध्यप्रदेशसे हमारी रक्षा करें । तात्पर्य यह है, कि—चाहे किसी ओरसे हमारा शत्रु आता हो, उससे इन्द्र और बृहस्पति देवना हमको बचावें । और सखाभूत इन्द्र अपने मित्र-रूप स्तोताओंके लिये हममें बहुतसा धन करें ॥ १ ॥

तृतीय सूक्त समाप्त ( ३६८ ) ॥

अथर्ववेदसंहिताक सप्तम कांडमें चतुर्थ अनुवाक समाप्त

पञ्चमेनुवाके त्रीणि सूक्तानि । तत्र “संज्ञानं नः” इति आद्यं सूक्तं बृहद्गणे पठितम् । तस्य शान्त्युदकाभिमन्त्रणादौ विनियोगः ॥

तथा सांप्रतस्य कर्मणि “संज्ञानं नः” इति बृचेन उदकुम्भं सुराकुम्भं वा संपात्य अभिमन्त्र्य ग्रामं परिभ्राम्य ग्राममध्ये निनयेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनेन बृचेन त्रिहायण्या वत्सतर्पाः शुस्त्यानि मांसानि संपात्य अभिमन्त्र्य भक्षयेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अन्नं सुरां प्रपां वा अनेन व्यृचेन संपात्य अभिमन्त्र्य यथायोगं भक्षणं पानं वा कुर्यात् ॥

सूत्रितं हि । “सं वो मनांसि [६. ६४] संज्ञानं नः [७. ५४] इति सांमनस्यानि । उदकुलिजं संपातवन्तं ग्रामं परिहृत्य मध्ये निनयति । एवं सुराकुलिजम् । त्रिहायण्या वत्सतर्याः शुक्त्यानि पिशितान्याशयति । भक्तं सुरां प्रपां संपातवत् करोति” इति [ कौ० २. ३ ] ॥

उपनयने आचार्यो माणवकस्य नाभिं संस्पृश्य “अमुत्रभूयात्” इति षडृचं जपेत् । “दक्षिणेन पाणिना नाभिदेशे संस्तभ्य जपति । आ यातु मित्रः [ ३. ८ ] अमुत्रभूयात्” [ ७. ५५ ] इति हि सूत्रम् [ कौ० ७. ६ ] ॥

तथा “बार्हस्पत्यां राज्यश्रीब्रह्मवर्चसकामस्य” इति [ न० क० १७ ] विहितायां बार्हस्पत्याख्यायां महाशान्तौ “अमुत्रभूयात्” इति आबपेत् । उक्तं नक्षत्रकल्पे । “बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चात् [ ७. ५३ ] अमुत्रभूयात् [ ७. ५५ ] इति बार्हस्पत्यायाम्” इति [ न० क० १८ ] ॥

पुष्ट्यर्थे आग्रहायणीकर्मणि अग्निसमीपात् प्रातरुत्थिते “उद्वयम्” इति उत्क्रामेत् । “उदायुषा [ ३. ३१. १० ] इत्युपोत्तिष्ठति । उद्वयम् [ ७. ५५. ७ ] इत्युत्क्रामति” इति हि [ कौ० ३. ७ ] सूत्रम् ॥

अन्नप्राशनकर्मणि भूमौ उपवेशितं बालम् “उद्वयम्” इत्यनया आदित्यं प्रदर्शयेत् ॥

तथा सोमयागे अवभृथस्नानानन्तरम् “[ उद्वयम् ]” इत्यनया जलाद् उत्क्रामेत् । “संप्रोक्षति । अपां सूक्तैरित्याद्युपस्पर्शनान्तम् । उद्वयम् इत्युत्क्रामति” इति वैताने सूत्रितम् [ वै० ३. १४ ] ॥

अध्यापकानाम् अर्थार्जनविघ्नशमनार्थम् “ऋचं साम” इत्यनया

आज्यं जुहुयात् । “अचं सामेत्यनुवचनीयस्य जुहोति” इति हि  
[ कौ० ५, ६ ] सूत्रम् ॥

पाँचवें अनुवाकमें तीन सूक्त हैं । इनमें ‘संज्ञानं नः’ प्रथम  
सूक्तका वृद्धरणमें पाठ है । इसका शान्त्युदकाभिमन्त्रण आदिमें  
विनियोग होता है ।

तथा सांमनस्यकर्ममें ‘संज्ञानं नः’ इस द्रव्यचसे जलपूर्ण कलश  
वा सुरापूर्ण कलशका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके ग्राममें  
धुमा कर ग्राम मध्यमें लेजावे ।

तथा इसी कर्ममें इस द्रव्यचसे त्रिवर्षा वत्सतरीके शुभ्रतप मांसों  
का सम्पातन और अभिमन्त्रण करके भक्षण करे ।

तथा इसी कर्ममें अन्न सुरा वा प्रपाको इस द्रव्यचसे सम्पातन  
और अभिमन्त्रण करके यथायोग्य पान वा भक्षण करे ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-‘सं वो मनांसि’ ( ६ ।  
६४ ) संज्ञानं नः ( ७ । ५४ ) इति सांमनस्यानि उदकुलिजं  
सम्पातवन्तं ग्रामं परिहृत्य मध्ये निनयति । एवं सुराकुलिजं ।  
त्रिहायण्या वत्सतर्षाः शुभ्रत्यानि पिशितान्याशयति । भक्तं सुरां  
प्रपां सम्पातवत् करोति ।” ( कौशिकसूत्र २ । ३ ) ॥

उपनयनके समय आचार्य माणवककी नाभिका स्पर्श करके  
‘अमुत्र भूयात्’ आदिक छः श्रुचाओंको जपे । इस विषयमें  
कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि-‘दाक्षिणेन पाणिना नाभिदेशे  
संस्तभ्य जपति । आयातु मित्रः ( ३ । ८ ) अमुत्र भूयात् ( ७ ।  
५५ ) इति ( कौशिकसूत्र ७ । ६ ) ॥

तथा ‘बाहस्पत्यां राज्यश्रीब्रह्मवचसकामस्य राज्य श्री और  
ब्रह्मतेज चाहने वालेके लिये बाहस्पत्या शांतिवो करे’ इस नक्षत्र-  
कल्प १७ से विहित बाहस्पत्या नाम वाली महाशान्तिमें ‘अमुत्र  
भूयात्’ को पढ़े । इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि-‘वृह-

स्पतिर्नः परिपातु पश्चात् ( ७ । ५३ ) अमुत्र भूयात् ( ७ । ५५ )  
इति बार्हस्पत्यायाम्' ( नक्षत्रकल्प १८ ) ॥

पुष्टिके लिये किये जाने वाले आग्रहायणी कर्ममें अग्नि के समीपसे प्रातःकाल उठते समय 'उद्वयम्' से उत्क्रमण करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ३ । ७ का प्रमाण भी है, कि—'उदाधुपा ( ३ । ३१ । १० ) इत्युपोत्तिष्ठति । उद्वयम् ( ७ । ५५ । ७ ) इत्युत्क्रामति' ॥

अन्नपाशनकर्ममें भूमिमें बैठायें हुए बालकको 'उद्वयम्' ऋचा से सूर्यदेवका दर्शन करावे ।

तथा सोमयागमें अवभृथ स्नानके अनन्तर 'उद्वयम्' ऋचासे जलसे उत्क्रमण करे । इस विषयमें वैजानसूत्र ३ । १४ का प्रमाण है, कि—“सम्प्रोक्षति । अपां सूक्तैरित्युदकर्शान्तम् । उद्वयं इत्युत्क्रामति” ॥

अध्यापकोंके द्रव्य एकत्रित करनेके विघ्नको शांत करनेके लिये “ऋचं साम” इस ऋचासे घृतकी आहुति देय । इस विषयमें कौशिकसूत्र ५ । ६ का प्रमाण भी है, कि—“ऋचं सामेत्यनुभव-चनीयस्य जुहोति” ॥

तत्र प्रथमा ॥

संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः ।

संज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नि यच्छतम् । १ ।

सम्ज्ञानम् । नः । स्वेभिः । सम्ज्ञानम् । अरणेभिः ।

सम्ज्ञानम् । अश्विना । युवम् । इह । अस्मासु । नि । यच्छतम् ?

स्वेभिः स्वकीयैः पुरुषैः नः अस्माकं संज्ञानम् संगतं ज्ञानम् ऐकमत्यम् । भवत्विति शेषः । तथा अरणेभिः अरणैः अरमणैः अनु-

कूलम् अवदद्भिः । ॐ रणतिः शब्दार्थः ॐ । प्रतिकूलैः पुरुषैः ।  
यद्वा । ॐ अर्तेः अरणशब्दः ॐ । अरातिभिः सह संज्ञानम् समान-  
ज्ञानं भवतु । ॐ स्वेभिः अरणेभिः इत्युभयत्र “बहुलं द्यन्दसि”  
इति भिस ऐसोऽभावः । “बहुवचने भण्येत्” इति एत्वम् ॐ ।  
हे अश्विना अश्विनौ युवम् युवाम् इह अस्मिन् विषये इह इदानीं  
वा अस्मासु संज्ञानम् समानज्ञानं स्वीयैः परैश्च सह ऐकमत्यं नि-  
यच्छतम् नियमयतम् । स्थापयतम् इत्यर्थः ॥

अपने पुरुषोंमें हमारा एकमत होवे । और जो हमारे अनुकूल  
भाषण नहीं करते हैं, वे भी हमारे साथ अनुकूल मत रखें, हे  
अश्विनीकुमारो ! आप दोनों इस विषयमें अपने और पराये दोनों  
प्रकारके पुरुषोंके साथ एकमतको स्थापित करिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

सं जानामहै मनसा सं चिकित्वा मा युष्महि मनसा  
दैव्येन ।

मा घोषा उत् स्थुर्वहुले विनिर्हते मेपुः पसदिन्द्रस्याह-  
न्यागते ॥ २ ॥

सम् । जानामहै । मनसा । सम् । चिकित्वा । मा । युष्महि ।  
मनसा । दैव्येन ।

मा । घोषाः उत् । स्थुः । बहुले । विनिर्हते । मा । इपुः । पसत् ।  
इन्द्रस्य । अहनि । आगते ॥ २ ॥

मनसा अन्यदीयेन सं जानामहै समानज्ञाना भवाम । यद्वा  
मनः कर्म । परकीयं मनः संयोजयामः । यथा अस्मद्विषयेऽनुकूलं  
भवति तथा कुर्म इत्यर्थः । ॐ “संप्रतिभ्याम् अनाध्याने” इति



जानातेरात्मनेपदम् । “संज्ञोन्यतरस्यां कर्मणि” इति मनसस्तृ-  
 तीया ॐ । चिकित्वा ज्ञात्वा । सम् । उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्या-  
 हारः । संगतकार्यकारिणो भवाम् । यद्वा पूर्वं मनसा संगतिरुक्ता ।  
 इदानीं निश्चयात्मकज्ञानेन संगतिः प्रार्थ्यते । चिकित्वा चिकि-  
 त्वना । ज्ञानेनेत्यर्थः । सं जानामहे इत्यनुपङ्गः । स्वेषां परेषां च  
 मनसा ज्ञानेन च संगता भवामेत्यर्थः । ॐ चिकित्वेति । कित ज्ञानं ।  
 “समानकर्तृकयोः पूर्वकाले” इति क्त्वाप्रत्ययः । आन्दसं द्विर्वच-  
 नम् । “एकाचः ०” इति इणनिषेधः । यद्वा “अन्येभ्योपि दृश्य-  
 न्ते” इति व्रनिपि पूर्ववद् द्विर्वचनम् । तृतीयाया इादेशः ॐ ।  
 किं च देव्येन देवसंबन्धिना देवताविषयेण ॐ “देवाद् यवर्जा”  
 इति यच् प्रत्ययः ॐ । तादृशेन मनसा मा युष्महि मा त्रियुक्ता  
 भुम् । प्रतिकूलजनितविशेषपराहित्येन स्वकीयं मनः सर्वदा देवता-  
 विषयं भवत्वित्यर्थः । ॐ यु मिश्रणामिश्रणयोः । “माङि लुङ्” ।  
 सिच् । “संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः” इति गुणाभावः ॐ । अपि  
 च बहुले अधिके विनिहते । ॐ ह् कौटिल्ये । “हु हरेदङ्गन्तसि”  
 इति निष्ठायां ह् इत्यादेशः ॐ । कौटिल्ये निमित्ते घोषाः वैमन-  
 स्यनिबन्धनाः शब्दाः मा उत्स्थुः उच्यता मा भूवन् । यद्वा बहु-  
 लशब्देन तमो विवक्ष्यते । विनिहते विशेषेण स्तैन्यादिकौटिल्य-  
 निमित्ते बहुले तमसि । रात्रावित्यर्थः । घोषाः वैमनस्यनिबन्धनाः  
 शब्दा उच्यता मा भूवन् । ॐ उत्पूर्वात् तिष्ठतेः “माङि लुङ्” ।  
 वचनस्य ऊर्ध्वकर्मत्वं विवक्षित्वा आत्मनेपदाभावः ॐ । तथा  
 अहनि अहि वासरे आगते च इन्द्रस्य इषुः । ऐन्द्रया वाचः  
 शत्रुनिवारकत्वाद् इषुत्वेन रूपणम् । “वाग् अस्यैन्द्री सपन्नक्षयणी”  
 इति तैत्तिरीयश्रुतेः [ तै० सं० १. ६. २. २ ] । यद्वा इन्द्रस्य इषुः  
 अज्ञानिः अज्ञानिरूपा मर्मभेदिनी परकीया वाक् मा पतन् अस्मात्  
 मा पततु । अहोरात्रोपलक्षितेषु सर्वेषु दिवसेष्वपि वैमनस्यनिबन्ध-

न्यनाः परेषां वाचः अस्मासु मा पतन्तु किं तु अनुकूला एव  
भवन्तु इत्यर्थः ॥

हम अपने मनसे दूसरेके मनको संयुक्त करें अर्थात् उमका  
मन जिस प्रकार हमारे विषयमें अनुकूल होवे, वैसा करते हैं ।  
किसी बातको जानने पर हम मिलकर कार्य करने वाले होवें  
और देवसंबन्धी मनसे हम वियुक्त न होवें, अर्थात् प्रतिकूल  
विषयसे उत्पन्न हुए विक्षेपकी शून्यताके कारण हमारा मन सदा  
देवताओंके विषयमें रमण करता रहे । और बड़ीभारी कुटिलता  
के कारण मनको उच्चाटित करने वाले घोष न होवें दिन आदि  
के आने पर इन्द्रकी अशनिरूपा बाणी हम पर न गिरे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अमुत्रभूयादधि यद् यमस्य बृहस्पतेरभिः शस्तेरमुञ्चः ।  
प्रत्यौहता अश्विनां मृत्युमस्मद् देवानां मग्ने भिपजां  
शचीभिः ॥ १ ॥

अमुत्रभूयात् । अधि । यद् । यमस्य । बृहस्पतेः । अभिशस्तेः ।  
अमुञ्चः । -

प्रति । औहताम् । अश्विनां । मृत्युम् । अस्मत् । देवानाम् ।  
अग्ने । भिपजां । शचीभिः ॥ १ ॥

हे बृहस्पतेः । ॐ संबुद्धौ सोलोपाभावख्यानन्दसः ॐ । बृहतां  
महतां देवानां पते इविःप्रदानेन पालयितरग्ने अमुत्रभूयात् परलोके  
भवनम् अमुत्रभूयम् । ॐ “भुवो भावे” इति भावे ववप् मत्थयः ॐ ।  
परलोकभवनरूपाद् यमस्य पितृपतेः संबन्धिनः अभिशस्तेः अभि-  
शंसनाद् मरणहेतोः यत् यस्मात् अमुञ्चः मोचयसि इमं माणवकम्

इति शेषः । अधिशब्दः अनर्थकः । यद्वा । ॐ अमुप्रभूयाद्  
इति ल्यब्लोपे पञ्चमी ॐ । परलोकभवनम् अभिलक्ष्य क्रियमा-  
णाद् यमकर्तृकाद् अभिशंसनाद् भोचयसि तस्मात् कारणात् हे  
अग्ने त्वयि एवंकुर्वाणे त्वत्प्रसादादेव देवानां भिषजा भिषजो वैद्यौ  
अश्विना अश्विनौ शचीभिः क्रियाभिः अस्मत् अस्मत्तः अस्म-  
दीयात् । माणवकाद् इत्यर्थः । मृत्युम् मरणकारणं प्रत्यौहताम् ।  
निवारयताम् इत्यर्थः । ॐ अमुञ्चः औहताम् इत्युभयत्र आन्दसो  
लङ् ॐ ॥

हे इति प्रदान करके बड़े २ देवताओंका पालन करनेवाले अग्ने !  
आप परलोकभवनरूप यमके सम्बन्धी मरणहेतुक अभिशंसनसे  
इस बालकको बचा सकते हैं, इस कारण हे अग्ने ! आपके  
प्रसादसे देवताओंके वैद्य अश्विनीकुमार क्रियाओंके द्वारा इस  
बालकसे मृत्युके कारणोंको दूर करें ॥ १ ॥

चतुर्थी ॥

सं क्रामतं मा जहीतं शरीरं प्राणापानौ ते सयुजा-  
विह स्ताम् ।

शतं जीव शरदो वर्धमानोऽग्निं गोपा अधिपा वसिष्ठः २  
सम् । क्रामतम् । मा । जहीतम् । शरीरम् । प्राणापानौ । ते ।

सयुजौ । इह । स्ताम् ।

शतम् । जीव । शरदः । वर्धमानः । अग्निः । ते । गोपाः । अधिपाः ।

वसिष्ठः ॥ २ ॥

हे प्राणापानौ सं क्रामतम् आयुष्कामस्य शरीरे संक्रान्तौ भव-  
तम् । तथा शरीरम् आयुष्कामस्य देहं मा जहीतम् मा त्यजतम् ।

सर्वदा शरीरे तिष्ठतम् इत्यर्थः । ❀ ओहाक् त्यागे । लोटि “ईह-  
न्यघोः” इति ईत्वम् ❀ ॥ प्राणापानी संबोध्य तयोः शरीरेऽवस्थानं  
संमार्थ्य आयुष्कामं प्रत्याह उत्तरेण पादत्रयेण । हे आयुष्काम ते  
तव इह अस्मिन् शरीरे प्राणापानौ प्राणित्तीति प्राणः नासिका-  
विवराद् बहिर्निर्गच्छन् वायुः । अपानित्तीति अपानः हृदयस्य  
अधोभागे संवर्गन् वायुः । तौ संयुजौ संयुक्तौ परस्परसंयुक्तौ  
स्ताम् भवताम् । यावन्तं कालं प्राणापानौ परस्परसंबद्धौ देहे वर्तते  
तावन्तम् आयुर्भवतीति तयोः साहित्यं प्रार्थितम् । अनन्तरम् हे  
आयुष्काम शतं शरदः शतवर्षपर्यन्तं जीव प्राणान् धारय । तथा  
जीवतस्ते तव वर्धमानः हविरादिना समृद्धिं गच्छन् अग्निः गोपाः  
गोपायिता भवतु । ❀ गुप् रक्षणे । विवपि “गुप्धूपविच्छि०”  
इति आयप्रत्ययः । “लोपो व्योर्लि” इति यकारलोपः ❀ ।  
अधिपाः अधिकं पाता मदीयोयम् इति आदरातिशयेन अग्निः पाल-  
यिता भवतु । वसिष्ठः वासयितृमश्वास्तु वसुमत्तमो वा भवतु ।  
❀ वासयितृशब्दाद् इष्टनि “तुरिष्टेमेयःसु” इति ट्चो लोपः ।  
वसुमच्छब्दाद् इष्टनि मतोलुकि टेलोपः ❀ ॥

हे प्राण और आपनों ! तुम इस आयुष्कामके शरीरमें संलग्न  
रहो, हे आयुष्काम ! तेरे शरीरमें नासिका विवरमेंसे बाहर निक-  
लने वाला प्राण और हृदयके अधोभागमें चलने वाला अपान  
ये दोनों संयुक्त रहें । हे माणवक ! फिर तू सौ वर्ष तक जीवन  
धारण कर । और तुझ जीवितसे हवि आदिके द्वारा बढ़ते हुए  
अग्निदेव तेरी रक्षा करें । और परमधनी अग्निदेव तेरे ऊपर  
पक्षपात कर तेरी दृढ़तासे रक्षा करने वाले हो जावें ॥ २ ॥

पञ्चमी ॥

आयुर्यत् ते अतिहितं पराचैरपानः प्राणः पुनरा तावि-  
ताम् ।

अग्निष्टदाहार्निर्ऋतेरुपस्थात् तदात्मनि पुनरावेश-  
यामि ते ॥ ३ ॥

आयुः । यत् । ते । अतिऽहितम् । पराचैः । अपानः । प्राणः ।  
पुनः । आ । तौ । इताम् ।

अग्निः । तत् । आ । अहाः । निऽऽऋतेः । उपऽस्थात् । तत् ।  
आत्मनि । पुनः । आ । वेशयामि । ते ॥ ३ ॥

हे आयुष्काम ते तव यद् आयुः जीवनं पराचैः पराङ्मुखम्  
अतिहितम् अतिक्रम्य गतम् । ❀ हि गतौ इत्यस्माद् निष्ठायां  
रूपं हितम् इति ❀ । यद्वा अतिहितम् अतिक्रम्य अन्यत्र निहि-  
तम् । मृत्युनेति शेषः । ❀ “दधातेहिः” इति निष्ठायां हिभावः ❀ ।  
तद् आयुरिति उत्तरवाक्येन संबन्धः । आयुषः प्राणापानागमन-  
निमित्तत्वाद् वाक्यमध्ये तयोरागमनं प्रार्थयते प्राणोपान इति । तौ  
वायू देहधारकौ पुनः एताम् आगच्छताम् । ❀ इण् गतौ । लोटि  
प्रथमपुरुषद्विवचने रूपम् ❀ । तद् आयुः अतिहितं जीवनम् अग्निः  
निर्ऋतेः निकृष्टगमनस्य मृत्योः उपस्थात् अन्तिकाद् आहाः आहा-  
पीत् आहरतु आनयतु । ❀ इतरखान्दसो लुङ् । सिचि वृद्धिः ।  
“अनित्यम् आगमशासनम्” इति इडभावः । “भूलो भूलि”  
इति सिचो लोपः । “हल्ङ्या०” इत्यादिना तिपो लोपः ❀ ।  
तद् अग्निना आनीतम् आयुः हे आयुष्काम ते तव आत्मनि  
शरीरे पुनः आवेशयामि मन्त्रसामर्थ्येन आस्थापयामि । ❀ विश  
प्रवेशने ❀ ॥

हे आयुष्काम । तेरा जो जीवन पराङ्मुख होकरके मृत्युके  
द्वारा अन्तर्हित होने वाला था, उसको प्राण और अपान फिर

मास करावें और उस आयुको निकुष्ट गति वाली मृत्युके पाससे अग्निदेव ले आवें । हे आयुष्काम ! उस अग्निसे लाई हुई तेरी आयुको मैं मन्त्रशक्तिसे पुनः स्थापित करता हूँ ॥ ३ ॥

पृष्ठी ॥

मेमं प्राणो हासीन्मो अपानोवहाय परां गात् ।

सप्तर्षिभ्य एनं परिददामि ते एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु ४

मा । इमम् । प्राणः । हासीत् । मो इति । अपानः । अवहाय ।

परां । गात् ।

सप्तर्षिभ्यः । एनम् । परि । ददामि । ते । एनम् । स्वस्ति । जरसे ।

वहन्तु ॥ ४ ॥

इमम् आयुष्कामं प्राणः मा हासीत् मा त्यजतु । ॐ ओहाक् त्यागे । लुङि रूपम् ॐ । अपानः अवहाय अस्माच्छरीराद् निष्क्रम्य परित्यज्य वा मा परा गात् मैव परागच्छतु । ॐ अवहायेति । निहीतेर्जहातेर्वा न्यपि रूपम् ॐ । सप्तर्षिभ्यः । ऋषिशब्देन प्राणा उच्यन्ते । “के त ऋषय इति । प्राणा वा ऋषयः” इति वाजसनेयश्रुतेः [ श० ब्रा० ६. १. १. १ ] । सप्तसंख्याकेभ्यः प्राणेभ्यः । “सप्त वै शीर्षयाः प्राणाः” इति [ तै० ब्रा० १. २. ३. ३ ] श्रुतेः । तेभ्यः एनम् आयुष्कामम् । ॐ “इदमोन्वादेशो” एनादेशः ॐ । परि ददामि । रत्तार्थं दानं परिदानम् । रत्तितुं प्रयच्छामि । अथ ते सप्त प्राणा एनम् आयुष्कामं जरसे । ॐ तादर्थ्ये चतुर्थी ॐ । जरार्थं स्वस्ति क्षेमेण वहन्तु प्रापयन्तु । जरापर्यन्तं स्थापयन्तु इत्यर्थः । ॐ जराया जरस् आदेशः ॐ । अत्र प्राणापानयोः शरीरे चिरकालम् अवस्थानं सर्वेन्द्रियाणां च प्राचन्यं बहुकालं प्रायितम् ॥

इस आयुष्कामको प्राण न त्यागे और अपान भी इसके शरीरको त्याग कर न जाने, मैं इस आयुष्कामको सप्त प्राणरूप ‡ सप्तपियोंके लिये रक्षा करनेके लिये समर्पित करता हूँ वे इसको बुढ़ापे तक कल्याणको प्राप्त करावें । ( यहाँ प्राण और अपानके शरीरमें चिरकाल तक रहनेकी और सब इन्द्रियोंकी बहुत समय तक प्रबलताकी प्रार्थना की है ) ॥ ४ ॥

सप्तमी ॥

प्र विंशतं प्राणापानावनद्वाहांविव व्रजम् ।

अयं जरिष्णः शोवधिरिष्ट इह वर्धताम् ॥ ५ ॥

म । विंशतम् । प्राणापानौ । अनद्वाहौऽइव । व्रजम् ।

अयम् । जरिष्णः । शोवधिः । अरिष्टः । इह । वर्धताम् ॥ ५ ॥

आयुषः प्राणापानास्याननिबन्धनत्वात् पुनःपुनः प्राणापानयोः शरीरे प्रवेशः प्रार्थ्यते । हे प्राणापानौ प्रविशतम् आयुष्कामस्य शरीरम् । प्रवेशमात्रे ह्यन्तः । अनद्वाहौ अनौबहनशक्तौ बलीवर्दी यथा व्रजम् गच्छं प्रविशतः तद्वत् । [ अयम् ] आयुष्कामः जरिष्णः जरायाः शोवधिः निधिर्भवतु । ॐ शोवं सुखं धीयतेऽर्नेति “कर्मण्यधिकरणे च” इति धोः किप्रत्ययः ॐ । किं

‡ यहाँ ऋपि शब्दसे प्राणोंका ग्रहण किया गया है, क्योंकि- शतपथब्राह्मण ६ । १ । १ । १ श्रुतिमें कहा है, कि-‘के त ऋपय इति । प्राणा वा ऋपयः ।-वे ऋपि कौनसे हैं, प्राण ही वे ऋपि हैं । और तैत्तिरीयब्राह्मण १ । २ । ३ । ३ की श्रुतिमें कहा है, कि-‘सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः ।-सात मुख्य प्राण हैं’ ।

च अरिष्टः अहिंसितः मृत्युवाधारहितः सर्वेन्द्रियैरहीनो वा इह अस्मिन् लोके वर्धताम् समृद्धो भवतु ॥

( आयु प्राण और अपानके अवस्थानके निमित्तवश ही रह सकती है, अत एव प्राण और अपानके शरीरमें प्रवेश करनेकी बारम्बार प्रार्थना की जाती है ) हे प्राण और अपान ! जैसे गाड़ीको खँचने वालेवैल गोठमें प्रवेश करते हैं, तिसी प्रकार तुम आयु चाहने वालेके शरीरमें प्रवेश करो । यह आयुष्काम बुढ़ापे की निधि हो अर्थात् बुढ़ापे तक रहे । और यह मृत्युकी बाधासे रहित रह कर इस लोकोमें समृद्ध होवे ॥ ५ ॥

अष्टमी ॥

आ ते प्राणं सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते ।

आयुर्नो विश्वतो दधद्यमग्निर्वरेण्यः ॥ ६ ॥

आ । ते । प्राणम् । सुवामसि । परा । यक्ष्मम् । सुवामि । ते ।

आयुः । नः । विश्वतः । दधत् । अयम् । अग्निः । वरेण्यः ॥ ६ ॥

हे आयुष्काम ते तव प्राणम् आ सुवामसि आगमयामः ।  
 ☉ पू प्रेरणे । नीदादिकः । “इदन्तो मसिः” ☉ ॥ तथा ते तव यक्ष्मम् आयुःप्रतिबन्धकं रोगं मृत्युं वा परा सुवामि पराङ्मुखं प्रेरयामि ॥ किं च वरेण्यः वरणीयः संभजनीयः अयं हूयमानः अग्निः नः अस्मदीयस्य आयुष्कामस्य आयुः शतसंवत्सरपरिमितं जीवनं विश्वतः सर्वतः दधत् विदधातु । करोस्वित्स्वत्यर्थः ।  
 ☉ दधातेलेटि “घोलोपो लेटि वा” इति लोपः । “लेटोडाटौ” इति अडागमः ॥

हे आयुष्काम ! हम तेरे प्राणोंको लाते हैं तथा तेरी आयुके प्रतिबन्धक यक्ष्मारोगको पराङ्मुख करके भेजते हैं और यह



आहूयमानं वरणीयं अग्निदेव हमारं इत्तं आयुष्कामकीं सब प्रकार  
सौ वर्ष तककी आयु करें ॥ ६ ॥

नवमी ॥

उद् वयं तमसपरि रोहन्तो नाकमुत्तमम् ।

देवं देवत्रा सूर्यभगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ ७ ॥

उत् । वयम् । तमसः । परि । रोहन्तः । नाकम् । उत्तमम् ।

देवम् । देवत्रा । सूर्यम् । भगन्म । ज्योतिः । उत्तमम् ॥ ७ ॥

तमसः । “पाप्मा वै तमः” इति हि श्रुतिः [ तै० सं० ५. १. ८. ६ ] । पाप्मनः परि उपरि वयम् उत्क्रान्ताः । ॐ उदुपसर्गः ससाधनाक्रियाम् आह । “पञ्चम्याः परावध्यर्थे” इति सकारः ॐ । किं कुर्वन्तः । उत्तमम् उत्कृष्टं नाकम् दुःखसंस्पर्शरहितं स्वर्गं रोहन्तः आरोहन्तः । ततश्च देवत्रा देवेषु । ॐ “देवमनुष्य०” इति सप्तम्यर्थे त्रा प्रत्ययः ॐ । उत्तमम् उद्गततमं ज्योतिः ज्योतिरूपं द्योतमानं सूर्यं देवम् अगन्म गच्छेम । ॐ गमेर्लुङि “मन्त्रे घस०” इति च्लेर्लुक् । “भ्वोरच” इति मकारस्य नकारः ॐ ॥

हम स्वर्गमें चढ़ते हुए पापके पार होगए हैं, और हम देव-  
ताओंमें उत्तम ज्योतिःस्वरूप सूर्यदेवको प्राप्त हो रहे हैं ॥ ७ ॥

दशमी ॥

ऋचं सामं यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते ।

एते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु यच्छतः ॥ १ ॥

ऋचम् । सामं । यजामहे । याभ्याम् । कर्माणि । कुर्वते ।

एते इति । सदसि । राजतः । यज्ञम् । देवेषु । यच्छतः ॥ १ ॥

ऋचम् ऋग्वेदं साम सामवेदम् अधीतं यजामहे हविषा पूज-  
यामः । याभ्याम् ऋक्सामाभ्यां कर्माणि यज्ञरूपाणि कुर्वते ऋत्वि-  
ग्यजमानाः । एते ऋक्सामे सदसि सीदन्त्यत्रेति सदः एतन्नामके  
मण्डपे राजतः दीप्येते । ऋक्सामयोस्तत्रैव प्रयोगात् । तथा देवेषु  
यज्ञं यच्छतः प्रयच्छतः । स्तुतशस्त्राभ्यां यज्ञनिष्पत्तेः ॥

इति पञ्चमेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हम पठे हुए ऋग्वेद और यजुर्वेदकी हविसे पूजा करते हैं उन  
ऋक् और सामसे हम ऋत्विज और यजमान यज्ञरूप कर्मोंको  
करते हैं । ये ऋक् और साम सदःनामक मण्डपमें दमकते रहते  
हैं और यही देवताओंको यज्ञकी प्राप्ति कराते हैं ॥ १ ॥

पञ्चम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त ( १७१ ) ॥

अध्यापकानाम् अर्थार्जनविघ्नशमनार्थम् “ऋचं साम यद्वा अमा-  
क्षम्” इति ऋचा केवन्तया “ऋचं साम यजामहे” इति पूर्वमन्त्र-  
सहितया च आज्यं जुहुयात् । “ऋचं सामेत्यनुमवचनीयस्य  
जुहोति । युक्ताभ्यां तृतीयाम्” इति हि [ कौ० ५. ६ ] सूत्रितम् ॥

मार्गस्वस्त्ययनकर्मणि “ये ते पन्थानः” इत्येनाम् ऋचं जपन्  
प्रथमं दक्षिणपादप्रक्षेपपुरःसरं गच्छेत् ॥

तथा सर्वस्वस्त्ययनकर्मणि असंख्याताः शर्करास्त्वृणानि वा  
अनया अभिमन्त्र्य गृहक्षेत्रादिषु प्रक्षिपेद् इन्द्रम् उपतिष्ठेत् वा ॥

सूत्रितं हि । “स्वस्तिदाः [ १. २१ ] ये ते पन्थानः [ ७.  
५७. २ ] इत्यध्वानं दक्षिणेन प्रक्रामति । असंख्याताः शर्करा-  
स्त्वृणानि क्षिप्स्वोपतिष्ठेत्” इति [ कौ० ७. १ ] ॥

दृश्चिकमशकपिपीलि काशकोटकादिविषमैषज्यार्थं “तिरश्चि-  
राजेः” इत्यष्टर्चेन मधुकम् अभिमन्त्र्य दृश्चिकादिदण्डं पाययेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि क्षेत्रमृत्तिकां वल्मीकमृत्तिकां वा सजीव-  
पशुचर्मावेष्टिताम् अनेन अष्टर्चेन संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् ।  
केवलां मृत्तिकाम् अभिमन्त्र्य सदकेन पाययेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनेनैव उदपात्रं हरिद्रामिश्रम् आज्यं वा संपात्य अभिमन्त्र्य पाययेत् ॥

सूत्रितं हि । “तिरश्चिराजेरिति मन्त्रोक्तम् । आकृतिलोष्टवल्मीकौ परिवेष्टय । पायनानि” इति [ कौ० ४. ८ ] ॥

तथा उपाकर्मणि “अरसस्य शर्कोटस्य” इत्यनया आज्यं जुहुयात् । अरसस्य शर्कोटस्य [ ७. ५८. ५ ] इन्द्रस्य प्रथमो रथः” [ १०. ४ ] इति हि सूत्रितम् [ कौ० १४. ३ ] ॥

अध्यापकोंके अर्थाजनके विघ्नको शांत करनेके लिये “ऋचं सामयद् अप्राक्षम्” केवल इस ऋचासे और “ऋचं साम यजामहे” पूर्व ऋचा सहित ऋचासे भी घृतकी आहुति देय । इस विषयमें कौशिकसूत्र ५ । ६ का प्रमाण भी है, कि—“ऋचं सामेत्यनुमवचनीयस्य जुहोति । युक्ताभ्यां तृतीयाम्” ॥

मार्गस्वस्त्ययनकर्ममें ‘ये ते पन्थानः’ इस ऋचाका जप करता हुआ पहि दाहिने पैरको रख कर चले ।

तथा सर्वस्वस्त्ययनकर्ममें असंख्य धूलिकण और तिनकोंको इस ऋचासे अभिमन्त्रित करके घर क्षेत्र आदिमें पड़े । वा इन्द्र का उपस्थान करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—“स्वस्तिदाः ( १ । २१ ) ये ते पन्थानः ( ७ । ५७ । २ ) इत्यध्वानं दक्षिणेन प्रक्रामति । असंख्याताः शर्करास्तृणानि क्षिप्तवोपतिष्ठते” ( कौशिकसूत्र ७ । १ ) ॥

बीछू मच्छर चीटीं शर्कोटक आदिके विषकी चिकित्साके लिये “तिरश्चः तिराजेः” इस अष्टर्चसे मधुशको अभिमन्त्रित करके बीछू आदिके काटे हुएको पिला देवे ॥

तथा तहाँ ही कर्ममें खेतकी मट्टीको वा चमईकी मट्टीको सजीव पशुके चाममें लपेट कर इस अष्टर्चसे सम्पातन और अभिमन्त्रण करके बाँधे, केवल मट्टीको अभिमन्त्रित करके जलके साथ पिलादेय

तथा इसी कर्ममें इससे जलपूर्ण पात्रका वा हन्दी मिले हुए  
घीका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके पिला देय ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—“तिरश्चिराजेति मन्त्रो-  
क्तम् । आकृतिलोष्ठवन्मीकौ परिवेष्ट्य । पायनानि” ( कौशिक-  
सूत्र ४ । ८ ) ॥

तथा उपाकर्ममें “अरसस्य शर्कोटस्य” ऋचासे घृतकी आहुति  
देय । इस विषयमें कौशिकसूत्र १४ । ३ का प्रमाण भी है, कि—  
“अरसस्य शर्कोटस्य” ( ७।५८।५ ) इन्द्रस्य प्रथमोरयः ( १०।४ ) ॥  
तत्र प्रथमा ॥

ऋचं साम यदप्राक्तं हविरोजो यजुर्वलम् ।

एष मा तस्मान्मा हिंसीद् वेदः पृष्टः शचीपते ॥ १ ॥

ऋचम् । साम । यत् । अप्राक्तम् । हविः । ओजः । यजुः । बलम् ।

एषः । मा । तस्मात् । मा । हिंसीत् । वेदः । पृष्टः । शचीपते ?

ऋचम् ऋग्वेदं हविः अप्राक्तम् पृच्छामि स्म । साम सामवेदम्  
ओजः । शरीरधारकोष्ठमो धातुरोज इत्युच्यते । तद् अप्राक्तम् ।  
यजुः यजुर्वेदं बलम् वाक् वीर्यम् अप्राक्तम् । ऋचा याज्यारूपया  
हविर्हूयत इति ऋग्वेदं प्रति हविःप्रश्नः । माध्यन्दिनसवने गीयमा-  
नानां पृष्टस्तोत्राणां यज्ञमाणत्वेन ताण्डकब्राह्मणे संस्तवात् सामवेदं  
प्रति आन्तरबलरूपौजःप्रश्नः । यजुषा यज्ञशरीरनिर्दृत्तेर्यजुर्वेदं  
प्रति बलप्रश्नः । ❀ “अकथितं च” इति ऋगादेः कर्मता ।  
अप्राक्तम् इति । पृच्छतेर्लुङि “एकाचः०” इति इणिनपेधे “वद-  
ब्रज०” इति हलन्तलक्षणा वृद्धिः ❀ । यच्छब्दो हेत्वर्थे । यत्  
यस्मात् ऋगादीन् प्रति हविरादिकम् अप्राक्तं तस्मात् कारणात्  
तत्तदसाधारणधर्मप्रश्नाद्धेतोः हे शचीपते इन्द्राणीपते इन्द्र ।

वाग्व्याकरणकर्तृत्वाद् इन्द्रः संबोध्यते । तथा च तैत्तिरीयकम् ।  
 “ताम् इन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् । तस्माद् इयं व्याकृता वाग्  
 उच्यते” इति [ तै० सं० ६, ४, ७, ३. ] । हे वागनुशासनकर्तः  
 इन्द्र पृष्ठः इत्थं विचारित एषः मया सम्यग् अधीतो वेदः ऋक्साम-  
 यजुरात्मकः मा माम् अध्यापकं मा हिंसीत् मा हिनस्तु । अध्या-  
 पननिबन्धनं प्रत्यवायं मा करोतु अपि तु फलम् अभिमतं प्रयच्छ-  
 त्वित्यर्थः ॥

मैंने ऋग्वेदसे हविको ब्रूभा है, सामवेदसे शरीरधारक अष्टम-  
 धातु ओजको ब्रूभा है और यजुर्वेदसे बलको ब्रूभा है ( ताण्डक-  
 ब्राह्मणमें माध्यन्दिनसवनमें गाये जाने वाले पृष्ठ और स्तोत्रोंको  
 यज्ञका प्राण कहा है अत एव सामवेदसे आन्तर बलरूप ओज  
 को ब्रूभा है और यजुर्वेदसे यज्ञशरीरकी निष्पत्ति होती है अत  
 एव यजुर्वेदसे बलके समझनेका वर्णन किया है ) क्योंकि-मैंने  
 ऋक् आदिसे हवि आदिको ब्रूभ लिया है इस तत्त्वसाधारण-  
 धर्मप्रश्नके कारण हे शचीपते इन्द्र ! + इस प्रकार पढ़ा हुआ  
 वेद मुझ अध्यापककी हिंसा न करे अर्थात् अध्यापनविषयक  
 प्रत्यवायको न करे किंतु अभिमत फलको देवे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

ये ते पन्थानो व दिवो येभिर्विश्वमैरयः ।

तेभिः सुमनया धेहि नो वसो ॥ २ ॥

+ वाणीके व्याकरणका कर्ता होनेसे यहाँ इन्द्रदेवको सम्बोधित  
 किया है । इसका प्रमाण तैत्तिरीयसंहिता ६ । ४ । ७ । ३ में  
 है, कि-“ताम् इन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् । तस्माद् इयं  
 व्याकृता वाग् उच्यते । इन्द्रने इसको मध्यसे पकड़ कर प्रकट किया,  
 इस लिये यह व्याकृत वाणी कहलाती है” ।

ये । ते ! पन्थानः । अव । दिवः । येभिः । विश्वम् । ऐरयः ।

तेभिः । सुन्नया । आ । धेहि । नः । वसो इति ॥ २ ॥

हे वसो वासयितः वसुमन् वसुमद वा इन्द्र ते ये तव पन्थानः मार्गादिवः द्युलोकस्य अव अवस्ताद् अघोदेशे वर्तन्ते येभिः पथिभिः विश्वम् जगद् ऐरयः प्रेरयसि स्वस्वकर्मसु । ॐ ईर गतौ । आन्दसो लब्ध् ॐ । तेभिः तैर्विश्वप्रेरणसाधनैर्मार्गैः नः अस्मान् सुन्नया । ॐ सप्तम्या याजादेशः ॐ । सुम्ने सुखे आ धेहि स्थापय ।

हे धनमद इन्द्र ! आपके जो मार्ग द्युलोकके अघोदेशमें हैं, कि-जिनसे आप जगत्को अपने २ कर्मोंमें प्रेरित करते रहते हैं, उन विश्वप्रेरणसाधनमार्गोंसे हमको सुखमें स्थापित करिये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

तिरश्चिराजेरसितात् पृदाकोः परिः संभृतम् ।

तत् कङ्कपर्वणो विपमियं वीरुदनीनशत् ॥ १ ॥

तिरश्चिराजेः । असितात् । पृदाकोः । परिः । समुऽभृतम् ।

तत् । कङ्कपर्वणः । विपम् । इयम् । वीरुत् । अनीनशत् ॥ १ ॥

तिरश्चिराजेः तिरश्च्यः तिर्यग्भृता राजयो रेखा यस्य स तिरश्चिराजिः सर्पविशेषः । ॐ तिरश्चान्दोपपदाद् अश्वतेः विवन्नन्ताद् “अश्वतेशोपसंख्यानम्” इति ङीप् “अचः” इति अकारलोपः । पुंवद्भावाभावश्चान्दमः । “ङ्यापोः संज्ञाच्चन्दसोर्वहुलम्” इति ङीपो ह्रस्वत्वम् ॐ । तिरश्चीननानारेखोपेतात् सर्पविशेषात् असितात् सितः श्वेतः न सितः असितः तस्मात् कालोरगात् पृदाकोः । ॐ पर्द-कुत्सिने शब्दे । “पर्देः संप्रसारणं च” इति [ उ० ३.८० ] आकुप्त्ययः । तत्संनियोगेन संप्रसारणम् ॐ । पर्दयति कुत्सित

शब्दयति स्वेन दृष्टान् प्राणिन इति पृदाकुः सर्पविशेषः । तस्मात् ।  
 ❀ परिः पञ्चम्यर्वाज्जुवादी ❀ । तिरश्चिराजिप्रभृतेः सर्पविशेषात्  
 सभृतम् संपादितं विषम् । तथा कङ्कपर्वणः एतन्नामकाद् दंशक-  
 विशेषात् सभृतं तद् विषम् इयं प्रयुज्यमाना वीरुत् विशेषेण  
 रोहन्ती मधुकाख्या ओषधिः अनीनशत् नाशयतु ॥

जिसमें तिरछी रेखायें पड़ी हुई हैं, ऐसे सर्पसे, काले सर्पसे,  
 अपने काटे हुए प्राणीको पढ़ाने वाले पृदाकु सर्पसे भरे हुए विष  
 को और कंकपर्व नामक काटने वाले प्राणीसे भरे हुए विषको  
 यह मधुक नाम वाली औषधि नष्ट करे ॥ १ ॥

चतुर्थी ॥

इयं वीरुन्मधुजाता मधुश्चुन्मधुला मधूः ।

सा विहृतस्य भेषज्यथो मशकजम्भनी ॥ २ ॥

इयम् । वीरुत् । मधुऽजाता । मधुऽश्रुत् । मधुला । मधूः ।

सा । विहृतस्य । भेषजी । अथो इति । मशकऽजम्भनी ॥ २ ॥

इयं प्रयुज्यमाना वीरुत् ओषधिः मधुजाता मधुनो निष्पन्ना  
 अत एव मधुश्च्युत् मधुरं रसं श्रियोतति क्षरतीति मधुश्च्युत् मधुर-  
 रसस्त्राविणी मधुला मधुमती । ❀ “सिध्मादिभ्यश्च” इति लो  
 मत्वर्थीयः ❀ । मधूः नामतः । सा एतत्संज्ञा उक्तविषगुणोपेता मधु-  
 काख्या ओषधिः विहृतस्य विशेषेण कौटिल्यकारिणो विषस्य  
 भेषजी प्रतिकर्त्री । ❀ हू कौटिल्ये । “हू हरेश्छन्दसि” इति  
 निष्ठायां हू इत्यादेशः ❀ । अथो अपि च मशकजम्भनी । ❀ जम्भ-  
 तिर्हिसाकर्मा ❀ । मशकानां दंशकानां हिंसित्री ॥

यह प्रयोगकी जाती हुई औषधि मधुसे निष्पन्न हुई है अत  
 एव मधुर रसको बढ़ाती है, मधुमयी है, और मधु नाम वाली है

और यह औपधि कुटिलता करने वाले विषकी औपधि है तथा काटने वाले प्राणियोंका हिंसन करने वाली है ॥ २ ॥

पञ्चमी ॥

यतो॑ दृष्टं॑ यतो॑ धीतं॑ ततस्ते॑ निर्हयामसि ।

अ॒र्भस्य॑ तृ॒प्रदं॑शि॒नो म॒शक॑स्यार॒सं वि॒षम् ॥ ३ ॥

यतः॑ । दृष्टम् । यतः॑ । धीतम् । ततः॑ । ते । नि । हयामसि ।

अ॒र्भस्य॑ । तृ॒प्रदं॑शि॒नः । म॒शक॑स्य । अ॒रसम् । वि॒षम् ॥ ३ ॥

विषदष्टं संबोध्य उच्यते । यतः । ॐ सप्तम्यर्थे तसिः ॐ । यस्मिन् प्रदेशे दष्टम् । सर्पादिनेति शेषः । ॐ भावे निष्ठा ॐ । तथा यतः यस्मिन् प्रदेशे धीतम् पीतं सर्पादिना । ॐ धेत् पाने । भावे निष्ठा । “धुमास्था०” इति ईत्वम् ॐ । हे सर्पदष्ट पुरुष ते तव ततः तस्माद् अवयवाद् निर्हयामसि विषं निर्गमयामः । ॐ अय वय पय मय चय तय गर्ता । अन्तर्भावितएयर्थः । तथा त्रिप्रदंशिनः त्रिभिर्मुखपुच्छपादरूपैरद्वैः प्रकर्षेण दशतीति त्रिप्रदंशी । ॐ “बहुलम् आभीक्ष्ण्ये” इति दंशेर्लिनिः ॐ मुखपुच्छाभ्यां पादेन च दष्टवतः अर्भस्य अर्भकस्य अल्पस्य अल्पसामर्थ्यस्य वा मशकस्य विषम् अरसम् निर्वीर्यम् ।

शृङ्गारादौ रसे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः ।

इति वचनाद् रसशब्दो वीर्यवाची । निर्वीर्यं निर्हयामसीति संबन्धः । विषं मूर्च्छनादिविकारानुत्पादकं कुर्म इत्यर्थः ॥

( हे विषदष्ट ) तेरे जिस अंगमें सर्प आदिने काट लिया है तथा जिस देशमें सर्प आदिने पीलिया है, हे सर्पदष्ट पुरुष ! तेरे उस अंगसे हम विषको निकालते हैं, तथा मुख पूँछ और पैर इन तीन अंगोंसे काटने वाले त्रिप्रदंशी अल्पवीर्य मच्छरके विष



को हम निर्वाय करते हैं अर्थात् उसके विषको मूर्च्छा आदि विकारोंको न कर सकने वाला, करते हैं ॥ ३ ॥

षष्ठी ॥

अयं यो वक्रो विपरुष्यङ्गो मुखानि वक्रा वृजिना कृणोपि  
तानि त्वं ब्रह्मणस्पत इषीकामिव सं नमः ॥ ४ ॥

अयम् । यः । वक्रः । विपरुः । विअङ्गः । मुखानि । वक्रा ।  
वृजिना । कृणोपि ।

तानि । त्वम् । ब्रह्मणः । पते । इषीकाम् इव । सम् । नमः ४

योयं सर्पादिना दष्टः पुरुषः वक्रः कुटिलावयवः संकोचितावयवः  
विपरुः । परुः पर्वः । विश्लिष्टपर्वा विगतसंधि व्यङ्गः विवशाव-  
यवः । एवंभूतः सन् मुखानि । आदिशब्दाध्याहारः । मुखादीनि  
अङ्गानि । मुखगतावयवापेक्षया वा बहुवचनम् । वक्रा वक्राणि  
कुटिलानि अतएव वृजिना वृजिनानि कृणानि अनवस्थितानि ।  
अङ्गानां यथासंनिवेशम् अनवस्थानाद् वृजिनत्वम् । तथाविधानि  
कृणोपि । ॐ पुरुषव्यत्ययः ॐ । कृणोति करोति हे ब्रह्मणस्पते  
ब्रह्मणो मन्त्रस्य पालक विपनिर्हरणमन्त्रसामर्थ्यभेद एतन्नामक देव  
त्वं तानि दष्टपुरुषसंबन्धीनि वक्रत्वाद्यवस्थापन्नानि अङ्गानि सं  
नमः संनमय ऋजूकुरु । तत्र दृष्टान्तः इषीकामिवेति । यथा इषी-  
काम् पूर्वम् ऋजुं दीर्घां बलात् कौटिल्यं प्रापितां पश्चात् कौटिल्य-  
परिहारेण सहजम् आर्जवं प्रापयन्ति तद्वत् । एनं सर्पादिविषेण  
कौटिल्यं गतं विपनिर्हरणेन यथावस्थितम् ऋजुं कुर्वित्यर्थः । ॐ नमः  
अन्तर्णीतस्यार्थात् पञ्चमलकारे अडागमः ॐ ॥

यह जो पुरुष सर्प आदिके काटनेसे अपने अंगोंको सकोड़ रहा

है और इसके जोड़ ढीले पड़ रहे हैं और यह जो मुख आदि अंगों को कुटिल और अनवस्थित कर रहा है । हे विपको दूर करनेकी मन्त्रशक्तिको देने वाले ब्रह्मणस्पते देव ! आप ठसे हुए पुरुषके टेढ़े हुए अंगोंको इस प्रकार सरल कर दीजिये, कि जिस प्रकार पहिले सीधी लम्बी सींकको बलपूर्वक नमा लेते हैं फिर उसको सीधी कर देते हैं, इसी प्रकार सर्प आदिके विपसे कुटिलताको माप्त हुए इसको विप हटा कर ऋजु ( सरल ) करिये ॥ ४ ॥  
सप्तमी ॥

अरसस्य शर्कोटस्य नीचीनस्योपसर्पतः ।

विपं ह्यस्यादिव्यथो एनमजीजभम् ॥ ५ ॥

अरसस्य । शर्कोटस्य । नीचीनस्य । उपसर्पतः ।

विपम् । हि । अस्य । आश्वादिपि । अथो इति । एनम् । अजीजभम् ५

अरसस्य निर्वीर्यस्य विपसामर्थ्यरहितस्य नीचीनस्य न्यग्भूतस्य अवात्मुखस्य उपसर्पतः सप्तमं गच्छतः अस्य शर्कोटस्य एतन्नामधेयस्य सर्पविशेषस्य विपम् अदिपि खण्डितवान् अस्मि । हिः अवधारणे । विपम् अनीनशमेव । ॐ दो । अयस्वएडने । अस्मात् लुङि व्यत्ययेन आत्मनेपदम् । “स्थाध्वोरिच्च” इति धातोः इस्वम् । सिचः कित्वम् ॐ ॥ अथो अपि च एनं विपिणं शर्कोटम् अजीजभम् अनीनशम् । शर्कोटनामकं सर्पं तद्विपं च मन्त्रसामर्थ्येन अहं प्रयोक्ता अहिसिपम् इत्यर्थः ॥

विपशक्तिविहीन नीचेको मुख करके सप्तमं चलते हुए इस शर्कोटक नामक सर्पके विपको मैंने नष्ट कर दिया है और इस विप वाले सर्पको भी मैंने नष्ट कर दिया है । तात्पर्य यह है, कि मुझ मन्त्रप्रयोक्ताने शर्कोटक नामक सर्पको और उसके विपको भी मन्त्रशक्तिसे नष्ट कर दिया है ॥ ५ ॥

अष्टमी ॥

न ते बाहोर्वलमस्ति न शीर्षे नोत मध्यतः ।

अथ किं पापयासुया पुच्छे विभर्षिर्भक्तम् ॥ ६ ॥

न । ते । बाहोः । बलम् । अस्ति । न । शीर्षे । न । उत । मध्यतः ।

अथ । किम् । पापया । असुया । पुच्छे । विभर्षि । भक्तम् ॥ ६ ॥

अत्र पुच्छेन दंशी वृश्चिकः संबोध्यते । हे वृश्चिक ते तव बाहोः हस्तयोः बलं परपीडाकारि सामर्थ्यं नास्ति । तथा शीर्षे शिरसि बलं नास्ति । उत अपि च मध्यतः । ❀ सप्तम्यर्थे तसिः ❀ । मध्ये मध्यावयवे बलं नास्ति । अथेति प्रश्ने । असुया अनया । ❀ अदःशब्दात् तृतीयैकवचने “अदसोसेर्दादु दो मः” इति उत्त्वमत्वे ❀ । पापया पापिष्ठया परपीडाकारिण्या बुद्ध्या भक्तम् । ❀ अर्तेः औणादिके भन्प्रत्यये अर्भः । सः अल्पार्थवाची । तस्माद् “अल्पे च” इति अल्पार्थे कन् प्रत्ययः ❀ । अत्यल्पं विषं पुच्छे किं विभर्षि किमर्थं धारयसि । बाह्यादिस्थानेषु विषं नास्ति । पुच्छेपि वर्तमानम् अत्यल्पमेव । तदपि परपीडायै बहसि । तेनापि परपीडा न भवतीत्यर्थः ॥

( अब पूँछसे ढसने वाले बिच्छूको सम्बोधित करके कहते हैं, कि—) हे वृश्चिक ! तेरी भुजाओंमें दूसरोंको पीड़ा पहुँचाने वाला बल नहीं है और तेरे शिर तथा मध्यमें भी दूसरोंको पीड़ा देने वाला बल नहीं है, फिर तू दूसरोंको कष्ट पहुँचाने वाली बुद्धिवश स्वल्पसे विषको पूँछमें क्या लिये फिरता है ? अर्थात् तू जिसको पीड़ा पहुँचानेके लिये पूँछमें लिये फिरता है उससे दूसरेको पीड़ा नहीं होसकती ॥ ६ ॥

नचमी ॥

अदन्ति त्वा पिपीलिका वि वृश्चन्ति मयूर्यः ।

सर्वे भल ब्रवाथ शार्कोटमरसं विषम् ॥ ७ ॥

अदन्ति । त्वा । पिपीलिकाः । वि । वृश्चन्ति । मयूर्यः ।

सर्वे । भल । ब्रवाथ । शार्कोटम् । अरसम् । विषम् ॥ ७ ॥

अत्र पूर्वार्धे सर्पः संबोध्यते । उत्तरार्धे विषनिर्हरणक्षमाः संबोध्यन्ते । हे सर्प त्वा त्वां पिपीलिका अदन्ति भक्षयन्ति । मयूर्यः मयूरस्त्रियः । ❀ “जातेरस्त्रीविषयाद् अयोपधात्” इति ङीप् ❀ । वि वृश्चन्ति विशेषेण छिन्दन्ति सर्पम् । ❀ ओग्रश्चू छेदने । “ग्रहि-ज्या०” इत्यादिना संसारणम् ❀ ॥ हे सर्वे सर्पविषनिर्हरण-क्षमा यूयं शार्कोटम् । शार्कोटो नाम सर्पविशेषः । तस्य संबन्धि । ❀ “तस्पेदम्” इति अण् ❀ । विषम् अरसम् निर्वीर्यं भलब्रवाथ साधु द्यूत । ❀ भल भल्ल परिभाषणहिसादानेषु । अस्मात् पचा-द्यचि भल इति भवति । स सान्त्वर्थवाची । क्रियाविशेषणम् एतत् । सह इति योगविभागात् । तिङन्तेन समासः । द्यूतेः पञ्चमलकारे “लेटोडाटी” इति आढागमः ❀ ॥

हे सर्प ! तुझको चीटियों खा डालती हैं और मोरनियों डुकड़े डुकड़े उड़ा देती हैं । हे सर्पविषको दूर करनेमें समर्थ औपधियों ! तुम शार्कोटकके विषको निर्वीर्य कहो ॥ ७ ॥

दशमी ॥

य उभाभ्यां प्रहरसि पुच्छेन चास्येन च ।

आस्येन न ते विषं किमु ते पुच्छधावंसत् ॥ ८ ॥

यः । उभाभ्याम् । प्रहरसि । पुच्छेन । च । आस्येन । च ।

आस्ये । न । ते । विषम् । किम् । ऊं इति । ते । पुच्छधौ । असत्

अत्र वृश्चिकः संबोध्यते । हे वृश्चिक यस्त्वं पुच्छेन आस्येन उभाभ्याम् । ॐ परस्परसमुच्चयार्थो चकारौ ॐ । ताभ्यां प्रहरसि अन्यान् बाधसे तथापि आस्पपुच्छयोर्मध्ये ते तत्र आस्येमुखे विषं न । अस्तीति शेषः । ते तत्र पुच्छधौ । पुच्छं धीयतेत्रेति पुच्छधिः । पुच्छशब्देन तद्वतरोमाणि विवक्ष्यन्ते । पुच्छधिशब्देन रोमवान् अवयवः । उशब्दः अप्यर्थे । तत्र पुच्छेपि किम् असत् विषं किं स्यात् । न भवेद् इत्यर्थः । अतो मुखपुच्छयोर्विवाभावाद् वृश्चिको न बाधत इत्यर्थः । ॐ अस्तेर्लेटि अडागमः ॐ ॥

[ इति ] पञ्चमेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे वृश्चिक ! तू पूँछ और मुख दोनोंसे प्रहार करता है तथापि मुख और पूँछ इन दोनोंमेंसे तेरे मुखमें विष नहीं है, फिर तेरी पूँछमें भी क्या थोड़ासा विष होगा ? ॥ ८ ॥

पञ्चम अनुवाकमे द्वितीय सूक्त समाप्त ( ३७३ ) ॥

याचकानाम् अभिलषितार्थप्राप्तये “यद् आशसा” इति द्वाभ्यां सरूपवत्साया गोर्दुग्धेन शृतं पायसं संपात्य अभिमन्त्र्य अश्नीयात् । “यं याचामि [ ५. ७. ५. ] यद् आशसा [ ७. ५६ ] इति याचिष्यन् मन्त्रोक्तानि” इति हि सूत्रितम् [ कौ० ५. १० ] ॥

उक्थ्यक्रतौ मैत्रावरुणयाज्याहोमानुमन्त्रणम् ‘इन्द्रावरुणा सुतपौ’ इत्यनया कुर्यात् । उक्तं वैताने । “एतेषां याज्याहोमान् इन्द्रावरुणा सुतपौ [ ७. ६० ] बृहस्पतिर्नः [ ७. ५३ ] उभा जिग्यधुः” [ ७. ४५ ] इति [ वै० ४. १ ] ॥

अभिचारकर्मणि “यो नः शपात्” इत्यनया अशनिहतवृत्त-समिध आदध्यात् ॥

याचकोंके अभिलषित अर्थकी प्राप्तिके लिये 'यद् आशसा' इन दोसे सरूपवत्सा गौके दूधमें बने पायसको सम्पादन और अभिमन्त्रण करके खावे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—“यं याचामि ( ५ । ७ । ५ ) यद् आशसा ( ७ । ५६ ) इति याचिष्यन् यन्त्रोक्तानि” ( कौशिकसूत्र ५ । १० ) ॥

‘इन्द्रावरुणा सुतपो’ इस ऋचासे उक्थ्यक्रतुमें मैत्रावरुणयाज्या-होमका अनुमन्त्रण करे ॥ इस विषयमें वैतानसूत्रका प्रमाण भी है, कि—“एतेषां याज्याहोमान् इन्द्रावरुणा सुतपो ( ७ । ६० ) बृहस्पतिर्नः ( ७ । ५३ ) उभा जिग्यथुः ( ७ । ४५ ) इति ( वैतान-सूत्र ४ । १ ) ॥

अभिचारकर्ममें “यो नः शपात्” इस ऋचासे अशनिसे मारे हुए वृक्षकी समिधाओंको रक्खे ॥

तत्र प्रथमा ॥

यदाशसा वदतो मे विचुक्षुभे यद् याचमानस्य चरतो  
जनाँ अनु ।

यदात्मनि तन्वो मे विरिष्टं सरस्वती तदा पृणद् घृतेन  
यद् आशसा । वदतः । मे । विचुक्षुभे । यद् याचमानस्य ।  
चरतः । जनान् । अनु ।

यद् आत्मनि । तन्वः । मे । विरिष्टम् । सरस्वती । तद् आ ।  
पृणत् । घृतेन ॥ १ ॥

वदतः याचितुं दातृन् व्यक्तं भाषमाणस्य मे मम यद् अङ्गम् आशसा । ॐ शसु हिंसायाम् । संपदादिस्तुतणो भावे विष्प ॐ । आशसनेन दातृभिः कुतेन याच्नाप्रतिधातेन भर्त्सनप्रहरणादिरूपेण

हिंसनेन वा विचुक्षुभे विशेषेण क्षुभितं याच्यमानवस्त्वलाभेन  
 विक्षिप्तम् आसीत् तथा याचमानस्य । ❀ “लक्ष्मणहेत्वोः क्रियायाः”  
 इति हेत्वर्थे शानच् प्रत्ययः ❀ । याचनाद्धेतोः जनान् दातुं अनु  
 अनुलक्ष्य । ❀ “अनुर्लक्षणे” इति [ अनुः ] कर्मप्रवचनीयः ❀ ।  
 वीप्सार्थे वा अनुः कर्मप्रवचनीयः । जनान्जनान् चरतः गच्छतः  
 परिभ्राम्यतो मम यद् अङ्गं विचुक्षुभे इष्टफलप्राप्त्यभावेन पर्या-  
 कुलम् आसीत् मे मम तन्वः शरीरस्य विरिष्टम् । ❀ रिपेर्हिंसा-  
 र्थान्निष्ठा ❀ । विशेषेण बाधितं क्षिप्तं तत् अङ्गम् आत्मानि मय्येव  
 क्षोभरहितं सरस्वती । स्थापयत्विति शेषः । यद्वा आत्मशब्दः स्व-  
 भाववाची । याञ्चायाः पूर्वं यथा क्षोभरहितं तथा स्वभावे स्था-  
 पयतु । न केवलं क्षोभराहित्यम् अपि तु सरस्वती वाग्देवता तद्  
 अङ्गं घृतेन घृतवत्सारभूतेन फलेन आपृणत् आपूरयतु । ❀ पृण  
 प्रीणने । लेटि आढागमः ❀ ॥

याचना करनेके लिये दाताओंसे स्पष्टतासे भाषण करने वाले  
 मेरा जो अंग याञ्चाके प्रतिघातसे वा भर्त्सन प्रहरण आदि हिंसा  
 से विक्षिप्त होरहा है अर्थात् प्रार्थित वस्तुके न मिलनेसे विक्षिप्त हो  
 गया है । और याचनाके कारण प्रत्येक मनुष्यके पास घूमतेहुए  
 मेरा जो अंग इष्ट वस्तुकी प्राप्तिके अभाववश व्याकुल होरहा है,  
 मेरे शरीरके उस विशेषरूपसे बाधित अंगको सरस्वती देवी  
 स्वाभाविक दशामें ही स्थापित करे । वह केवल क्षोभरहित ही न  
 करे, किंतु वाग्देवता सरस्वती उस अंगको घृतकी समान सार-  
 भूत फलसे पूर्ण करे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

सप्त क्षरन्ति शिशवे मरुत्वन्ते पित्रे पुत्रासो अप्यवी-  
 वृतन्नृत्तानि ।

उ॒मे इदं॑स्यो॒मे अ॒स्य राज॑त उ॒मे यंते॑ते उ॒मे अ॒स्य  
पु॒प्यतः॑ ॥ २ ॥

स॒प्त । क्ष॒रन्ति॑ । शि॒शवे॑ । म॒रुत्व॑ते । पि॒त्रे । पु॒त्रासः॑ । अ॒पि ।  
अ॒वी॒वृ॒तन् । अ॒तानि॑ ।

उ॒मे इति॑ । इत् । अ॒स्य । उ॒मे इति॑ । अ॒स्य । रा॒ज॒तः । उ॒मे इति॑ ।  
यंते॑ते इति॑ । उ॒मे इति॑ । अ॒स्य । पु॒प्यतः॑ ॥ २ ॥

मरुत्वने मरुद्भिर्युक्ताय शिशवे अपां पुत्रभूताय वरुणाय सप्त  
नद्यः क्षरन्ति स्रवन्ति । “सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिंघवः”  
इति हि दाशतय्याम् आम्नायते [ ऋ० ८, ६६, १२ ] । “अपां  
शिशुर्मावृतमास्वन्तः” इति मन्त्रान्तरम् [ तै० सं० १, ८, १२, १ ] ।  
यद्वा मरुत्वत्पदसामर्थ्याद् इन्द्र उच्यते । मरुत्वते मरुद्भिस्तद्वते  
शिशवे । ❀ शो तनूकरणे इत्यस्माद् उत्पन्नः शिशुशब्दः ❀ ।  
शत्रूणां शातयित्रे इन्द्राय । ❀ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ❀ । तस्माद्वा  
सप्त सर्पणशीलाः स्रवणशीलाः सप्तसंख्याका वा नद्यः क्षरन्ति  
प्रवहन्ति । तथा च दाशतय्यां नदीवाक्यत्वेन अयं मन्त्र आम्नायते ।

इन्द्रो अस्मो अरदद् वज्रवाहुरपाहन् वृत्रं परिधिं नदीनाम् ।

देवोनयत् सविता मुपाणिस्तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः ॥

इति [ ऋ० सं० ३, २३, ६ ] ॥ किं च पित्रे । पितृशब्देन  
द्युलोक उच्यते । “द्यौः पिता पृथिवी माता” इति [ तै० ब्रा०  
३, ७, ५, ५ ] मन्त्रवर्णात् । द्युलोकस्थिताय इन्द्राय इन्द्रप्रमुखाय  
देवगणाय वा । ❀ तात्स्थ्यात् ताच्छब्दम् ❀ । पुत्रासः ।  
❀ पुत्रः पुरु त्रायने इति निरुक्तम् [ नि० २, ११ ] ❀ । हविः-  
प्रदानादिना पोषकाः पुत्रभूता वा मनुष्याः । अपिशब्दः चार्थः ।



ऋतानि सत्यभूतानि यज्ञादिरूपाणि कर्माणि अवीवृतन् वर्तयन्ति  
 अनुतिष्ठन्ति । ❀ वर्ततेत्यन्तात् लुङि चङि “उऋत्” इति  
 ऋकारादेशः ❀ ॥ उभे द्वित्रचनसामर्थ्याद् द्यावापृथिव्यावुच्येते ।  
 इत् अवधारणे । ते एव अस्य पितृपुत्रशब्दव्यवहृतस्य देवमनुष्या-  
 त्मकस्य संघस्य । निवासस्थाने भवत इति शेषः । तथा उभे द्यावा-  
 पृथिव्यौ अस्य देवमनुष्यसंघस्य राजतः ईश्वर्यौ भवतः । ❀ राजतिः  
 ऐश्वर्यकर्मा ❀ । तेषाम् आश्रयत्वेन तयोः स्वामित्वम् । उभे द्यावा-  
 पृथिव्यौ यतेते प्रयत्नं कुरुतः देवमनुष्यार्थम् । ❀ यती प्रयत्ने ❀ ।  
 तथा उभे द्यावापृथिव्यौ अस्य । ❀ कर्मणः संप्रदानत्वात् चतु-  
 र्थर्थे षष्ठी ❀ । इमं देवमनुष्यसंघं पुण्यतः अन्नोदकैः पोषयतः ।  
 “भूमिं पर्जन्याः जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्रयः” इति [ ऋ० १.  
 १६४. ५१ ] श्रुत्यन्तरात् । द्यावापृथिवीकर्तृकपोषणलिङ्गाद् याच-  
 काभिलपितप्राप्तौ अस्य मन्त्रस्य विनियोगोऽभिहितः ॥

मरुतोऽसे युक्त जल्लोके पुत्र रूप वरुणदेवके निमित्त सात नदियें  
 बहती रहती हैं † । अथवा मरुतों सहित शातन करने वाले इन्द्र-  
 देवकी आज्ञासे सात नदियें बहती रहती हैं । द्युलोक रूप ‡ पिता  
 के लिये द्युलोकस्थित इन्द्रप्रमुख देवताओं के लिये हविःप्रदान आदि  
 पोषण करने वाले पुत्रस्वरूप मनुष्य, यज्ञ आदि कर्मोंका अनु-  
 ष्ठान करते हैं । द्यावा और पृथिवी इस पिता पुत्र शब्दसे व्यव-  
 हृत देवमनुष्यसंघके ईश्वर हैं, और ये दोनों देवता और मनुष्यों  
 के कल्याणके लिये यत्न करते रहते हैं तथा वे देवता और

† ऋग्वेदसंहिता = । ६६ । १२ में कहा है, कि—“सुदेवो  
 असि वरुण यस्य ते सप्त सिंधवः” तथा तैत्तिरीयसंहिता १ । ८ ।  
 १२ । १ में कहा है, कि—“अपां शिशुर्मातृतमास्वन्तः” ॥

‡ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ । ७ । ५ । ५ में कहा है, कि—द्यौः  
 पिता पृथिवी माता ।-द्यौः पिता है, पृथिवी माता है”

मनुष्योंको अन्न और जलसे पुष्ट करते रहते हैं :- ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इन्द्रावरुणा सुतपाविमं सुनं सोमं पिवतं मद्यं धृतं व्रतौ ।  
युवो रथो अध्वरो देववीतये प्रति स्वसरमुप यातु पीतये  
इन्द्रावरुणा । सुतऽपौ । इमम् । सुतम् । सोमम् । पिवतम् । मद्यम् ।  
धृतऽव्रतौ ।

युवोः । रथः । अध्वरः । देवऽवीतये । प्रति । स्वसरम् । उप ।  
यातु । पीतये ॥ १ ॥

हे सुतपौ सुतस्य अभिपुतस्य सोमस्य पातारी हे धृतव्रतौ  
विधृतकर्माणां हे इन्द्रावरुणा इन्द्रावरुणौ मद्यम् मदार्हं मदकरं वृत्ति-  
करम् इमम् अस्मदीयं सुतम् अभिपुतं सोमं पिवतम् । तदर्थं युवोः  
युवयोः अध्वरः हिंसारहितः शत्रुभिरपराजितो रथः पीतये युवयोः  
सोमपीताय देववीतये देवकामाय । ॐ पष्ठचर्थे चतुर्थी ॐ । यज-  
मानस्य स्वसरम् गृहं प्रति उप यातु समीपे आगच्छतु ॥

हे अभिपुत सोमका पान करने वाले, कर्मधारी इन्द्र और  
वरुण देवताओं ! मद करने वाले वृत्तिपद इस निचोड़े हुए सोम  
को पियो । और इस लिये तुम्हारा अपराजित रथ तुम दोनों को  
सोम पिलाने वाले देवकाम यजमानके घरके समीप ले आवे २

:- ऋग्वेदसंहिता १ । १६४ । ५१ में कहा है, कि-“भूमिं  
पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः ।-भूमिको मेव वृत्तं करते  
करते हैं और अग्नियेँ द्यौको वृत्त करती हैं ।” अत एव आवा-  
पृथिवीकर्तृरूपोपलिंगसे याचककी अभिलषितप्राप्तिमें इस मन्त्र  
का विनियोग कहा है ।

चतुर्थी ॥

इन्द्रावरुणा मधुमत्तमस्य वृष्णः सोमस्य वृषणा वृषेथाम्  
 इदं वामन्धः परिपिक्तमासद्यास्मिन् बर्हिषि मादयेथाम्  
 इन्द्रावरुणा । मधुमत्तमस्य । वृष्णः । सोमस्य । वृषणा । आ ।  
 वृषेथाम् ।

इदम् । वाम् । अन्धः । परिपिक्तम् । आसद्य । अस्मिन् ।  
 बर्हिषि । मादयेथाम् ॥ २ ॥

हे वृषणा वृषणौ अभिमतफलस्य वर्षकौ हे इन्द्रावरुणा इन्द्रा-  
 वरुणौ युवां मधुमत्तमस्य अतिशयेन माधुर्योपेतस्य वृष्णः वर्षितुः  
 अभिमतस्य सेक्तुः सोमस्य । भागम् इति शेषः । सोमं वा आ  
 वृषेथाम् । आशनीतम् इत्यर्थः । “यथाभागम् आवृषायध्वमिति  
 यथाभागम् अशनीतेत्येवैतदाह” इति [श० ब्रा० २, ४, २, २०]  
 वाजसनेयश्रुतेः । वाम् युवयोरर्थाय इदम् अन्धः अन्नं सोमलक्षणं  
 परिपिक्तम् ग्रहचमसपात्रेषु अस्माभिः परितः सिक्तम् । अतः  
 अस्मिन् स्तीर्णे बर्हिषि आसद्य उपविश्य मादयेथाम् सोमपानेन  
 तृप्तौ भवतम् ॥

हे अभिमत फलकी वर्षा करनेवाले इन्द्र और वरुण देवताओ !  
 तुम परम मधुरता भरे अभिमतफलवर्षी सोमके भागका भक्षण  
 करो, तुम्हारे लिये यह सोमलक्षणरूप अन्न ग्रह चमस आदि  
 पात्रोंमें सिक्त है, अतः इस फौजे हुए कुशासन पर बैठ कर सोम-  
 पानसे तृप्त होओ ॥ २ ॥

पञ्चमी ॥

यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात् ।

वृत्त इव विद्युता हत आ मूलादनुं शुष्यतु ॥ १ ॥

यः । नः । शपात् । अशपतः । शपतः । यः । च । नः । शपात् ।

वृत्तःऽइव । विद्युता । हतः । आ । मूलात् । अनु । शुष्यतु ॥१॥

यः शत्रुः अशपतः सनिन्दम् उपालम्भम् अकुर्वाणान् नः  
अस्मान् शपात् निन्दावाक्यैर्भर्त्सयेत् । यश्च शपतः परुषवाक्यप्रयो-  
क्तृन् नः अस्मान् शपात् पुनर्निन्देत् स शत्रुः विद्युता अशन्या  
हतः, भस्मीकृतो वृत्त इव स यथा मूलसहितः शुष्यति एवम् आ  
मूलात् । ❀ अभिविधावाकारः ❀ । पितृपुत्रादिभिः सहितः अनु  
शुष्यतु अनुक्रमेण विनश्यतु । ❀ शुष शोषे । दिवादिः ❀ ॥

तृतीयं सूक्तम् ॥ [ इति ] सप्तमे काण्डे पञ्चमोऽनुवाकः ॥

जो शत्रु हम निन्दनीय उपालम्भ न देने वालोंको निन्दा-  
वाक्योंसे धमकावे और जो कठोर वाक्यका प्रयोग करने वाले  
हमारी पुनर्निन्दा करे वह शत्रु बिजलीसे मारे हुए वृत्तकी समान  
मूलसहित सूख जावे । पिता पुत्र आदिसहित अनुक्रमसे सूख जावे ?

तृतीयं सूक्तं समाप्त ( ३७६ ) ॥

अथर्ववेदसंहिताके सप्तम काण्डमें पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥

पष्टेनुवाके चत्वारि सूक्तानि । तत्र “ऊर्जं विभ्रत्” इति आद्ये  
सूक्ते आदितः पट्टचं देशान्तराद् आगतः स्वगृहं दृष्ट्वा समिधो  
गृहीत्वा प्रजपन् स्वगृहम् आगत्य हस्तस्याः समिधो वामेन हस्तेन  
धृत्वा वलीकट्टणानि दक्षिणेन हस्तेन स्पृष्ट्वा पट्टचं जपित्वा गृहं  
प्रविश्य आहितेऽग्नौ अग्नेन पट्टचेन ताः समिधः पुष्ट्यर्थम् आद-  
ध्यात् । सूत्रितं हि । “ऊर्जं विभ्रद् इति गृहसंकाशे जपति ।  
सव्येन समिधो दक्षिणेन शालावलीकं संस्तभ्य जपति । अतिव्रज्य  
समिध आधाय” इति [ का०. ३. ७ ] ॥

स्वगृहे वर्तमानानां सर्वेषां सामनस्यार्थं च समिध आनीय

“ऊर्जं विभ्रत्” इति सूक्तं जपित्वा ताः समिधः सकृद् आदध्यात् । तद् उक्तं संहिताविधौ । “समिध आदाय ऊर्जं विभ्रद् इति असं-  
कल्पयन्नेत्य सकृद् आदधाति” इति [ कौ० ५. ६ ] ॥

तथा क्रव्याद्विसर्जनानन्तरं सर्वेपि एतत् सूक्तं जपन्तो यज-  
मानगृहं प्रविशेयुः । “निःसालाम् [ २. १४ ] इति शालानिवेशनं  
संप्रोक्ष्य ऊर्जं विभ्रत् [ ७. ६२ ] इति प्रपादयति” इति हि कौशिकं  
सूत्रम् [ कौ० ६. ४ ] ॥

तथा अन्त्येष्टौ शवदहनानन्तरं संस्कर्त्ता “ऊर्जं विभ्रत्” इति  
पट्टचं जपन् स्वकीयात् स्वगृहं प्रवेशयेत् ॥

“इहैव स्त” इत्यनया प्रवासं करिष्यन् स्वकीयान् गृहान् पुत्रा-  
दीन्धावेक्षेत । “इहैव स्तेति प्रवत्स्यन्नवेक्षते” इति [ कौ० ३. ७ ] सूत्रम्

आग्रहायण्यां “यद् अग्ने तपसा” इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्यां  
क्षीरौदनपुरोडाशरसानाम् अन्यतमं संपात्य अभिमन्त्र्य मेधाकामः  
अश्नीयाद् अग्निम् उपनिष्ठेत् वा । “यद् अग्ने तपसेत्याग्रहायण्यां  
भक्षयति अग्निं उपनिष्ठते” इति [ कौ० २. १ ] सूत्रितत्वात् ॥

तथा उपनयने अग्निकार्ये आभ्याम् ऋग्भ्याम् अग्निं परिसमूहेत् ।  
“सं मा सिञ्चन्तु [ ७. ३४ ] इति त्रिः पयुं क्षति । यद् अग्ने तपसा  
तपः अग्ने तपस्तप्यामहे [ ७. ६३ ] इति द्वाभ्यां परिसमूहति”  
इति [ कौ० ७. ८ ] ॥

आवसथ्याधाने “अयम् अग्निः” इत्येषा महाशान्तिगणे आव-  
पनीया । “पित्र्यम् अग्निः शमयिष्यन्” इति प्रक्रम्य “अयम्  
अग्निः सत्पतिः [ ७. ६४ ] नलम् आ रोह [ १२. २ ] इत्यनु-  
वाकं महाशान्तिं च शान्त्युदकं आवपति” इति कौशिकसूत्रात्  
[ कौ० ६. १ ] ॥

तथा अग्निचयने आतिच्छन्दसीष्टकानुमन्त्रणानन्तरम् अनया  
गार्हपत्ये चीयमानाम् इष्टकां ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । तद् उक्तं धैताने ।

“अग्निं होतारं मन्ये [ १. १२७. १ ] इत्यातिच्छन्दसीः । गार्ह-  
पत्य उक्तम् । अयम् अग्निः सत्पतिः [ ७. ६४ ] येना सहस्रम्”  
[ ६. ५. १७ ] इति [ वै० ५. २ ] ॥

छठे अनुवाकमें चार सूक्त हैं । इनमेंसे पहिले ‘ऊर्जं विभ्रत्’  
इस पहिले सूक्तकी पहिली छः ऋचाओंको देशान्तरसे आया  
हुआ पुरुष अपने घरको देख समिधाओंको ग्रहण कर जप करता  
हुआ अपने घरमें आवे फिर हाथकी समिधाओंको बायें हाथसे  
पकड़ कर बरौनीके तृणोंको दाहिने हाथसे छू छः ऋचाओंको  
जप घरमें प्रवेश कर आहित अग्निमें इस पट्टसे उन समिधाओं  
को पुष्टिके लिये रखे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है,  
कि—“ऊर्जं विभ्रद् इति गृहसकाशे जपति । सव्येन समिधो दक्षि-  
णेन शालावलीकं संस्तभ्य जपति । अतिव्रज्य समिध आधाय”  
( कौशिकसूत्र ३ । ७ ) ॥

अपने घरमें वर्तमान सबके सामनस्य ( एकसे मन ) के लिये  
भी समिधाओंको ला ‘ऊर्जं विभ्रत्’ इस सूक्तको जपता हुआ  
उन समिधाओंको एक बार रखे । इसी बातको संहिताविधिमें  
कहा है, कि—“समिध आधाय ऊर्जं विभ्रद् इति असंकल्पयन्नेत्य  
सकृद् आदधाति” ( कौशिकसूत्र ५ । ६ ) ॥

तथा क्रव्यादिसर्जनके अनन्तर सब ही इस सूक्तको जपते हुए  
यजमानके घरमें प्रवेश करें । इस विषयमें कौशिकसूत्र ६ । ४  
का प्रमाण भी है, कि “निःसालां ( २ । १४ ) इति शाला-  
निवेशनं सम्प्रोक्ष्य ऊर्जं विभ्रत् ( ७ । ६२ ) इति प्रपादयति” ॥

तथा अन्त्येष्टिमें शवदहनके अनन्तर संस्कर्तापुरुष ‘ऊर्जं विभ्रत्’  
इन छः ऋचाओंको जपता हुआ अपने पुरुषोंको अपने घरमें प्रवेश  
करावे ॥

“इहैव स्तः” इस ऋचासे प्रवास करते समय अपने घर और

पुत्र स्त्री आदिको देखे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ३ । ७ का प्रमाण है, कि—“इहैव स्तेति प्रवत्स्यन्नवेक्षते” ॥

बुद्धिको चाहने वाला पुरुष आग्रहायणीमें ‘यद् अग्ने तपसा’ इन दो ऋचाओंसे क्षीर ओदन पुरोडाश और रसमेंसे एकको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके खावे वा अग्निका उपस्थान करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र २ । १ का प्रमाण भी है, कि—“यद् अग्ने तपसेत्याग्रहायण्यां भक्षयति । अग्निम् उपतिष्ठते” ।

तथा उपनयनके समय अग्निकार्यमें इन दोनों ऋचाओंसे अग्निका परिसमूहन करे ॥ इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । ८ का प्रमाण भी है, कि—“सं मा सिञ्चन्तु ( ७ । ३४ ) इति त्रिः पयु-  
क्षति । यद् अग्ने तपसा तपः अग्ने तपस्तप्यामहे ( ७ । ६३ )  
इति द्वाभ्यां परिसमूहति” ॥

आवसथ्याधानमें महाशान्तिगणके समय “अयम् अग्निः” को पहना चाहिये । इस विषयमें कौशिकसूत्र ६ । १ का प्रमाण भी है, कि—“पित्र्यं अग्निं शमयिष्यन्” इति प्रक्रम्य “अयं अग्निः  
सत्पतिः ( ७ । ६४ ) नलं आरोह ( १२ । २ ) इत्यनुवाकं  
महाशान्तिं च शान्त्युदकं आवपति” ॥

तथा अग्निचयनमें आतिच्छन्दसीष्टकाके अनुमंत्रणके अनंतर इस ऋचासे गार्हपत्यमें चिनी जाती हुई ईंटका ब्रह्मा अनुमंत्रण करे । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—“अग्निं होतारं मन्ये ( १ । १२७ । १ ) इत्यातिच्छन्दसीः । गार्हपत्य उक्तम् ।  
अयं अग्निः सत्पतिः ( ७ । ६४ ) येनासहस्रम् ( ६ । ५ । १७ )” ।  
वैतानसूत्र ( ५ । २ ) ॥

तत्र प्रथमा ॥

ऊर्जं विभ्रद् वसुवनिःसुमेधा अधोरेण चक्षुषा मित्रि-  
येण ।

गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा विभीत मत् १

ऊर्जम् । विभ्रत् । वसुध्वनिः । सुमेधाः । अघोरेण । चक्षुषा ।

मित्रियेण ।

गृहान् । आ । एमि । सुमनाः वन्दमानः । रमध्वम् । मा । विभीत । मत्

ऊर्जम् अन्नं विभ्रत् धारयन् वसुध्वनिः अन्नादिसाधनस्य वसुनो धनस्य संभक्ता । ❀ “छन्दसि वनसनरक्षिमथाम्” इति वनतेः कर्मोपपदाद् इन् प्रत्ययः ❀ । सुमेधाः शोभनमेधायुक्तः । ❀ “नित्यम् असिच् प्रजामेधयोः” इति असिच् समासान्तः ❀ । अघोरेण अभयकरेण न केवलम् अपतिरूलेन किं तु मित्रियेण मित्रं सुहृत् तदर्हेण अनुकूलेन स्निग्धेन चक्षुषा । पश्यन्निति शेषः । सुमनाः शोभनमनस्कः । धनादिसाहित्येन प्राप्तसौमनस्यः वन्दमानः स्तुवन् गृहान् ऐमि आगच्छामि । ❀ “गृहाः पुंभृन्नि” इति वचनाद् गृहशब्दः पुंलिङ्गो बहुवचनान्तश्च ❀ । हे गृहाः पूर्य रमध्वम् क्रीडत सुखिनः स्यात । मयाधिपतिनेति शेषः । अतः मत् मत्तः । ❀ “पञ्चम्या अत्” इति अत् आदेशः ❀ । देशान्तराद् आगच्छतो मत्तः मा विभीत अन्यो गृहस्यामी सन् अस्मान् प्रविशतीति भयं मा प्राप्नुत । ❀ “भीत्रार्थानां भयहेतुः” इति मत् इत्यत्र अपादानसंज्ञायां पञ्चमी ❀ ॥

अन्नको धारण किये हुए, अन्न आदिके। साधन धनका संभक्ता, सुन्दर बुद्धि वाला, मैं अभयंकर मित्रभाव भरे स्नेहमय नेत्रसे देखता हुआ और धन आदि सामग्रीसे मनमें प्रसन्न होता हुआ और स्तुतिाकरता हुआ घरोंको आरहा हूँ । हे घरों ! तुम मुझ अधिपतिमें क्रीड़ा करो, सुखी होओ । मुझ देशान्तरसे



आने वाले पुरुषसे न डरो अर्थात् दूसरा गृहस्वामी बनता हुआ हममें प्रवेश कर रहा है, यह भय मत करो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः ।

पूर्णा वामेन तिष्ठन्तस्ते नो जानन्त्वायतः ॥ २ ॥

इमे । गृहाः । मयःऽभुवः । ऊर्जस्वन्तः । पयस्वन्तः ।

पूर्णाः । वामेन । तिष्ठन्तः । ते । नः । जानन्तु । आश्रयतः ॥ २ ॥

मयोभुवः । मय इति सुखनाम । सुखस्य भाषयितारः ऊर्जस्वन्तः अन्नरसवन्तः पयस्वन्तः क्षीरादिसमृद्धाः वामेन वननीयेन ध्वजेन पूर्णाः संपूर्णाः समृद्धास्तिष्ठन्तः ते इमे पुरतो दृश्यमाना अस्मदीया गृहाः आयतः प्रवासाद् आगच्छतो नः अस्मान् जानन्तु स्वामित्वेन अवबुध्यन्ताम् । ॐ आयत इति । आङ्पूर्वाद् एतेः शतरि “इणो यण्” इति यण् ॐ ॥

सुख देने वाले, अन्नरस वाले, क्षीर आदिसे समृद्ध ये हमारे घर प्रवासते आते हुए हमको स्वामी ही समझें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

येषामध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः ।

गृहानुप हयामहे ते नो जानन्त्वायतः ॥ ३ ॥

येषाम् । अधिऽणति । प्रवसन् । येषु । सौमनसः । बहुः ।

गृहान् । उप । हयामहे । ते । नः । जानन्तु । आश्रयतः ॥ ३ ॥

प्रवसन् प्रवासं कुर्वन् देशान्तरे वसन् पुरुषो येषाम् यान् गृहान्

अध्येनि स्मरति । ॐ इक् स्मरणे । “अधीगर्धदयेशां कर्मणि”  
इति येषाम् इत्यत्र षष्ठी ॐ । येषु गृहेषु सौमनसः सौमनस्यवान्  
बहुः अधिकः पदार्थो वर्तते । ॐ सुमनःशब्दाद् भावे अण् द्रष्टव्यः ।  
सौमनसम् अस्यास्तीति अर्शआदित्वाद् अच् प्रत्ययो मत्वर्थीयः ।  
सुमनसोऽयम् इति वा । “तस्येदम्” इति अण् ॐ । तान् गृहान्  
उक्तविशेषणान् उप हयामहे प्राप्तं प्रार्थयामहे । अनुज्ञास्वीकाराय  
यत् प्रार्थनं तद् उपहव इत्युच्यते । ॐ “निसमुपविभ्यो हः” इति  
आत्मनेपदम् ॐ । ते नो जानन्त्वायत इति पादो व्याख्यातः ॥

देशान्तरमें बसता हुआ मनुष्य जिन गृहोंका स्मरण करता  
है और जिन घरोंमें बहुतसे सुन्दर पदार्थ हैं उन घरोंको प्राप्त  
होनेकी हम प्रार्थना करते हैं, वे घर प्रवाससे आते हुए हमको  
अपना स्वामी समझें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

उपहूता भूरिधनाः सखायः स्वादुसंसुदः ।

अक्षुध्या अतृप्या स्त गृहा मास्मद् विभीतन ॥ ४ ॥

उपहूताः । भूरिधनाः । सखायः । स्वादुसंसुदः ।

अक्षुध्याः । अतृप्याः । स्त । गृहाः । मा । अस्मद् । विभीतन ४

हे गृहाः उपहूताः अनुज्ञार्थं प्रार्थिता यूयं भूरिधनाः प्रभूतधनो-  
पेताः स्तभवत । सखायः समानख्याना मित्रभूता भवत । स्वादु-  
संसुदः स्वादुभिर्मधुरैः पदार्थैः संभोदमाना भवत । अक्षुध्याः क्षुधं  
बुभुक्षाम् अर्हन्तीति क्षुध्याः न क्षुध्या अक्षुध्याः । अतृप्याः तृपं  
पिपासाम् अर्हन्तीति तृप्याः न तृप्या [ अतृप्या ] क्षुत्तृप्णोपेतै-  
र्जनैर्युक्ता मा भूत अपि तु धनादिसमृद्ध्या सर्वदा तृप्तैर्जनैर्युक्ता  
भवतेत्यर्थः । ॐ क्षुत्तृप्णाशब्दाभ्यां “तद् अर्हति” इत्यर्थे “द्वन्द्वसि

च" इति यप्रत्ययः । अस्तेर्लोटि मध्यमबहुवचने रूपं स्तेति ॐ ।  
हे गृहाः अस्मत् अस्मत्तः देशान्तराद् आगच्छद्भ्यो मा विभीतन  
भयं मा प्राप्नुत । ॐ विभी भये । लोटि तस्य तनादेशः ॐ ॥

हे घरों ! अनुज्ञाके लिये प्रार्थित तुम बहुतसे धनसे सम्पन्न  
होओ, मित्ररूप बनो और मधुर पदार्थोंसे सम्पन्न रहो, जुधा  
और वृष्णासे व्याकुल पुरुषोंसे व्याप्त न रहो किंतु तुममें रहने  
वाले धन आदिसे सम्पन्न और वृत्त रहें । हे गृहों ! परदेशसे  
लौटते हुए हमसे तुम डरो मत ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः ।

अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः ॥ ५ ॥

उपहूताः । इह । गावः । उपहूताः । अजऽअवयः ।

अथो इति । अन्नस्य । कीलालः । उपहूतः । गृहेषु । नः ॥ ५ ॥

इह एषु अस्मदीयेषु गृहेषु गावः धेनव उपहूताः अनुज्ञार्थं  
प्रार्थिता भवन्तु । अजावयः अजाश्च अवयश्च उपहूताः सन्तु ।  
अथो अपि च नः अस्माकं गृहेषु अन्नस्य कीलालः सारभूतोऽंशः  
उपहूतो भवतु । एतद् उपलक्षणम् । यद्यद् गृहे भोग्यं वर्तते तत्  
सर्वम् अनुज्ञायै प्रार्थितं भवत्वित्यर्थः ॥

इन हमारे घरोंमें धेनुएँ उपहूत हों, भेड़ बकरियों उपहूत हों  
और हमारे घरमें अन्नका सारभूत अंश उपहूत हो, तात्पर्य यह  
है, कि-जो रं उपभोग्य वस्तु है वह सब उपहूत हो ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

सूनुतावन्तः सुभगा इरावन्तो हसामुदाः ।

अ॒तृ॒ष्या अ॒क्षु॒ष्या स्त॒ गृ॒हा मा॒स्मद् वि॒भी॒तन॑ ॥६॥

सू॒नु॒ताऽव॒न्तः । सु॒भ॒गाः । इ॒राऽव॒न्तः । इ॒सा॒स्रु॒दाः ।

अ॒तृ॒ष्याः । अ॒क्षु॒ष्याः । स्त॒ । गृ॒हाः । मा॒ । अ॒स्मद् । वि॒भी॒तन॑ ६

हे गृहा सूनुतावन्तः । मियसत्यात्मिका वाक् सूनुतेत्युच्यते । तद्वन्तः स्त भवत । अरिष्टादिनिमित्तवाग्राहित्येन पुत्रमित्रादिसंपत्तिनिमित्तवाक्सहिता भवतेत्यर्थः । प्रवसति यजमाने गृहे जातमप्यरिष्टं पुनरागच्छति गृहस्वामिनि तद्विषये न ज्ञापनीयम् इत्याश्वलायनेनोक्तम् । “विदितमप्यलीकं न तद् अहर्होपयेयुः” इति [ आश्व० २. ५. १८ ] । सर्वदापि अरिष्टराहित्यम् अनेन पदेन प्रार्थ्यते । सुभगाः शोभनभाग्योपेता भवत । इरावन्तः इरा अन्नं तद्वन्तः स्त । इसास्रुदाः । ॐ हसे हसने । भावे विवप् । तदन्तात् तृतीया हसेति । मोदतेः इगुपधलक्षणः कः । “तत्पुरुषे कृति बहुलम्” इति बहुलप्रहणात् तृतीयाया अलुक् ॐ । हासेन मोदमानाः गृहस्थितानां हासेन तदीयः संतोषोभिव्यज्यते । हासाभिव्यक्तसंतोषा भवत । अतृष्या अक्षुष्या इत्यर्थर्चो व्याख्यातः ॥

हे घरों ! तुममें मिय और सत्य वाणियों बोली जावें अर्थात् अरिष्ट आदिकी निमित्त वाणीकी शून्यता वाले और पुत्र मित्र आदि सम्पत्तिनिमित्तक वाणीसे सम्पन्न होओ । शोभनभाग्य से सम्पन्न होओ, अन्नसे सम्पन्न होओ, घरमें, स्थित व्यक्तियों के हाससे प्रसन्नता भरे रहो, तुममें क्षुधा और तृपारहित पुरुष रहें और हे घरों ! तुम हमसे डरो मत ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

इ॒है॒व स्त॒ मानु॑ गा॒त॒ विश्वा॑ रू॒पाणि॑ पु॒ष्यत॑ ।

ऐष्यामि भद्रेणा सह भूयांसो भवता मया ॥ ७ ॥

इह । एव । स्त । मा । अजु । गात । विश्वा । रूपाणि । पुष्यत ।

आ । ऐष्यामि । भद्रेण । सह । भूयांसः । भवत । मया ॥७॥

हे गृहाः इहैव अस्मिन् प्रदेश एव स्त भवत सुखिनो वर्तध्वम् । मा अजु गात प्रवसन्तं मां गृहस्वामिनं मानुगच्छत । ॐ एतेः “माङ्गि-लुङ्” । “इणो गा लुङि” इति गादेशः ॐ विश्वा विश्वानि सर्वाणि रूपाणि रूपवन्ति निरूप्यमाणानि वा पुत्रादीनि वस्तूनि पुष्यत समृद्धानि कुरुत । भद्रेण भन्दनीयेन धनेन सह ऐष्यामि पुनरागमिष्यामि । ततः मया देशान्तरात् पुनरागतेन अर्जितधनेन भूयांसः अतिप्रभूता भवत । ॐ भद्रेणा सह भवता मया इत्युभयत्र छान्दसः साहितिको दीर्घः ॥

हे घरों ! तुम इस ही प्रदेशमें सुखी रहो, मुझ प्रवास करने वाले स्वामीके पीछे न जाओ, रूप वाली पुत्र आदि सम्पूर्ण वस्तुओंको पुष्ट करो । मैं कल्याणकारी धनके साथ फिर लौटूँगा तब तुम-मेरे देशान्तरसे कमाये हुए धनसे अतिप्रभूत होना ॥७॥

अष्टमी ॥

यदग्ने तपसा तप उपतप्यामहे तपः ।

प्रियाः श्रुतस्य भूयास्मायुष्मन्तः सुमेधसः ॥ १ ॥

यत् । अग्ने । तपसा । तपः । उपतप्यामहे । तपः ।

प्रियाः । श्रुतस्य । भूयास्म । आयुष्मन्तः । सुमेधसः ॥ १ ॥

हे अग्ने तपसा तव संबन्धिना पर्युक्षणपरिसमूहनसमिदाधानादिरूपेण कर्मणा यत् तपो निर्वर्तयितव्यम् अस्ति तत् तपः

उप त्वत्समीपे तप्यामहे आर्जयामः । यद्वा तपसा कृच्छ्रचान्द्राय-  
णादिरूपेण यत् तपः तपनं शरीरक्लेशनम् । “तपः क्लेशसहि-  
ष्णुत्वम्” इति हि तद्विदः । कृच्छ्रादिचरणेन यच्छरीरशोषणं तत्  
तप उपतप्यामहे । तव समीपे परिचरणेन आर्जयाम इत्यर्थः । यद्वा  
तपसा । ॐ तप पर्यालोचने इत्यस्माद् अमुन् ॐ । पर्यालोचनेन  
देवताविषयज्ञानेन । “मनसश्चेन्द्रियाणां चैकाग्र्यं तप उच्यते” इति  
हि तद्विदः । ॐ सहायं तृतीया ॐ । तेन तपसा सहितं तपः  
कृच्छ्रचान्द्रायणादिरूपो नियमः । “शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वर-  
प्रणिधानानि नियमाः” इति हि पातञ्जलं सूत्रम् [ पा० सू० २.  
३२ ] । तत् तपः हे अग्ने त्वत्समीपे परिचरणेन तप्यामहे आर्ज-  
यामः । ॐ “तपस्तपःकर्मकस्यैव” इति कर्मकर्तरि यगात्मनेपदे ॐ ।  
तेन तपसा श्रुतस्य सम्यग् अधीतस्य वेदशास्त्रादेः प्रियाः प्रियतमाः  
सुहृदः निवासस्थानत्वेन प्रीणयितारः आयुष्मन्तः दीर्घकाल-  
जीविनः सुमेधसः शोभनधारणाशक्तिसहिता भूयास्म ॥

हे अग्ने ! आपके पयुर्क्षणपरिसमूहन समिदाधान आदिरूप  
कर्मसे जो कर्म सम्पन्न करना है उस कर्मको हम आपके समीप  
करते हैं अथवा कृच्छ्रचान्द्रायण आदिरूप जो तप करना है उसको  
हम आपके समीप आपकी सेवा करते हुए करते हैं । उस तपके  
द्वारा हम भली प्रकार पढ़े हुए वेदशास्त्र आदिके प्रियतम और  
प्रसन्न करने वाले तथा दीर्घायु और शोभन धारणाशक्ति वाले  
होवें ॥ १ ॥

नवमी ॥

अग्ने तपस्तप्यामह उपं तप्यामहे तपः ।

श्रुतानि श्रुण्वन्तो वयमायुष्मन्तः सुमेधसः ॥ २ ॥

अग्ने । तपः । तप्यामहे । उप । तप्यामहे । तपः ।

श्रुतानि । श्रूयन्तः । वयम् । आयुष्मन्तः । सुमेधसः ॥ २ ॥

हे अग्ने तपस्तप्यामहे शरीरशोषणरूप नियमम् आर्जयामः । किम् अन्यत्र । नेत्याह । उप तप्यामहे । तव समीप एव तादृशं तपः साधयाम इत्यर्थः । ❀ पूर्ववत् कर्मकर्तरि यगात्मनेपदे ❀ । तेन तपसा श्रुतानि सम्यग् अधीतानि वेदशास्त्रादीनि श्रूयन्तः । ❀ हेत्वर्थे शतृप्रत्ययः ❀ । वेदशास्त्रश्रवणाद्धेतोः वयम् आयुष्मन्तः दीर्घकालजीवनवन्तः सुमेधसः समीचीनधारणाशक्तियुक्ताश्च । भूयास्मेति शेषः ॥

हे अग्ने ! हम आपके समीप ही शरीरशोषणरूप नियमको साधित करते हैं, उस तपके द्वारा भली प्रकार पढ़े हुए वेदशास्त्र आदिको सुनते हुए हम उस श्रवणके प्रभावसे आयुष्मान् और समीचीनधारणाशक्तिसे सम्पन्न होवें ॥ २ ॥

दशमी ॥

अयमग्निः सत्पतिर्वृद्धवृष्णो रथीव पत्नीनंजयत् पुरो-  
हितः ।

नाभां पृथिव्यां निहितो दविद्युतदधस्पदं कृणुतां ये  
पृतन्यवः ॥ १ ॥

अयम् । अग्निः । सत्पतिः । वृद्धवृष्णः । रथीइव । पत्नीन् ।

अजयत् । पुरःहितः ।

नाभां । पृथिव्याम् । निहितः । दविद्युतत् । अधःस्पदम् । कृणु-

ताम् । ये । पृतन्यवः ॥ १ ॥

सत्पतिः सतां महतां देवानां हविःप्रदानेन पालयिता सतो विद्यमानस्य स्थावरजङ्गमादेर्जगतः स्वामी वा वृद्धवृष्यः वृष्णि भवं वृष्यं बलं प्रवृद्धबलः पुरोहितः पुरतो होमार्थम् अतिविभिर्निहितः पुरोभाविहितकारी वा । अयं पुरोवर्ती अग्निः गार्हपत्यरूपः पत्नीम् पालयित्रीं प्रजाम् । पत्नीवत् पत्नी । पत्नीभूताम् इष्टकां वा अजयत् जयति स्वाधीनां करोति । तत्र दृष्टान्तः । रथी रथवान् पुरुषः पत्नीम् प्रजाम् अन्यदीयां स्वीयां वा नारीं यथा जयति स्वाधीनां करोति एवम् अग्निरिति । किं च पृथिव्याम् देवयजनलक्षणायां भूमौ तत्रापि नाभा नाभौ नाभिस्थानीयायाम् उत्तरवेद्याम् । “यद् उत्तरवेदीनाभिः” इति ऐतरेयश्रुतेः [ ऐ० ब्रा० १. २८ ] । तत्र निहितः स्थापितः दबिद्युत् अत्यर्थं दीप्यमानः । ॐ द्योततेर्यङ्मुक्ति “दाघति०” इति सूत्रे निपातनाद् रूपसिद्धिः ॐ । तादृशोग्निः अधस्पदम् पादस्याधोदेशे कृणुताम् कुरुताम् । कान् इति तत्राह । ये पृतन्यवः पृतनां संग्रामम् इच्छवः शत्रवस्तान् मदीयपादस्याधोदेशे निघचादिति ॥

[ इति ] पष्ठेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

सत् अर्थात् वहे २ देवताओंको हविःप्रदान कर उनका पालन करने वाले वा—स्थावर जंगमरूप विद्यमान जगत्के स्वामी, प्रवृद्ध बल वाले, होमके लिये अतिविजोंके द्वारा आगे रखे जाने वाले यह गार्हपत्य अग्निदेव पालन करने वाली प्रजाको वा पत्नीकी समान इष्टकाको स्वाधीन करते हैं, उसका उदाहरण यह है, कि—जैसे रथ वाला पुरुष प्रजाको वा अपनी या पराई स्त्रीको स्वाधीन कर सकता है इसी प्रकार यह अग्निदेव इष्टकाको स्वाधीन कर रहे हैं । और देवताओंके यजन करनेकी पृथ्वीकी नाभि-



स्थानीया उत्तरवेदीमें † स्थापित परमप्रदीप्त यह अग्निदेव मुझसे संग्राह्य करना चाहने वाले योधाओंको मेरे पैरके नीचे दवावें ॥

छठे अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त ( ३७९ ) ॥

आवसध्याधाने मथनार्थं यजमानः अरण्यां “पृतनाजितम्” इति ऋचा अग्निम् आह्वयेत् । “मूलत उत्तरारणिम् गपसंधाय पृतनाजितम् इत्याह्वयति” इति हि [ कौ० ६. १ ] सूत्रम् ॥

शरीरे काकाभिघातदोषशान्त्यर्थम् “इदं यत् कृष्णः” इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्याम् उदकम् अभिमन्त्र्य काकोपहतशरीरं प्रक्षालयेत् ॥

तथा काकावदंशनदोषशान्त्यर्थे आभ्याम् ऋग्भ्याम् उल्मुकम् अभिमन्त्र्य काकावमृष्टं शरीरं परिभ्रामयेत् ॥

काकस्पर्शनदोषशान्त्यर्थं “श्यावदत्ता” इति मन्त्रोक्तरोगशान्त्यर्थे च “प्रतीचीनफलः” इति त्रिभिः अपामार्गसमिध आदध्यात् ॥

तद् उक्तं संहिताविधौ । “इदं यत् कृष्णः [ ७. ६६ ] कृष्ण-शकुनेनाधिक्षिप्तं प्रक्षालयति । अपमृष्टं पर्यग्निं करोति । प्रतीचीन-फलः [ ७. ६७ ] इत्यपामार्गं अपामार्गारादधाति” इति [ कौ० ५. १० ] ॥

विवाहे कुमार्याः स्नापनानन्तरं “यद् दुष्कृतम्” इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्याम् अङ्गानि वाससा प्रमार्जयेत् । “यद् दुष्कृतम् इति वास-साङ्गानि प्रमृज्य” इति हि [ कौ० १०. २ ] सूत्रम् ॥

“यद्यन्तरिक्षे” “पुनर्मैत्विन्द्रियम्” इति बृचस्य बृहद्गणे पाठात् शान्त्युदकाभिमन्त्रणादौ विनियोगः । सूत्रितं हि । “यद्यन्तरिक्षे [ ७. ६८ ] पुनर्मैत्विन्द्रियम् [ ७. ६९ ] शिवा नः” [ ७. ७१ ] इति [ कौ० १. ६ ] ॥

† ऐतरेय ब्राह्मण १ । २८ में कहा है, कि—“यद् उत्तरवेदी-नाभिः—जो उत्तरवेदी है वह नाभि है” ।

तथा “पुनर्मेत्विन्द्रियम्” इत्यनया प्रतिग्रहदोषशान्तये प्रति-  
ग्राह्यं वस्त्वभिमन्त्र्य गृहीयात् ॥

तथा नित्यनैमित्तिककाम्येषु कर्मसु पाकयज्ञतन्त्रे च र्मसमा-  
पनानन्तरं न्यूनातिरेकदोषशान्तये अनया आत्मानम् अनुमन्त्रयेत्  
सूत्रितं हि । “यद् अन्नम् [ ६. ७१ ] पुनर्मेत्विन्द्रियम् [ ७.  
६६ ] इति प्रतिगृह्णाति । उक्तमा सर्वकर्मा । वशया पाकयज्ञा व्या-  
ख्याताः” इति [ कौ० ५. ६ ] ॥

तथा गोदानारूपे संस्कारकर्मणि वपनार्थम् अनया क्षरं संमार्ज्यं  
नापिताय प्रयच्छेत् । “पुनः प्राणः [ ६. ५३. २ ] पुनर्मेत्वि-  
न्द्रियम् [ ७. ६६ ] इति त्रिनिर्मृज्य” इति हि [ कौ० ७. ५ ]  
सूत्रम् ॥

सवयवेषु “पुनर्मेत्विन्द्रियम्” इत्यनया इन्द्रियाणाम् अभिमर्श-  
नम् अनुमन्त्रणं च कुर्यात् । सूत्रितं हि । “वाङ् म आसन्” [ १६.  
६० ] इति “मन्त्रोक्तान्यभिमन्त्रयते बृहता [ ५. १०. ८ ] यौश्च  
[ ६. ५३ ] पुनर्मेत्विन्द्रियम् [ ७. ६६ ] इति प्रतिमन्त्रयते” इति  
[ कौ० ८. ७ ] ॥

तथा ब्रह्मचारिणो दण्डभङ्गे अनया अन्यं दण्डम् अभिमन्त्र्य  
ब्रह्मचारी गृहीयात् । “यद्यस्य दण्डो भिद्येत” इति प्रक्रम्य सूत्र-  
तम् । “शीर्णे भग्ने नष्टेऽन्यं कृत्वा पुनर्मेत्विन्द्रियम् इत्याददीत”  
इति [ कौ० ७. ८ ] ॥

अग्निष्टोमे तृतीयसवने हीत्रादिधिष्येषु विहृतान् अग्नीन् “पुन-  
र्मेत्विन्द्रियम्” इति ऋचा ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । “विहृतान् अनु-  
मन्त्रयते । उत्तरयोः सवनयोः पुनः प्राणः [ ६. ५३. २ ] पुन-  
र्मेत्विन्द्रियम्” [ ७. ६६ ] इति द्विवैतानं सूत्रम् [ वै० ३. ८ ] ॥

आहिताग्नेः प्रेतसंस्कारे “ओ चित् सखायम्” इति काण्ड-  
जपानन्तरं सारस्वतहोमेषु “सरस्वति व्रतेषु” इति मृचेन आज्यं  
जुहुयात् ॥

तथा चातुर्मास्ये वैश्वदेवपर्वाणि सारस्वतयागं “सरस्वति व्रतेषु” इति ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । “सविता प्रसवानाम् [ ५. २४ ] सरस्वति व्रतेषु [ ७. ७० ] प्रपद्ये पथाम्” [ ७. १० ] इति हि वैतानं सूत्रम् [ वै० २. ४ ] ॥

तथा अन्वारम्भणीयेष्टौ सारस्वतचरुयागम् अनया अनुमन्त्रयेत् । उक्तं वैताने । “सरस्वत्यै चरुं सरस्वते द्वादशकपालं सरस्वति व्रतेषु [ ७. ७० ] यस्य व्रतम्” [ ७. ४१ ] इति [ वै० २. ४ ] ॥

यजमान, ! आवसध्याधानमें मथन करनेके लिये अरणीमें ‘पृतनाजिनम्’ ऋचासे अग्निका आवाहन करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ६ । १ का प्रमाण भी है, कि—“मूलत उत्तरारणि उपसंधाय पृतनाजितम् इत्याह्वयति” ( कौशिकसूत्र ६ । १ ) ॥

शरीरके काकाभिघातदोषकी शान्तिके लिये “इदं यत् कृष्णः” इन दो ऋचाओंसे जलको अभिमन्त्रित करके काकोपहतशरीर को प्रक्षालित करे ।

तथा काकके काटनेके दोषकी शान्तिके लिये इन दो ऋचाओंसे उल्लुक्को अभिमन्त्रित करके काकावमृष्ट शरीर पर घुमावे ।

काकस्पर्शनदोषकी शान्तिके लिये “श्यावदता” इस मन्त्रमें कहे हुए रोगकी शान्तिके लिये “प्रतीचीनफलः” इन तीन ऋचाओंसे अपामार्ग ( चिरचिद्रे ) की समिधाओंको रखे ।

इसी बातको संहिताविधिमें कहा है, कि—“इदं यत् कृष्णः ( ७ । ६६ ) इति कृष्णशकुने नाधिक्षिप्तं प्रक्षालयति । अपमृष्टं पर्यग्नि करोति । प्रतीचीनफलः ( ७ । ६७ ) इत्यपामार्गोऽध्य आपामार्गीरादधाति” ( कौशिकसूत्र ( ५ । १० ) ॥

विवाहमें कुमारीको स्नान करानेके अनन्तर “यद्दुष्कृतं” इन दो ऋचाओंसे अंगोंको वस्त्रसे प्रमार्जित करे । इस विषयमें

कौशिकसूत्र १० । २ का प्रमाण भी है, कि-‘यद् दुष्कृतं इति-  
वाससाद्धानि प्रमृज्य’ ॥

‘यद्यन्तरिक्षे’ ‘पुनर्मैत्विन्द्रियम्’ इन दो ऋचाओंका वृहद्ग्रहणमें पाठ है अत एव इनका शान्तिजलके अभिमन्त्रण आदिमें त्रिनि-  
योग होता है । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-‘यद्य-  
न्तरिक्षे ( ७ । ६८ ) पुनर्मैत्विन्द्रियम् ( ७ । ६९ ) शिवा नः  
( ७ । ७१ ) ( कौशिकसूत्र १ । ६ ) ॥

तथा प्रतिग्रह-दोषकी शान्तिके लिये ‘पुनर्मैत्विन्द्रियम्’ ऋचा  
से प्रतिग्राह्य वस्तुको अभिमन्त्रित करके ग्रहण करे ।

तथा नित्य नैमित्तिक काम्य कर्मोंमें तथा पाकयज्ञतन्त्रमें भी  
कर्म समाप्त करनेके अनन्तर न्यूनातिरेकदोषकी शान्तिके लिये  
इस ऋचासे अपना अनुमन्त्रण करे ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-‘यद् अन्नम् ( ६ । ७१ )  
पुनर्मैत्विन्द्रियम् ( ७ । ६९ ) इति प्रतिगृह्णाति । उत्तमा सर्व-  
कर्मा । वशया पाकयज्ञा व्याख्याताः’ ( कौशिकसूत्र ५ । ६ ) ॥

तथा गोदान नाम वाले संस्कारकर्ममें वपन ( मुण्डन ) करने  
के लिये इस ऋचासे छुरेको स्वच्छ करके नापिनको देदेय । इस  
विषयमें कौशिकसूत्र ७ । ५ का प्रमाण भी है, कि-‘पुनः  
प्राणः ( ६ । ५३ । २ ) पुनर्मैत्विन्द्रियम् ( ७ । ६९ ) इति  
त्रिनिमृज्य ॥

सत्रयज्ञोंमें ‘पुनर्मैत्विन्द्रियम्’ ऋचासे इन्द्रियोंका अभिमर्शन  
और अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-  
‘वाङ्म आसन् ( १६ । ६० ) इति मन्त्रोक्तान्यभिमन्त्रयते वृहता  
( ५ । १० । ८ ) द्यौश्च ( ६ । ५३ ) पुनर्मैत्विन्द्रियम् ( ७ । ६९ )  
इति प्रतिमन्त्रयते’ ( कौशिकसूत्र ८ । ७ ) ॥

तथा ब्रह्मचारीका दण्ड भंग होने पर इस ऋचासे दूसरे दंडे

को अभिमंत्रित करके ब्रह्मचारी ग्रहण करे । 'यद्यस्य दण्डो भिद्येत' आदिका आरम्भ करके कौशिकसूत्र ८ । ७ में कहा है, कि—'शीर्णे भग्ने नष्टेऽन्यं कृत्वा पुनर्मैत्विन्द्रियम् इत्याददीत' ॥

अग्निष्टोमके तृतीयसवनमें दौत्र आदि घृण्योमें विहित अग्नियों का 'पुनर्मैत्विन्द्रियम्' ऋचासे ब्रह्मा अनुमंत्रण करे । इस विषय में सूत्रका प्रमाण भी है, कि—'विहृतान् अनुमंत्रयते उत्तरयोः सवनयोः पुनः प्राणः ( ६ । ५३ । २ ) पुनर्मैत्विन्द्रियम् ( ७ । ६६ )' वैतानसूत्र ( ३ । ८ ) ॥

आहिताशिके प्रेतसंस्कारमें 'ओ चित् सखायम्' इस कांडका जप करनेके अनंतर सारस्वत होमोंमें "सरस्वति व्रतेषु" आदि दो ऋचाओंसे घृतकी आहुति देय ।

तथा चातुर्मास्यके वैश्वदेवपर्वमें सारस्वतयागका "सरस्वति व्रतेषु" से ब्रह्मा अनुमंत्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र २ । ४ का प्रमाण भी है, कि—'सविता प्रसवानाम् ( ५ । २४ ) सरस्वति व्रतेषु ( ७ । ७० ) पप्रथे पथाम् ( ७ । १० )' ॥

तथा अन्वारंभणीयेष्टिमें सारस्वतचरुयागका इस ऋचासे अनुमंत्रण करे । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"सरस्वत्यै चरुं सरस्वते द्वादशकपालं सरस्वति व्रतेषु ( ७ । ७० ) यस्य व्रतम् ( ७ । ४१ )" । ( वैतानसूत्र २ । ४ ) ॥

तत्र प्रथमा ॥

पृ॒त॒नाजि॒तं स॒ह॒मा॒नम॒ग्निमु॒त्थैर्ह॒वाम॒हे प॒र॒मात् स॒ध॒-  
स्था॒त् ।

स नः पर्प॑दति॒ दु॒र्गाणि॒ विश्वा॒ ज्ञाम॑द दे॒वोति॑ दु॒रि॒-  
तान्य॒ग्निः ॥ १ ॥

पृतनाऽजितम् । सहमानम् । अग्निम् । उग्रैः । हवामहे ।

परमात् । सधऽस्थात् ।

सः । नः । पर्पत् । अति । दुःऽजानि । विश्वा । क्षामत् । देवः ।

अति । दुःऽजानि । अग्निः ॥ १ ॥

पृतनाजितम् शत्रुसंग्रामजेतारंतदेवाह सहमानम् अभिभवन्तम् ।  
 \* पह अभिभवने इति नैरुक्तो धातुः \* । यद्वा । \* पह  
 मर्पणे \* । देवतागणार्थं यजमानादिभिर्दीयमानं हविर्भारं तितित्त-  
 माणम् अग्निम् मध्यमानं परमात् उत्कृष्टात् सधस्यात् सहस्थानाद्  
 अरणिलक्षणात् । \* “मादस्थयोश्छन्दसि” इति सहस्य सधा-  
 देशः \* । सर्वस्मान्लोकात् उत्कृष्टाद् देवतानां सहनिवासस्था-  
 नाद् द्युलोकाद् वा उग्रैर्वैरुक्तव्यैः स्तोत्रैः हवामहे आह्वयामः । \*  
 हपतेः “बहुलं छन्दसि” इति संप्रसारणम् \* । स आहूतोभिः  
 नः अस्माकं विश्वा विश्वानि दुर्गाणि दुर्गमनानि कष्टानि अरि-  
 ष्टानि अति पर्पत् अतिपारयतु । यथा अस्माकम् आपदो न भवन्ति  
 तथा करोत्विति । \* पृ पालनपूरणयोः इत्यस्मात् लेटि “सिन्ध-  
 हुलम्” इति सिप् । आडागमः \* । अरिष्टहेतुपापनिवारणम्  
 आशास्ते चतुर्थपादेन । देवः दीप्यमानोऽग्निः मध्यमानः दुरितानि  
 दुर्गमनानि पापानि अति क्षामत् अत्यर्थं क्षामाणि दग्धानि करोतु ।  
 अरिष्टहेतुभूतं पापसंघं निःशेषेण विनाशयत्वित्यर्थः । \* क्षामत्  
 इति । क्षै क्षये । अस्मान्निष्ठायां “क्षायो मः” इति निष्ठातकारस्य  
 मकारादेशः । क्षामशब्दात् तत् करोतीत्यर्थे णिच् । तस्मात् लेटि  
 तिप् इकारस्य “इतश्च लोपः” । इति लोपः । “लेटोडाटौ” इति  
 अडागमः । “छन्दस्युभयथा” इति तिप् आर्धधातुकत्वात् “णेर-  
 निटि” इति णिलोपः \* ॥

शत्रुओंको संग्राममें जीतने वाले, देवताओंके लिये यजमान आदिके दिये इविर्भारको सहने वाले अग्निका हम सब लोकोंसे उत्कृष्ट देवताओंके सहनिवासस्थान छुलोकसे उक्थ्य नामक स्तोत्रों के द्वारा आह्वान करते हैं । वह बुलाये हुए अग्निदेव हमें सब कष्टोंके पार पहुँचावे अर्थात् जिस प्रकार हम पर आपत्तियें न पड़े तैसा करे । यह मथे जाते हुए अग्निदेव दुर्गति देने वाले पापोंको बहुत ही भस्म करें । अर्थात् अरिष्टके हेतुभूत पापोंको पूर्णरूपसे नष्ट करें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

इदं यत् कृष्णः शकुनिरभिनिष्पतन्नपीपतत् ।

आपो मा तस्मात् सर्वस्माद् दुरितात् पान्त्वंहसः १

इदम् । यत् । कृष्णः । शकुनिः । अभिऽनिष्पतन् । अपीपतत् ।

आपः । मा । तस्मात् । सर्वस्मात् । दुःऽइतात् । पान्तु । अंहसः १

कृष्णः कृष्णवर्णः शकुनिः पक्षी । काक इत्यर्थः । अभिनिष्पतन् अभितः सर्वतः अभिमुखं वा आकाशमार्गाद् अवपतन् इदं मदीयम् अंगम् अपीपतत् पातयामास पक्षाभ्याम् अभिजघानेति यत् तस्माद् अभिहननजनितात् सर्वस्माद् दुरिताद् दुष्टगमनाद् अंहसः पापाद् मा माम् अभिहितावयवम् आपः अभिमन्त्रिताः पान्तु रक्षन्तु ॥

काले वर्ण वाले पक्षी काकने सामनेसे वा आकाशमार्गसे आकर ( पक्षोंसे ) मेरे अंगोंको पीड़ित किया है, उस अभिघातके कारण दुर्गतिप्रद पापसे मुक्त अभिहितावयवको अभिमन्त्रित जल रक्षा करें ॥ १ ॥

तृतीया ॥

इदं यत् कृष्णः शकुनिस्वामृच्छन्निर्ऋते ते मुखेन ।

अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्र मुञ्चतु ॥ २ ॥

इदम् । यत् । कृष्णः । शकुनिः । अवऽअमृच्छत् । निऽऽर्हते । ते ।

मुखेन ।

अग्निः । मा । तस्मात् । एनसः । गार्हपत्यः । प्र । मुञ्चतु । २ ।

हे निर्ऋते मृत्युदेवते ते तव मुखेन कृष्णः शकुनिः काकः इदं मदीयम् अङ्गम् अवामृच्छत् अवमृष्टवान् । काकः स्वचञ्चुपुटेन मदीयम् अङ्गं नोपहतवान् किं तु मृत्युमुखेनेति काशस्पर्शनदोषः अतिकष्ट इति ज्ञापयितुं निर्ऋतिमुखेन अभिमर्शनवचनम् । ॐ मृश आमर्शने । लुङि “शल इष्टपधाद् अनिटः कसः” इति कसः । काकः अङ्गं मुखेन अवमृष्टवान् इति यत् तस्माद् एनसः पापाद् गार्हपत्यः गृहपतिना मया होमार्थं निहितोभिः एतत्संहको वा मा मां प्र मुञ्चतु मकर्षेण मोचयतु । काकावमर्शनजनितदोषरहितं करोतु ॥

हे मृत्युदेवते ! तेरे मुखके द्वारा जो इस कौएने मेरे अङ्गका स्पर्श किया है ( कौएने अपनी चोंचसे ही मेरे अङ्गको ताड़ित नहीं किया है किंतु मृत्युमुखसे ताड़ित किया है, यह इस बातको ज्ञापित करनेके लिये कहा है, कि-काकस्पर्शन अतिकष्टमद है ) उस पापसे गार्हपत्य अग्नि मुझको मुक्त करें अर्थात् कौएने स्पर्शसे उत्पन्न होने वाले दोषसे रहित करें ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

प्रतीचीनं फलो हि त्वमपांमार्गं स्रोहिथ ।

सर्वान् मच्छन्पथाँ अग्नि वरींयो यावया इतः ॥ १ ॥



प्रतीचीनफलः । हि । त्वम् । अपामार्ग । रुरोहिय ।

सर्वान् । मत् । शपथान् । अधि । वरीयः । यावयाः । इतः ॥१॥

हे अपामार्ग पापापमार्जनसाधन एतत्संज्ञक इध्मप्रकृतिभूत काष्ठ-  
विशेष त्वं हि यस्मात् प्रतीचीनफलः प्रत्यङ्मुखानि फलानि  
यस्य । अग्राद्ग्रारभ्य फलस्य मूलपर्यन्तम् आत्माभिमुखं स्पर्शने  
कण्टकरादित्यदर्शनात् प्रतीचीनफलत्वम् । तादृशः रुरोहिय रूढ-  
वान् असि तस्मात् सर्वान् शपथान् दोषान् मत् मत्तः सकाशात् ।  
❀ अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀ । इतः अस्माद् वरीयः । ❀ क्रिया-  
विशेषणम् एतत् ❀ । उक्तम् अत्यर्थं यावयाः पृथक्कुरु । इतः  
इति मत् इत्यस्य विशेषणम् । अस्मात् काकाभिहतावयवाद् मत्  
इति । यद्वा इतः अस्मात् कारणाद् इति व्याख्येयम् । ❀ यावयाः  
इति । यु मिश्रणामिश्रणयोः । एयन्तात् लेटि आडागमे रूपम् ❀ ॥

हे पापको मार्जित करनेके साधन ईधनरूप चिरचिटे ! तू प्रती-  
चीनफलरूपमें बड़ा है अतः मुझमेंसे सकल दोषोंको पूर्णरूपसे  
दूर कर ॥ ३ ॥

पञ्चमी ॥

यद् दुष्कृतं यच्छमलं यद् वा चेरिम पापया ।

त्वया तद् विश्वतोमुखापामार्गापं मृज्महे ॥ २ ॥

यत् । दुःकृतम् । यत् । शमलम् । यत् । वा । चेरिम । पापया ।

त्वया । तत् । विश्वतः । मुख । अपामार्ग । अप । मृज्महे ॥ २ ॥

यद् दुष्कृतम् दुःखफलाय कृतं पापं दुष्टं कृतं वा दुष्कृतं  
यच्च शमलम् मलिनम् पापम् । वाशब्दो विकल्पवाची । यत्  
पापया । ❀ द्वितीयाया याजादेशः ❀ । यत् पापं चेरिम

चरितवन्तः स्मः । अथ वा पापया पापमृत्तिहेतुभूतया बुद्ध्या यद्  
एनश्चेरिम । ❀ चरतेर्लिटि उत्तमबहुवचने रूपम् ❀ । तत् पापम् हे  
विरवनोमुख सर्वतः प्रसृतशाखायुक्त हे अपामार्ग त्वया साधनेन  
अप मृज्महे अपमार्जयामः अपसारयामः । ❀ मृजूप् शुद्धी । आंदा-  
दिकः ❀ ॥

हम दुःखमय फल देनेवाले जिस पापको कर चुके हैं और जो  
मलिन पाप हमसे घन गया है और पापमृत्तिकी हेतुभूत बुद्धिसे  
जिस पापको हम कर चुके हैं, उस पापको हे चारों ओर शाखा  
वाले चिरचिटे ! तेरे द्वारा हम दूर भगाने हैं ॥ २ ॥

पष्ठी ॥

श्यावदन्ता कुनखिना वण्डेन यत् सहासिम ।

अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदपं मृज्महे ॥ ३ ॥

श्यावदन्ता । कुनखिना । वण्डेन । यत् । सह । आसिम ।

अपामार्ग । त्वया । वयम् । सर्वम् । तत् । अप । मृज्महे ॥ ३ ॥

श्यावदन्ता श्यावाः श्याववर्णा दन्ता यस्य तेन । ❀ “विभाषा  
श्यावारोकाभ्याम्” इति श्यावपदाद् उत्तरस्य दन्तशब्दस्य दत्  
इत्यादेशः ❀ । श्यावदन्तयुक्तेन पुरुषेण कुनखिना कुत्सितानि  
नखानि कुनखानि तद्वता च वण्डेन । निर्वीर्यः पण्डो वण्ड इत्यु-  
च्यते । नपुंसकेन वा सह आशिम भुक्तवन्तः स्मः । ❀ अश  
भोजने । तस्य लिटि उत्तमबहुवचने रूपम् ❀ । अशनं व्यवहार-  
मात्रोपलक्षणम् । एतैः सह व्यवहृतवन्तः स्म इति यद् अस्ति हे  
अपामार्ग त्वया साधनेन सर्वं तत् पापं वयम् अप मृज्महे अपमार्ज-  
यामः निवारयामः ॥

काले पीले रंगसे मिश्रित दाँत वाले, कुत्तिसत नाखूनों वाले, और निर्वीर्य पुरुषके साथ जो हमसे खान पान आदि व्यवहार चन गया है उससे उत्पन्न हुए पापको हे अपामार्ग हम तेरे द्वारा दूर भगाते हैं ॥ ३ ॥

सप्तमी ॥

यद्यन्तरिक्षे यदि वात आस यदि वृक्षेषु यदि बोलपेषु ।  
यदश्वन् पशव उद्यमानं तद् ब्राह्मणं पुनरस्मानुपेतुं १  
यदि । अन्तरिक्षे । यदि । वाते । आस । यदि । वृक्षेषु । यदि ।  
वा । बोलपेषु ।

यत् । अश्वन् । पशवः । उद्यमानम् । तत् । ब्राह्मणम् । पुनः ।  
अस्मान् । उपपेतुं ॥ १ ॥

मन्त्रब्राह्मणात्मको हि वेदो मेघे वाताधिक्ये वृक्षच्छायायां हरितसस्यसंनिधौ पशोश्च समीपे नाध्येतव्यः । तथाभ्ययने सम्यक् पठितोपि वेदो निर्वीर्यो भवति । तद् उक्तम् आपस्तम्बेन स्वाध्याय-धर्मप्रकरणे । “नाश्रे न च्छायायां न पर्यावृत आदित्ये न हरि-ययवान् प्रेक्षमाणो न ग्राम्यस्य पशोरन्ते नारयणस्य नापाम् अन्ते” [ आप० १५. २१. ८ ] इति । अत्र तादृशकालस्थलेषु अधीत-स्यापि वेदस्य वीर्यवत्त्वम् अनेन प्रार्थ्यते । अन्तरिक्षे । मेघाच्छन्ने इति विशेषणसाहित्यं द्रष्टव्यम् । तादृशे अन्तरिक्षे यदि ब्राह्मणम् आस । कर्मविधायकं वाक्यं ब्राह्मणम् इत्युच्यते । एतद् मन्त्रस्यापि उपलक्षणम् । मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदो यदि तत्राधीत आसीत् । “मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्” इति हि आपस्तम्बवचनम् । यद्वा ब्राह्मणम् ब्रह्मणो ब्राह्मणस्य अध्येत-

व्यत्वेन संबन्धि । वेदवाक्यम् इत्यर्थः । वाते वायौ । प्रभूते सतीति विशेषणं द्रष्टव्यम् । यदि आस ब्राह्मणम् अधीतम् आसीत् । ❀ अस्तेर्लिङि भूभावाभावश्चान्दसः ❀ । यदि ब्राह्मणं वृक्षेषु वृक्षच्छायायाम् आस । वाशब्दो विकल्पवाची । उलपेषु । उलप-शब्दः सस्यमात्रोपलक्षणम् । यदि उलपेषु ब्राह्मणम् अधीतम् आसीत् । तथा पशवः ग्राम्या आरण्याश्च उद्यमानम् अभिधीय-मानम् अधीयमानं यद् ब्राह्मणम् अश्रवन् अशृण्वन् । ❀ शृणो-तेर्लिङि सामान्यविहितः शवेव छन्दोविषयत्वाद् अवस्थितः । उद्य-मानम् इति । वद व्यक्तायां वाचि । कर्मणि यकि यजादित्वात् संपसारणम् ❀ । तत् तादृशेषु निमित्तेषु अधीतं ब्राह्मणम् अस्मान् अधीतवतः पुनरुपैतु निषिद्धकालस्थलेषु अध्ययनेन अस्मत्तो निष्क्रान्तं ब्राह्मणं पुनः वीर्यवत्त्वेन फलप्रदं सत् आगच्छतु ॥

( मन्त्र और ब्राह्मणरूप वेदको मोघ होने पर, अधिक वायु ( अंधड़ ) चलने पर, वृक्षकी छायामें, हरे धान्यके पास, और पशुके पास नहीं पढ़ना चाहिये । क्योंकि-इस प्रकार अध्ययन करने पर भली प्रकार पढ़ा हुआ वेद भी मोघ होजाता है । इसी बातको आपस्तम्बनुनिने स्वाध्यायधर्मप्रकरणमें कहा है, कि-‘नाम्ने न च्छायायां न पर्यावृत्त आदित्ये न हरितयवान् प्रेक्षमाणे न ग्राम्यस्य पशोरन्ते नारण्यस्य नापां अन्ते’ [ आप-स्तम्ब १५ । २१ । ८ ] और इस मन्त्रसे ऐसे स्थलोंमें पढ़े हुए वेदके वीर्यवत्त्वकी भी प्रार्थना की गई है, कि-मेघसे आच्छन्न अन्तरिक्षमें जो ब्राह्मणसे उपलक्षित मन्त्रभागरूप भी वेद पढ़ा गया, अंधड़में पढ़ा गया, वृक्षकी छायामें पढ़ा गया, हरितसस्यों में पढ़ा गया है और जिसको बोलते समय पशुओंने सुना है तो ऐसे स्थलोंमें पढ़ा हुआ वेद हम पढ़ने वालोंको फिर प्राप्त हो अर्थात् निषिद्ध समय और स्थलोंमें अध्ययन करनेके कारण हम

से निकला ब्राह्मण फिर वीर्यवान् होनेसे हमको फल देता हुआ हममें आवे ॥ १ ॥

अष्टमी ॥

पुनरैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च ।

पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव १

पुनः । मा । आ । एतु । इन्द्रियम् । पुनः । आत्मा । द्रविणम् ।

ब्राह्मणम् । च ।

पुनः । अग्नयः । धिष्ण्याः । यथाऽस्थाम । कल्पयन्ताम् । इह । एव १

इन्द्रियम् इन्द्रेण दत्तं वीर्यम् । ❀ “इन्द्रियम् इन्द्रलिङ्गम्” इति सूत्रेण इन्द्रियशब्दो निपातितः ❀ । यद्वा । ❀ इन्द्रियम् इति जातावेकवचनम् ❀ । चक्षुरादीन्द्रियाणि । मा मां पुनरैतु पुनरागच्छतु । आत्मा देहाभिमानि । पुनरैतु इत्यनुपङ्गः । द्रविणम् प्रतिग्राह्यं धनम् । माम् ऐतु इत्यनुपङ्गः । तथा ब्राह्मणम् मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदश्च । पुनरैतु इति संबन्धः । तथा धिष्ण्याः होत्रादिधिष्येषु विहृता अग्नयः इहैव अस्मिन्नेव विहृतप्रदेशे यथास्थाम । यथास्थानम् इत्यर्थः । ❀ तिष्ठते : “आतोमनिन्” ❀ । पुनः कल्पयन्ताम् समर्थाः प्रवृद्धा भवन्तु ॥

इन्द्रदेवका दिया हुआ वीर्य अथवा चक्षु आदि इन्द्रियें मुझमें फिर आवें, देहाभिमानि जीवात्मा भी मुझमें फिर आवे, प्राति-ग्राह्य धन मुझमें आवे, और मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद भी मुझमें फिर आवे, होत्र आदि स्थानोंमें विहार करने वाली अग्नियें भी यथा-स्थानमें फिर समृद्ध होवें ॥ १ ॥

नवमी ॥

सरस्वति व्रतेषु ते दिव्येषु देवि धामसु ।

जुपस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः ॥ १ ॥

सरस्वति । व्रतेषु । ते । दिव्येषु । देवि । धामसु ।

जुपस्व । हव्यम् । आहुतम् । प्रजाम् । देवि । ररास्व । नः । १

हे सरस्वति वर्णपदादिरूपेण प्रसरणवति हे देवि ते तव संवन्धिषु व्रतेषु कर्मसु दिव्येषु दिवि भवेषु देवाहोषु वा धामसु स्थानेषु गार्हपत्यादिरूपेषु । ❀ धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि मानानि जन्मानि इति हि यास्कः [ नि० ६, २८ ] ❀ । तेषु स्थानेषु आहुतम् अभिमुखं प्रक्षिप्तं हव्यम् होतव्यं हविः जुपस्व सेवस्व । किं च हे देवि सरस्वति नः अस्मभ्यं प्रजाम् प्रकर्षेण जायमानां पुत्रादिरूपां ररास्व देहि । ❀ रातेः “बहुलं चन्दसि” इति शपः श्लुः । व्यत्ययेन आत्मनेपदम् ❀ ॥

हे वर्ण पद आदिरूपसे प्रसरण करने वाली सरस्वती देवि ! आपके कर्मोंमें वा देवयोग्य गार्हपत्य आदि स्थानोंमें आहुत हव्य का आप सेवन करिये । और हे सरस्वति देवि ! आप हमको पुत्र पौत्र आदिरूप प्रजाको पुष्कलतासे दीजिये ॥ १ ॥

दशमी ॥

इदं ते हव्यं घृतवत् सरस्वतीदं पितॄणां हविरास्यं

यत् ।

इमानि त उदिता शतमानि तेभिर्वयं मधुमन्तः स्याम २

इदम् । ते । हव्यम् । घृतञ्चत् । सरस्वति । इदम् । पितॄणाम् ।  
हविः । आस्यम् । यत् ।

इमानि । ते । उदिता । शम्भुमानि । तेभिः । वयम् । मधुश्मन्तः ।  
स्याम ॥ २ ॥

हे सरस्वति ते त्वदर्थं हूयमानं घृतञ्चत् घृतोपेतं यद् इदं हव्यम्  
हविः । पितॄणाम् । अर्थायेति शेषः । आस्यम् क्षेपणीयम् ।  
❀ असु क्षेपणे । “ऋहलोर्ण्यत्” ❀ । पित्रर्थं हूयमानं यद् इदं  
हविः । शन्तमानि अस्माकम् अत्यर्थं सुखकराणि यानि इमानि  
हवींषि हे सरस्वति ते त्वदर्थम् उदिता उदितानि उक्तानि । ❀ वद  
व्यक्तायां वाचि । अस्मात् कर्मणि निष्ठा । यजादित्वात् संप्रसार-  
णम् ❀ । त्वदर्थम् उक्तानि शन्तमानि यानि इमानि हवींषि इति  
वा योज्यम् । एकत्र श्रुतो यच्छब्दः सर्वत्र संवध्यते । तृतीयपादे  
विभक्तिविपरिणामेन योज्यः । तेभिस्तैः त्वदर्थं हुतैर्हविर्भिर्यं मधु-  
मन्तः मधुररसोपेतान्नवन्तः स्याम भवेम ॥

[ इति ] षष्ठेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे सरस्वति देवि ! आपके निमित्त जो घृतप्लुत हवि होमी जा  
रही है, इसको आप पितरोंके निमित्त प्रेरित करिये । आपके  
लिये जो कल्याणप्रद हवि हमने कही है उनसे हम मधुररस भरे  
अन्नसे सम्पन्न होजावें ॥ २ ॥

छठे अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त ( ३८५ ) ॥

“शिवा नः” “शं नो वातो वातु” इत्यनयोर्वृद्धरणे पाठात्  
शान्त्युदकाभिमन्त्रणादौ विनियोगः । “शिवा नः [ ७. ७१ ]  
शं नो वातो वातु [ ७. ७२ ] अग्निं ब्रूमो वनस्पतीन्” [ ११. ६ ]  
इति हि [ कौ० १. ६ ] सूत्रम् ॥

अभिचारकर्मणि “यत् किं चासौ” इति पञ्चर्चेन मध्यमपलाशेन फलीकरणान् जुहुयात् ॥

दर्शपूर्णमासयोः “परि त्वाग्ने पुरं वयम्” इत्यनया तण्डुलानां पर्यग्निकरणं कुर्यात् ॥

“ब्रह्मणा शुद्धाः [ ११. १. १८ ] इति तण्डुलान् परि त्वाग्ने पुरं वयम् [ ७. ७४ ] इति त्रिः पर्यग्निं करोति” इति हि कौशिकं सूत्रम् [ कौ० १. २ ] ॥

सोमयागे माध्यन्दिनसवने धिष्येयाग्निम् अवलोकयन् “परि त्वाग्ने पुरं वयम्” इति ब्रह्मा यजमानश्च जपेत् । “धिष्येयम् अवेक्ष्य परि त्वाग्ने इति जपति ब्रह्मा च” इति [ वै० ३. ११ ] ॥

तथा अग्निचयने उत्सार्य परिलिख्यमानं मृत्पिण्डम् अनया ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । “परि त्वाग्ने इति मृत्पिण्डं परिलिख्यमानम्” इति वैतानं सूत्रम् [ वै० ५. १ ] ॥

सोमयागे प्रवर्ग्ये घर्मधुग्दोहार्थम् उत्तिष्ठतः अध्वर्यादीन् “उत्तिष्ठताव पश्यत” इत्यनया ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । “घर्मधुग्दोहायोत्तिष्ठत उत्तिष्ठताव पश्यत” इति वैतानं सूत्रम् [ वै० ३. ४ ] ॥

“शिवा नः” और “शं नो वातु” इन दोनों ऋचाओंका वृहद्गणमें पाठ है अन एव इनका शान्तिजलके अभिमन्त्रण करने आदिमें विनियोग है । इस विषयमें कौशिकसूत्र ६ । १ को प्रमाण भी है, कि—“शिवा नः ( ७ । ७१ ) शं नो वातु ( ७ । ७२ ) अग्निं ब्रूमो वनस्पतीन्” ( ११ । ६ ) ॥

अभिचारकर्ममें “यत् किं चासौ” इस पञ्चर्चसे मध्यमपलाश के द्वारा फलीकरणोंकी आहुति देय ।

दर्शपूर्ण मासमें “परि त्वाग्ने पुरं वयम्” ऋचासे तण्डुलोंका पर्यग्निकरण करे ।

इस विषयमें कौशिकसूत्र १ । २ का प्रमाण भी है, कि—



“ब्राह्मण शुद्धाः ( ११ । १ । १८ ) इति तण्डुलान् परि त्वाग्ने  
पुरं वयम् ( ७ । ७४ ) इति त्रिः पर्याग्निकरोति” ॥

सोमयागके माध्यन्दिनसवनमें धिष्ण्याग्निको देखता हुआ  
“परि त्वाग्ने पुरं वयम्” ऋचाका ब्रह्मा और यजमान जप करें  
इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । ११ का प्रमाण भी है, कि—“धिष्यथम्  
अवेक्ष्य परि त्वाग्न इति जपति ब्रह्मा च” ॥

तथा अग्निचयनमें कुण्डके लिये फोड़ी जाती हुई मिट्टीका ब्रह्मा  
इस ऋचासे अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ५ । १ का  
प्रमाण भी है, कि—“परि त्वाग्र इति मृत्पिण्डं परिलिख्यमानम्” ॥

सोमयागके प्रवर्ग्यमें घर्म दुग्दोहके लिये उठतेहुए अश्वयु आदिका  
ब्रह्मा “उत्तिष्ठतावपश्यत” ऋचासे अनुमन्त्रण करे, इस विषयमें  
वैतानसूत्र ३ । ४ का प्रमाण भी है, कि—“घर्म दुग्दोहायोत्तिष्ठत  
उत्तिष्ठतावपश्यत” ॥

तत्र प्रथमा ॥

शिवा नः शंतमा भव सुमृलीका सरस्वति ।

मा ते युयोम संदृशः ॥ १ ॥

शिवा । नः । शम्स्तमा । भव । सुमृलीका । सरस्वति ।

मा । ते । युयोम । समृदृशः ॥ १ ॥

हे सरस्वति वर्णपदादिरूपेण प्रसरणवति वाग्देवते शिवा सर्व-  
सुखरूपा त्वं नः अस्माकं शंतमा अत्यर्थं रोगनिर्हरणक्षमा भव ।  
❀ शं योरित्यत्र यास्केन शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्  
[ नि० ४. २१ ] इत्युक्तम् ❀ । यद्वा अत्यर्थं सुखपदा भव ।  
सुमृलीका । ❀ “मृलीकम्” इति सुखनाम ❀ । शोभनसुखपदा  
भव । शंतमेति सुमृलीकेति पदद्वयेन फलविशेषेण सुखदाने तार-

तन्म्यम् उक्तम् इति मन्तव्यम् । हे सरस्वति ते तव संदृशः समीची-  
नाद् दर्शनाद् यथार्थस्वरूपज्ञानाद् मा युयोम पृथग्भूता मा भवेम ।  
❀ र्यातेल्लोदि टत्तमवद्बुवचने शपः रलुः । “अनित्यम् आगमशास-  
नम्” इति आहभावः । व्यत्ययेन गुणः ॥

हे वर्ण पद आदिरूपसे प्रसरण करने वाली वाग्देवते सरस्वति !  
सर्वमुखरूपा आप हमारे रोगको पूर्णरूपसे शान्त करने वाली  
हूजिये । शोभन मुख देने वाली हूजिये । हे सरस्वति ! आपके  
यथार्थस्वरूपके दर्शनसे हम कभी वञ्चित न होवें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

शं नो वातो वातु शं नस्तपतु सूर्यः ।

अहानि शं भवन्तु नः शं रात्री प्रति धीयतां शमुपा  
नो व्युञ्जतु ॥ १ ॥

शम् । नः । वातः । वातु । शम् । नः । तपतु । सूर्यः ।

अहानि । शम् । भवन्तु । नः । शम् । रात्री । प्रति । धीयताम् ।

शम् । उपाः । नः । वि । उञ्जतु ॥ १ ॥

वातः वहिः संचरन् वायुः नः अस्माकं शं वातु मुखकरः सन्  
चरतु । तथा सूर्यः सृष्टु सर्वस्य प्रेरक आदित्यः नः अस्माकं शम्  
मुखं तपतु संतापकारी मा भवतु । अहानि दिनानि च नः अस्माकं  
शं मुखं भवन्तु । अहस्तु मुखम् अस्माकं भवत्वित्यर्थः । रात्री ।  
❀ “रात्रेश्चाजसां” इति ङीप् । जातावेकवचनम् ❀ । शम् मुखं  
प्रति धीयताम् प्रतिदधातु सन्दधातु । न इत्यनुपङ्गः । ❀ दधातेर्व्य-  
त्ययेन कर्तरि कर्मप्रत्ययः ❀ । यद्वा । ❀ धीङ् आधारे इति दिवादी  
पठ्यते ❀ । रात्री शम् मुखं यथा भवति तथा प्रति धीयताम् ।

प्रतितिष्ठत्यर्थः । तथा उषाः उपःकालः । ॐजातावेकवचनम् ॥  
उपसः नः अस्माकं शम् सुखं यथा भवति तथा व्युच्छतु विवा-  
सिताः प्रकाशिता भवन्तु । ॐ उद्धी विवासे ॥

बाहर विचरण करने वाले वायुदेव ! हमें सुखदायक होते हुए  
विचरण करें । तथा सुखपूर्वक सबको प्रेरित करने वाले सूर्यदेव  
हमें सुखप्रद ताप दें, सन्ताप न दें । दिन हमें सुखदायक हों अर्थात्  
दिवसोंमें हमको सुख हो, रात्रि हमें सुख दें और उपःकाल हम  
को सुखदायक होते हुए उदित हों ॥ १ ॥

तृतीया ॥

यत् किं चासौ मनसा यच्च वाचा यज्ञैर्जुहोति हविषा  
यजुषा ।

तन्मृत्युना निश्च्युतिः संविदाना पुरा सत्यादाहुतिं  
हन्त्वस्य ॥ १ ॥

यत् । किम् । च । असौ । मनसा । यत् । च । वाचा । यज्ञैः ।  
जुहोति । हविषा । यजुषा ।

तत् । मृत्युना । निःश्च्युतिः । सम्विदाना । पुरा । सत्यात् ।  
आहुतिम् । हन्तु । अस्य ॥ १ ॥

असौ । अदःशब्दो विप्रकृष्टवाची । दूरस्थः शत्रुः यत् किं च  
कर्म शत्रुहननरूपं मनसा । कर्तुं ध्यायतीत्यध्याहारः । यच्च कर्म  
वाचा । करोमीति वदतीत्यध्याहारः । तथा यज्ञैः अभिचारकर्मभिः  
हविषा तदुचितेन द्रव्येण यजुषा मन्त्रेण जुहोति होमं करोति ।  
अस्य प्रतिपन्ननिवारणार्थं मनोवाक्यैरुपायं कुर्वतः शत्रोः तत्

मनसा ध्यातं वाचा उक्तं 'कर्म आहुतिम् क्रियया निष्पाद्यमानं होमकर्म सत्यात् सत्यभूतात् कर्मफलात् पुरा पूर्वमेव निश्च्यतिः पापदेवता मृत्युना संविदाना ऐकमत्यं प्राप्ता सती हन्तु विनाशयत् । शत्रुणा करणत्रयेण अस्मद्विषये क्रियमाणम् अभिचारकर्म यावत् फलप्रदं भवति तस्मात् पूर्वमेव मृत्युसंहिता पापदेवता तं शत्रुं विनाशयत्वित्ययः । ॐ संविदानेति । संपूर्वाद् वेत्तेः "समो गम्यच्छिद्धः" इति आत्मनेपदम् ॐ ॥

यह दूरस्थ शत्रु शत्रुहन्त आदिरूप कर्मको मनमें करनेका ध्यान कर रहा हो, और जिस कर्मको वाणीसे "करता हूँ" कह रहा हो और अभिचारकर्मोंसे हवियोंसे और मंत्रोंसे जो होम कर रहा हो तो इस मन वाणी वा शरीरसे उपाय करने वाले मनमें विचारे हुए, वाणीसे कहे हुए वा आहुतिके द्वारा निष्पन्न होने वाले होम कर्मके सत्य होनेसे पहिले ही पापदेवता निश्च्यतिमृत्यु के साथ एकमत होकर नष्ट कर देय । अर्थात् शत्रुका तीनों प्रकार से हमारे लिये किया हुआ कर्म जब तक फलप्रद हो उससे पहिले ही मृत्युकी सहायतासे पापदेवता उस शत्रुको नष्ट कर डाले ॥१॥

चतुर्थी ॥

यातुधाना निश्च्यतिरादु रक्षस्ते अस्य घ्नन्त्वन्वृतेन सत्यम्  
इन्द्रं पिता देवा आज्यमस्य मध्नन्तु मा तत् संपादि  
यदसौ जुहोति ॥ २ ॥

यातुऽध्यानाः । निऽश्च्यतिः । आत् । ऊं इति । रक्षः । ते । अस्य ।  
घ्नन्तु । अन्वृतेन । सत्यम् ।

इन्द्रोऽपिताः । देवाः । आज्यम् । अस्य । मथ्नन्तु । मा । तत् ।  
सम् । पादि । यत् । असौ । जुहोति ॥ २ ॥

यातुधाना । यातवो यातनाः पीडास्तासां धानं निधानं यस्याम्  
अस्तीति सा यातुधाना परपीडाकारिणी निश्च॑तिः निकृष्टगमना  
पापराक्षसी । आदु । अपि चेत्यर्थः । रक्षः राक्षसः । ते निश्च॑ति-  
राक्षसाः अस्य शत्रोः सत्यम् यथार्थं कर्मफलम् अनृतेन असत्येन  
फलेन घ्नन्तु विनाशयन्तु । यथा शत्रूणा अस्मद्विषये क्रियमाणम्  
अभिचारकर्म स्वोचितफलप्रदं न भवति किं तु विपरीतफलप्रदं  
भवति तथा कुर्वन्तु इत्यर्थः । फलप्रतिबन्धं प्रार्थ्य तदीयकर्मणो  
बाधां प्रार्थयते । इन्द्रेविताः इन्द्रेण प्रेरिता देवाः अस्य शत्रोः  
आज्यम् आज्यसाधनं होमकर्म मथ्नन्तु विनाशयन्तु । ❀ मन्थ  
विलोडने । क्रयादिः ❀ । असौ शत्रुः यज्जुहोति अस्मद्बाधार्थं  
यत् कर्म करोति तत् कर्म मा सं पादि मा संपन्नं भवतु । फल-  
प्रदं न भवत्वित्यर्थः । यद्वा अङ्गविकलं भवतु । ❀ पद गतौ ।  
“चिण् से पदः” इति कर्तरि ल्लेशिण् आदेशः ❀ ॥

यातनाओंकी खजाना यातुधानी पापराक्षसी निश्च॑ति और  
राक्षस शत्रुके यथार्थ कर्मफलको असत्यसे नष्ट करदे अर्थात्  
शत्रुका हमारे लिये कियाहुआ अभिचारकर्म जिस प्रकार उचित  
फल देने वाला न हो किंतु विपरीत फल देने वाला होजाय तैसा  
करें । (फलप्रतिबन्धकी प्रार्थना कर उसके कर्म के बाधाकी प्रार्थना  
करते हैं, कि- इन्द्रदेवके प्रेरित देवता इस शत्रुके घृतसाधन होम-  
कर्मको नष्ट कर डालें यह शत्रु हमको बाधा देनेके लिये जिस  
कर्मको कर रहा है वह सम्पन्न न हो अर्थात् फलप्रद न हो,  
अंगविकल होजावे ॥ २ ॥

पञ्चमी ॥

अजिराधिराजो श्येनौ संपातिनाविव ।

आज्यं पृतन्यतो हतां यो नः कश्चाभ्यघायति ।३।

अजिरऽअधिराजौ । श्येनौ । संपातिनौऽइव ।

आज्यम् । पृतन्यतः । हताम् । यः । नः । कः । च । अभिऽअघायति३

अजिराधिराजौ । ॐ अज गतिक्षेपणयोः इत्यस्माद् अजिर-  
जिगिर० [ उ० १. ५३ ] इति सूत्रेण अजिरशब्दो निपातितः ॐ ।  
शत्रुक्षेपणसमर्थः अजिरः । अधिः राजा अधिराजः ।  
ॐ “रागाढःसन्निभ्यष्टच्” इति टच् समासान्तः ॐ । एतन्ना-  
मानौ मृत्युदत्तौ संपातिनौ आराणमार्गाद् द्वेप्यस्य पक्षिण उपरि  
निष्पतनशीलौ श्येनौ एतन्नामधेयो पक्षिणाविव पृतन्यतः संग्रा-  
मेच्छोः पुरुषस्य आज्यम् घृतसाधनकं होमकर्म हताम् हिंस्ताम् ।  
ॐ हन हिंसागत्योः । लोटि तसस्ताम् आदेशः ॐ । पृतन्यच्चन्द्रा-  
र्थम् आह । यः कश्च शत्रुः नः अस्मान् अभ्यघायति अभि-  
मुखं हिंसारूपं पापं नर्तुम् इच्छति तस्य आज्यं हताम् इति संबंधः ।  
ॐ अघराव्शत् “द्वन्दसि परेच्चायाम्” इति ययचि “अश्वाघ-  
स्याम्” इति आचक्षम् ॐ ॥

अजिर और अधिराज नाम वाले मृत्युके दत्त, आराणमार्ग  
से शत्रुपक्षी पर गिरने वाले बाजोंकी समान, संग्राह करना चाहने  
वाले पुरुषके घृतसाधनक होमकर्मको नष्ट कर डालें और जो  
शत्रु हमारे अभिमुख आकर हिंसारूप पापको नरना चाहता है  
उसके घृतसे सिद्ध होने वाले होमको नष्ट कर डालें ॥ ३ ॥

पष्ठी ॥

अपाञ्चौ त उभौ वाह् अपि नह्याम्यास्यम् ।

अग्नेर्देवस्य म॒न्युना तेन॑ तेवधिषं ह॒विः ॥ ४ ॥

अपाञ्चौ । ते । उभौ । बाहू इति । अपि । नह्यामि । आस्यम् ।

अग्नेः । देवस्य । म॒न्युना । तेन । ते । अवधिषम् । ह॒विः ॥ ४ ॥

अनेन अ॒चेन शत्रुं संबोध्य॑ ब्रूते । हे अस्मद्विषये अभिचारकर्तः ते तव उभौ बाहू होमकर्मणि व्यापृतौ पाणी अपाञ्चौ अपाञ्चनौ पृष्ठभागसंबद्धौ अपि नह्यामि बध्नामि । यथा होमकरणशक्तौ न भयतः तथा करोमि । तथा आस्यम् मन्त्रोच्चारणसमर्थं मुखम् अपि नह्यामि यथा वदनात् होमसाधनभूतमन्त्रा नोद्गच्छन्ति तथा करोमि । तेन बाह्वास्यबन्धनेन कारणेन देवस्य । ❀ दीव्यतेर्विजिगीषार्थात् पचाद्यच् ❀ देवस्य विजयमानस्य अग्नेः म॒न्युना तेन॑ सा क्रोधेन वा ते तव हविः होतव्यं द्रव्यं तत्साधनकं कर्म अवधिषम् हनिष्यामि । ❀ हन्तेश्चान्दसो लुब्धे ❀ ॥

हे हमारे लिये अभिचारकर्मको करने दाले शत्रो ! होमकर्म में रांलग्न तेरी दोनों भुजाओंको मैं धीठकी ओर करके बाँधता हूँ अर्थात् जिस प्रकार वे होम करनेमें समर्थ न रहें तिस प्रकार बाँधता हूँ । और तेरे मन्त्रोच्चारण करनेमें समर्थ मुखको भी बाँधता हूँ अर्थात् तेरे मुखमेंसे होमके साधनभूत मन्त्र न निकल सकें तिस प्रकार करता हूँ । और इस बाहुमुखबन्धनके कारण विजयमान अग्निदेवके क्रोधसे मैं तेरे कर्मको नष्ट कर डालूँगा ॥ ४ ॥

सप्तमी ॥

अपि॑ नह्यामि ते बा॒हू अपि॑ नह्याम्यास्यम् ।

अग्नेर्घोरस्य॑ म॒न्युना तेन॑ तेवधिषं ह॒विः ॥ ५ ॥

अपि । नह्यामि । ते । बाहू इति । अपि । नह्यामि । आस्यम् ।

अग्नेः । घोरस्य । मन्थुना । तेन । ते । अवधिपम् । हविः ॥५॥

पूर्वमन्त्रसमानार्थत्वात् पूर्वेण व्याख्यातकन्पोयं मन्त्रः । घोरस्य भयङ्करस्य इति विशेषः ॥

हे हमारे लिये अभिचारकर्म करने वाले शत्रो ! होमकर्म में संलग्न तेरी दोनों भुजाओंको मैं पीठकी ओर करके बाँधता हूँ अर्थात् वे जिस प्रकार होम करनेमें असमर्थ रहें तिसप्रकार बाँधता हूँ, और तेरे मन्त्रोच्चारण करनेमें समर्थ मुखको भी बाँधना हूँ अर्थात् तेरे मुखमेंसे होमके साधनभूत मन्त्र न निकल सकें, तिस प्रकार करता हूँ और इस कारण अग्निदेवके भयङ्कर क्रोधसे तेरी हविसे सिद्ध होने वाली इष्टिओ में नष्ट करता हूँ ॥ ५ ॥

अष्टमी ॥

परिं त्वाम्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि ।

धृपद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भङ्गुरावतः ॥ १ ॥

परिं । त्वा । अग्ने । पुरम् । वयम् । विप्रम् । सहस्य । धीमहि ।

धृपद्वर्णम् । दिवेदिवे । हन्तारम् । भङ्गुरावतः ॥ १ ॥

हे सहस्य । सह इति बलनाम । तस्मै हितम् । “तस्मै हितम्” इति यत् । सहसो बलाद् वा जात । मथनेन निपन्नत्वात् । “मवे दन्दसि” इति यत् मत्ययः । तादृश हे अग्ने पुरम् पूरकं कर्षफलानां विप्रम् । मेधाविनामैतत् । मेधाविनं त्वा त्वां वयं परि धीमहि रक्षसाम् अपहननाय परितो धारयायः परिधिं वा कुर्मः । दधातेलिङि द्विर्वचनाभावश्चान्दसः । शपो वा लुक् । अग्निं विशिनष्टि । धृपद्वर्णम् धर्षकरूपं भङ्गुरावतः भङ्ग-शीलकर्मवतो रक्षसः दिवेदिवे अन्वहं हन्तारम् विनाशयितारम् ॥



हे मय कर बलपूर्वक उत्पन्न करे हुए अग्ने ! हम कर्मफलोंके  
 पूरक आप विद्वान्को राज्ञसोंका संहार करनेके लिये चारों  
 ओरसे धारण करते हैं, हे अग्निदेव ! आपका रूप धर्षक है और  
 यज्ञ आदिको भंग करनेके स्वभाव वाले राज्ञसोंका आप प्रति-  
 दिन संहार कर डालते हैं ॥ १ ॥

नवमी ॥

उत् तिष्ठताव पश्यतेन्द्रस्य भागश्रुत्वियम् ।

यदि श्रातं जुहोतन यद्यश्रातं ममत्तन ॥ १ ॥

उत् । तिष्ठत । अव । पश्यथ । इन्द्रस्य । भागम् । श्रुत्वियम् ।

यदि । श्रातम् । जुहोतन । यदि । अश्रताम् । ममत्तन ॥ १ ॥

हे श्रुत्वियः उत्तिष्ठत आसनाद् ऊर्ध्वं तिष्ठत नोपविशत ।  
 ❀ ऊर्ध्वकर्मत्वाद् आत्मनेपदाभावः ❀ । उत्थाय च श्रुत्वियम्  
 श्रुतौ वसन्तादिकाले भवम् इन्द्रस्य भागम् भजनीयं धर्मं पच्य-  
 मानम् अव पश्यत निरीक्षध्वम् । ❀ श्रुतुशब्दाद् भवार्थे “छन्दसि  
 घस” । “सिति च” इति पदसंज्ञया भसंज्ञाया वाधाद् ओर्गुणा-  
 भावः । भजेः कर्मणि घञन्तो भागशब्दः ❀ । श्रातम् । हविः-  
 परतया नपुंसकत्वम् । यदि स भागः श्रातः परुस्तर्हि जुहोतन  
 इन्द्रार्थम् अग्नौ जुहुत । ❀ “तप्तनप्तनयनाश्च” इति तस्य तनवा-  
 देशः । पिच्वाद् गुणः ❀ । अश्रातम् । अत्रापि हविःपरतया  
 नपुंसकत्वम् । यदि अश्रातः अपक्वस्तर्हि ममत्तन पचत । तप्तानाम्  
 अपां मदन्तीशब्दव्यवहारदर्शनाद् अत्र ममत्तनेति शब्दस्य तप्तं  
 कुरुतेत्यर्थो युक्तः । यद्वा यदि अपक्वस्तर्हि पाकपर्यन्तं ममत्तन इन्द्रं  
 स्तुतिभिर्मदयतेति । ❀ श्रीवृपाके इत्यस्माद् निष्ठा[याम्] “अप-  
 स्पृधेयाम् आनृचुः०” इति सूत्रे श्राभावो निपात्यते ❀ ॥

हे ऋत्विजों ! आसनसे ऊपरको उठो, बैठे न रहो और उठ कर वसन्तआदिक ऋतुमें होने वाले ऋतुमें इन्द्रके वनते हुए (परने हुए ) भागका निरीक्षण करो, यदि भाग पक्व होगया हो तो उसकी इन्द्रके लिये अग्निमें आहुति दो और पक्व न हुआ हो तो पकने तक इन्द्रको स्तुतियोंसे प्रसन्न करते रहो ॥ १ ॥

दशमी ॥

श्रा॒तं ह॒विरो ऽपि॒न्द्र प्र या॒हि ज॒गाम॒ सूर॑ अ॒ध्व॒नो  
वि म॒ध्यम् ।

परि॑ त्वा॒सते नि॒धिभिः॑ सखा॒यः कुल॒पा न ब्रा॑जप॒तिं  
चर॑न्तम् ॥ २ ॥

श्रा॒तम् । ह॒विः । ओ इति॑ । सु । इन्द्र॑ । प्र । या॒हि । ज॒गाम॑ ।

सूरः॑ । अध्व॒नः । वि । म॒ध्यम् ।

परि॑ । त्वा । आ॒सते॑ । नि॒धिभिः॑ । सखा॒यः । कुल॒पाः । न ।

ब्रा॒जप॒तिम् । चर॑न्तम् ॥ २ ॥

हे इन्द्र हविः दधिघर्माख्यं त्वदीयं श्रातम् पश्यम् । ओ आ उ सु सुष्ठु मा याहि प्रकर्षेण शीघ्रम् आगच्छ । सूरः सूर्यः अध्वनः गन्तव्यस्य मार्गस्य वि मध्यम् विकलं मध्यम् ईषद् ऊर्जं मध्यभागं जगाम गतवान् । तव यागार्थं मध्याह्नो जात इत्यर्थः । सखायः समानख्याना ऋत्विजश्च निधिभिः निहितैः अभिपुत्र्य आसादितैः सोमैः सार्धं त्वा त्वा पर्यासते पथुपासते । तत्र दृष्टान्तः । कुलपा न । कुलस्य वंशस्य रक्षकाः पुत्रा यथा ब्राजपतिम् ब्राजा गन्तव्या गृहास्तेषां पतिं चरन्तम् गच्छन्तम् उपासते तथेत्यर्थः ।

ॐ ब्रज गतौ । अस्मात् कर्मणि धन् । “अजिब्रज्योश्च” इति  
कृत्वनिषेधः ॥

[ इति ] षष्ठेऽनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

हे इन्द्रदेव ! आपकी दधिघर्म नामक हवि पक्क होगई है,  
इसलिये आप शीघ्रतासे आइये, सूर्यदेव आधेसे कुछ ही कम  
मार्गमें पहुँच चुके हैं अर्थात् आपके यागके लिये मध्याह्न होगया  
है । और आपकी समान प्रसिद्धि वाले ऋत्विज भी निचोड़ कर  
रखे हुए सोमोंको लिए हुए आपकी इस प्रकार उपासना कर  
रहे हैं, जिस प्रकार कुलके रक्तक पुत्र विचरण करते हुए गृहपति  
की उपासना करते हैं ॥ २ ॥

छठे अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त ( ३९० ) ॥

अग्निष्टोमे प्रवर्ग्ये ह्यमानम् आज्यं “आतं मन्ये” इति सूक्तेन  
ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । “उप ह्ये [ ७. ७७. ७ ] इति घर्मदुघाम् ।  
घर्मसूक्तेन [ ७. ७७ ] घर्मं ह्यमानम्” इति हि वैतानं सूत्रम्  
[ वै० ३. ४ ] ॥

अग्निष्टोमे माध्यन्दिनसवने दधिघर्महोमं “आतं मन्ये” इति  
ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । “आतं मन्ये इति दधिघर्महोमम् । घर्मवज्रज्ञः  
इति वैतानमूत्रात् [ वै० ३. ११ ] ॥

प्रवर्ग्ये होतृकर्तृकं वषट्कारम् अनुवषट्कारं च “स्वाहाकृतः”  
इति द्वाभ्यां ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । “स्वाहाकृत इति द्वाभ्यां घर्मस्य  
वषट्कृतेऽनुवषट्कृते” इति हि वैतानं सूत्रम् [ वै० ३. ४ ] ॥

प्रवर्ग्ये दुह्यमानां घर्मदुघाम् “उप ह्ये” इति ब्रह्मा अनुमन्त्र-  
येत् । वैताने सूत्रितम् । “उप ह्ये इति घर्मदुघाम्” इति [ वै० ३. ४ ] ॥

प्रवासं करिष्यन् “सूयवसात्” इत्यनया स्वकीयान् पशून्  
अभिमन्त्रयेत् । “सूयवसाइ इति सूयवसे पशून् अभिमन्त्रयेत्”  
इति हि कौशिकं सूत्रम् [ कौ० ३. ७ ] ॥

मधुपर्कं उत्सृष्टां गाम् अनया अभ्यागतोऽनुमन्त्रयेत् । “सूयवसाद् इति प्रतिष्ठमानाम्” इति हि कौशिकं सूत्रम् [ कौ० १२. ३ ] ॥

अग्निष्टोमके प्रवर्ग्यमें होमे जाने वाले घृतका “श्रातं मन्ये” इस ऋचासे ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । ४ का प्रमाण भी है, कि—“उपह्वये ( ७ । ७७ । ७ ) इति घर्मदुघाम् घर्मसूक्तेन ( ७ । ७७ ) घर्मं ह्वयमानम्” ॥

अग्निष्टोमके मा-यन्दिनसवनमें दधिघर्म होमका “श्रातं मन्ये” से ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । ११ का प्रमाण भी है, कि—“श्रातं मन्ये इति दधिघर्म होमम् । घर्मवज्रक्षः” ॥

प्रवर्ग्यमें होतृकर्तृक वषट्कार और अनुवषट्कारका “स्वाहा-कृतः” इन दोसे ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । ४ का प्रमाण भी है, कि—“स्वाहाकृत इति द्वाभ्यां घर्मस्य वषट्कृतेऽनुवषट्कृते” ॥

प्रवर्ग्यमें दुही जाती हुई घर्मदुघाका “उप ह्वये” से ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । ४ का प्रमाण है, कि—“उप ह्वय इति घर्मदुघाम्” ॥

मवास करते समय पुरुष “सूयवसात्” ऋचासे आपने पशुओं का अभिमन्त्रण करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ३ । ७ में कहा है, कि—“सूयवसात् इति सूयवसे पशून् अभिमन्त्रयते” ॥

मधुपर्कमें उत्सृष्ट गौका अभ्यागत इस ऋचासे अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र १२ । ३ का प्रमाण भी है, कि—“सूयवसादिति प्रतिष्ठमानाम्” ॥

तत्र प्रथमा ॥

श्रातं मन्ये ऊर्ध्वनि श्रातमग्नौ सुश्रुतं मन्ये तदृतं नवीयः  
माध्यन्दिनस्य सवनस्य दध्नः पिबेन्द्र वज्रिन् पुरु-  
कृञ्जुपाणः ॥ १ ॥

श्रातम् । मन्ये । ऊधनि । श्रातम् । अग्नौ । सुऽशृतम् । मन्ये ।  
तत् । अतम् । नवीयः ।

माध्यन्दिनस्य । सवनस्य । दध्नः । पिब । इन्द्र । वज्रिन् । पुरुऽकृत् ।  
जुपाणः ॥ १ ॥

ऊधनि गोरुधसि एतद् दधिघर्माख्यं हविः पयोरूपेण श्रातम् पक्वम् इति मन्ये जाने । पुनश्च दुग्धं पयः अस्मावपि श्रातम् पक्वम् इदानीं दध्यवस्थमपि अग्नौ पच्यते । ❀ श्रील्पाके इत्यस्मात् निष्ठा-  
याम् “अपस्पृधेयाम्” इति सूत्रे आभावो निपात्यते ❀ । अतः  
सुऽशृतम् सुपक्वम् इति मन्ये जाने । ❀ आ पाके इत्यस्माद् आदा-  
दिकाग्निष्टायां कर्मकर्तारि “शृतं पाके” इति निपात्यते ❀ । अत  
एव तत् हविः अतम् सत्यभूतं नवीयः नवतरं मत्यग्रतरं भवति ।  
हे वज्रिन् वज्रवन् हे पुरुकृत् बहुकर्मकृद् इन्द्र जुपाणः प्रीयमा-  
णस्त्वं माध्यन्दिनस्य मध्यन्दिने भवस्य सवनस्य स्रूयमानस्य  
सोमस्य संबन्धिनो दध्नः । ❀ कर्मणि पठौ ❀ । दधि दधि-  
घर्माख्यं हविः पिब ॥

गौके ऐनमें यह दधिघर्म नामक हवि दुग्धरूपसे पक्व होती है  
यह मैं जानता हूँ और इस समय दधिकी अवस्थामें भी अग्निमें पक  
रहा है । अत एव यह सुपक्व है, इस बातको मैं जानता हूँ, अत  
एव यह हवि सत्य और नवीन है हे अनेकों कर्मोंको करनेवाले वज्र-  
धारिन् इन्द्र ! आप प्रसन्नतामें भर कर इस मध्य दिनमें निचोड़े  
हुए सोम पड़े दहीकी दधिघर्म नाम वाली हविको पीजिये ॥१॥

द्वितीया ॥

समिद्धो अग्निर्वृषणा रथी दिवस्नसो घर्षो दुह्यते  
वामिपे मधु ।

वयं हि वां पुरुदमांसो अश्विना हवामहे सधमादेषु  
कारवः ॥ १ ॥

समिद्धः । अग्निः । वृषणा । रथी । दिवः । तप्तः । घर्मः ।

दुहते । वाम् । इषे । मधु ।

वयम् । हि । वाम् । पुरुदमांसः । अश्विना । हवामहे ।

सधमादेषु । कारवः ॥ १ ॥

एतदादीनाम् ऋचां प्रवर्ग्य एव लिङ्गानुसाराद् आश्वलाय-  
नेन विनियोग उक्तः । तत्र इयम् उत्तरा च दुहते इति लिङ्गेन घर्म-  
दुषादोहनसमये विनियुक्ते । हे वृषणा वृषणौ-अभिमतफलस्य  
वर्षितारौ हे अश्विनौ दिवः घुलोकस्य । ॐ तात्स्म्यात् ताच्छ-  
ब्दम् ॐ । घुलोकस्थितस्य देवगणस्य रथी रथिकः । नेतेत्यर्थः ।  
“अग्निमुखा वै देवाः” इति श्रुतेः । तादृशोऽग्निः समिद्धः सम्यग्  
दीप्तः । तेनाग्निना घर्मः महावीरपात्रस्थम् आज्यं तप्तः सम्यक्  
पक्वम् । अनन्तरं वाम् युवयोः । ॐ युष्मच्छब्दस्य पृष्ठीद्विवचनं  
वाम् इत्यादेशः ॐ । युवयोः इषे अन्नाय मधु मधुररसोपेतं मधुवत्  
प्रीणनकारि वा पयः दुहते । गौरध्वयुभिः इति शेषः । ॐ दुह  
प्रपूरणे । कर्मणि यक् । दुहेर्द्विकर्मकत्वाद् “अकथितं च” इति  
मधुनः कर्मत्वे द्वितीया ॐ । हे अश्विना अश्विनौ वाम् युवाम् ।  
ॐ युष्मदो द्वितीयाद्विवचने वाम् आदेशः ॐ । पुरुदमांसः । दम  
इति गृहनाम । बहुगृहाः । पृष्ठातेः पुरुशब्दः । हविः पूर्णगृहा वा ।  
कारवः स्तोत्रनामैवत् । ॐ करोतेः कृवापाजिमि० इति [३०१.१]  
उण् प्रत्ययः ॐ । स्तुतिकर्तारो वयं हि वयं खलु होतारः सध-  
मादेषु । सह माघन्ति देवा अत्रेति सधमादा यज्ञाः । ॐ माघतेः

अधिकरणे घञ् । “सघ मादस्थयोश्चन्दसि” इति सहस्रं सधा-  
देशः ॐ । यज्ञेषु हवामहे आह्वयामः ॥

हे अभीष्ट फलकी वर्षा करने वाले अश्विनीकुमारों ! आप  
धुलोकमें स्थित देवताओंके नेता हैं । और “अग्निमुखा वै देवाः”  
इस श्रुतिके अनुसार महिमासम्पन्न प्रदीप्त अग्निदेवके द्वारा दीप्त  
महावीर नामक पात्रमें स्थित घृत भल्ली प्रकार पक्व होगया है,  
और आपके भक्षण करनेके लिये अध्वर्युओंने गौसे मधुर रस  
सम्पन्न दुग्ध भी दुह लिया है । हे अश्विनीकुमारों ! आप दोनों  
को हविसे पूर्ण घर वाले हम स्तोता यज्ञोंमें बुलाते हैं ॥ १ ॥

तृतीया ॥

समिद्धो अग्निरश्विना तप्तो वां घर्म आ गतम् ।

दुहन्ते नूनं वृषणेह घेनवो दत्ता मदन्ति वेधसः २

सम्पद्भ्यः । अग्निः । अश्विना । तप्तः । वाम् । घर्मः । आ । गतम् ।

दुहन्ते । नूनम् । वृषणा । इह । घेनवः । दत्ता । मदन्ति । वेधसः ।

हे अश्विना अश्विनौ अग्निः समिद्धः संदीप्तः । तेन वाम्  
युवाभ्याम् । ॐ युष्मच्छब्दस्य चतुर्थीद्विवचने वाम् इति आदेशः ॐ ।  
युवयोरर्थाय घर्मः महावीरस्थितम् आज्यं तप्तः सम्यग्दीप्तम् ।  
अतः आगतम् आगच्छतम् । घर्मरूपं हविर्भोक्तुम् इति शेषः ।  
ॐ गमेश्वान्दसे लुङि “मन्त्रे घस०” इति च्लेलुकि “अनुदा-  
चोपदेश०” इति अनुनासिकलोपे रूपम् । लोटि वा विकरणस्य  
लुक् ॐ । हे वृषणा वृषणौ अभिमतफलस्य वर्षितारौ युवयोरर्थाय  
इह प्रवर्ग्याख्ये कर्मणि घेनवः प्रीणयिष्यो गावो नूनम् अत्यर्थं  
दुहन्ते पयः ॐ । दुहेर्द्विकर्मकत्वात् पय इति कर्मणा अन्येन  
भाव्यम् ॐ । अतः दत्ता दत्तौ शत्रूणाम् उपक्षपयितारौ अश्विनी

वेधसः । ॐ विष विधाने इत्यस्माद् असुन् ॐ । स्तुत्या परि-  
चरन्तो होतारः मदन्ति मदयन्ति । स्तुतिभिरिति होतॄणां परो-  
क्षेण अभिधानम् । ॐ माद्यतेऽणिचि “मदी हर्षग्लपनयोः” इति  
मिच्चेन द्वस्वत्वम् । “छन्दस्युभयथा” इति भेः आर्धधातुकत्वेन  
णिलोपः ॐ ॥

हे अश्विनीकुमारों ! अग्नि प्रदीप्त होरहे हैं और उनके द्वारा  
आपके निमित्त महावीर पात्रमें रखवा हुआ घृत भली प्रकार  
तप गया है, अतः आप धर्मरूप हविका भोग लगानेके लिये  
आइये । हे अभिमत फलकी वर्षा करने वाले अश्विनीकुमारों !  
आपके निमित्त इस प्रवर्ग्य नामक कर्ममें घेनुएँ बहुतसा दूध  
देरही हैं, अतः शत्रुओंको ध्वस्त करने वाले अश्विनीकुमारोंकी  
स्तुतिसे सेवा करते हुए होता आनन्दमें मग्न होरहे हैं ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

स्वाहा॑कृत॒ शुचि॑र्दे॒वेषु॑ य॒ज्ञो यो अ॒श्विनो॑श्चम॒सो दे॒व-  
पानः॑ ।

तमु॑ विश्वे॑ अ॒मृता॑ंसो जु॒पाणा॑ गन्ध॒र्वस्य॑ प्रत्या॒स्ना  
रिह॑न्ति ॥ ३ ॥

स्वाहा॑कृतः । शुचिः॑ । दे॒वेषु॑ । य॒ज्ञः । यः । अ॒श्विनोः॑ । चम॒सः ।  
दे॒व॒पानः॑ ।

तम् । ऊँ इति । विश्वे॑ । अ॒मृता॑ंसः । जु॒पाणाः । गन्ध॒र्वस्य॑ । प्रति॑ ।  
आ॒स्ना । रिह॑न्ति ॥ ३ ॥

स्वाहाकृतः इति लिङ्गाद् घर्मयागानन्तरम् इयं पठनीयेति आश्व-  
लायनेनोक्ता । शुचिः दीप्तो यज्ञः प्रवर्ग्याख्यो देवेषु अश्विमभृ-



तिष्ठ । अथ वा देवशब्देन अश्विनावुच्येते । प्रवर्ग्ये तयोरेव यष्ट-  
व्यत्वात् । ❀ बहुवचनं तु पूजायाम् । विषयसप्तमी ❀ । देवविषये  
स्वाहाकृतः । स्वाहाशब्दो दानवाचकः । दत्त इत्यर्थः । न चान्न  
स्वाहाकारेण हविर्हूयते किं तु वषट्कारेण । देवपानः देवौ अश्विनौ  
पिवतः अत्रेति देवपानः । ❀ अधिकरणे ल्युट् ❀ । तादृशः अश्विनो-  
ऽमसः । ❀ चमतेर्भक्षणायाश्च औष्णादिकः असमत्ययः ❀ । भक्षणा-  
साधनो य उपयमनाख्यः पानविशेषोऽस्ति तम् तमेव चमसं विश्वे  
सर्वे अमृतासः अमृताः अमरणधर्माणो देवा अग्न्यादयो जुषाणाः  
प्रीयमाणाः । ❀ हेत्वर्थे जुषे शानच् प्रत्ययः ❀ । प्रीतर्हेतोः गन्ध-  
र्वस्य । गां वेदरूपां वाचं धारयतीति गन्धर्वः आदित्यः । तथा च  
तैत्तिरीयके आदित्यस्य वेदसाहित्यं श्रूयते । “अग्निः पूर्वाह्णे दिवि  
देव ईयते । यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अहः । सामवेदेनास्तमये महीयते ।  
वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः” इति [ तै० ब्रा० ३. १२. ६. १ ] ।  
❀ गोशब्दोपपदाद् धृजो “गवि गं धृजो चः” इति वप्रत्ययः गो-  
शब्दस्य गम् इत्यादेशः ❀ । तस्यादित्यस्य । राज्ञावादित्यस्य  
अप्राबन्तुमवेशात् तदभेदेन अग्निर्वा गन्धर्वः । तस्य आसना आस्येन ।  
❀ “पहन्तः” इत्यादिना आस्यशब्दस्य आसन् आदेशः ❀ ।  
प्रति रिहन्ति प्रत्येकं लिहन्ति आस्वादयन्ति । “त्वामग्न आदि-  
त्यास आस्यम्” इति हि [ अ० २. १. १३ ] मन्त्रवर्णे अग्नि-  
रूपेण आस्येन देवा हविर्भक्षयन्तीति स्पष्टम् आम्नातम् ॥

( स्वाहाकृतः लिङ्गसे घर्मयागके अनन्तर इसका पाठ करना चाहिये, यह आरत्नायन मुनिने कहा है, और देवशब्दसे यहाँ अश्विनीकुमारोंका ग्रहण किया गया है और आदर करनेके लिये बहुवचन दिया गया है, क्योंकि—प्रवर्ग्यमें अश्विनीकुमारोंका ही यजन होता है । और इस मन्त्रका स्वाहाशब्द दानवाचक है, यहाँ स्वाहाकारसे हवि नहीं होयी जाती है, किंतु वषट्कारसे हवि

होमी जाती है । गंधर्व शब्दका अर्थ सूर्य है, क्योंकि-वह वेदरूपा  
वाणीको धारण करते हैं । तैत्तिरीयकमें आदित्यका वेदसाहित्य  
इस प्रकार वर्णित है, कि-“अग्निभिः पूर्वाह्ने दिवि देव ईयते ।  
यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अह्नः । सामवेदेनास्तमये महीयते । वेदेर-  
ग्रन्थस्त्रिभिरेति सूर्यः ।-पूर्वाह्निके समय दिवमें देव ऋग्वेदकी  
अचाओंसे सम्पन्न रहते हैं, और मध्याह्निके समय यजुर्वेदमें रहते  
हैं और अस्तके समय सामवेदसे महीयमान होते हैं, इस प्रकार  
तीनों वेदोंसे भरेहुए सूर्यदेव आरहे हैं” तैत्तिरीयब्राह्मण ३।१२।६।१  
और गंधर्व शब्दसे अग्निका ग्रहण होसकता है, क्योंकि-रात्रिमें  
आदित्यका अग्निमें प्रवेश होता है अतएव अभेदवशा अग्निको ही  
यहाँ गंधर्वशब्दसे कहा है । और भी एक बात है, कि-ऋग्वेद-  
संहिता २।१।१३ में स्पष्टरीतिसे कहा है, कि-अग्निस्वरूप  
मुखसे देवताहविका भक्षण करते हैं । यथा-“त्वामग्न आदित्यास  
आस्यम्” ) मदीप्त मवर्ग्य नामक यज्ञ अश्विनीकुमारोंके लिये  
हुआ है । और जो अश्विनीकुमारोंके पानका पात्र उपयमन नामक  
भक्षणपात्र है उसी चमसको प्रत्येक अमर देवता अग्निरूप मुखसे  
चाटते हैं ॥ ३ ॥

पञ्चमी ॥

यदुसियास्वाहुतं घृतं पयोयंस वामशिवना भाग आ  
गतम् ।

माध्वी धर्तारा विदथस्य सत्पती तप्तं धर्मं पिवंतं रोचने  
दिवः ॥ ४ ॥

यत् । उसियासु । आहुतम् । घृतम् । पयः । अयम् । सः ।  
वामम् । अश्विना । भागः । आ । गतम् । . . .

माध्वी इति । धर्तारः । विदथस्य । सत्पती इति सत्पती । तप्तम् ।  
धर्मम् । पिवतम् । रोचने । दिवः ॥ ४ ॥

एषा ऋक् पिवतम् इति लिङ्गाद् धर्मयागे याज्यात्वेन आश्व-  
त्थानेन विनियुक्ता । उत्तियासु । गौनामैतत् । पयोनिवासस्थान-  
भूतासु गोषु वर्तमानं घृतम् घृतवत् क्षरणशीलं घृतोत्पादकं वा यत्  
पयः क्षीरम् आहुतम् महावीरपात्रे अभिमुखं प्रक्षिप्तम् । ॐ हु  
दानादानयोः । कर्मणि निष्ठा ॐ । हे अश्विना अश्विनौ सोयं  
तद् इदं प्रक्षिप्तं पयः । ॐ भागविशेषणत्वात् तदिदंशब्दयोः  
पुंलिङ्गता । “निर्दिश्यमानप्रतिनिर्दिश्यमानयोरेकत्वम् आपादयन्ति  
सर्वनामानि पर्यायेण लङ्गिङ्गताम् उपाददते” इति वचनात् ॐ ।  
इदं तत् पयः वाम् युवयोर्भागः भजनीयोऽंशः । अतः आ गतम्  
आगच्छतम् । आगत्य च हे माध्वी । ॐ मधुशब्दाद् अणि  
स्त्रियाम् “ऋत्त्व्यवास्त्व्यवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानि च्छन्दसि” इति  
यणादेशो निपात्यते ॐ । मधुसंवन्धिनी विद्या माध्वी । विद्या-  
वेदित्रोरभेदोपचाराद् अश्विनावपि माध्वीशब्देन उच्येते । अत  
एव मयूढता । “माध्वी मम श्रुतं हवम्” इति हि मन्त्रान्तरम्  
[ ऋ. ५. ७५. १ ] । अश्विनोर्मधुविद्यावेदितृत्वं दाशतय्याम्  
आम्लायते । “आथर्वणायाश्विना दधीचेरव्यं शिरः प्रत्यैरयतम् ।  
स वां मधु प्र वोचद् ऋतायन” इति [ ऋ० १. ११७. २२ ] । हे  
माध्वी मधुविद्यावेदितारौ विदथस्य । यज्ञनामैतत् । विदन्ति जानन्ति  
अनेन फलम् इति विदथो यज्ञः । तस्य धर्तारः धर्तारौ धारयि-  
तारौ । यज्ञस्वरूपनिर्वर्तकावित्यर्थः । द्रव्यदेवते हि यागस्य स्व-  
रूपम् इति हि तद्विदः । हे सत्पती सतां महतां देवानां पालयि-  
तारौ आपन्निर्हरणत्वेन रक्तकौ । “अश्विनौ हि देवानां भिषजौ”

इति [ ऐ० ब्रा० १. १८ ] श्रुतेः । तादृशौ युवां दिवः द्युलोकस्य  
रोचने रोचके प्रकाशके अशौ तप्तम् शृतं धर्मम् आज्यं पिवतम् ॥

( इस ऋचाका “पिवतम्” इस लिंगसे धर्मयागमें याज्यात्व-  
रूपसे आरवत्तापन मुनिने विनियोग किया है । मधुसम्बन्धी विद्या  
माध्वी विद्या कहलाती है । विद्या और उसके जानने वालोंमें अभेद  
का उपचार करने पर उस विद्याको जाननेवाले अश्विनीकुमारों  
को भी माध्वी शब्दसे वर्णन किया है । ऋग्वेदसंहिता ५ । ७५ । १  
में कहा है, कि—“माध्वी मम शृतं हवम् ।—हे मधुविद्याको जानने  
वाले अश्विनीकुमारों ! तुम मेरे आह्वानको सुनो” और अश्विनी-  
कुमारोंके मधुविद्या जाननेकी बात ऋग्वेदसंहिता १ । ११७ । २२  
में वर्णित है । यथा—“आथर्वणायाश्विना दधीचेरव्यं शिरः प्रत्यै-  
रयतम् । स वां मधु प्रबोचद् ऋतायन् ।—हे अश्विनीकुमारों !  
तुम अथर्ववेदी दधीचिके निमित्त अरवके शिरको मेरित करो, तो  
वह तुमको मधुविद्याका यथार्थरीतिसे उपदेश देंगे” । ऐतरेयब्राह्मण  
१ । १८ में अश्विनीकुमारोंको रोगरूप आपत्तिको दूर करने  
वाले होनेके कारण देवताओंके रक्तक अर्थात् वैद्य कहा है, यथा  
“अश्विनी हि देवानां भिपजा ।—अश्विनीकुमार देवताओंके  
वैद्य हैं” । ) हे अश्विनीकुमारों ! गीओंमें रहने वाला घृतका  
उत्पादक दुग्ध महावीर नामक यज्ञपात्रमें डाल दिया गया है । हे  
अश्विनीकुमारों ! यह दुग्ध आपका भाग है, अतः आप आइये  
और आपका हे मधुविद्याको जानने वाले अश्विनीकुमारों ! आप  
इस यज्ञके यज्ञस्वरूपपूरक बनिये ( क्योंकि—द्रव्य और देवताही  
यागके स्वरूप होते हैं, यह यज्ञवेत्ताओंका मत है ) और हे सत्  
अर्थात् बड़े २ देवताओंकी आपत्तिको दूरकर उनकी रक्षा करने  
वाले अश्विनीकुमारों ! आप द्युलोकके प्रकाशक अग्निमें तपे हुए  
घृतको पीजिये ॥ ४ ॥

पृष्ठी ॥

तसो वां घर्मो नक्षतु स्वहोता प्र वांमध्वर्युश्चस्तु  
पयस्वान् ।

मधोर्दुग्धस्याश्विना तनायां वीतं पातं पयस उस्त्रियायाः

तसः । वाम् । घर्मः । नक्षतु । स्वहोता । प्र । वाम् । अध्वर्युः ।

चरतु । पयस्वान् ।

मधोः । दुग्धस्य । अश्विना । तनायाः । वीतम् । पातम् । पयसः ।

उस्त्रियायाः ॥ ५ ॥

इयमपि वीतं पातम् इति लिङ्गाद् घर्मयाज्यात्वेन विनियुक्ता ।  
हे [ अश्विना ] अश्विनौ वाम् युवां स्वहोता स्वाधीनहोतृकः ।  
होत्रा सम्यग् अभिष्टुत इत्यर्थः । ❀ “ऋतश्चन्दसि” इति क-  
प्रत्ययनिषेधः ❀ । तसः सम्यग् रुचिरः घर्मः महावीरपानस्थम्  
आज्यं नक्षतु । ❀ नक्षतिर्व्याप्तिकर्मा इति यास्कः [ निघ० २, १८ ] ।  
नक्ष गतौ इति धातुः ❀ । व्याप्नोतु । तथा वाम् युवाभ्याम् ।  
❀ चतुर्थीद्विवचनस्य वाम् आदेशः ❀ । युवयोरर्थाय अध्वर्युः  
एतन्नामा ऋत्विक् प्रयस्वान् । ❀ प्रीणतेः असुनि प्रयः ❀ ।  
प्रीणनकारिण्योयुक्तः सन् प्र चरतु यजतु । हविर्ददात्वित्यर्थः ।  
अथ अनन्तरम् हे अश्विना अश्विनौ तनायाः । ❀ तनोतेः पचा-  
द्यजन्तात् स्त्रियां यपि तनेति भवेति ❀ । पयोदध्याज्यरूपहविः-  
प्रदानेन यज्ञं विस्तारयन्त्या उस्त्रियायाः । गोनामैतत् । घर्मदुग्धाया  
दुग्धस्य मधोः मधुररसोपेतस्य मधुवत्प्रीणनकारिणो वा पयसः ।  
❀ कर्मार्थे पृष्ठी ❀ । पयः वीतम् भक्षयतं पातम् पिवतं च ।

ॐ वी गतिप्रजननकान्त्यशनखादमेषु । अस्मात् लोष्टि अदादित्वात्  
शपो लुक् । पा पाने । “बहुलं ह्यन्दसि” इति शपो लुक् ॥

( इस ऋचाका भी ‘वीतम्’ ‘पातम्’ लिंगसे धर्मयाज्यात्वरूपसे  
विनियोग होता है ) हे अश्विनीकुमारों ! आप दोनोंमें होतासे भली  
प्रकार अभिष्टुत तपा हुआ महावीरस्थित घृत व्याप्त होवे, और  
आप पर प्रसन्न होता हुआ अश्वयु आपकी हवि देवे । और  
आप दुग्ध दही धृतरूप हवि देकर यज्ञका विस्तार करने वाली  
गौके मधुकी समान वृत्त करने वाले दुग्धको पियो और भक्षण करो

सप्तमी ॥

उप॑ द्रव॑ पय॑सा गो॒धुगो॒पमा॑ घ॒र्मे सिञ्च॑ पय॑ उ॒स्रिया॑याः ।

वि॒ नाक॑मख्यत् सवि॒ता वरे॑ण्योनुप्र॒याण॑मु॒पसो॑ वि  
रा॒जति॑ ॥ ३ ॥

उप॑ । द्रव॑ । पय॑सा । गो॒धुक् । ओप॑म् । आ । घ॒र्मे । सिञ्च॑ ।  
पयः॑ । उ॒स्रिया॑याः ।

वि॒ । नाक॑म् । अख्य॑त् । सवि॒ता । वरे॑ण्यः । अनु॒प्रया॑णम् ।  
उप॑सः । वि॒ । रा॒जति॑ ॥ ६ ॥

पपा ऋक् पयसा उप द्रवेति लिङ्गाद् घर्मदुघापयसि आहिय-  
माणे होत्रा पठनीयेति आश्वलायनेनोक्तम् । हे गोधुक् घर्मदुघा-  
दोग्धरख्यो त्वम् ओपम् तप्तं घर्मम् । ॐ उपप्लुपदाहे । अस्मात्  
कर्मणि घञ् ॐ । रुचितं घर्मं पयसा दुग्धेन सह उप द्रव निक-  
टम् आगच्छ । ॐ द्रु गतौ । भौवादिरूः ॐ । आगत्य च उस्त्रि-  
यायाः घर्मदुघाया घेनोः पयः क्षीरं घर्मे तप्ते आज्ये आ सिञ्च

आज्ञारय । यतः वरेण्यः वरणीयः सविता सर्वस्य प्रेरक आदित्यः  
 नाकम् दुःखेन असंभिन्नं सुखरूपं स्वर्गं व्यरुषत् । प्रकाशयती-  
 त्वर्थः । ❀ चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि । अस्मात् लुङि ख्यानादेशे  
 “अस्यतिवक्तिरुवातिभ्योङ्” इति च्लेः अङ् आदेशः । ख्या  
 प्रकथने इत्यस्माद् वा लुङि पूर्ववत् अङ् ❀ । स आदित्यः उपसः  
 प्रयाणम् प्रकृष्टं गमनम् अनुलक्ष्य वि राजति विशेषेण दीप्यते ।  
 उपसोनन्तरं सूर्यः प्रादुर्भवतीत्यर्थः । तथा च आम्नातम् अन्यत्र ।  
 “सूर्यो देवीम् उपसं रोचमानां मर्यो न योषाम् अभ्येति पश्चात्”  
 इति [ ऋ० १. ११५. २. ] । यस्माद् उदितः सूर्यः द्युलोकं स्व-  
 तेजसा प्रकाशयति अतः पयसा सह आगच्छ । आगत्य तत् पयः  
 घर्मे आसिञ्च इति होता अध्वर्युं व्रूते ॥

( आश्वलायन मुनिने कहा है, कि—“पयसा उप द्रव” इस  
 लिंगसे होताको चाहिये, कि—घर्मदुधा ( गौ ) के दूधको लाते  
 समय इस ऋचाका पाठ करे ‘है घर्मदुधाको दुहनेवाले अध्वर्यो !  
 आप तपे हुए घृतके पास दूध लेकर आइये और आकर घर्म-  
 दुधा धेतुके दूधको तपे हुए घृतमें ढालिये । क्योंकि—वर-  
 णीय सर्वप्रेरक सवितादेवताने दुःखके लेशसे शून्य स्वर्गलोकको  
 प्रकाशित कर दिया है । और वह आदित्य उपाके प्रयाणको  
 लक्ष्य कर विशेषरूपसे दिप रहे हैं ‡ ॥६६ ॥

‡ सूर्यदेव उपःकालके अनन्तर उदित होते हैं, इस विषयका  
 ऋग्वेदसंहिता १ । ११५ । २ में भी वर्णन है, कि—“सूर्यो देवीं  
 उपसं रोचमानां मर्यो न योषां अभ्येति पश्चात्” । इस मन्त्रमें  
 होताने अध्वर्युसे कहा है, कि—उदित हुए सूर्यदेव अपने तेजसे  
 द्युलोकको प्रकाशित करने लगे हैं अतः आप दूधके साथ आइये  
 और आकर उस दूधको घृत पर छिड़किये ॥

अष्टमी ॥

उप ह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम् ।  
श्रेष्ठं सवं सविता साविपन्नोभीद्धो घर्मस्तद्वे पु प्र  
वोचत् ॥ ७ ॥

उप । ह्वये । सुदुघाम् । धेनुम् । एनाम् । सुहस्तः । गोधुक् ।  
उत्त । दोहात् । एनाम् ।

श्रेष्ठम् । सवम् । सविता । साविपत् । नः । अभिऽइद्धः । घर्मः ।  
तत् । ऊँ इति । सु । प्र । वोचत् ॥ ७ ॥

एषा ऋक् उप ह्वये इति लिङ्गाद् दोहार्थं घर्मदुघादाने विनि-  
युक्ता । सुदुघाम् दोग्धं सुशकाम् । ॐ दोग्धेः “ईपदुःसुपु०” इति  
खल् प्रत्ययः । हकारस्य घकारोपजनश्छान्दसः ॐ । एतां पुरोय-  
तिर्नी धेनुम् उप ह्वये आह्वयामि । ॐ ह्वयतेः “निससुपविभ्यो हः”  
इति आत्मनेपदम् ॐ । उत्त अपि च एनाम् आहूतां धेनुं सुहस्तः  
कन्याणहस्तः गोधुक् गोर्दोग्धा अध्वर्युः दोहत् दोग्धु । ॐ दुहेः  
पञ्चमलकारे “लेटोडाटी” इति अडागमः ॐ । श्रेष्ठम् प्रशस्यतमम् ।  
ॐ “प्रशस्यस्य श्रः” इति आदेशः ॐ । सवम् । सूयते मेर्यत इति  
सवः पयः । ॐ एष हि श्रेष्ठः सर्वेषां सर्वानां यद् उदकं यद्  
वा पय इति हि यास्कः [ नि० ११. ४३ ] । पू मेरणे इत्यस्मात्  
“जवसवौ छन्दसि” इति अच् प्रत्ययः ॐ । तं सर्वं सविता सर्वस्य  
मेरको देवः नः अस्माकं साविपत् मेरयतु । ॐ पू मेरणे । अस्मात्  
लेटि “सिब्वहुलम्” इति सिप् । अडागमः । “सिब्वहुलं छन्दसि  
णित्” इति णिङ्गाद्वाद् वृद्धिः । वृद्धौ आवादेशः ॐ । घर्मः  
प्रवर्ग्यः अभीद्धः अभिदीप्तः अभिरुचितः । तत् । ॐ सुपो लुक् ॐ ।



उ इति अवधारणे । तमेव दीप्तं घर्मं सुसुष्ठु प्र वोचत् प्रव्रवीति अभिष्टौति । अथ वा यस्माद् अभीष्टो घर्मः तत् तस्माद् घर्मं पय आसेचयितुं सुष्ठु प्रव्रवीति धेनुम् इति होतुः परोक्षेण अभिधानम् । ॐ ब्रूवन् शब्दसो लुब्धः । अमात्योगेपि” इति अङ्गभावः ॥

( “उपह्वये” इस लिंगसे दोहार्थ घर्मदुग्धाह्वानमें इस ऋचाका विनियोग होता है ) मैं इस अच्छी प्रकार दुही जा सकने वाली धेनुका आह्वान करता हूँ, इस आहूत धेनुको कन्याणमय हाथ वाला गोधुक् अभ्यर्च्य दुहे । और इस सब ऋ उपनामक दूधको सर्वप्रेरक सवितादेवता हमारे लिये प्रेरित करें ( होना परोक्षरूप से कहता है, कि—) क्योंकि—घृत तप गया है अतः वह धेनुसे दूध डालनेके लिये कह रहा है ॥ ७ ॥

नवमी ॥

हिङ्क्षुवती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसा  
न्यागन् ।

दुहामश्विभ्यां पयो अघ्नयेयं सा वर्धतां महते सौभगाय

हिङ्क्षुवती । वसुपत्नी । वसूनाम् । वत्सम् । इच्छन्ती । मनसा ।

निःश्यागन् ।

दुहाम् । अश्विभ्याम् । पयः । अघ्न्या । इयम् । सा । वर्धताम् ।

महते । सौभगाय ॥ ८ ॥

‡ निरुक्त ११ । ४३ में कहा है, कि—“एष हि श्रेष्ठः सर्वेषां यद् उदकं यद् वा पय इति हि यास्कः ।—यास्क मुनिका मत है; कि—यह जल और उदक सब सर्वोपे श्रेष्ठ सब है” ॥

एषा ऋक् न्यागन्नित्यागमनलिङ्गाद् धेनौ आगच्छन्त्यां पठ-  
नीयेति आश्वलायनेनोक्तम् । हिङ्कुएवती हि इति शब्दानुकृतिः  
हि कुर्वन्ति हि वत्सं प्रति गावः । हिङ्कारं कुर्वती वसूनाम् धनानां  
वसुपत्नी वसूनां पालयित्री । ॐ वसूनां वसुपत्नीत्यत्र वृत्त्यवृत्तिभ्यां  
स्वामित्वं बहुत्वं च विवक्ष्यते ॐ । एतादृशी धेनुः मनसा वत्सम्  
इच्छन्ती कामयमाना नि नितराम् आगन् आगच्छतु । ॐ गमे-  
शब्दान्दसे लुकि “मन्त्रे घस०” इति च्लेलुकि “गो नो धातोः” इति-  
नत्वम् ॐ । आगता चक्षुष्य अघ्न्या । गोनामैतत् । अहन्तव्या गो  
अश्विभ्याम् देवताभ्याम् । प्रवर्ग्ये अश्विनावेव यष्टव्यौ । तयोरर्थाय  
पयः क्षीरं दुहाम् दुग्धाम् । ॐ दुहेलोटि “लोपस्त आत्मनेपदेषु”  
इति तकारलोपः ॐ । सा धेनुः स्वयं च अस्माकं महते प्रभूताय  
सौभागाय सौभाग्याय सुधनत्वाय वर्षताम् समृद्धा भवतु ॥

( आश्वलायन मुनिने कहा है, कि—“न्यागन्” इस आगमन-  
लिङ्गसे धेनुके आते समय इस ऋचाका पाठ करना चाहिये ) वछड़े  
की ओर हि शब्द करती हुई, धनोंकी पालिका धेनु मनसे वछड़े  
को चाहती हुई आवे और यह अहन्तव्य अघ्न्या गो अश्विनी-  
कुमारोंके लिये दुग्धको दुहे । और वह धेनु स्वयं भी हमें बड़ा  
मारी सौभाग्य देनेके लिये समृद्ध होवे ।

दशमी ॥

जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोण इमं नो यज्ञमुप याहि विद्वान्  
विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्य शत्रूयतामा भ्रा  
भोजनानि ॥ ६ ॥

जुष्टः । दमूनाः । अतिथिः । दुरोणे । इमम् । नः । यज्ञम् । उप ।  
याहि । विद्वान् ।

विश्वाः । अग्ने । अभिष्युजः । विहृत्य । शत्रून् शत्रून् । आ । भर ।

भोजनानि ॥ ६ ॥

हे अग्ने जुष्टः प्रीतः सर्वैः सेव्यमानो वा दमूनाः दान्त[मनाः] ।  
 ❀ दममना वा दानमना वा [ दान्तमना वा ] इति यास्कः [ नि०  
 ४. ४ ] ❀ । तादृशः अतिथिः अतिथिवत् पूज्यः । यद्वा दुरोणे  
 अतिथिरिति संबन्धः । ❀ दुरोण इति गृहनाम दुरवा भवन्ति  
 दुस्तर्पाः इति हि निरुक्तम् [ नि० ४. ५ ] ❀ । सर्वेषु यज्वगृहेषु  
 अतिथिः अतनशीलः विद्वान् जानन् मदीयां त्वद्विषयभक्तिं जानन्  
 नः अस्मदीयम् इमं यज्ञम् उप याहि समीपे आगच्छ । आगत्य  
 च हे अग्ने विश्वाः सर्वाः अभिषुजः अभियोक्त्रीः परसेना विहृत्य  
 विशेषेण हत्वा शत्रून् शत्रून् आत्मन इच्छतां परेषां भोजनानि  
 भुज्यमानानि धनानि आ भर आहर । अस्मभ्यम् इति शेषः ।  
 ❀ “हृद्यशोर्भः” इति हरतेर्हकारस्य भकारः । शत्रून् शत्रून् इति ।  
 शत्रुशब्दात् क्यच् “अकृतसार्वधातुकयोः” इति दीर्घः ❀ ॥

हे अग्ने ! सब आपकी सेवा करते हैं और आपका मन दान्त  
 है और सकल यजन करने वालोंके घरमें आप जाते रहते हैं  
 अतः आप मेरी भक्तिको जान कर मेरे यज्ञमें आइये । और  
 आकर हे अग्निदेव ! सब अभियोक्त्री सेनाओंको नष्ट कर शत्रुओं  
 के भोगमें आते हुए धनको हमारे लिये लाइये ॥ ६ ॥

एकादशी ॥

अग्ने शर्वं महते सौभगाय तव दुम्नान्युत्तमानि सन्तु ।  
 सं जास्पत्यं सुयममा कृणुष्व शत्रून् शत्रून् । तिष्ठ  
 महांसि ॥ १० ॥

अग्ने । शर्ध । महते । सौमगाय । तव । धुम्नानि । उत्तमानि ।  
सन्तु ।

सम् । जाःस्पत्यम् । सुयमम् । आ । कृणुष्व । शत्रुयताम् ।  
अभि । तिष्ठ । महांसि ॥ १० ॥

हे अग्ने त्वम् अस्माकं महते सौमगाय सुधनर्त्ताय शर्ध । आर्द्र  
हृदयो भवेत्यर्थः । अस्मभ्यं धनं दातुं सुमना भवेति यावत् ।  
ॐ शृधु मृत् उन्दे । भौवादिकः । अमन्त्रितस्य अविद्यमानवस्त्वेन  
पादादिस्वाद् अनिघातः ॐ । तव धुम्नानि द्योतमानानि तेजांसि  
उत्तमानि उद्गततमानि सन्तु भवन्तु । किं च जास्पत्यम् । जाया  
च पतिश्च जास्पती तयोः कर्म जास्पत्यम् । ॐ “पत्यन्तपुरोहि-  
तादिभ्यो यक्” इति यक् ॐ । तत् सुयमम् सुखयमम् अनन्य-  
श्लिष्टं सभा कृणुष्व सम्यक्कुरु । यथा आवां जायापती त्वदेक-  
परिचरणवन्ती भवाव तथा अनुगृहाणेत्यर्थः । सुयमम् इति । यमेः  
खल् मत्पयः घश्च मत्पयो वा ॐ । अपि च शत्रूयताम् शत्रून्  
आत्मन इच्छतां परेषां महांसि तेजांसि अभि तिष्ठ आक्राम ।  
अभिभवेत्यर्थः ॥

हे अग्ने ! आप हमको बहुतसा धन देने के लिये आर्द्रहृदय हजिये  
आपके प्रदीप्त तेज ऊपरकी जाने वाले होजावे और जायापतीके  
के कर्म जो आप अन्योन्यसंश्लिष्ट करिये, तात्पर्य यह है, कि-  
जिससे हम दोनों दम्पती एक आपसी ही सेवा करने वाले होवे  
और जो हमको शत्रु समझते हों उनके तेजको आप दबा दीजिये ॥

द्वादशी ॥

सूयवसाद् भगवती हि भूश अथा वयं भगवन्तः  
स्याम ।

अद्धि तृणमध्न्ये विश्वदानीं पिव शुद्धमुदकमाचरन्ती  
मुयवसऽअत् । भगवती । हि । भूयाः । अथ । वयम् । भगवन्तः ।

स्याम ।

अद्धि । तृणम् । अध्न्ये । विश्वदानीम् । पिव । शुद्धम् । उदकम् ।  
आचरन्ती ॥ ११ ॥

एषा ऋक् प्रवर्ग्ये परिधानीयात्वेन आश्वलायनेन विनियुक्ता ।  
हे धर्मदुये सृग्वसात् शोभनतृणानि अदन्ती । अद भक्षणे इत्य-  
स्मात् कर्मोपपदात् “अदोनन्ने” इति विट् प्रत्ययः ॐ । शोभनं  
यवसम् अदन्ती त्वं भगवती धनवती भाग्यवती वा भूयाः । इति  
पूरणः । ॐ भवतेः आशीर्लिङि रूपम् ॐ । अथ अनन्तरं वयं  
भगवन्तः धनवन्तः स्याम भूयास्म । हे अध्न्ये अहिंस्ये गौः विश्व-  
दानीम् सर्वदा । ॐ कालार्थे “दानीं च” इति तदिदंशब्दाभ्यां  
विहितः छन्दोविषयत्वाद् विश्वशब्दादपि उत्पन्नः ॐ । सर्वदा  
तृणं घासम् अद्धि भक्षय । ॐ अद भक्षणे । लोटि “हुमलभ्यो  
हेधिः” ॐ । तथा आचरन्ती सर्वतश्चरन्ती त्वं शुद्धं निर्मलं  
उदकं पिव च ॥

चतुर्थं सूक्तम् ॥

इत्यथर्वसंहिताभाष्ये वेदार्थप्रकाशे सप्तमकाण्डे षष्ठोऽनुवाकः ॥  
( आश्वलायन मुनिने इस ऋचाका प्रवर्ग्यमें परिधानीयोरूप  
से विनियोग किया है ) हे धर्मदुये । तू शोभन तृणोंको खाती  
हुई भाग्यवान् वन, फिर हम भी धनी होवें । हे अहिंस्ये गौ ।  
तू सदा घासको खा और चारों ओर घूमती हुई शुद्ध निर्मल  
जलको पी ॥ ११ ॥

चतुर्थं सूक्तं समाप्तं ( ३६८ ) ॥

अथर्ववेदसंहिता सातवें काण्डमें छठा अनुवाक समाप्त ॥

( २६८ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

सप्तपेनुवाके त्रीणि सूक्तानि । तत्र “अपचिताम्” इति आथ्यं सूक्ते प्रथमाभ्याम् ऋग्भ्यां प्रत्यृचं गण्डमालाभैषज्यार्थं सूत्रोक्त-  
लक्षणेन धनुषा शरेण च गण्डमालां विधयेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि कृष्णोर्णास्तुकावज्वालितम् उदरम्  
आभ्याम् अभिमन्त्र्य उपःकाले व्याधितम् अवसिञ्चेत् ॥

सूत्रितं हि । “अपचिताम् इति वैणवेन दार्भूपेण कृष्णोर्णा  
ज्येन” इत्यादि [ कौ० ४. ८ ] ॥

ईर्ष्याविनाशकर्मणि “त्वाष्ट्रेणाहम्” इत्येनाम् ईर्ष्यावन्तं दृष्ट्वा  
जपेत् ॥

तथा ईर्ष्यावृत्ते अनया संवतुमन्यम् अभिमन्त्र्य दद्याद् ईर्ष्या-  
वन्तं स्पृष्ट्वा वा जपेत् ॥

तद् उक्तं संहिताविद्या । “त्वाष्ट्रेणाहम् इति प्रतिज्ञापमदानाभि-  
मर्जनानि” इति [ कौ० ४. १२ ] ॥

दर्शपूर्णमासयोः प्रतोपायने “व्रतेन त्वं व्रतपते” इत्येषा विनि-  
युक्ता । “व्रतम् उर्पति व्रतेन त्वं व्रतपते” इति हि कौशिकं सूत्रम्  
[ कौ० १. १ ] ॥

“मजावतीः इति श्रुवस्य गोपुष्टिकर्मणि विनियोग उक्तः ॥

“आ सुस्तसः” इति द्वाभ्यां गण्डमालाभैषज्यकर्मणि शङ्खं घृष्ट्वा  
अभिमन्त्र्य शुनःकालां वा अभिमन्त्र्य गण्डमालां प्रलिम्पेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन श्रुचेन जलूकां गृहगोधिकां वा अभि-  
मन्त्र्य रुधिरमोक्षार्थं गण्डमालास्थाने संश्लेषयेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि सैन्यबलक्षणं चूर्णयित्वा अनेन श्रुचेन  
अभिमन्त्र्य गण्डमालास्थाने विकीर्य तूष्णीं निष्ठीवेत् ॥

सूत्रितं हि । “अपचिताम् [ ७. ७८ ] आ सुस्तसः [ ७. ८० ]  
इति किस्त्यादीनि लोहितलवणं संक्षुद्याभिनिष्ठीवति” इति  
[ कौ० ४. ७ ] ॥

तथा गण्डमालामैषज्यकर्मण्येव “अपचित्तं लोहिनीनाम्” इत्यत्रोक्तानि कर्माण्यपि अनेन व्युत्थेन कुर्यात् । सूत्रमपि तत्रैवोदाहृतम् ॥

राजयक्षमैषज्यार्थं “यः कीकसाः” इति तृचेन वीणातन्त्री-खण्डं चाद्यखंडं शङ्खखंडं वा संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् । सूत्रितं हि “यः कीकसा इति वीणातन्त्रीं बध्नाति” इत्यादि [कौ० ४, ८] ॥

सप्तम अनुवाकमें तीन सूक्त हैं । इनमें “अपचिताम्” इस प्रथम सूक्तकी पहिली दो ऋचाओंसे प्रत्येक ऋचा पर गण्डमाला की चिकित्साके लिये सूत्रोक्त रीतिसे धनुष और बाणसे भी गंडमालाको बाँधे । और काले ऊनके स्तुकसे तपे हुए जलको इन ऋचाओंसे अभिमन्त्रित करके उपःकालके समय रोगी पर अव-सेचन करे ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण है, कि—“अपचित्तं इति वैणवेन दार्भूपेण कृष्णोष्णज्येन” इत्यादि ( कौशिकसूत्र ४ । ८ ) ॥

ईर्ष्याविनाशकर्ममें “त्वाष्ट्रेणाहम्” ऋचाका ईर्ष्यावान्को देख कर जप करे ।

तथा इस ऋचासे सक्तुमन्त्रका अभिमन्त्रण करके ईर्ष्या वाले को देदेय, वा ईर्ष्या वालेको देख कर इस ऋचाका जप करे ।

इसी बातको संहिताविधिमें कहा है, कि—“त्वाष्ट्रेणाहं इति प्रतिजापप्रदानाभिपर्शनानि” ( कौशिकसूत्र ४ । १२ ) ॥

दर्शपूर्णमासके व्रतोपायनमें ‘व्रतेन त्वं व्रतपते’ ऋचाका विनियोग किया जाता है । इस विषयमें कौशिकसूत्र १ । १-का प्रमाण भी है, कि—“व्रतं उपैति व्रतेन त्वं व्रतपते” ॥

“प्रजावतीः” इस व्युत्थका गोपुष्टिकर्ममें विनियोग कहा है ।

“आ सुस्रसः” इन दो ऋचाओंसे गण्डमालाकी चिकित्साके

कर्ममें शंखको घिस कर अभिमन्त्रित करके गण्डमाला पर पोत देय वा कुत्तेकी लारको अभिमन्त्रित करके गण्डमाला पर पोत देय।

तथा तहाँ ही कर्ममें इस ऋचसे जौंक वा छिपकलीको अभि-  
अभिमन्त्रित करके रुधिर चूसनेके लिये गण्डमालाके स्थानमें लगा देय।

तथा तहाँ ही कर्ममें सैन्धा नमकका चूरा करके इन दोनों ऋचाओंसे अभिमन्त्रित करके गण्डमालाके स्थानमें दुरक कर चुप चाप धूकना आरम्भ करे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—“अपचिताम् ( ७।७८ )  
आ सुत्तवः ( ७।८० ) इति किंस्त्यादीनि लोहितलवणं संलुघ्या-  
भिनिष्ठीवति” ( कौशिकसूत्र ४।७ ) ॥

तथा गण्डमालाकी चिकित्साके कर्ममें ही “अपचितां लोहि-  
नीनाम्” में कहे हुए कर्मोंको भी इस ऋचसे करे। सूत्र भी तहाँ ही कहा है।

राजयक्ष्मा रोगकी चिकित्साके लिये, “यः कीकसाः” तृचसे  
वीणातन्त्रीखण्डको, वाद्यखण्डको वा शंखखण्डको सम्पातित  
और अभिमन्त्रित करके बाँधे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ४।८ का  
प्रमाण भी है, कि—“यः कीकसा इति वीणातन्त्रीं बध्नाति०”

तत्र प्रथमा ॥

अपचितां लोहिनीनां कृष्णा मातेति शुश्रुम।

मुनेर्देवस्य मूलेन सर्वा विध्यामि ता अहम् ॥ १ ॥

अपचिताम्। लोहिनीनाम्। कृष्णा। माता। इति। शुश्रुम।

मुनेः। देवस्य। मूलेन। सर्वाः। विध्यामि। ताः। अहम् ॥१॥

दोषवशाद् अपाक् चीयमाना गलाद् आरभ्य अधस्तात् कक्षा-



दिसंधिस्थानेषु प्रसूता गण्डमालाः अपचितः । यद्वा अपचिन्वन्ति  
 पुरुषस्य वीर्यम् इति अपचितः । ❀ अपपूर्वात् चिनोतेः कर्तरि  
 कर्मणि वा क्तिप् । “ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्” ❀ । ताश्च लोहिन्यः  
 लोहितवर्णाः । ❀ लोहितशब्दाद् “वर्णाद् अनुदात्तात् तोपधात्  
 तो नः” इति ङीप् । तत्संनियोगेन तकारस्य नकारः ❀ । वर्ण-  
 भेदविशिष्टा गण्डमालाप्रभेदाः षष्ठ्याण्डे “अपचितः प्र पतत” इति  
 [ ६. ८३ ] सूक्ते स्पष्टम् उक्ताः । लोहितवर्णानाम् अपचितां कृष्णा  
 कृष्णवर्णा रोगनिदानभूता पिशाची माता जननी उत्पादयित्रीति  
 शुश्रुम श्रुतवन्तः स्म । ❀ मृणोतेल्लिटि उत्तमबहुवचने “कृष्टमृष्ट-  
 स्तुद्रुस्तुष्टुवो लिटि” इति इष्टिनपेधः ❀ । मातृ कीर्तनेन अपचितः  
 रोगान्तरवत् साधारणोपधादिना परिहरणीया न भवन्तीति प्रोह्यते ।  
 ताः पूर्वोक्तदुःसाधाः सर्वा अपचितः मुनेः मननीयस्य देवस्य  
 द्योतमानस्य । अथर्वण इत्यर्थः । मूलेन । ❀ मूल प्रतिष्ठायाम् इति  
 धातुजोयं शब्दः ❀ । अथर्वसंबन्धिना सर्वकारणभूतसामर्थ्येन ।  
 तदात्मना भावितेन शरेणेत्यर्थः । तेन शरेण अहं प्रयोक्ता विध्यामि  
 विदारयामि । यद्वा मुनेर्देवस्य इति पदद्वयेन शरप्रकृतिभूतो  
 वृक्षविशेष उच्यते । मुनेर्मननीयस्य स्तुत्यस्य देवस्य देवरूप-  
 स्य वनस्पतेः । तस्य देवतात्मकत्वम् “अञ्जन्ति त्वाम् अध्वरे देव-  
 यन्तः” [ ऋ० ३. ८. १ ] इत्यादिषु स्पष्टम् अवगम्यते । तस्य  
 मूलेन मूलवत् सारभूतो यो वृक्षस्यांशस्तन्निर्मितेन मूलमदेशनि-  
 र्मितेन वा शरेण विध्यामि । अथ वा मुनेर्देवस्य इति पदद्वयेन  
 धनुःप्रकृतिभूतो वेणुदाभूषसंज्ञको वृक्ष उच्यते । तस्य मूलेन  
 सामर्थ्याधायकेन शरेण विध्यामीति संबन्धः । अधिज्यस्य हि  
 धनुषः सामर्थ्यम् इषुनिसर्जनेन गम्यते इति तस्य मूलभूतः शर  
 इत्युक्तम् । केचिद् आहुः । मुनेः मन्युमतः देवस्य । ❀ दीव्यते-  
 विजिगीषार्थात् प्रचाद्यच् ❀ । विजयमानस्य क्रोधवतः क्रूरस्य ।

रुद्रस्य इत्यर्थः । तस्य भूलेन प्रधानभूतवीर्यरूपेण शत्रून्मूलनसाधनेन वा शरेण विध्यामि । गण्डमालावेधनसाधनभूतोयं शरः लौकिकः शरो न भवति किं तु असुरपुरनिर्भेदकस्य रुद्रस्य संबन्धी शरोयम् इति लौकिकशरस्य रुद्रशरात्मना भावनम् इति । रुद्रस्य पुनर्निर्भेदनार्थम् इष्टुविसर्जनं तैत्तिरीये समाम्नायते । “त इष्टुं समस्कुर्वत । अग्निम् अनीकं सोमं शन्यं विष्णुं तेजनम् तेब्रुवन् क इमाम् असिष्यतीति । रुद्र इत्यब्रुवन् । रुद्रो वै क्रूरः । सोऽस्य तु” इति [ तै० सं० ६, २, ३, १ ] । एतद् उक्तं भवति । पापदेवतानिष्पादिता गण्डमाला अहं भैषज्यकर्ता लौकिकेन शरेण न विध्यामि किं तु रुद्रस्य शरेणेति ॥

( दोषवश नीचेको फैलने वाली गलेसे लेकर नीचेके बगल आदि संधिस्थानोंमें फैली हुई ) गण्डमालाएँ अपचित् कहलाती हैं और वह पुरुषके वीर्यका अपचिन्वन कर डालती हैं, उन ) लोहित वर्ण वाली अपचित्-गण्डमालाओंकी माता रोगनिदान-भूता माता कुप्यवर्णा पिशाची कुप्या है यह हम सुनते हैं (माता का कीर्तन करके यह सूचित किया है, कि-अन्य रोगोंकी समान साधारण औषधि आदिसे इनकी चिकित्सा नहीं होसकती अतः ) इन दुःसाध्य सब अपचितोंको मैं प्रकाशवान् अधर्वा मुनिके सबके कारणरूपसे भावित शरसे बीधता हूँ (वा मननीय अर्थात् स्तुत्य देवरूप वनस्पतिके मूलकी समान सारभूत अंशसे निर्मित वा जड़से निर्मित वाणसे हम अपचितोंको बीधते हैं, वनस्पतिका देवतात्मकत्व ऋग्वेदसंहिता ३ । १ । ८ में स्पष्टरूपसे वर्णित है, कि-“अज्जन्ति त्वां अध्वरे देवयन्तः” ॥ अथवा वेणुदार्भूप नामक वृक्षके मूलसे बने वाणसे बीधता हूँ । अथवा क्रोध वाले रोद्रदेव के प्रधानभूतवीर्यरूप शत्रून्मूलनसाधन वाणसे बीधता हूँ । तात्पर्य यह है, कि-गण्डमालाको वेधनेका साधनभूत यह वाण लौकिक

बाण ही नहीं है, किन्तु असुरपुरध्वंसक रुद्रसम्बन्धी है । इस प्रकार रुद्ररूपसे इसकी भावना की गई है । पुरोंको भेदनेके लिये रुद्रदेवका बाण छोड़ना तैत्तिरीयसंहिता ६ । २ । ३ । १ में कहा है, कि—“त इषुं समस्तुर्वत । अग्निं अनीकं सोमं शल्यं विष्णुं तेजनम् । तेऽब्रुवन् क इमां असिष्यतीति । रुद्र इत्यब्रुवन् । रुद्रो ब्रू क्रूरः सोऽस्यतु ।—उन्होंने बाण बनाना आरम्भ किया । अग्निको अनीक बनाया । सोमको फलक बनाया । विष्णुको बाँस बनाया । फिर उन्होंने कहा, कि—इसको कौन छोड़ेगा, तब उन्होंने फिर कहा, कि—रुद्र इसके योग्य हैं । रुद्रदेवता क्रूर हैं अतः वह इसको छोड़ें ।” तात्पर्य यह है, कि—इस पाप देवता से निष्पादित गण्डमालाको मैं चिकित्सक-लौकिकशरसे नहीं बीधता हूँ किन्तु रुद्रदेवके बाणसे बीधता हूँ ) ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

विध्याम्यासां प्रथमां विध्याम्युत मध्यमाम् ।

इदं जघन्यामासामा विधिनञ्चि स्तुकांमिव ॥ २ ॥

विध्यामि । आसाम् । प्रथमाम् । विध्यामि । उत । मध्यमाम् ।

इदम् । जघन्याम् । आसाम् । आ । विधिनञ्चि । स्तुकांम् । इव २

दोष—प्रकर्षसाम्याल्पत्वभेदेन गण्डमालास्त्रविधाः । तासाम् अपसारणम् अनया उच्यते । आसाम् अपचितां मध्ये प्रथमाम् मुख्यां दोषप्रकर्षेण उद्भूतां दुश्चिकित्सामपि गण्डमालां विध्यामि । मुनेदवस्य मूलेनेति संबन्धः अस्या अपि श्रेणः शरेण वेधने विनियुक्तत्वात् । उत अपि च मध्यमाम् दोषसाम्येन उद्भूतां नातिदुःसाधाम् । सुसाधाम् इत्यर्थः । तादृशीम् अपचितं विध्यामि शरेण । तथा इदम् इदानीम् आसाम् अपचितां मध्ये जघन्याम् अल्पदोष-

समुद्भूताम् ईषत्नयत्नेन निर्हरणीयां गण्डमालाम् आ द्विनद्धि  
सर्वतो विदारयामि । ❀ द्विदिर् द्वैधीकरणे । रुधादिः ❀ । छेदने  
दृष्टान्तः स्तुकाम् इवेति । यथा ऊर्णास्तुका अनायासेन चिद्यते  
तथेति ॥

( दोषके प्रकर्ष साम्य और अल्पत्वके भेदसे गण्डमालाओंके  
तीन भेद हैं । उनके अपसारणका इसमें वर्णन है, कि—) इन  
गण्डमालाओंमें दोषप्रकर्षके कारण मुख्य उभरी हुई दुश्चिकित्स्य  
गण्डमालाको भी मैं ( जड़के बने बाणसे ) वेधता हूँ और मध्यम  
अर्थात् दोषसाम्यसे उद्भूत अतिदुःसाध्य नहीं किंतु सुसाध्य  
गण्डमालाको भी बीधता हूँ और इन गण्डमालाओंमें जो निकृष्ट  
अल्पदोषसे उभरी हुई अत एव थोड़े ही प्रयत्नसे दूर करने योग्य  
गण्डमाला है उसको मैं इस प्रकार बीध डालूँगा जिस प्रकार  
ऊर्णास्तुकाको अनायास ही छेद डाला जाता है ॥ २ ॥

तृतीया ॥

त्वाष्ट्रेणाहं वचसा वि तं ईर्ष्याममीमदम् ।

अथो यो मन्युष्टे पते तमुं ते शमयामसि ॥ ३ ॥

त्वाष्ट्रेण । अहम् । वचसा । वि । ते । ईर्ष्याम् । अमीमदम् ।

अथो इति । यः । मन्युः । ते । पते । तम् । ऊँ इति । ते ।

शमयामसि ॥ ३ ॥

हे ईर्ष्यापेत पुरुष ते तव ईर्ष्याम् क्रोधं स्त्रीविषये क्रियमाणं  
त्वाष्ट्रेण । अवयवविभागकर्ता त्वष्टा । श्रूयते हि । “वाचच्छो वै  
रेतसः सिक्तस्य त्वष्टा रूपाणि विकरोति तावच्छो वै तत् प्रजा-  
यते” इति [ तै० सं० १. ५. ६. २ ] । तत्संबन्धि त्वाष्ट्रम् । तेन  
वचसा वाक्येन मन्युष्टेण अहं प्रयोक्ता स्त्री वा व्यमीमदम् विगत-

मदां करोमि । निवारयामीत्यर्थः । ईर्ष्याया मदो नाम उद्रेकः । ईर्ष्याम् उद्रेकरहितां करोमीति यावत् । न केवलम् ईर्ष्योद्रेकशमनम् । अथो अपि तु हे पते बल्लभ ते तव यो मन्युः क्रोधः मद्भिषयः ते तव तं क्रोधं शमयामसि शमयामः । उ इत्यवधारणे । अत्रापि त्वाष्ट्रेण वचसा इति संबध्यते । यथा लोके दुष्टाः पुत्राः पितुराज्ञया दुर्ग्यसनाद् निवर्तन्ते एवं पुरुषगतेर्ष्याविनाशने सर्वोत्पादकस्य तदण्डरुक्तिः करणत्वेनोक्ता ॥

हे ईर्ष्याके चक्रमें पड़े हुए व्यक्ति ! मैं तेरे स्त्री वा पुरुष-विषयक क्रोधको त्वष्टा ‡ देवके मन्त्ररूप वचनसे मद्दरहित करता हूँ अर्थात् निवारण करता हूँ और हे पते ! आपका मुझ पर जो क्रोध है उसको हम शान्त करते हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

व्रतेन त्वं व्रतपते समंक्तो विश्वाहा सुमना दीदिहीह ।  
तं त्वा वयं जातवेदः समिद्धं प्रजावन्त उप सदेम सर्वे  
व्रतेन । त्वम् । व्रतपते । समऽअक्तः । विश्वाहा । सुमनाः ।  
दीदिहि । इह ।

‡ त्वष्टा देवता अवयवोंका विभाग करने वाले हैं । श्रुतिमें भी कहा है, कि—“यावच्छो वै रेतसः सिक्तस्य त्वष्टा रूपाणि विकरोति तावच्छो वै तत् प्रजायते ।—त्वष्टा देवता सिक्त वीर्यके जितने रूप बनाते हैं उतने रूपमें वह वीर्य उत्पन्न होता है” ( तैत्तिरीयसंहिता १ । ५ । ६ । २ ) अत एव उन पितारूप सर्वोत्पादक त्वष्टादेवके वचनसे क्रोधको शान्त करना कहा है । क्योंकि—दुष्टत पुरुष भी पिताकी आज्ञा पाने पर दुराचरणसे निवृत्त होजाते हैं ॥

तम् । त्वा । वयम् । जातवेदः । सम्यद्दम् । मजाऽवन्तः । उप ।

सदेम । सर्वे ॥ ५ ॥

हे व्रतपते व्रतस्य कर्मणः पालयितः । कर्मफलप्रदावृत्त्वाद् व्रत-  
पतित्वम् अग्नेः । “त्वं व्रतानां व्रतपतिरसि” इति [ तै० सं०  
१. २. ११. १ ] मन्त्रान्तरम् व्रतेन अनुष्ठीयमानेन दर्शपूर्ण-  
मासादिकर्मणा समक्तः संस्कृतः संभावितः । सम्यग्दृष्ट इत्यर्थः ।  
❀ अञ्जेः कर्मणि निष्ठा ❀ । एवंविधस्त्वं विष्वाहा विश्वेषु  
अहस्सु सर्वदा सुमनाः शोभनमनस्कः अस्मद्विषये अनुग्रहबुद्धियुक्तः  
सन् इह अस्मिन् अस्मदीये गृहे दीदिहि । ❀ दीदेतिर्दीप्तिकर्मेति  
यास्कः ❀ । दीप्यस्व । हे जातवेदः जातानां भूतानां वेदितः  
जातैर्विद्यमान ज्ञायमान वा जातमज्ञ जातधन वा हे अग्ने समि-  
द्धम् सम्यग्दीप्तं तं पूर्वोक्तगुणं त्वा त्वां मजावन्तः मजायन्त इति  
मजाः पुत्रपौत्रादिसमेताः सर्वे वयम् उप सदेम उपसद्यास्म तव परि-  
चरणं क्रियास्म । ❀ सदेः “लिङ्याशिप्यङ्” इति अङ्प्रत्ययः ❀ ॥

हे व्रतपते † ! अर्थात् कर्मफल देनेके कारण कर्मके स्वामिन्  
अग्ने ! आप इस अनुष्ठीयमान दर्श पूर्णमास आदि कर्मसे भली  
प्रकार पूजा पाकर सब दिनोंमें हम पर अनुग्रहबुद्धि रखते हुए हमारे  
घरमें प्रज्वलित रहिये । हे उत्पन्न हुआँको जानने वाले अग्ने !  
मदीप्त आपकी हम सब पुत्र पौत्र आदिसहित उपासना कर रहे हैं ४

पञ्चमी ॥

प्रजावतीः सूयवंसे रुशन्तीः शुद्धा अ॒पः सु॒प्रपा॒णे  
पि॒वंतीः ।

† तैत्तिरीयसंहिता १ । २ । ११ । १ में कहा है, कि-“त्वं  
व्रतानां व्रतपतिरसि” ॥

मा व स्तेन ईशत माघशंसः परिवो रुद्रस्य हेतिवृणक्तु  
प्रजाज्यतीः । सुज्यवसे । रुशन्तीः । शुद्राः । अपः । सुप्रपाने ।  
पिबन्तीः ।

मा । वः । स्तेनः । ईशत । मा । अघशंसः । परि । वः । रुद्रस्य ।  
हेतिः । वृणक्तु ॥ १ ॥

प्रजावतीरित्येषा पञ्चमी व्याख्याता [ ४. २१. ७ ] ॥

पुत्र पौत्र आदि से सम्पन्न, शोभन लृण वाले देशमें वासका  
भक्षण करती हुई, सुखसे उतरने योग्य मार्ग वाले जलाशयमें निर्मल  
जलको पीती हुई तुमको चोर न हर सके और तुमको मारना  
चाहने वाला व्याघ्र आदि भी तुम्हारा हरण न कर सके और  
उपरके अभिमानी देवता रुद्रका आयुध तुमको छोड़ देय ॥ १ ॥

षष्ठी ॥

पदज्ञा स्थ रमतयः संहिता विश्वनाम्नीः ।

उप मा देवीर्देवेभिरेत ।

इमं गोष्ठमिदं सदो धृतेनास्मान्समुञ्जत ॥ २ ॥

पदज्ञाः । स्थ । रमतयः । समुञ्जिताः । विश्वनाम्नीः ।

उप । मा । देवीः । देवीभिः । आ । इत ।

इमम् । गोऽस्थम् । इदम् । सदः । धृतेन । अस्मान् । सम् । उञ्जत

हे रमतयः । गोनायैतत् । तद् उक्तम् आपस्तम्बेन । “चिद्  
असि मनासि धीरसि रन्ती रमतिः सन्नुः मूनरीत्युच्चैरुपह्वे सप्त

मनुष्यगवीः” [ आप० ४. १० ४ ] इति पयःप्रदानादिना रम-  
यिष्यो धेनवः । ॐ रमु क्रीडायाम् । औणादिकः अतिप्रत्ययः ॐ ।  
पदज्ञाः सहचरीणां गवां पदानि जानत्यः स्य भवथ । यद्वा पद्यते  
गम्यत इति पदं गृहं तज्जानत्यः स्य । गोसंचरस्थाने चरित्वा  
पुनरस्मदीयमेव गृहं ज्ञात्वा आगच्छन्त्यो भवतेत्यर्थः । गा विशि-  
नष्टि । संहिताः वत्सैः सहिताः अन्यगवीभिर्वा सहिताः परस्परम्  
आनुकूल्यं प्राप्ताः । विश्वनाम्नीः व्याप्तनामधेयाः । ॐ “वा द्यन्दसि”  
इति जसः पूर्वसवर्णदीर्घः ॐ । सर्वत्र प्रसिद्धसंज्ञाः बहुविधनाम-  
धेया वा । एकस्या गोरनेकसंज्ञासद्भावस्तैत्तिरीये समाम्नायते ।  
इहे रन्ते दिते सरस्वति प्रिये प्रेयसि महि विश्रुत्येतानि ते अघ्निये  
नामानि” इति [ तै० सं० ७. १. ६. ८ ] । यद्वा विश्वं जगत्  
नमयन्ति स्वात्माभिमुखं कुर्वन्तीति विश्वनाम्न्यः । क्षीरादि-  
लाभाय हि सर्वे धेनूः प्रार्थयन्ते । अत एव हे देवीः देव्यः दीव्यन्त्यो  
गावो यूयं देवेभिः देवैर्दीव्यद्भिः स्वकीयवत्सादिभिः सह मा मां  
पुष्टिकामम् उपैत समीपम् आगच्छत । ॐ इण् गतौ । लोटि  
मध्यमबहुवचने रूपम् ॐ । आगत्य च इमम् अस्मदीयं गोष्ठम्  
गावस्तिष्ठन्ति अत्रेति गोष्ठः गोनिवासस्थानम् । ॐ गोशब्दोप-  
पदात् तिष्ठतेः अधिकरणे कः । “अम्बाम्बगोभूमि०” इति सका-  
रस्य मूर्धन्यादेशः ॐ । इदम् अस्मदीयं सदः सीदन्त्यत्रेति सदो  
गृहम् अस्मान् गोष्ठगृहस्वामिनश्च धृतेन धृतोत्पादकेन ययसा धृतेन  
वा समुत्तत सम्यक् सिञ्चत । ॐ उच्च सेचने ॐ । यथा गव्य-  
समृद्धिर्भवति तथा यूयम् अस्मद्गृहेषु समृद्धा भवतेत्यर्थः ॥

हे दुग्ध आदि प्रदान कर आनन्दित करने वाली रमतिर्यो +

+ आपस्तम्ब मुनिने गौओंके अनेक नाम लिखे हैं, कि-  
“चिदसि मनासि धीरसि रन्ती रमतिः स्रजुः स्रनरीत्युच्चैरुपहृये  
सप्त मनुष्यगवीः ।” ( आपस्तम्ब ४ । १० । ४ ) ॥



गौओं ! तुम अपने निवास स्थानको जानती हो अर्थात् जंगलमें चरनेके स्थानमें चर कर फिर हमारे घरको जान कर आजाया करती हो और बछड़ोंसे अनुकूलता रखती हो। आपके बहुतसे × नाम हैं वा आप सबको दुग्ध आदि देकर अपने अनुकूल नमा लेती हैं अत एव सब धेनुओंकी प्रार्थना करते हैं। इस प्रकारकी दमकती हुई तुम अपने दमकते हुए बछड़ोंके साथ सुभ्र पुष्टिकी कामना वालेके पास आओ और आकर हमारे गोठको हमारे घरको और हम गृहस्वामियोंको भी धृतके उत्पादक दुग्ध से वा धृतसे भली प्रकार समुचित करो ! तात्पर्य यह है, कि—जिस प्रकार गव्यसमृद्धि हो तिस प्रकार तुम हमारे घरोंमें बड़ो २ सप्तमी ॥

आ सु॒स्रसः सु॒स्रसो अस॑तीभ्यो अस॑त्तराः ।

सेहो॑र॒सतरा॑ लव॒णाद् वि॒ज्ज्लेदी॑यसीः ॥ १ ॥

आ । सु॒स्रसः । सु॒स्रसः । अस॑तीभ्यः । अस॑त्तराः ।

सेहो॑ः । अ॒र॒स॒तराः । ल॒व॒णाद् । वि॒ज्ज्लेदी॑यसीः ॥ १ ॥

या ग्रैव्या अपचित इत्युत्तरमन्त्रेऽभिधानाद् अत्रापि अपचित एवोच्यन्ते । सुस्रसः अत्यर्थं स्रवन्त्यः सर्वदा पूयादिस्रवणशीलाः । ❀ सुपूर्वात् संसतेः क्विप् । “अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति” इति नकारलोपः ❀ । अत एव असतीभ्यः सतीविरुद्धा असत्यः बाधिका रोगव्यक्तयस्ताभ्योपि असत्तराः अत्यर्थम् असत्यो

× एक गौके अनेक नामोंका होना तैत्तिरीयमें कहा है, कि—“इडे रन्ते दिते सरस्वति प्रिये प्रेयसि महि विश्रुत्येतानि ते अघ्निये नामानि ।—हे अघ्निये गौ ! तेरे इडा रन्ता सरस्वती दिति प्रिया प्रेयसी मही ये नाम प्रसिद्ध है” ( तैत्तिरीयसंहिता ७ । १ । ६ । ८ ) ॥

वाधिका एवंविधा अपचिन्नामिका गण्डमालाः आमुस्रसः आ  
समन्ताद् निरवशेषं स्रवणशीला भवन्तु । मन्त्रोपधप्रयोगेण निःशेषं  
स्रवणेन विनश्यन्तु इत्यर्थः । अपचितो विशिनष्टि । शोष्ठोः शोष्ठु-  
र्नामविप्रकीर्णविवः अत्यन्तं निःसारस्तूलादिरूपः पदार्थः तस्मा-  
दपि अरसतराः निःसारतराः । अपचितो हि पाकावस्थातः पूर्वम्  
अवाधिका इव दृश्यन्ते । परवात् कृत्तादिसंधिप्रदेशेषु व्याप्ता व्रण-  
रूपेण बाधन्ते । रोगप्रादुर्भावकाले स्वरूपापरिज्ञानेन अरसत्वम्  
उक्तम् । पाकोत्तरकालं कृत्स्नावयवव्याप्त्यनन्तरं लवणात् सर्वदा  
स्रवणशीलत्वेन प्रसिद्धात् एतन्नामधेयात् पदार्थादपि विक्लेदी-  
यसीः अतिशयेन विविधं प्लेदनवत्यः । यथा लवणो यत्रकुत्रापि  
निहितोपि सर्वदा स्रवति तस्मादपि पाकावस्थोत्तरकालं सर्वाङ्ग-  
संधिषु पूयादिस्रवणशीला भवन्ति । एतादृश्योऽपचितः आमुस्रसो  
भवन्तिवति संबन्धः । ❀ विक्लेदीयसीरिति । विविधः प्लेदो  
यासां ता विरलेदाः अतिशयेन विक्लेदा विक्लेदीयस्यः । “द्वि-  
वचनविभज्योपपदे०” इति ईयमुन् प्रत्ययः । “टिः” इति टिलोपः ।  
“वा छन्दसि” इति जसः पूर्वसवर्णदीर्घः ❀ ॥

ग्रीवार्मे रहने वाली गण्डमालायें सदा पीपको बहाती रहती  
हैं वे सती वाधिका रोगव्यक्तियोंसे भी अधिक पीड़ा देती है  
अत एव असती हैं, ये गण्डमालायें मन्त्र तथा औपधिके प्रयोग  
से बहुत ही बहने लगें अर्थात् नष्ट होजावें । ये गण्डमालायें विप्र-  
कीर्ण अवयव वाले अत्यन्त निःसारतूलादिरूप सेहुसे भी अधिक  
निःसार हैं, ( क्योंकि—ये अपचित् पाकावस्थासे पहिले पीड़ा न  
देने वालीसीं दीखती हैं, फिर वगल आदि संधिप्रदेशोंमें व्याप्त  
हो व्रणरूपसे पीड़ा देती हैं, अतएव रोगप्रादुर्भाव कालमें स्वरूप  
का ज्ञान न होनेके कारण इनको अरसकहा है ) और यह लवण  
से भी अधिक बहने वाली हैं (अर्थात् पाकके अनन्तर सारे शरीर

में व्याप्त होजाने पर सदा स्रवणशील लवणकी समान सर्वांग-  
संधियोंसे बहती रहती हैं ऐसी अपचित् भी और अधिक बहें ।  
अष्टमी ॥

या ग्रैव्या अपचितोथो या उपपद्याः ।

विजाम्नि या अपचितः स्वयंस्रसः ॥ २ ॥

याः । ग्रैव्याः । अपचितः । अथो इति । याः । उपपद्याः ।

विजाम्नि । याः । अपचितः । स्वयंस्रसः ॥ २ ॥

ग्रैव्याः ग्रीवायां भवाः गलप्रदेशे उत्पन्नाः । ❀ ग्रीवाशब्दात्  
“ज्यप्रकरणे परिमुखादिभ्य उपसंख्यानम्” इति “तत्र भवः”  
इत्यर्थे ज्यप्रत्ययः । “ग्रीवाभ्योण् च” इति अएप्रत्यये तु ङीप्  
यणादेशो च कृते ग्रैव्य इति भवति ❀ । ग्रीवाभवा या अपचितः ।  
अथो अपि च उपपद्याः उपपक्षे पक्षसमीपे उपपक्षे भवाया अप-  
चितः । विजाम्नि विशेषेण जायते अपत्यम् अत्रेति विजामा गुह्य-  
प्रदेशः । ❀ जायते: “अन्येभ्योपि दृश्यन्ते” इति मनिन् ।  
“विद्वन्नोरनुनासिकस्यात्” इति प्रत्ययविशेषे विहितम् आस्यं  
छन्दोविषयत्वाद् अस्मिन्नपि भवति ❀ । विजाम्नि गुह्यप्रदेशे  
तदुपलक्षिते ऊरुसंधौ या अपचिताः दोषवशाद् अपाक् चीयमाना  
गण्डमालास्ताः सर्वाः स्वयंस्रसः स्वयं स्रवणशीलाः मन्त्रौषध-  
प्रयोगेण निरवशेषं स्रवन्त्यो भवन्तु इति तच्छब्दाध्याहारेण वाक्यं  
पूरणीयम् । यद्वा स्वयंस्रसः क्षाराद्यौषधप्रक्षेपाभावेपि दोषातिरेक-  
वशाद् ग्रीवोपपन्नोरुसंधिस्थानेषु व्रणरूपेण पूयादिस्रवणशीला या  
अपचितः सन्ति ताः सर्वाः आमुससो भवन्तु इति पूर्वमन्त्रेण  
संबन्धः । या ग्रैव्या इत्युत्तरमन्त्रे यच्छब्दश्रुतेः आमुसस इति पूर्व-  
मन्त्रे तच्छब्दं विनापि वाक्यं पूर्यते ॥

गलेकी गण्डमालाएँ, बगलमें होनेवाली ककहारियों गुह्यपदेश  
आदि की अपचित् जो दोषवश बढ़ जाती हैं वे मन्त्र और  
औपधिके प्रयोगसे अपने आप बहने लगें ॥ २ ॥

नवमी ॥

यः क्रीकसाः प्रशृणाति तलीद्युमवतिष्ठति ।

निर्हास्तं सर्वं जायान्यं यः कश्च ककुदि श्रितः ॥ ३ ॥

यः । क्रीकसाः । प्रशृणाति । तलीद्युम् । अवतिष्ठति ।

निः । हाः । तम् । सर्वम् । जायान्यम् । यः । कः । च । ककुदि ।  
श्रितः ॥ ३ ॥

यो राजयक्ष्माख्यो रोगः क्रीकसाः अस्थीनि प्रशृणाति प्रस-  
रति व्याप्नोति । अस्थिपर्यन्तं व्याप्नोतीत्यर्थः । ॐ सरतेर्विकरण-  
व्यत्ययः ॐ । यश्च रोगः तलीद्यम् । तलिद् इति अन्तिकनाम ।  
अन्तिके भवं तलीद्यम् । ॐ “भवे छन्दसि” इति यत् । इकारस्य  
दीर्घश्चान्दसः ॐ । अस्थिसमीपगतं मांसम् अवतिष्ठति अवकृष्य  
तिष्ठति । मांसं शोषयतीत्यर्थः । यः कश्चित् दुःसाधो राजयक्ष्मा-  
ख्यो रोगः ककुदि ककुन्नाम ग्रीवापरभागः तस्मिन् श्रितः संश्रितः  
ककुत्स्यानं तनूकुर्वन् यो रोगोस्ति तं सर्वं शरीरगतसर्वधातु-  
शोषकं जायान्यम् निरन्तरजायासंभोगेन जायमानं क्षयरोगं निर्हाः  
निर्हरतु । मन्त्रसंस्कृतम् औपधम् अग्न्यादिसंज्ञको वा देवः विना-  
शयतु । ॐ हरतेश्चान्दसे लुङि रूपम् ॐ । जायान्यशब्दो रोग-  
निशेषपरः । स च जायासंबन्धेन प्राप्नोतीति तैत्तिरीयके समा-  
म्नायते । “प्रजापतेस्त्रयस्त्रिंशद् दुहितर आसन् । ताः सोमाय राज्ञे  
ददात् । तासां रोहिणीम् उर्षेत्” इति प्रक्रम्य समाम्नायते । “तासां  
रोहिणीम् एवोर्षेत् । तं यक्ष्म आर्क्षेत् । तद् राजयक्ष्मस्य जन्म । यत्

पापीयान् अभवत् तत् पापयक्ष्मस्य यज्जायाभ्योविन्दत् तज्जाये-  
न्यस्य । य एवम् एतेषां जन्म वेद नैनम् एते यक्ष्मा विन्दन्ति”  
इति [ तै० सं० २. ३. ५. २ ] । तत्र जायेन्य इति पठ्यते अत्र तु  
जायान्य इति आकारवत्त्वेन इति विशेषः ॥

जो राजयक्ष्मा नाम बाला रोग हृदियोंतकमें व्याप्त होजाता  
है और अस्थियोंके पासके घ्रांसको खेंच लेता है और जो ( दुःसाध्य )  
यक्ष्मारोग ककुदमें होजाता है, उन शरीरगत सब धातुओंको  
सोखने वाले निरन्तर जायासंभोगसे उत्पन्न हुये जायान्य ‡  
क्षयरोगोंको ( मन्त्रसंस्कृत औषध वा अग्नि आदि देवता ) नष्ट  
कर डालें ॥ ३ ॥

दशमी॥

पक्षी जायान्यः पतति स आ विंशति पूरुषम् ।

‡ जायान्य शब्द रोगविशेषका वाचक है और इसके जायाके  
संबंधसे प्राप्त होनेका वर्णन तैत्तिरीयकमें वर्णित है, कि—“प्रजा-  
पतेस्त्रयस्त्रिंशद् दुहितर आसन् । ताः सोमाय राज्ञेऽदाद् । तासाम्  
रोहिणीं एवोपैत् ।—प्रजापतिकी तैंतीस पुत्रियें थीं, उनको प्रजा-  
पतिने राजा चन्द्रमाके अर्पण कर दिया, वह उनमेंसे रोहिणी पर  
ही आसक्त रहा” इसका आरंभ कर आगे कहा है, कि—“तासां  
रोहिणीमेवोपैत् । तं यक्ष्म आर्च्यत् तद् राजयक्ष्मस्य जन्म । यत्  
पापीयान् अभवत् तत् पापयक्ष्मस्य । यज्जायाभ्योन्विन्दत् तज्जा-  
येन्यस्य । य एवं एतेषां जन्म वेद नैनं एते यक्ष्मा विन्दन्ति ।—  
जब वह रोहिणीमें ही आसक्त रहा तब यक्ष्मा रोगने उसको  
घेर लिया । यही राजयक्ष्माका जन्म है । जो पापीय होगया  
यही पापयक्ष्माका जन्म है । और जो जायाओंसे प्राप्त हुआ  
यही जायान्यकी व्युत्पत्ति है । जो इस प्रकार इनके जन्मको  
जानता है उसको ये यक्ष्मा रोग प्राप्त नहीं होते हैं” ॥

तदक्षितस्य भेषजमुभयोः सुक्षितस्य च ॥ ४ ॥

पक्षी । जायान्यः । पतति । सः । आ । विशति । पुरुषम् ।

तत् । अक्षितस्य । भेषजम् । उभयोः । सुक्षितस्य । च ॥ ४ ॥

जायान्यः क्षयरोगः पक्षी पक्षवान् पतन्ती भूत्वा पतति सर्वत्र चरति । स रोगः पुरुषम् पुरुषम् आ विशति सर्वतः प्रविशति । पुरुषस्य कृत्स्नं शरीरं व्याप्नोतीत्यर्थः । अक्षितस्य । ❀ क्षि निवासगत्योः ❀ । शरीरे चिरकालावस्थानरहितस्य । सुक्षितस्य चिरकालम् अवस्थितस्य । यद्वा ❀ । क्षणु हिंसायाम् इति धातुः । इकारोपजनशब्दान्दसः ❀ । अक्षितस्य अर्हिसकस्य शरीरम् अशोषयतः सुक्षितस्य शरीरगतसर्वधातून् सुष्ठु निःशोषं शोषयतः । ❀ चशब्दः समुच्चये ❀ । उभयोः अक्षितसुक्षितयोः क्षयरोगयोः तत् प्रसिद्धं मन्त्राभिमन्त्रितं वीणातन्त्रीखण्डादिरूपं भेषजम् निर्वर्तनापथं भवति ॥

[ इति ] सप्तमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

जायान्य नामक क्षयरोग पर बाला ( सा ) वन कर सर्वत्र विचरण करता है । वह रोग पुरुषके सारे शरीरमें व्याप्त होजाता है, वह चिरकालके नहीं किन्तु थोड़े समयसे शरीरमें बसे हुए जायान्य रोगको और चिरकालसे शरीरमें बसे हुये जायान्य रोगको इस प्रकार दोनों प्रकार जायान्य-क्षयरोगको मन्त्राभिमन्त्रित वीणातन्त्रीखंड आदि रूप आपधि, हटाने वाली है ॥४॥

सप्तम अनुवाक में प्रथम सूक्त समान ( २६५ ) ॥

“विद्म वै ते” इत्यस्या ऋचोराजयक्ष्मभेषज्ये “यः कीकसाः”

[ ७. ८० ] इति ऋचेन सह उक्तो विनियोगः ॥

सोमयागे माध्यन्दिनसवने “धृषत् पिव” इत्यनया द्रोणकलश-

स्थं सोमं ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । “द्रोणकलशस्थम् अनुमन्त्रयेत्  
धृषत् पिबेति माध्यन्दिने” इति हि वैतानं सूत्रम् [ वै० ३. ६ ] ॥

अभिचारकर्मणि “सांतपनाः” इति वृत्तेन विबुद्धतृत्तसमिध  
आदध्यात् ॥

तथा चातुर्मास्येषु साकमेधपर्वणि मध्यन्दिने काले सांतपनमह-  
द्यागं “सांतपनाः” इति ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । तद् उक्तं वैताने ।

“मध्यन्दिने सांतपनानां मरुतां सांतपनाः” इति [ वै० २. ५ ] ॥

सर्वव्याधिभैषज्यकर्मणि “वि ते मुञ्चामि” इत्यनया उदकघटं  
संपात्य अभिमन्त्र्य सूत्रोक्तप्रकारेण व्याधितम् आस्तावयेद् अव-  
सिञ्चेद् वा । सूत्रितं हि । “सिनीवालि [ ७. ४८ ] वि ते मुञ्चामि  
[ ७. ८३ ] शुम्भनी [ ७. ११७ ] इति यौञ्जैः पर्वसु बह्ध्वा  
पिङ्गुलीभिरास्तावयत्यवसिञ्चति” इति [ कौ० ४. ८ ] ॥

तथा दर्शपूर्णमासयोः मुच्यमानयोक्तां पत्नीम् अनया ब्रह्मा  
अनुमन्त्रयेत् । तद् उक्तं वैताने । “वि ते मुञ्चामि [ ७. ८३ ]

अहं विष्यामि [ १४. १. ५७ ] प्रत्वा मुञ्चामि [ १४. १. १६ ]  
इति पत्नीं योक्त्रेण विमुच्यमानाम् अनुमन्त्रयते” इति [ वै० १. ४ ]

दर्शपूर्णमासयोः “अस्मै क्षत्राणि” इत्यनया हविरासादना-  
नन्तरम् इधमम् उपसमादध्यात् । “अग्निर्मय्याम् [ १२. १. १६ ]

इति तिसृभिरुपसमादधाति अस्मै क्षत्राणि [ ७. ८३ ] एतम्  
इधमम्” [ १०. ६. ३५ ] इति [ कौ० १. २ ] सूत्रात् ॥

“यत् ते देवा अकृण्वन्” इति चतसृभिः स्वाभिलषितफल-  
कामः अमावास्यां यजेत् उपतिष्ठेत् वा । “बृहस्पतिर्नः [ ७. ५३ ]

यत् ते देवा अकृण्वन् [ ७. ८४ ] पूर्णा पश्चात्” [ ७. ८५ ]  
इति हि कौशिकं सूत्रम् [ कौ० ७. १० ] ॥

तथा दर्शयागे पार्वणहोमं “यत् ते देवा अकृण्वन्” इत्यनया  
कुर्यात् । “यत् ते देवा अकृण्वन् भागधेयम् इत्यमावास्यायाम्”

इति कौशिकसूत्रात् [ कौ० १. ५ ] ॥

तथा औनदर्श्यागे “यत् ते देवा अकृण्वन्” इति कुहूदेवतां परिगृहीयात् । “कुहू देवीं यत् ते देवा अकृण्वन् भागधेयम् इत्य-  
मावास्यायाम्” इति वैतानं सूत्रम् [ वै० १. १ ] ॥

“विद्य वै ते” इस ऋचाका राजयक्ष्माकी चिकित्सामें “यः  
कीकसः” इस ७ । ८० के ऋचके साथ विनियोग कह दिया है ।

सोमयागके माध्यन्दिनसवनमें “धृपत् पिब” ऋचासे द्रोणक-  
लशमें स्थित सोमका ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतान  
सूत्र ३ । ६ का प्रमाण भी है, कि—“द्रोणकलशस्थं अनुमन्त्रयेत्  
धृपत् पिबेति माध्यन्दिने” ॥

अभिचारकर्ममें “सांतपनाः” वृचसे विजलीसे मारे हुये वृक्ष  
की समिधाओंको रखे ।

तथा चातुर्मास्यके साक्रमेधपर्वमें मध्यन्दिनसमयमें सान्तपन  
मरुद्यागका “सान्तपनाः” से ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे । इसी बात  
का वैतानसूत्रमें वर्णन है, कि—“मध्यन्दिने सान्तपनानां मरुतां  
सातपनाः” ( वैतानसूत्र २ । ५ ) ॥

सर्वव्याधिमैषज्यकर्ममें “वि ते मुञ्चामि” ऋचासे जलपूर्ण  
घटका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके सूत्रोक्त रीतिसे रोगीको  
आलावित वा अवसिञ्चित करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी  
है, कि—“सिनीवालि ( ७ । ४८ ) वि ते मुञ्चामि ( ७ ८३ )  
शंभनी ( ७ । १११ ) इति मौञ्जैः पर्वसु बद्ध्वा पिञ्जलीभिरा-  
लावत्यवसिञ्चति” ( कौशिकसूत्र ४ । ८ ) ॥

तथा दर्श पूर्णमाममें रस्सीसे छूटी हुई पत्नीका ब्रह्मा इस  
मन्त्रसे अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्रका प्रमाण भी है,  
कि—“विते मुञ्चामि ( ७ । ८३ ) अहंविष्यामि ( १४ । १ । ५७ )  
म त्वा मुञ्चामि ( १४ । १ । १६ ) इति पत्नीं योवत्रेण विमुच्य-  
मानां अनुमन्त्रयेत्” ( वैतानसूत्र १ । ४ ) ॥



दर्श पूर्णमासमें “अस्मै क्षत्राणि” ऋचासे हविके आसादनके अनन्तर ईधनको रक्खे । इस विषयमें कौशिकसूत्र १ । ४ का प्रमाण भी है, कि—“अग्निर्भूम्यां ( १२ । १ । १६ ) इति तिसृभिरुपसमादधाति अस्मै क्षत्राणि ( ७ । ८३ ) एतम् इध्मम् ( १० । ६ । ३५ ) ॥”

अपने अभिलषित फलको चाहने वाला “यत् ते देवा अकृण्वन्” इन चार ऋचाओंसे अमावास्यामें यजन वा उपस्थान करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । १० का प्रमाण भी है, कि—“बृहस्पतिर्नः ( ७ । ५३ ) यत् ते देवा अकृण्वन् ( ७ । ८४ ) पूर्णा पश्चात् ( ७ । ८५ )” ॥

तथा “यत् ते देवा अकृण्वन्” ऋचासे दर्शयागमें पार्वण-होमको करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र १ । ५ का प्रमाण है, कि—“यत् ते देवा अकृण्वन् भागधेयम् इत्यमावास्यायाम्” ॥

तथा श्रौतदर्शयागमें “यत् ते देवा अकृण्वन्” से कुहूदेवताका परिग्रहण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र १ । १ का प्रमाण भी है, कि—“कुहूं देवीं यत् ते देवा अकृण्वन् भागधेयं इत्यमावास्यायाम्” ॥  
तत्र प्रथमा ॥

विद्म वै ते जायान्य जानं यतो जायान्य जायसे ।  
कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्वमो हविर्गृहे ॥ १ ॥

विद्म । वै । ते । जायान्य । जानम् । यतः । जायान्य । जायसे ।

कथम् । ह । तत्र । त्वम् । हनः । यस्य । कृण्वमः । हविः । गृहे १

हे जायान्य जायाभ्य आगत राजयक्ष्माख्य रोग ते तव जानम् जन्म उत्पत्तिनिदानं वा विद्म वै जानीमः खलु । वैशब्दः श्रुत्यन्तर-प्रसिद्धिद्योतनार्थः । “यज्जायाभ्योविन्दत् तज्जायेन्यस्य” इति

तैत्तिरीयश्रुतिः [ तै० सं० २. ३. ५. २ ] उदाहृता । हे जायान्य जायासंबन्धाद् आगत रोग यतः यस्मान्निदानात् जायसे उत्पद्यसे तन्निदानं जानीम इति संबन्धः । एवं तत्रोत्पत्तिं जानाना वयं यस्य यजमानस्य गृहे हविः रोगनिर्हरणक्षमेन्द्रादिदेवतासंबन्धि आज्यादिरूपं कृणमः कुर्मः देवतोद्देशेन तदुचितं हविः प्रक्षिपामः तत्र तस्मिन् यजमाने । ❀ विषयसप्तमी ❀ । तद्विषये हे क्षयरोग त्वं कथं ह हनः केन प्रकारेण हन्याः । यद्रोगनिर्हरणार्थं यत्र देवता इज्यन्ते तत्र स रोगो न बाधन इत्यर्थः । ❀ हनइति । हन्तेः पञ्चम-लकारे अडागमः । कृणम इति । “लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः” इति उपत्ययलोपः ❀ ॥

हे स्त्रीसे आये हुए जायान्य राजयक्ष्मा रोग ! हम तेरी उत्पत्ति वा उत्पत्तिनिदानको जानते ही ‡ हैं । हे जायासम्बन्धसे आये हुए ! तू जिस कारणसे उत्पन्न होता है उसको हम जानते हैं, इस प्रकार तेरी उत्पत्तिको जानने वाले हम जिस यजमानके घर में रोगको दूर करनेमें समर्थ इन्द्र आदि देवताओं की घृत आदि की हविको कर रहे हैं उस घरमें तू किस प्रकार संहार कर रहा है ? अर्थात् जहाँ रोगको दूर करनेके लिये देवताओं की पूजा की जाती है तहाँ वह रोग पीड़ा नहीं देता है ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

धृपत् पिब कलशे सोममिन्द्र वृत्रहा शूर समरे वसूनाम् ।

‡ ( वै ) ही शब्द इस वार्ताको जताता है; कि-इस विषयका वर्णन अन्य श्रुतिमें भी है । जैसे जायान्य रोगका वर्णन तैत्तिरीय संहिता २ । ३ । ५ । २ की श्रुतिमें भी है, कि-‘यज्जायाभ्योऽविन्दत् तज्जायेन्यस्य ।’

माध्यन्दिने सर्वन् आ वृषस्व रयिस्थानो रयिमस्मासु  
धेहि ॥ २ ॥

धृषत् । पिव । कलशे । सोमम् । इन्द्र । वृत्रहृहा । शूर । सम्-  
अरे । वसूनाम् ।

माध्यन्दिने । सर्वने । आ । वृषस्व । रयिस्थानः । रयिम् ।  
अस्मासु । धेहि ॥ २ ॥

हे इन्द्र धृषत् धृष्टः धर्षको वा शत्रूणाम् । ❀ विधृषा प्रागल्भ्ये ।  
शतरि व्यत्ययेन शः ❀ । कलशे द्रोणकलशाख्ये स्थितं सोमं  
पिव । किंनिमित्तम् । हे शूर विक्रान्त वृत्रहा वृत्रं हतवान् त्वं वसू-  
नाम् धनानां समरे संगमे निमित्ते । अस्मान् धनं संयोजयितुं पिवे-  
त्यर्थः । ❀ संपूर्वाद् अर्तेः “ऋदोरप्” । “धाथ०” इत्यादिस्व-  
रेण अन्तोदात्तः ❀ । सोमपानस्य कालम् आह । माध्यन्दिने  
मध्यन्दिनसंबन्धिनि सवने । स्रूयते अभिपूयते सोमः अत्रेति सवनः  
कालः । तत्र आ वृषस्व सर्वतः सिञ्च । जठरे सोमम् इति शेषः ।  
यद्वा । ❀ आवृषतिर्भक्षणकर्मा इति यास्कः ❀ । भक्ष च । सोमम्  
इति शेषः । ततः रयिस्थानः तिष्ठन्ति अस्मिन् धनानि इति  
स्थानः । ❀ अधिकरणे ल्युट् प्रत्ययः ❀ । धननिवासस्थानभूतः  
स त्वं रयिम् धनम् अस्मासु धेहि धारय ॥

हे शत्रुओंको धमकाने वाले इन्द्र ! आप द्रोणकलशमें स्थित  
सोमको पीजिये क्योंकि—हे वृत्रहन् शूर ! धनोंके संगमनके निमित्त  
अर्थात् हमें धनसम्पन्न करनेके लिये हमको धनसे सम्पन्न करिये  
आप मध्यन्दिनसवनके समय सोमका भक्षण करिये फिर धनके  
निवासस्थान आप ! हममें धनको स्थापित करिये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

सांतपना इदं हविर्मरुतस्तज्जुजुष्टन ।

अस्माकोती रिशादसः ॥ १ ॥

साम्स्तपनाः । इदम् । हविः । मरुतः । तत् । जुजुष्टन ।

अस्माकं । ऊती । रिशादसः ॥ १ ॥

हे सांतपनाः संतापकारी संतपनः सूर्यः तत्संबन्धिनः । मध्य-  
न्दिने हि सूर्यः संतपति । ॐ संतपनस्य इमे इति “तस्येदम्” इति  
अण् । “आमन्त्रितस्य च” इति पाठिकम् आद्युदात्तत्वम् । यद्वा  
संपतनं संतापः । तस्येमे इति पूर्ववद् अण् ॐ । उभयत्रापि मध्य-  
न्दिनकाले यष्टव्या इत्यर्थः । हे मरुतः इदं हविः । युष्मभ्यं कल्पि-  
तम् इति शेषः । हे मरुतः तत् हविः जुजुष्टन सेवन्वम् । ॐ जुप-  
तेर्ग्यत्ययेन ढलुः ॐ । अस्माक अस्माकम् ऊती । ॐ “सुपां  
सुलुक्” इति चतुर्थ्याः पूर्वसवर्णदीर्घः ॐ । ऊतये अस्मद्रक्ष-  
णार्थम् हे रिशादसः रिशन्ति हिंसन्तीति रिशाः । तेषाम् उपक्ष-  
पयितारः । ॐ दस्यतेः अन्तर्णीतण्यर्थात् क्तिप् ॐ । यद्वा रिशा-  
नाम् अक्षारः । ॐ अद् भक्षणे । इत्यस्माद् अमुन् । दस्यतेर्त्तेर्वा  
रूपम् इति अनवधारणाद् अनवग्रहः । अपादादित्वाद् आप्टमिकं  
सर्वाजुदात्तत्वम् ॐ । अस्मान् रक्षितुं शत्रूणां बाधका यूयं हविः  
सेवन्वम् इति संबन्धः ॥

हे सूर्यसे संबन्ध रखने वाले मरुत देवताओं ! ये हवि आपके  
लिये कल्पित हैं आप इसका सेवन करिये, हमारी रक्षा करनेके  
लिये शत्रुओंके बाधक आप हविका सेवन करिये ॥ १ ॥

चतुर्थी ॥

यो नो मर्तो मरुतो दुर्हणायुस्तिरश्चित्तानि वसवो  
जिघांसति ।

दुहः पाशान् प्रति मुञ्चतां सस्तपिष्ठेन तपसा हन्तना तम्

यः । नः । मतः । मरुतः । दुःऽदुर्हणायुः । तिरः । चित्तानि ।

वसवः । जिघांसति ।

दुहः । पाशान् । प्रति । मुञ्चताम् । सः । तपिष्ठेन । तपसा । हन्तन ।  
तम् ॥ २ ॥

हे वसवः वासकाः । मशस्या इत्यर्थः । वसुप्रदा वा हे मरुतः  
यो मर्तः मरणधर्मा मनुष्यः दुर्हणायुः दुष्टं क्रुध्यन् तिरः तिरो-  
भूतः अन्तर्हितः दृष्टिविषयम् अप्राप्तः सन् नः अस्माकं चित्तानि  
जिघांसति हन्तुम् इच्छति । जोभयतीत्यर्थः । स शत्रुः दुहः पापानां  
द्रोघधुर्वरुणस्य पाशान् प्रति मुञ्चताम् धारयतु । वरुणपाशैर्बद्धो  
भवत्वित्यर्थः । तं जिघांसन्तं जनं तपिष्ठेन तापयितृत्वेन तपसा  
तापकेन आयुधेन हन्तन हिंस्त हे मरुतः । ॐ हन्तेर्लोडि तस्य  
तस्य तनवादेशः । पिच्चाद् अनुनासिकलोपाभावः ॥

हे धन देने वाले मरुत-देवताओं ! जो मरणधर्मी पुरुष दुर्भाव  
से क्रोध कर हमारे परोक्षमें हमारे चित्तोंको झुब्ध करना चाहता  
वह शत्रु पापसे द्रोह करने वाले वरुणदेवको पाशको धारण करे ।  
और आप उस घात करनेकी इच्छा वाले पुरुषको तापक आयुध  
से मार डालिये ॥ २ ॥

पञ्चमी ॥

संवत्सरीणां मरुतः स्वर्का उरुक्षयाः सर्गणा मानुषासः ।

ते अस्मत् पाशान् प्र मुञ्चन्त्वेनंसः सांतपना मत्सरा  
मादयिष्णवः ॥ ३ ॥

सम्बत्सरीणाः । मरुतः । सुश्रुतः । उरुक्षयाः । सगणाः ।  
मानुपासः ।

ते । अस्मत् । पाशान् । प्र । मुञ्चन्तु । एनसः । साम्स्तपनाः ।  
मत्सराः । मादयिष्णवः ॥ ३ ॥

संबत्सरीणाः संबत्सरं भाविनः वर्षेवर्षे मादुर्भविष्यन्तः ।  
❀ “तम् अयीष्टो भृतो भृतो भावी” इत्यर्थे “संपरिपूर्वात् ख  
च” इति संपूर्वाद् वत्सरात् खमत्ययः ❀ । स्वर्काः । ❀ अर्क-  
शब्दं यास्को बहुधा निरुवाच । अर्को मन्त्रो भवति यद् अनेना-  
र्चन्ति अर्को देवो भवति यद् एनम् अर्चन्ति अर्कम् अन्नं भवति  
इत्यादि [ नि० ५. ४ ] ❀ । सुमन्त्राः । मन्त्रैः सम्यक् स्तूय-  
माना इत्यर्थः । सूर्यरूपदेवसंबन्धिनो वा अन्नमदत्त्वेन शोभनामा  
वा । उरुक्षयाः । क्षयशब्दो निवासवाची । उरुर्विस्तीर्णः क्षयः  
अन्तरिक्षरूपो निवासो येषां ते । अन्तरिक्षसंचारिण इत्यर्थः ।  
सगणाः । “सप्तगणा वै मरुतः” इति [ तै० सं० २. २. ५. ७ ]  
श्रुतेः स्वीयस्वीयसंघयुक्ताः । मानुपासः वृष्टिनिमित्तत्वेन मनुष्य-  
हितकारिणः । सांतपनाः शत्रूणां संतापकारिणः । मत्सराः माद्यन्तः  
मादयिष्णवः सर्वस्य संतोषकरणशीलाः । ते एवंगुणविशिष्टा  
मरुतः अस्मत् अस्मत्तः सकाशाद् एनसः पापकारिणः पाशान्  
बाधकान् प्र मुञ्चन्तु प्रमोचयन्तु ॥

प्रत्येक सम्बत्सरमें मादुर्भूत होने वाले, सुन्दर मन्त्रोंसे स्तूय-  
मान, अन्तरिक्षरूप विशाल निवास वाले, वृष्टिके निमित्त होनेके

कारण मनुष्योंका हित करने वाले, शत्रुओंको सन्तप्त करने वाले ( सात ) गण वाले और सबको संतोष देने वाले मरुत् देवता हमको पापमय पाशोंसे मुक्त करें ॥ ३ ॥

पृष्ठी ॥

वि ते मुञ्चामि रशनां वि योक्त्रं वि नियोजनम् ।

इहैव त्वमजस एध्वमे ॥ १ ॥

वि । ते । मुञ्चामि । रशनाम् । वि । योक्त्रम् । वि । निऽयोजनम् ।

इह । एव । त्वम् । अजसः । एधि । अग्ने ॥ १ ॥

हे अग्ने ते तव त्वत्कर्तृकां रशनाम् व्यापिकां रज्जुम् । ❀ अशो-  
रश च [ उ० २. ७५ ] इति युच् प्रत्ययः ❀ । त्वत्कर्तृकां रुग्ण-  
विषयां कक्ष्यावस्थितां कण्ठबन्धनसाधनभृतां वा बाधिकां रज्जुं  
वि मुञ्चामि विमोचयामि प्रयोक्ता अहम् । तथा योक्त्रम् योजनोप-  
युक्तं रज्जुविशेषं मध्यमदेशबन्धनसाधनम् । वि मुञ्चामीति क्रिया-  
नुपङ्गः । तथा नियोजनम् नितरां योजनसाधनं नीचीनं वा बंधन-  
साधनं सर्वावयवबंधकं रज्जुविशेषम् । वि मुञ्चामीत्यनुपङ्गः ।  
सर्वत्र क्रियानुपङ्गं द्योतयितुं वीत्युपसर्गश्रुतिः । अतः बंधनमोच-  
नात् हे अग्ने त्वम् इहैव अस्मिन्नेव रोगार्ते । ❀ विषयसप्तमी ❀ ।  
रुग्णविषये अजसः । ❀ जमु हिंसायाम् इति धातुः । “नमि-  
कम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः” इति ताच्छीलिको रप्रत्ययः ❀ ।  
अवाधनशीलः एधि भव । ❀ अस्तेल्लोटि हेर्धिभावे “व्वसो-  
रेद्धौ०” इति एकारादेशः ❀ ॥ यद्वा रोगार्त एव संबोध्यते ।  
हे रोगार्त ते तत्र संबंधिनीम् रशनाम् हननसाधनभृतं मृत्युपाशं  
वि मुञ्चामि । एवं योक्त्रनियोजनशब्दौ व्याख्येयौ । अतो रश-  
नादिविमोक्षात् हे अग्ने । अग्निवद् अग्निः । अग्निवद् दीप्य-

मान रोगान्मुक्त पुरुष त्वम् इद्वैव अस्मिन्नेव लोके अजस्रः परै-  
र्मृत्युना वा अबाधितः एधि भव । ॐ अस्मिन् पक्षे कर्मणि  
रमत्ययो द्रष्टव्यः ॐ ॥ पत्नी वा संबोध्यते ॥

मैं प्रयोक्ता आपकी रोगरूपिणी कण्ठ वा बगलमें व्याप्त रज्जु  
को खोलता हूँ और मध्यप्रदेशके बंधनकी साधन योक्त्ररज्जुको  
खोलता हूँ और सर्वावयवबन्धनसाधक नीचीन योक्त्रको भी  
खोलता हूँ । इस बन्धनको खोलनेके कारण हे अग्ने ! आप इस  
रोगार्त पुरुषके यहाँ अबाधनशील होकर बढ़िये ॥ १ ॥

सप्तमी ॥

अस्मै क्षत्राणि धारयन्तमग्ने युनज्मि त्वा ब्रह्मणा दैव्येन  
दीदिह्यं १ स्मभ्यं द्रविणेह भद्रं प्रेमं वोचो हविर्दा देवतासु  
अस्मै । क्षत्राणि । धारयन्तम् । अग्ने । युनज्मि । त्वा । ब्रह्मणा ।  
दैव्येन ।

दीदिहि । अस्मभ्यम् । द्रविणा । इह । भद्रम् । प्र । इमम् ।  
वोचः । हविःऽदाम् । देवतासु ॥ २ ॥

हे अग्ने अस्मै यजमानाय क्षत्राणि । बलनामैतत् । बलानि  
धारयन्तम् । प्रयच्छन्तम् इत्यर्थः । तादृशं त्वा त्वां दैव्येन देव-  
संबन्धिना ब्रह्मणा मन्त्रेण युनज्मि हविर्वह्नार्यं योजयामि । अथ  
अस्मभ्यं द्रविणा द्रविणानि धनानि भद्रम् भंदनीयं सुखं  
पुत्रादिलाभादिनिमित्तं च इह इदानीं दीदिहि । देहीति यावत् ।  
ॐ ददातेऽद्यादसं रूपम् ॐ । अथवा । ॐ दीदेतिर्दोषिकर्मा इति  
यास्कः [ निघ० १. १६ ] ॐ । अस्मभ्यं धनादिकं संदीपय ।  
समर्घयेत्यर्थः । यद्वा धनं सुखं च अस्मभ्यं दातुम् इह इदानीं



दीदिहि । इध्मेन दीप्यस्वेत्यर्थः । ततः हविर्दाम् चरुपुरोडाशादिरूपं हविः प्रयच्छन्तम् । ॐ ददातेः क्विप् ॐ । तादृशम् इमं यजमानं देवतासु अग्नीन्द्रादिषु प्र बोचः प्रब्रूहि । असौ यजमानो हविषा देवता यजत इति तस्यै तस्यै यष्टव्यदेवतायै कथयेत्यर्थः ॥

हे अग्निदेव ! इस यजमानको बल देने वाले आपको मैं दिव्य मन्त्रसे हवि वहन करनेके लिये नियुक्त करता हूँ, अतः आप इस समय हमको धन और पुत्रलाभ आदिसे होनेवाला सुख दीजिये । अथवा—आप हमको धन और सुख देनेके लिये इस समय प्रदीप्त हूजिये, तदनन्तर चरु पुरोडाश आदिरूप हविको देने वाले इस यजमानकी वात इन्द्र अग्नि आदि देवताओंसे कहिये अर्थात् यह यजमान हविसे अमुक देवताओंका यजन कर रहा है यह वात आप पूज्य देवताओंसे कहिये ॥ २ ॥

अष्टमी ॥

यत् ते देवा अकृण्वन् भागधेयममावास्ये संवसन्तो महित्वा ।

तेना नो यज्ञं पिष्टहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे सुवीरम् ॥ १ ॥

यत् । ते । देवाः । अकृण्वन् । भागधेयम् । अमावास्ये । सम्-  
वसन्तः । महित्वा ।

तेन । नः । यज्ञम् । पिष्टहि । विश्ववारे । रयिम् । नः । धेहि ।

सुभगे । सुवीरम् ॥ १ ॥

अमा सह वसतः सूर्यचन्द्रावस्याम् इति अमावास्या । ॐ “अमा-

वस्यदन्यतरस्याम्” इति पक्षे एतत् प्रत्ययः । लिच्चाद् उपधा-  
वृद्धिः ॐ । तस्याः संवृद्धिः । हे अमावास्ये ते तव महित्वा मह-  
त्वेन । ॐ तृतीयाया आकारादेशः ॐ । यद्वा महित्वा महित्वे ।  
ॐ सप्तम्या आकारः ॐ । कर्षकालन्यासिपर्यन्तं संवसन्तः सम्यग्ब-  
सन्तः । हविरपेक्षया तिष्ठन्तो देवाः अग्नीन्द्रसोमादयः भागधेयम्  
हविषो भागम् अकृण्वन् अकुर्वन् । स्वीकृतवन्त इति यत् । “यत्  
ते देवा अदधुर्भागधेयम्” इति तैत्तिरीये श्रूयते [ तै० सं० ३. ५.  
१. १ ] । यद्वा हे अमावास्ये ते तुभ्यं यद्वा भागधेयं हविषो भागम्  
अमावास्यायां यष्टव्यत्वेन संवसन्तो देवा अकृण्वन् अकुर्वन् प्राप-  
च्छन् । दर्शो अमावास्याया अपि हविषो भागोस्ति । ॐ भागधे-  
यम् इति । “रूपनामभागेभ्यो०” धेयप्रत्ययः ॐ । तेन हविर्भाग-  
स्वीकरणेन नः अस्मदीयं यज्ञं पिपृहि पूरय सार्द्धं कुरु हे विरव-  
वारे विरवैः सर्वैर्वरणीये । किं च हे सुभगे शोभनभाग्ययुक्ते  
अमावास्ये नः अस्मभ्यं सुवीरम् । वीराः कर्मणि कुशलाः पुत्रा-  
दयः । शोभनपुत्रादियुक्तं रयिम् धनं धेहि मयच्छ ॥

हे अमावास्ये ! पूज्य होनेसे साथमें वसते हुए देवताओंने  
तुम्हारे लिये महत्त्वके कारण जो भाग दिया है, उस हविर्भागको  
स्वीकार कर तुम हमारे यज्ञको पूर्ण करो-सांग करो । हे सर्वोंसे  
वरणीय सौभाग्यवति अमावास्ये ! आप हमको कर्ममें कुशल  
शोभन पुत्र आदिसे सम्पन्न धन दीजिये ॥ १ ॥

नवमी ॥

अहमेवास्म्यमावास्या३ मामा वसन्ति सुकृतो मयीमे ।  
मयि देवा उभये साध्याश्चन्द्रज्येष्ठाः समंगच्छन्त सर्वे  
अहम् । एव । अस्मि । अमावास्या । माम् । आ । वसन्ति । सु-  
कृतः । मयि । इमे ।

मयि । देवाः । उभये । साध्याः । च । इन्द्रज्येष्ठाः । सम् । कृ-  
च्छन्त । सर्वे ॥ २ ॥

अत्र देवतावासस्थानभूतत्वेन अमावास्याशब्दनिष्पत्तिरिति  
देवता स्वयमेव स्वनाम निर्वक्ति । अहमेव अमावास्याभिमानिनी  
देवता अमावास्या अस्मि । न केवलं शब्दतः अपि तु अर्थतोपि  
एतन्नामिका भवामि । तद् दर्शयति पादत्रयेण । सुकृतः सुकर्माणो  
देवा मां मयि आ वसन्ति निवसन्ति यष्टव्यत्वेन अवतिष्ठन्ते ।  
❀ “उपान्वध्याङ्क्सः” इति आङ्पूर्ववसिप्रयोगे माम् इत्यस्य  
कर्मता । आ मा वसन्ति देवा इति अमावास्याशब्दनिर्वक्तिः ।  
आङ्क्सत्योर्मध्ये मा इति अस्मदो द्वितीयैकवचनस्य प्रयोगः ।  
आङुपसर्गस्य ह्रस्वत्वम् । इति अमावास्याशब्दनिष्पत्तिः प्रदर्शिता ।  
प्रत्ययस्तु पूर्वमेव उक्तः ❀ । माम् इति द्वितीयार्थमेव विष्टुणोक्ति-  
मयीमे इति । इमे देवाः मयि निवसन्ति इति आवासपदस्य अर्थ-  
कथनद्वारेणापि अमावास्याशब्दो निरुच्यते । साध्याः । चशब्दः  
अनुक्तसमुच्चयार्थः । सिद्धाश्च साध्यसिद्धनामका उभये द्विप्रकारा  
इन्द्रज्येष्ठाः इन्द्रप्रमुखाः सर्वे देवाः मयि समगच्छन्त संगच्छन्ते यष्ट-  
व्यत्वेन मिलिता भवन्ति । एतद् उक्तं भवति । माम् आ वसन्ति  
देवा मयि निवसन्ति यष्टव्यत्वेन मयि संगच्छन्ते इति अन्वर्थम्  
अमावास्याशब्दवाच्या भवामीति । अमा सह वसुत्वर्य इन्द्रो वसति  
अस्यां तिथौ इति अमावास्याशब्दनिर्वक्तिरिति तैत्तिरीये श्रूयते ।  
“अमा वै नोद्य वसु वसतीति । इन्द्रो हि देवानां वसु । तद् अमा-  
वास्याया अमावास्यात्वम्” इति [ तै० सं० २. ५. ३. ६ ] ॥

( यहाँ देवताके आवासस्थाने अमावास्या शब्दको कदा गया  
है वह देवता स्वयमेव कहते हैं, कि—) मैं ही अमावास्याका अमि-  
मानी देवता हूँ, ( केवल शब्दसे ही ऐसा नहीं है किन्तु अर्थसे

भी ऐसा ही हूँ, क्योंकि-) सुन्दर कर्म वाले देवता मुझमें यष्टव्यरूपसे रहते हैं ( आ मा वसन्ति देवा इति अमावास्याशब्द निरुक्तिः ) यही मेरा अमावास्यात्मक अन्वर्थक नाम है। ये देवता मुझमें रहते हैं। और साध्य सिद्ध नामक इन्द्रज्येष्ठ और इन्द्र-प्रमुख इस प्रकार दोनों प्रकारके भी देवता मुझमें यष्टव्यत्वसे मिलित होजाते हैं ‡ ॥ २ ॥

दशमी ॥

आगन् रात्रीं संगमनी वसूनामूर्जं पुष्टं वस्ववेशयन्ती ।  
अमावास्याये हविषा विधेमोर्जं दुहाना पयसा न  
आगन् ॥ ३ ॥

आ । अगन् । रात्री । सम्गमनी । वसूनाम् । ऊर्जम् । पुष्टम् ।  
वसु । आवेशयन्ती ।

अमावास्याये । हविषा । विधेम । ऊर्जम् । दुहाना । पयसा ।  
नः । आ । अगन् ॥ ३ ॥

रात्री अमावास्याकालयुक्ता तिथिः वसूनाम् धनानां संगमनी संयोजयित्री । ॐ विधेयविशेषणम् एतत् ॐ । अस्मान् धनं संयो-

‡ अमा अर्थात् सायमें वसुरूप इन्द्र इस तिथिमें रहते हैं-इस प्रकारकी अमावास्या शब्दकी निरुक्ति तैत्तिरीयसूक्त की श्रुतिमें है, कि-“अमा वै नोऽद्य वसु वसतीति । इन्द्रो हि देवानां वसु । तद् अमावस्याया अमावास्यत्वम् ।-हमारे वसु आज सायमें वसते हैं, इन्द्र ही देवताओंके वसु हैं, यही अमावास्याका अमावास्यापन है” ( तैत्तिरीयसंहिता २।५।३।६ ) ॥

जयितुम् आगन् आगच्छतु । ॐ गमेश्वरान्दसे लुङि “मन्त्रे घस०”  
 इति ऋल्लुक् । “मो नो घातोः” इति नत्त्वम् ॐ । तथा ऊर्जम्  
 अन्नरसं पुष्टम् पोषं वसु धनं च आवेशयन्ती अस्मदभिमुखं प्रय-  
 च्छन्ती आगन्निति संबन्धः । अमावास्यां गोरूपेणाह । नः अस्मा-  
 कम् ऊर्जम् अन्नरसं पयसा क्षीरेण सह दुहाना आगन् आगच्छतु ।  
 “अमावास्या सुभगा सुशेवा धेनुरिव भूय आप्यायमाना” इति  
 शाखान्तरे श्रूयते [ तै० ब्रा० ३. ७. ५. १३ ] । तादृश्यै अमा-  
 वास्यायै तदर्थम् । यद्वा । ॐ कर्मणः संप्रदानत्वाच्चतुर्थी ॐ ।  
 अमावास्यां देवतां हविषा आज्यादिरूपेण विधेम परिचरेम ॥  
 [ इति ] सप्तमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

अमावास्याकालसम्पन्न तिथि वाली रात्रि धनोंका सम्मेलन  
 कराने वाली है, वह हमको धनसे सम्पन्न करनेके लिये आवे ।  
 तथा अन्नरसका धनका और पुष्टिका अपनेमें समावेश करती  
 हुई हमारी ओर आवे । ( अमावास्याका गोरूपमें वर्णन करते  
 हैं, कि—) यह हमारे लिये अन्नरसको क्षीरके साथ दुहाती हुई  
 आवे ‡ । ऐसी अमावास्याकी हम हविसे सेवा करते हैं ॥ ३ ॥

सप्तम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त ( ३९९ ) ॥

“अमावास्ये न” इत्यस्याः सर्वाभिलषितकर्मणि “यत् ते देवा  
 अकुरुवन्” इत्यत्र विनियोग उक्तः ॥

सर्वफलकामः “पूर्णा पश्चात्” इति द्वाभ्याम् “पौर्णमासी  
 प्रथमा यज्ञियासीत्” इत्यनया च पौर्णमासी यजेत उपतिष्ठेत् वा ॥

तस्मिन्नेव कर्मणि “प्रजापते न त्वत्” इत्यनया प्रजापतिं यजेत  
 उपतिष्ठेत् वा ॥

‡ तैत्तिरीयब्राह्मण ३. ७. ५. १३ में भी कहा है, कि—

“अमावास्या सुभगा सुशेवा धेनुरिव भूय आप्यायमाना” ॥

“यत् ते देवा अकृण्वन् [ ७. ८४ ] पूर्णपश्चात् [ ७. ८५ ] प्रजापते” [ ७. ८५. ३ ] इति [ कौ० ७. १० ] सूत्रात् ॥

पूर्णमासयागे “पूर्णपश्चात्” इति पूर्णमासीं देवतां परिगृही-  
यात् । “राकाम् अहम् [ ७. ५० ] पूर्णपश्चात् [ ७. ८५ ]  
इति पूर्णमास्याम्” इति [ वै० १. १ ] वैतानसूत्रात् ॥

तत्रैव कर्मणि “पूर्णपश्चात्” इति पार्वणहोमं जुहुयात् । “पूर्ण-  
पश्चाद् इति पूर्णमास्याम्” इति हि कौशिकं सूत्रम् [ कौ० १. ५. ] ॥

दर्शपूर्णमासयोः संनतिहोमानन्तरं “प्रजापते न त्वत्” इत्य-  
नया आज्यं जुहुयात् । “पृथिव्याम् अग्नये समनमन् [ ४. ३६ ]  
इति संनतिभिश्च प्रजापते न त्वद् एतान्यन्यः [ ७. ८५. ३ ]  
इति च” इति [ कौ० १. ५ ] सूत्रात् ॥

तथा सर्वेषु श्रौतकर्मसु अनुमन्त्रणमन्त्रानादेशे “प्रजापते न  
त्वत्” इत्यनया अनुमन्त्रणं कुर्यात् । तद् उक्तं वैताने । “मन्त्राना-  
देशे लिङ्गवतेति भागलिः । प्रजापते न त्वद् एतान्यन्य इति युवा  
कौशिकः । यथादेवतम् इति माठरः” इति [ वै० १. १ ] ॥

तथा दर्शपूर्णमासयोः प्राजापत्यम् आधारम् अनया ब्रह्मा अनु-  
मन्त्रयेत् । “प्रजापते न त्वद् एतान्यन्य इति प्राजापत्यम् आधा-  
रम्” इति [ वै० १. २ ] सूत्रात् ॥

तथा “मारुद्गर्णीं घलकामस्य” इति [ न० क० १७ ] विहि-  
तायां महाशान्ती “प्रजापते न त्वत्” इत्येनाम् अचम् आवपेत् ।  
तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । “मरुतां मन्वे [ ४. २७ ] प्रजापते न त्वद्  
एतान्यन्यः [ ७. ८५. ३ ] इति मारुद्गण्याम्” इति [ न० क० १८ ] ॥

विवाहे “पूर्वापरम्” इति अचूनेन आज्यसमित्पुरोडाशादीनि  
जुहुयात् । सूत्रितं हि । “सत्येनोत्तमिता [ १४. १ ] पूर्वापरम्  
[ ७. ८६ ] इत्युपदधीत” इति [ कौ० १०. १ ] ॥

महाशान्तीं ग्रहयज्ञे “सोमस्यांशो युधां पते” इति चतुष्टयेन

हविराज्यहोमसभिदाधानोपस्थानानि बुधाय कुर्यात् । तद् उक्तं शान्तिकल्पे । “यद् राजानः [ ३. २६ ] सोमस्यांशो बुधां पते [ ७. ८६. ३-६ ] इति बुधाय” इति [ न० क० १५ ] ॥

“अमात्रास्ये न” इसका सर्वाभिलषित कर्ममें “यत् ते देवा अकृण्वन्” में विनियोग कह दिया है ।

सर्वफलकाम व्यक्ति “पूर्णा पश्चात्” इन दोसे और “पौर्णमासी मथमा यज्ञियासीत्” इस ऋचासे पौर्णमासीका यजन वा उपस्थान करे ।

उसी कर्ममें “प्रजापते न त्वत्” ऋचासे प्रजापतिका यजन वा उपस्थान करे ।

इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । १० का प्रमाण भी है, कि—  
“यत् ते देवा अकृण्वन् ( ७ । ८४ ) पूर्णा पश्चात् ( ७ । ८५ ) प्रजापते ( ७ । ८५ । ३ )” ॥

पूर्वमासयागमें “पूर्णा पश्चात्” से पूर्णमासी देवताका परिग्रहण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र १ । १ का प्रमाण भी है, कि—  
“राकां अहम् ( ७ । ५० ) पूर्णा पश्चात् ( ७ । ८५ ) इति पौर्णमास्याम्”

तहाँ ही कर्ममें “पूर्णा पश्चात्” से पार्वणहोमकी आहुति देय । इस विषयमें कौशिकसूत्र १ । ५ का प्रमाण भी है, कि—“पूर्णा पश्चात् इति पौर्णमास्याम्” ।

दर्शपूर्णमासमें सन्नतिहोमके अनन्तर “प्रजापते न त्वत्” ऋचा से घृतकी आहुति देय । इस विषयमें कौशिकसूत्र १ । ५ का प्रमाण भी है, कि—“पृथिव्यां अग्नये समनपन् ( ४ । ३६ ) इति सन्नतिभिश्च प्रजापते न त्वद् एतान्यन्यः ( ७ । ८५ । ३ ) इति च” ॥

तथा सकल श्रौत कर्मोंमें जहाँ अनुमन्त्रणका मन्त्र न लिखा हो तहाँ “प्रजापते न त्वत्” से अनुमन्त्रण करे । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—“मन्त्रानादेशे लिग्वतेति भागलिः ।

प्रजापते न त्वद् एतान्यन्य इति युवा कौशिकः ।-भागलि ऋषि का मत है, कि-अनुमन्त्रणके मन्त्रका आदेश न होने पर लिंग ( चिह्न ) वाले मन्त्रसे अनुमन्त्रण करे और युवा कौशिक ऋषिका मत है, कि-“प्रजापते न त्वद् एतान्यन्यः” से अनुमन्त्रण करे” । ( वैतानसूत्र १ । १ ) ॥

तथा दर्शपूर्णमासमें प्राजापत्य आधारका ब्रह्मा इस ऋचासे अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र १ । २ प्रमाण है, कि-“प्रजापते न त्वद् एतान्यन्यः इति प्राजापत्यं आधारम्” ॥

तथा “मारुद्गुणी बलकामस्य ।-बलकी कामना वालेके लिये मारुद्गुणी शान्तिको करे” इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित महा-शान्तिमें “प्रजापतये न त्वत्” ऋचाको भी सम्मिलित कर लेय । इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि-“मारुतां मन्वे ( ४ । २७ ) प्रजापते न त्वद् एतान्यन्यः ( ७ । ८५ । ३ ) इति मारुद्गुण्याम्” ( नक्षत्रकल्प १८ ) ॥

विवाहमें “पूर्वापरम्” ऋचसे घृत समिधा पुरोडाश आदिकी आहुति देवे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-“सत्येनो-त्तमिता ( १४ । १ ) पूर्वापरम् ( ७ । ८६ ) इत्युपदधीत” ( कौशिकसूत्र १० । १ ) ॥

महाशांतिके ग्रहयज्ञमें “सोमस्यांशो युधां पते” इस चतुर्ऋच से दधि घृतहोम समिदाधान और उपस्थानोंको बुधके निमित्त करे । इसी बातको शान्तिकल्पमें कहा है, कि-“यद् राजानः ( ३ । २६ ) सोमस्यांशो युधां पते ( ७ । ८६ । ३—६ ) इति बुधाय” ( नक्षत्रकल्प १५ ) ॥

तत्र प्रथमा ॥

अमांवास्ये न त्वदेतान्यन्यो विश्वां रूपाणि परि-  
भूर्जेजानि ।



यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो  
रयीणाम् ॥ ४ ॥

अमावास्ये । न । त्वत् । एतानि । अन्यः । विश्वा । रूपाणि ।  
परिभूः । जजान ।

यत्क्रामाः । ते । जुहुमः । तत् । नः । अस्तु । वयम् । स्याम ।  
पतयः । रयीणाम् ॥ ४ ॥

हे अमावास्ये त्वत् त्वत्तः अन्यः कश्चिद् देवः एतानि इदानीं  
वर्तमानानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि । ❀ “शेषञ्चन्दसि बहुलम्”  
इति शैलोपः ❀ । रूपाणि रूप्यमाणानि भूतजातानि परिभूः ।  
❀ कुद्योगलक्षणषष्ठ्यभावश्चान्दसः ❀ । परिभूः । परिपूर्वो भवतिः  
परिग्रहार्थः । परिग्राहको व्यापको न जजान नोत्पन्नः । त्वमेव  
एतानि परिगृह्णासीत्यर्थः । ❀ जन जनने । लिटि रूपम् ❀ ।  
यद्वा एतानि भूतजातानि त्वत्तः अन्यो देवः परिभूः व्यापकः  
सन् न जजान नोत्पादयामास । त्वमेव एतानि परिगृह्य स्रष्टुं  
शक्नोषीति भावः । ❀ जनी प्रादुर्भावे । गयन्तस्य लिटि मन्त्र-  
विषयत्वाद् आमभावः । “जेरनिटि” इति णिलोपः ❀ । वयं च  
यत्क्रामाः यत्फलं कामयमानास्ते तुभ्यं जुहुमः हवींषि प्रयच्छामः  
तत् फलं नः अस्माकम् अस्तु भवतु । तथा वयं च रयीणाम्  
धनानां पतयः ईश्वराः स्याम भवेम ॥

हे अमावास्ये ! तेरे बिना कोई भी देवता सब प्राणियों  
को व्यापक होकर उत्पन्न नहीं कर सका है अर्थात् तू ही इन  
देवताओंको परिग्रहण करके सृष्टि रचनेमें समर्थ हुई है । हम भी

जिस फलकी कामना करते हुए तेरे लिये इचिकी आहुति देते हैं वह फल हमको प्राप्त हो और हम धनके स्वामी होवें ॥ ४ ॥

द्वितीया ॥

पूर्णा पश्चादुत पूर्णा पुरस्तादुन्मध्यतः पौर्णमासी  
जिगाय ।

तस्यां देवैः संवसन्तो महित्वा नाकस्य पृष्ठे समिपा  
मदेम ॥ १ ॥

पूर्णा । पश्चात् । उत । पूर्णा । पुरस्तात् । उत् । मध्यतः ।  
पौर्णमासी । जिगाय ।

तस्याम् । देवैः । सम्ज्वसन्तः । महित्वा । नाकस्य । पृष्ठे ।  
सम् । इषा । मदेम ॥ १ ॥

पूर्णा पूर्णचन्द्रोपेता पौर्णमासी पश्चात् प्रतीच्यां दिशि जिगाय जपति सर्वोत्कर्षेण वर्तते । उत अपि च पूर्णा पौर्णमासी पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि जिगाय । तथा मध्यतः प्राग्प्रतीच्योर्दिशोर्मध्ये आकाशमध्ये पौर्णमासी । पूर्णः संपूर्णो माथन्द्रः अस्मिन् पर्वणीति पौर्णमासी तिथिः । ॐ “सास्मिन् पौर्णमासीति संज्ञायाम्” इति अणन्तत्वेन निपातितः ॐ । सज्जिगाय उज्जपति । पूर्णकलचन्द्रोपेता पौर्णमासी प्राच्यां प्रतीच्यां च दिशि मध्ये च प्रकाशयुक्ता वर्तत इत्यर्थः । अत्र जेतव्यस्याश्रवणाज्जयतिः उत्कर्षवाची । ॐ “सन्लिटोर्जेः” इति अभ्यासाद् उत्तरस्य जयतेः कवर्गादेशः ॐ । तस्यां पौर्णमास्यां देवैः यष्टव्यैरग्नीषोमादिभिः सह महित्वा महत्त्वेन संवसन्तः संभूय निवसन्तो ब्रह्म । यष्टयष्टव्ययोः एकप्रदेशावस्थानात् संवसन्त इत्युक्तम् । नाकस्य दुःखरहितस्य

स्वर्गस्य पृष्ठे उपरि भागेऽपि अन्नेन संमदेमसंमाद्येम । ॐ माद्यतेः  
“लिङ्चाशिष्यङ्” ॐ । पौर्णमास्याम् अग्नीषोमादियागेन स्वर्ग-  
भोगप्राप्तिर्भवतीत्यर्थः ॥

जिसमें चन्द्रमा पूर्ण होता है वह तिथि पौर्णमासी कहलाती है ऐसी पूर्णमासी पूर्वदिशामें सर्वोत्कृष्टरूपसे रहती है, पश्चिम दिशामें सर्वोत्कृष्ट भावसे दमकती है और इन दोनों दिशाओंके मध्य आकाशमें यह पूर्णिमातिथि दमकती है । उस पौर्णमासीमें पुननीय अग्नि सोम आदि देवताओंके साथ महत्त्वके कारण वसते हुए हम स्वर्गके ऊपर अन्नसे आनन्दको प्राप्त होवें । तात्पर्य यह है, कि-पौर्णमासीमें अग्नीषोम आदि याग करनेसे स्वर्गके भोगों की प्राप्ति होती है ॥ १ ॥

तृतीया ॥

वृषभं वाजिनं वयं पौर्णमासं यजामहे ।

स नो ददात्वक्षितां रयिमनुपदस्वतीम् ॥ २ ॥

वृषभम् । वाजिनम् । वयम् । पौर्णमासम् । यजामहे ।

सः । नः । ददातु । अक्षिताम् । रयिम् । अनुपदस्वतीम् ॥ २ ॥

वृषभम् वर्षितारम् अभिमतफलानां प्रधानभूतं वा वाजिनम् अन्नवन्तम् अन्नसाधनत्वात् हविर्भिर्वा युक्तं पौर्णमासम् । ॐ पूर्णो मासवन्द्रः अस्मिन्निति पूर्णमासः । प्रज्ञादित्वात् स्वार्थिकः अण् ॐ । पौर्णमासं पर्व वयं यजामहे आहुत्या । स च अस्मापिरिष्टः पौर्णमासः नः अस्माकम् अक्षिताम् अविनाशितां परैरवाधिताम् अनुपदस्वतीम् उपभोगेपि क्षयरहितां रयिम् रायं धनं दधातु । अक्षिताम् इत्यनेन परकृतः क्षयो निरस्यते । अनुपदस्वतीम् इत्यनेन उपभोगेन व्ययेपि क्षयरहित्यम् उच्यते । ॐ अक्षिताम् इति ।

न्ति क्षये । कर्मणि क्तः । “निष्ठायाम् अण्यदर्थे” इति पयुदासाद् दीर्घाभावः । अत एव “क्षियो दीर्घात्” इति निष्ठानत्वाभावरच । अनुपदस्वतीम् इति । दस्य उपक्षये । संपदादिलक्षणो भावे विवप् । तदन्तान्मतुप् । “मादुपधायाः०” इति क्त्वम् । “तसौ मत्वर्थे” इति भसद्गायां पदसंज्ञानिबन्धनरुत्वाभावः । अनुपदस्वतीम् इति । “नब्” इति तत्पुरुषसमासः । “तत्पुरुषे तुल्यार्थ०” इति अन्यप- पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॐ ॥

अभिमत फलकी वर्षा करने वाले, हविरूप अन्न वाले पौर्णमास पर्वकी हम आहुति से उपासना करते हैं, हमसे पूजित हुआ पौर्ण- मास हममें बिनाशरहित और उपभोग करने पर भी क्षयरहित धनको स्थापित करें ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वां रुगाणि परिभूर्जजान  
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो  
रयीणाम् ॥ ३ ॥

प्रजापते । न । त्वत् । एतानि । अन्यः । विश्वा । रुगाणि ।  
परिभूः । जजान ।

यत्कामाः । ते । जुहुमः । तत् । नः । अस्तु । वयम् । स्याम । पतयः ।  
रयीणाम् ॥ ३ ॥

एषा ऋक् “अमावास्ये न त्वदेतानि” [ ७. ८४. ४ ] इत्य-  
नेन व्याख्याता । अमावास्यापदस्थाने प्रजापतिपदं विशिष्यते ॥

हे प्रजापतिदेव ! आप व्यापकरूपसे सब रूपोंकी सृष्टि करने  
वाले हुए हैं आपके बिना और किसीमें ऐसी शक्ति नहीं है, हम

जिस कामनाको मनमें रख कर आहुति दे रहे हैं वह कामनाएँ हमको प्राप्त हों और हम धनके भी स्वामी बनें ॥ ३ ॥

पञ्चमी ॥

पौर्णमासी प्रथमा यज्ञियासीदह्नां रात्रीणामतिशर्वरेषु।

ये त्वां यज्ञियज्ञिये अर्धयन्त्यमी ते नाके सुकृतः प्रविष्टाः

पौर्णमासी । प्रथमा । यज्ञिया । आसीत् । अह्नाम् । रात्रीणाम् ।

अतिशर्वरेषु ।

ये । त्वाम् । यज्ञैः । यज्ञिये । अर्धयन्ति । अमी इति । ते । नाके ।

सुकृतः । प्रविष्टाः ॥ ४ ॥

पौर्णमासी पूर्णचन्द्रवती एतन्नामिका तिथिः अह्नां रात्रीणाम् अहो रात्राणां मध्ये प्रथमा आदिभूता मुख्या वा यज्ञिया यज्ञार्हा आसीत् भवति । ❀ “यज्ञतिग्भ्यां घखर्जौ” इति घमत्ययः ❀ । कस्मिन् विषय इति तद् आह । अतिशर्वरेषु । अतिक्रान्तानि शर्वरीम् अतिशर्वराणि । ❀ “अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया” इति समासः ❀ । रात्रिम् अतीत्य वर्तमानेषु सोमादिहविष्णु । यद्वा अतिशयिता शर्वरी येषु हविष्णु इति अतिशर्वराणि । तृतीय-सवनव्यापिषु हविष्णु । यज्ञियासीद् इति संबन्धः । अयम् अर्थः । इष्टिपशुसोमानां दर्शपूर्णमासौ प्रकृतिभूतौ । तत्रापि पूर्णमासयागः प्रथमानुष्ठेयः । स च पौर्णमास्यामेव तिथौ क्रियत इति सर्वेषाम् अहोरात्राणां प्रथमत्वेन यज्ञार्हेति ॥ हे यज्ञिये यज्ञार्हे पौर्णमासि त्वां ये ऋत्विग्जमाना यज्ञैः दर्शपूर्णमासादिभिः अर्धयन्ति अभि-मतफलं याचन्ते । ❀ अर्धं गतौ याचने च ❀ ॥ अमी इष्टवन्तस्ते

सुकृतः सुकर्माणो यजमानाः नाके दुःखरहिते स्वर्गलोके प्रविष्टाः  
स्थिता भवन्ति ॥

पूर्ण चन्द्र वाली तिथि पौर्णमासी दिन और रात्रियोंमें मुख्य  
है और यज्ञके योग्य है । यह पौर्णमासी रात्रि विता कर, होने  
वाली तृतीयसवनव्यापी और सोमादि हवियोंमें यज्ञिया है, तात्पर्य  
यह है, कि-इष्टिपशुसोम दर्श और पूर्णमासके प्रकृतिभूत हैं, क्योंकि-  
कि-तहाँ पर भी पूर्णमासयागका अनुष्ठान प्रथम ही किया जाता  
है, और वह पौर्णमासीमें ही किया जाता है, अतः यह सकल  
दिन और रात्रियोंमें प्रथमत्वरूपसे यज्ञिया है । हे यज्ञिये पौर्ण-  
मासी ! जो ऋत्विज और यजमान दर्श और पूर्णमास यज्ञोंके  
द्वारा तुझसे अभीष्ट फलकी याचना करते हैं, वे यज्ञ करनेवाले  
सुकृती दुःखरहित स्वर्गलोकमें प्रवेश करते हैं ॥ ४ ॥

षष्ठी ॥

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोर्णवम्  
विश्वान्यो भुवना विचष्टं ऋतून् अन्यो विदधं जायसे नवः  
पूर्वऽअपरम् । चरतः । मायया । एतौ । शिशू इति । क्रीडन्तौ ।

परि । यातः । अर्णवम् ।

विश्वा । अन्यः । भुवना । विचष्टे । ऋतून् । अन्यः । विदधत् ।  
जायसे । नवः ॥ १ ॥

कश्चित् पूर्वो गच्छति सूर्यः । अन्यस्तम् अनुचरति चन्द्रमाः ।  
एवम् एतौ सूर्यचन्द्रौ पूर्वापरम् । क्रियाविशेषणम् एतत् । पूर्वा-  
पर्येण मायया सह चरतः द्युलोके गच्छतः । तौ शिशुवद् भ्रम-  
णात् जायमानत्वाद् वा शिशू इत्युच्येते । शिशू सन्तौ क्रीडन्तौ

विहरन्तौ अर्णवम् । अन्तरिक्षनामैतत् । अर्णोसि उदकानि अस्मिन्  
सन्तीति अर्णवः । ❀ “अर्णसः सलोपरच” इति वप्रत्ययः  
सकारलोपरच ❀ । अन्तरिक्षं परि यातः परि गच्छतः । तयो-  
रन्यः आदित्यो [ विश्वा ] विश्वानि भुवना भुवनानि भूतजातानि  
विचष्टे परयति । ❀ “एकान्याभ्यां समर्थाभ्याम्” इति निघात-  
निपेधः । “तिङि चोदात्तवति” इति गतेर्निघातः ❀ । अन्य-  
श्चन्द्रमाः ऋतून् वसंतादीन् तदवयवभूतान् मासान् अर्धमासांश्च  
विदधत् कुर्वन् नवः नूतनः जायते उत्पद्यते । यद्यपि उभयोर्जनि-  
रस्ति तथापि सूर्यस्य सर्वदा प्रवृद्धेः उदयो नाभिप्रेतः । चन्द्रस्य  
तु कलाहासवृद्धिसद्भावाद् नवो जायत इत्युक्तिर्युक्ता । “चन्द्रमा  
वै जायते पुनः” इत्यादिश्रुतेश्च [ बा० सं० २३. १० ] ॥

( एक सूर्य पहिले चलता है, दूसरा चन्द्रमा उसके पीछे चलता  
है इस प्रकार ) पूर्वापरकी मायासे चुलोकमें विचरण करते हुए  
सूर्य और चन्द्रमा । बालककी समान भ्रमण करनेसे वा उत्पन्न  
होनेसे ) शिशू रूपमें जिसमें जल रक्ता होता है उस अर्णवोप-  
नामक अन्तरिक्षमें चलने रहते हैं । इन दोनोंमेंसे एक अर्थात् सूर्य  
सकल भुवनों प्राणियों-को देखता है और दूसरा चन्द्र वसन्त  
आदि ऋतुओंको उनके अवयवरूप मास पक्षोंको भी करता हुआ  
नवीन ही उत्पन्न होता रहता है † ॥ १ ॥

† यद्यपि दोनोंकी जनि ( उदय ) होती है तथा सदा प्रवृद्धि  
रहनेके कारण सूर्यका उत्पन्न होना कहना उपपन्न नहीं है । और  
चन्द्रमामें कलाओंका हास और वृद्धि होती रहती है अतः उसका  
नवीन उत्पन्न होना कहना युक्तिसंगत ही है । वाजसनेयसंहिता  
२३ । १० में भी कहा है, कि-“चन्द्रमा वै जायते पुनः ।-चन्द्रमा  
फिर उत्पन्न होता है” ॥

सप्तमी ॥

नवोनवो भवसि जायमानोह्नां केतुरुपसामेप्यग्रम् ।  
भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन् प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः

नवःऽनवः । भवसि । जायमानः । अह्नाम् । केतुः । उपसाम् । एपि ।  
अग्रम् ।

भागम् । देवेभ्यः । वि । दधासि । आऽयन् । प्र । चन्द्रमः ।  
तिरसे । दीर्घम् । आयुः ॥ २ ॥

हे चन्द्रमः त्वं जायमानः शुक्लपक्षप्रतिपदादिषु एकैकलाधिक्येन उत्पद्यमानः सन् नवोनवः पुनः पुनरभिनवो भवसि प्रतिदिनं नूतन एव भवसि । ॐ “अनुदात्तं च” इति द्वितीयो नवशब्दः अनुदात्तः ॐ । किं च अह्नाम् तिथीनां केतुः केतुवत् केतयिता ज्ञापयिता प्रतिपदादादीनां तिथीनां चन्द्रकलाहासवृद्धयधीनत्वात् । तादृशस्त्वम् उपसाम् रात्रीणाम् अग्रम् एपि अग्रणीर्भवसि । रात्रीणां कर्तृत्वात् । यद्वा अह्नां केतुः अहरवसाने शुक्लपक्षे मतीच्यां दिशि दृश्यसे कृष्णपक्षे तु उपसाम् रात्रीणाम् अग्रम् अवसानम् एपि । प्राच्यां दिशि दृश्यसे इत्यर्थः । केचन एतं पादम् आदित्यदेवत्यम् आहुः । तस्मिन् पक्षे अह्नां केतुत्वम् उपसाम् अग्रगतिश्च सूर्यस्य प्रसिद्धे । एवम् आयन् आगच्छन् प्रतिदिनं दासवृद्धिभ्यां पक्षान्तम् अभिगच्छन् हे चन्द्रमः त्वं देवेभ्यो भागम् हविर्भागं वि दधासि करोषि । तिथिविशेषरूपपर्वनिबन्धनत्वात् सर्वयागानाम् । एवमुक्तलक्षणं हे चन्द्रमः त्वं दीर्घम् आयुः प्र तिरसे । ॐ प्रपूर्वस्तिरतिर्वर्धनार्थः ॐ । प्रवर्धयसि । ॐ अत्र निरुक्तम् । नवोनवो भवसि जायमान इति पूर्वपक्षादिम् अभि-



प्रेत्य । अद्वां केतुरूपसाम् एत्यग्रम् इति अपरपक्षान्तम् अभिप्रेत्य ।  
आदित्यदैवतो द्वितीयः पाद इत्येके । भागं देवेभ्यो विदधात्या-  
यन्निति अर्धमासेज्याम् अभिप्रेत्य । प्रवर्धयते चन्द्रमा दीर्घम्  
आयुः इति [ नि० ११. ६ ] ॥

हे चन्द्रदेव ! आप शुक्ल पक्षकी प्रतिपदा आदिमें एक एक  
कलाके अधिक होने रहनेसे प्रतिदिन नवीन ही उत्पन्न होने रहते  
हैं और आप केतुकी समान तिथियोंके ज्ञापक हैं, क्योंकि तिथियें  
चन्द्रमाकी कलाके अधीन होती हैं, ऐसे आप रात्रियोंके अग्रणी  
हैं, क्योंकि—आप रात्रियोंके कर्ता हैं । अथवा दिनोंके केतु हैं  
दिनके अन्तमें शुक्लपक्षमें पश्चिम दिशाकी ओर दीखते हैं और  
कृष्णपक्षमें रात्रिके अवसानसे पहिले ही आप अवसानको प्राप्त  
होजाते हैं, इस प्रकार प्रतिदिनकी हासवृद्धिसे पक्षान्तको प्राप्त  
होते हुए हे चन्द्रदेव ! आप देवताओंके लिये हविका विभाग  
करते रहते हैं ( क्योंकि—सब यागतिथिविशेषरूप पर्वमें होते हैं )  
हे पूर्वोक्त लक्षणोंसे सम्पन्न चन्द्रदेव ! आप दीर्घायुको बढ़ाते हैं २

अष्टमी ॥

सोमस्यांशो युधां पतेनूनो नाम वा असि ।

अनूनं दर्श मा कृधि प्रजयां च धनेन च ॥ ३ ॥

सोमस्य । अंशो इति । युधाम् । पते । अनूनः । नाम । वै । असि ।

अनूनम् । दर्श । मा । कृधि । प्रजयां । च । धनेन । च ॥ ३ ॥

हे सोमस्यांशो सोमस्य चन्द्रमसः अंशभूत सोमपुत्र हे युध हे  
युधां पते युद्धानां योधानां वा पालक । युधग्रहवलेन हि युद्धजयो  
भवतीति प्रसिद्धम् । ॥ आमन्त्रितद्वयेपि “सुवामन्त्रिते पराद्रवत्  
स्वरे” इति सोमस्येति युधाम् इति च पदद्वयस्य आमन्त्रितानु-

प्रवेशः । तत्र सोमस्यांशो इत्यत्र “आमन्त्रितस्य च” इति पाष्टिकम् आद्युदात्तत्वम् । युधां पते इत्यस्य “नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम्” इति पूर्वामन्त्रितस्य अविद्यमानवत्त्वनिषेधात् “आमन्त्रितस्य च” इति आष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् ॐ । एवंगुणविशिष्ट सोमपुत्र हे बुध त्वम् अनूनः संपूर्णो नाम असि वै भवसि खलु । सर्वदा तेजस्वित्वेन अनूनत्वम् । अतः हे दर्श द्रष्टव्य बुध मा मां हविरादिना त्वां प्रीणयन्तं प्रजया पुत्रादिकया धनेन । परस्परसमुच्चयायां चशब्दो । अनूनम् संपूर्णं समृद्धं कृधि कुरु ॥ एवं विनियोगानुसारेण बुधग्रहपरतया व्याख्यातः । मन्त्रार्थपर्यालोचनया सोम एव प्रतीयते । तस्मिन् पक्षे अयम् अर्थः । हे सोमस्यांशो सोमस्य संपूर्णकलस्य चन्द्रस्य अंशो अंशभूत एककलावच्छिन्न शुक्रप्रतिपदि दृश्यमान चन्द्र हे युधां पते त्वं नाम नाम्ना अनूनोसि संपूर्णकल इति प्रसिद्धोसि । चन्द्रस्य संपूर्णकलत्वमेव सहजो धर्मः । तत्र कलाहासद्वयी सूर्यमरीचिसमाश्लेषतारतम्येनेति ज्योतिःशास्त्रविद आहुः । यतः संपूर्णकलः अतो हे दर्श द्रष्टव्य सर्वरभिनन्दनीय त्वं मामां तुभ्यं हविः प्रयच्छन्तम् । प्रजाधनाभ्यां संपूर्णं कुरु इति । सोमदेवत्योपि मंत्रो जन्यजनकयोरभेदोपचाराद् बुधग्रहविषयहविर्दानादिषु विनियुज्यते । ॐ कृधीति । डुकृब् करणे । लोटिहेः “श्रुमृणुपृकृष्टभ्यश्छन्दसि” इति धिरादेशः । विकरणस्य लुक् छान्दसः ॐ ॥

हे सोमके अंश अर्थात् पुत्ररूप बुध ! और युद्धोके वा योधाओं पालक बुध ! ( क्योंकि—बुधग्रहके बलसे ही युद्धमें विजयकी प्राप्ति होती है, यह प्रसिद्ध है ) आपका अनून—संपूर्ण नाम है ( सर्वदा तेजस्विताके कारण आपको अनून कहा है ) अतः हे दर्श अर्थात् द्रष्टव्य बुध ? आपको हवि आदिसे प्रसन्न करते हुए मुझको आप पुत्र आदि प्रजा और धनसे सम्पूर्ण समृद्ध करिये । ( इस प्रकार

विनियोगके अनुसार यह बुधग्रहपरक व्याख्या करदी । मन्त्रार्थकी पर्यालोचनासे यह सोमपरक ही सिद्ध होता है, इस पक्षमें यह अर्थ होगा, कि—हे सम्पूर्ण कलावाले चन्द्रमाके अंशभूत एक कलावच्छिन्न शुक्लप्रतिपदामें दीखते हुए चन्द्र ! हे युधांपते ! आप अनून अर्थात् सम्पूर्ण कला वाले ही प्रसिद्ध हैं ( अर्थात् संपूर्ण-कलात्व ही चन्द्रमाका स्वाभाविक धर्म है और कलाओंकी जो वृद्धि और हास दीखता है यह सूर्यकी किरणोंके संगकी न्यूनाधिकताके अनुसार दीखता है, यह ज्योतिषशास्त्रज्ञोंका सिद्धान्त है, इस प्रकार सम्पूर्ण कला वाले होनेसे ) हे दर्श ! सबोंसे अभिनन्दनीय आप भुक्त हवि देने वालेको प्रजा और धनसे पूर्ण करिये ( सोमदेवता वाला मंत्र भी जन्यजनकके अभेदोपचारवश बुधग्रहविर्दान आदिमें विनियुक्त होता है ) ॥ ३ ॥

नवमी ॥

दर्शो॑सि दर्शतो॑सि सम॑ग्रोसि सम॑न्तः ।

सम॑ग्रः सम॑न्तो भूयासं गोभि॑रश्वैः प्र॒जयां प॒शुभिर्गृ॒हैर्धने॑न ॥ ४ ॥

दर्शः । असि । दर्शतः । असि । सम॑ग्रः । असि । सम॑न्तः ।

सम॑ग्रः । सम॑न्तः । भूयासम् । गोभिः । अश्वैः । प्र॒जयां ।

प॒शुभिः । गृहैः । धने॑न ॥ ४ ॥

हे सोम त्वं दर्शोसि सूर्येण सहैव द्रष्टव्यो भवसि । अमावास्यायां सूर्येण सह चन्द्रमा दृश्यते इति सातिथिर्दर्शशब्देन उच्यते । यद्वा दर्शोसि शुक्लप्रतिपदि एककलात्मना द्रष्टव्यो भवसि । अनन्तरं दर्शतः तृतीयादिषु ततोपि स्फुटं दर्शनीयो भवसि । अथ

( ३१४ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित .

समग्रः अष्टम्यादिषु ततोपि स्फुटतरं कलासमृद्धो भवति । अनन्तरं समन्तः पूर्णमास्यां संगतान्तप्रदेशः सर्वकलापूर्णमण्डलो भवति । यत् एवम् अतोहं गवादिभिः समग्रः समृद्धः समन्तः संपूर्णश्च भूयासम् ॥

हे सोम ! आप दर्श हैं ( अर्थात् सूर्यके साथ ही द्रष्टव्य होते हैं, अमावास्यामें सूर्यके साथ ही चन्द्रमा दीखता है अतः वह तिथि दर्श कहलाती है वह तिथिरूप आप हैं अथवा “आप दर्श हैं” का यह अर्थ भी होसकता है, कि—शुक्ल-प्रतिपदामें एककलारूपसे आप द्रष्टव्य होते हैं ) फिर तृतीया आदिमें उससे भी स्फुट दर्शनीय होजाते हैं, फिर आप समग्र हो जाते हैं अर्थात् अष्टमी आदिमें उससे भी स्फुटतर कलासमृद्ध हो जाते हैं फिर आप समन्त होजाते हैं अर्थात् पूर्णमासीमें सर्व-कलाओंसे पूर्ण मण्डल वाले होजाते हैं । आप ऐसे हैं अत एव मैं भी गौ आदिसे समग्र समृद्ध और सम्पूर्ण होजाऊँ ॥ ४ ॥  
दशमी ॥

योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तस्य त्वं प्राणेनाप्यायस्व  
आ वयं प्याशिषीमहि गोभिरश्वैः प्रजयां पशुभिर्गृ-  
हैर्धनेन ॥ ५ ॥

यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः । तस्य । त्वम् ।

प्राणेन । आ । प्यायस्व ।

आ । वयम् । प्याशिषीमहि । गोभिः । अश्वैः । प्रजयां । पशुभिः ।

गृहैः । धनेन ॥ ५ ॥

यः शत्रुः अस्मान् द्वेष्टि प्रातिकूल्यम् आचारति यं वा शत्रुं वयं

द्विष्मः तस्य प्राणेन हे सोम त्वम् आ प्यायस्व आप्यायितो भव ।  
 शत्रोः प्राणम् अपहरेत्यर्थः । वयं च गवादिभिः आ प्यासिपी-  
 महि आप्यायिता भूयास्म । ❀ स्फायी ओप्यायी वृद्धौ । आ-  
 शिपि लिङि “सिब्वहुलम्” इति बहुलवचनाद् अलेट्यपि सिप् ।  
 “लोपो व्योर्वलि” इति यकारलोपः । “लिङ्गः सीयुट् । इडागमः ❀ ॥

जो शत्रु हमसे द्वेष करता है अर्थात् हमारे प्रतिकूल आचरण  
 करता है वा जिस शत्रुसे हम द्वेष करते हैं हे सोम ! उसके प्राणसे  
 आप आप्यायित हूजिये अर्थात् उसके प्राणको हरिये । हम भी  
 गौआंसे घोड़ोंसे गजासे पशुओंसे घरसे और धनसे आप्यायित होवें

एकादशी ॥

यं देवा अंशुमाप्यायन्ति यमक्षितमक्षिता भक्षयन्ति ।  
 तेनास्मान्निन्द्रो वरुणो बृहस्पतिरा प्यायन्तु भुवनस्य  
 गोपाः ॥ ६ ॥

यम् । देवाः । अंशुम् । आप्याययन्ति । यम् । अक्षितम् ।  
 अक्षिताः । भक्षयन्ति ।

तेन । अस्मान् । इन्द्रः । वरुणः । बृहस्पतिः । आ । प्याययन्तु ।  
 भुवनस्य । गोपाः ॥ ६ ॥

यम् अंशुम् एककलात्मकं सोमं देवा आप्याययन्ति शुक्लपक्षे  
 प्रतिदिनम् एकैककलाप्रदानेन वर्धयन्ति यं च सोमम् अक्षितम्  
 अविच्छिन्नं सर्वेष्वपि अहस्तु क्षयरहितं यं सोमम् अक्षिताः अक्षीणाः  
 पित्रादयः भक्षयन्ति पिबन्ति । ❀ “वा क्रोशदैन्ययोः” इति पक्षे  
 दीर्घाभावः ❀ । तेन सोमेन सह इन्द्रः परमेश्वर्यसंपन्नो देवा-

नाम् अधिपतिः वरुणः पापनिवारको देवः बृहस्पतिः बृहतां महतां देवानां हितकारित्वेन पतिः पालयिता च देवः भुवनस्य भूत-  
जातस्य गोपाः गोपायितारः प्रवृद्धिमदा इन्द्रादयः अन्ये वा विश्वे  
देवाः अस्मान् हविरादिना प्रीणयितुन् आप्याययन्तु वर्धयन्तु ॥

सप्तमेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरश्रीवीर हरिहरमहाराजप्रवर्तिते

अथर्वसंहिताभाष्ये सप्तमकाण्डे सप्तमोऽनुवाकः ॥

जिस एककलात्मक सोमको देवता आप्यायित करते हैं अर्थात् शुक्रपक्षमें प्रतिदिन एक २ कलाको प्रदान कर सोमको बढ़ाते हैं और जिस सब ही दिनोंमें क्षयरहित सोमको अक्षीण पितर आदि भक्षण करते हैं—पीते हैं, उस सोमके साथ देवाधिपति परमेश्वर्य सम्पन्न इन्द्रदेव, पापनिवारक वरुणदेव, बड़े २ देवताओंके हित-कारक होनेसे उनके पालक बृहस्पति, ये प्राणियोंके रक्षक वृद्धि-दाता इन्द्र आदि देवता और विश्वेदेवा भी हम हवि आदिसे तृप्त करने वालोंको बढ़ावें—तृप्त करें ॥ ६ ॥

सप्तम अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त ( ४०१ ) ॥

अथर्ववेदसंहिताके सप्तम काण्डमें सप्तम अनुवाक समाप्त

अष्टमेनुवाके द्वे सूक्ते । तत्र “अभ्यर्चत” इति आद्ये सूक्ते आद्येन षडृचेन संपत्कामः सर्वफलकामो वा अग्निं यजेत उप-  
तिष्ठेत वा । “समास्त्वाम्ने [ २.६ ] अभ्यर्चत [ ७.८७ ] इत्यग्निं संपत्कामः” “इति अभ्यर्चत [ ७.८७ ] को अस्या नः” [ ७.१०८ ] इति च कौशिकं सूत्रम् [ कौ० ७. १० ] ॥

अग्निचयने समिदाधानानन्तरम् “अभ्यर्चत” इति ब्रह्मा जपेत् । तद् उक्तं वैताने । “उदेनम् उत्तरं नय [ ६. ५ ] इति समिध आधीयमानाः । चत्वारि शृङ्गा [ ऋ० ४. ५८. ३ ] अभ्यर्चत ७. ८७ ] इति जपति” इति [ वै० ५. २ ] ॥

तथा “आग्नेयीम् अग्निभये सर्वकामस्य च” इति [न० क० १७]  
विहितायां महाशान्तौ “अभ्यर्चत” इति आचपेत् ॥

तथा वास्तोष्पत्याख्यायां महाशान्तौ “अभ्यर्चत” इत्यनेन  
औदुम्बरमणिं बध्नीयात् ॥

तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । “अभ्यर्चतेत्याग्नेय्याम्” इति [न०  
क० १८] ॥

“अभ्यर्चतेत्यादुम्बरम्” इति च [न० क० १९] ॥

ब्रह्मचारिणः स्वाग्निनाशप्रायश्चित्तार्थं “मय्यग्रे” इति पञ्चर्चेन  
पञ्च समिध आदध्यात् । सूत्रितं हि । “मय्यग्र इति पञ्चमश्रेना-  
दधाति” इति [कौ० ७. ८] ॥

तथा आधाने मथिताग्निं “मय्यग्रे” इत्यनेन आज्येनाक्तं कुर्यात् ।  
“मय्यग्र इत्येतयानक्ति” इति वैतानं सूत्रम् [वै० २. १] ॥

दर्शपूर्णमासयोः “घृतं ते अग्ने” इत्यनया आज्यनिर्वापकाले  
अग्निं ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । “घृतं ते अग्न इत्याज्ये निरुप्य-  
माणेऽग्निम्” इति वैतानं सूत्रम् [वै० १. २] ॥

जलोदरभैषज्यार्थं नद्योः संगमे मण्डपं कृत्वा “अप्सु ते राजन्”  
इति चतुर्ऋचेन उष्णोदकं संपात्य अभिमन्त्र्य पिंज्लीभिस्तस्मिन्  
मण्डपे व्याधितम् आसावयेत् ॥

तथा अनेन चतुर्ऋचेन अभिमन्त्रितशीतोदकेन तस्मिन् मण्डपे  
व्याधितं पिंज्लीभिः सह अवसिञ्चेद् वा ॥

सूत्रितं हि । “अप्सु त इति वहन्त्योर्मध्ये त्रिमिते पिंज्लीभि-  
रासावयति । अवसिञ्चति । अत्युष्णाः संपातवतीरसंपाताः” इति  
[कौ० ४. ८] ॥

तथा धूमकेतुदर्शनलक्षणाद्भुतप्रायश्चित्तार्थं वारुणपशोरवदानानि  
“अप्सु ते राजन्” इति चतुर्ऋचेन प्रत्यृचं जुहुयात् । तद् उक्तं

कौशिकेन । “अप्सु ते राजन्निति चतसृभिर्वारुणस्य जुहुयात्”  
इति [ कौ० १३. ३५ ] ॥

पशुतन्त्रे हृदयशूलोद्वासनान्तरम् “अप्सु ते राजन्” इत्यस्य  
जपे विनियोगः । “अप्सु ते राजन्निति जपन्ति” इति वैतानं  
सूत्रम् [ वै० २. ६ ] ॥

तथा अद्भुतमहाशान्तौ “अप्सु ते राजन्” इति वरुणं यजेत ।  
तद् उच्यते नक्षत्रकल्पे । “इन्द्रेण प्रतरं कृधि [ ६. ५. २ ] इति  
इन्द्रस्य अप्सु ते राजन् [ ७. ८८ ] इति वरुणस्य” इति [ न०  
क० १४ ] ॥

तथा शवसंस्कारान्तरम् उदकसपीपे ब्रह्मा “उदुत्तमम्” इति  
जपेत् ॥

अन्त्येष्ट्यादिषु स्वस्त्ययनार्थं “प्रास्मत् पाशान्” इति जपेत् ॥  
आठवें अनुवाकमें दो सूक्त हैं । इनमेंसे “अभ्यर्चत” इस प्रथम  
सूक्तके पहिले पढ़नसे सम्पत्तिको चाहने वाला वा सब प्रकारके  
फलको चाहने वाला अग्निका यजन वा उपस्थान करे ॥ इस  
विषयमें कौशिक ७ । १० का प्रमाण भी है, कि—समास्तवाग्रे  
( २ । ६ ) अभ्यर्चत ( ७ । ८७ ) इत्यग्निं सम्पत्कामः” इति “अभ्य-  
र्चत ( ७ । ८७ ) को अस्या नः” ( ७ । १०८ ) इति च ॥

अग्निचयनमें समिदाधानके अनन्तर “अभ्यर्चत” का ब्रह्मा  
जप करे । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—“उदेनं उत्तरं  
नव ( ६ । ५ ) इति समिध आधीयमानाः । चत्वारि शृंगा ( अ०  
४ । ५८ । ३ ) अभ्यर्चत ( ७ । ८७ ) इति जपति” ॥ ( वैतान-  
सूत्र ५ । २ ) ॥

तथा “आग्नेयीं अग्निभये सर्वकामस्य च ।—अग्निका भय होने  
पर और सर्वकामके लिये आग्नेयी शान्तिको करे” इस नक्षत्र-  
कल्प १७ से विहित महाशान्तिमें “अभ्यर्चत” को पढ़े ।



तथा वास्तोष्पत्या नामकी महाशान्तिमें “अभ्यर्चत” से औ-  
दुम्बर मणिको बाँधे ।

इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि—“अभ्यर्चतेत्याग्ने-  
द्याम्” ( नक्षत्रकल्प १८ ) और ‘अभ्यर्चतेत्यौदुम्बरम्’ ( नक्षत्र-  
कल्प १६ ) ॥

ब्रह्मचारीके अपनी अग्निके नाशके प्रायश्चित्तके लिये ‘मय्यग्रे’  
इस पञ्चर्चसे पाँच समिधाओंको रक्खे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण  
भी है, कि—‘मय्यग्र इति पञ्चमश्वेनादधाति’ ( कौशिकसूत्र ७।८ ) ॥

तथा आधानमें मथित अग्निको ‘मय्यग्रे’ से घृतसे आक्त  
करे । इस विषयमें वैतानसूत्र २ । १ का प्रमाण भी है, कि—  
‘मय्यग्र इत्येतयानक्ति’ ॥

दर्शपूर्णमासमें ‘घृतं ते अग्ने’ से आज्यनिर्वापकालमें ब्रह्मा  
अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र १ । २ का प्रमाण भी  
है, कि—‘घृतं ते अग्ने इत्याज्ये निरुप्यमाणेऽग्निम्’ ॥

जलोदरकी चिकित्सा करनेके लिये दो नदियोंके संगम स्थान  
पर मण्डप बना कर ‘अप्सु ते राजन्’ इस चतुर्ऋचसे उष्णजल  
को सम्पातित और अभिमन्त्रित करके मुट्टियोंसे उस मण्डपमें  
रोगीको आस्नावित करे ।

तथा इस चतुर्ऋचसे अभिमन्त्रित शीतल जलके द्वारा उस  
मण्डपमें व्याधितको पिञ्जूलियों ( कुशा आदिकी मुट्टियों ) से  
अवसिञ्चित करे ।

सूत्रमें भी कहा है, कि—‘अप्सु त इति वहन्त्योर्मध्ये त्रिमिते  
पिञ्जुलीभिरास्नावयति । अवसिञ्चति । अत्युष्णाः सम्पातवतीर-  
सम्पाताः॥’ ( कौशिकसूत्र ( ४ । ८ ) ॥

तथा धूमकेतुदर्शनरूप अद्भुतका प्रायश्चित्त करनेके लिये वारुण-  
पशुके अवदानोंका “अप्सु ते राजन्” इस चतुर्ऋचकी प्रत्येक

( ३२० ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

ऋचासे आहुति देवे । इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि-  
‘अप्सु ते एजन्निति चतुष्टभिर्वारुणस्य जुहुयात्’ ( कौशिकसूत्र  
१३ । ३५ ) ॥

पशुतन्त्रमें हृदयशूलोद्दासनके अनन्तर ‘अप्सु ते राजन्’ का जप  
में विनियोग किया जाता है । इस विषयमें वैतानसूत्र २ । ६ का  
प्रमाण भी है, कि-‘अप्सु ते राजन्निति जपन्ति’ ॥

तथा अद्भुतमहाशान्तिमें ‘अप्सु ते राजन्’ से वरुणका यजन  
करे । इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि-“इन्द्रेण प्रतरं कृधि  
( ६ । ५ । २ ) इति इन्द्रस्य अप्सु ते राजन् ( ७ । ८८ ) इति  
वरुणस्य” ( नक्षत्रकल्प १४ ) ॥

तथा शवसंस्कारके अनन्तर जलके समीपमें ब्रह्मा “उदुत्तमम्”  
का जप करे ।

अन्त्येष्टि आदिमें स्वस्त्ययनके लिये “मास्मन् पाशान्” का  
जप करे ॥

तत्र प्रथमा ॥

अभ्यर्चित सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासु भद्रा द्रविणानि  
धत्त ।

इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत् पवन्ताम्

अभि । अर्चत । सुस्तुतिम् । गव्यम् । आजिम् । अस्मासु ।

भद्रा । द्रविणानि । धत्त ।

इमम् । यज्ञम् । नयत । देवता । नः । घृतस्य । धाराः । मधुमत् ।

पवन्ताम् ॥ १ ॥

सुष्टुतिम् सुस्तोत्रम् अग्निम् । ❀ “नञ्सुभ्याम्” इति उत्तर-

पदान्तोदात्तत्वम् ❀ । अभ्यर्चत । ❀ अर्चतिः स्तुतिकर्मा ❀ ।  
 अभिष्टुत । आपो गावो वा संबोध्यन्ते । कीदृशम् । गव्यम् गो-  
 संबन्धिनम् आजिम् संघम् अभिलक्ष्य सुस्तुतिम् । गोसंघादि-  
 लाभार्थं स्तूयमानम् इत्यर्थः । ❀ “गोरजादौ तद्धिते यद्वक्तव्यः”  
 इति यत् प्रत्ययः । “वान्तो यि प्रत्यये” इति वान्तादेशः । “यतो-  
 नावः” इति आद्युदात्तत्वम् ❀ । यद्वा गव्यम् गोभ्यो हितम् ।  
 ❀ हितार्थं यत् ❀ । आजिम् अभिगन्तव्यं यज्ञैः । अथवा आजि-  
 शब्देन विजिगीषूणां लक्ष्यदेशगमनम् उच्यते । आजिम् आजि-  
 धावनं प्रति सुस्तुतिम् इति संबन्धः । सर्वेभ्यो देवेभ्यः पूर्वम्  
 अग्नेरेव निर्दिष्टदेशगमनात् । तथा च ऐतरेयके श्रूयते । “तासां  
 वै देवतानाम् अग्निं धावन्तीनाम् अभिष्टुष्टानाम् अग्निमुखं प्रथमः  
 प्रत्यपद्यत” इति [ ऐ० ब्रा० ४. ८ ] । किं च भद्रा भद्राणि  
 भन्दनीयानि द्रविणानि धनानि अस्मासु धत्त निधत्त । तथा नः  
 अस्पदीयम् इमं यज्ञं देवताः अग्न्यादिकाः नयत प्रापयत । अत  
 एव घृतस्य क्षरणशीलस्य आड्यस्य धाराः प्रवाहा मधुमत् ।  
 क्रियाविशेषणम् एतत् । मधुररसोपेतं यथा तथा पवन्ताम् ।  
 ❀ पवतिर्गतिकर्मा ❀ । गच्छन्तु यष्टव्या देवता इति । यद्वा मधु-  
 मत् मधुमत्पो धारा इति । ❀ ङीञ्सोर्लुक् आन्दसः ❀ ॥

गोसंघकी प्राप्तिके लिये सुन्दर स्तुतियोंके पात्र युद्धस्थलमें  
 गमन करने वाले ‡ अग्निकी हे गौओं ! पूजा करो और हममें  
 कन्याणमय धनोंको स्थापित करो और इस यज्ञमें अग्नि आदि  
 देवताओंको लाओ और हमारे यज्ञमें घृतकी धारायें मधुरभावसे  
 देवताओंकी ओर चले ॥ १ ॥

‡ सबसे पहिले अग्निका युद्धगमन तैत्तिरीयकमें प्रसिद्ध है,  
 “तासां वै देवतानां अग्निं धावन्तीनां अभिष्टुष्टानां अग्निमुखं  
 प्रथमं प्रत्यपद्यत ।” ( ऐतरेयब्राह्मण ४ । ८ ) ।

द्वितीया ॥

मय्यग्रे अग्निं गृह्णामि सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन ।

मयि प्रजां मय्यायुर्दधामि स्वाहा मय्यग्निम् ॥ २ ॥

मयि । अग्रे । अग्निम् । गृह्णामि । सह । क्षत्रेण । वर्चसा । बलेन ।

मयि । प्रजाम् । मयि । आयुः । दधामि । स्वाहा । मयि । अग्निम् २

अग्रे प्रथमम् अग्निम् आहुताधारं मध्यमानम् अग्निं मयि गृह्णामि धारयामि । मदधीनं करोमीत्यर्थः । केन सहेति तद् आह । क्षत्रेण बलेन वर्चसा तेजसा । यद्वा क्षत्रेण क्षतात् त्रायकेण वर्चसा बलेन शारीरेण सामर्थ्येन सह अग्निं गृह्णामि । क्षत्रतेजोबलार्थम् अग्निं स्वाधीनं करोमीत्यर्थः । तथा अग्निस्वाधीनीकरणेन प्रजाम् पुत्रादिलक्षणां मयि दधामि । पुत्रादिकं लभेयेत्यर्थः । आयुः जीवनं मयि दधामि । आयुष्मान् भूयासम् इति यावत् । तथा अग्निम् जाठरं वैश्वानरम् अग्निं मयि दधामि अन्नपाकादिजनितारोग्यार्थम् अग्निं धारयामि । स्वाहा इदं समिधादिरूपम् अग्नौ स्वाहुतम् अस्तु ॥

पहिले मैं आहुताधार मध्यमान अग्निको अपनेमें धारण करता हूँ, अपने आधीन करता हूँ, क्षतसे रक्षा करने वाले शारीरिक बल क्षत्रको पानेके लिये मैं अग्निको स्वाधीन करता हूँ, फिर अग्निस्वाधीनीकरणके अनन्तर मैं अपनेमें पुत्र आदि लक्षणों वाली प्रजाको धारण करता हूँ अर्थात् पुत्र पुत्र आदि प्रजाको मैं पाऊँ । मैं अपनेमें जीवनको धारण करता हूँ अर्थात् मैं आयुष्मान् होऊँ तथा अन्नपाक आदिसे होने वाले आरोग्यके अर्थ मैं जाठर वैश्वानरग्निको अपनेमें धारण करता हूँ, यह समिधा आदि अग्नि में भली प्रकार आहुत हो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इहैवाग्ने अ॒धि धा॒रया र॒यिं मा त्वा नि क्र॒न् पूर्वा॑चित्ता  
नि॒का॒रिणः ।

क्ष॒त्रेणा॑ग्नेसु॒यम॑मस्तु तु॒भ्यमु॑प॒सत्ता वर्ध॑तां ते अ॒निष्टु॑तः ३

इ॒ह । ए॒व । अ॒ग्ने । अ॒धि । धा॒र॒य । र॒यि॒म् । मा । त्वा । नि ।

क्र॒न् । पूर्वा॑चित्ताः । नि॒का॒रि॒णः ।

क्ष॒त्रे॒ण । अ॒ग्ने । सु॒य॒म॒म् । अ॒स्तु । तु॒भ्य॒म् । उ॒प॒स॒त्ता । वर्ध॑-

ता॒म् । ते । अ॒नि॒ष्टु॒तः ॥ ३ ॥

हे अग्ने इहैव अस्मास्वेव त्वां परिचरत्सु रयिम् धनम् अधि  
धारय अधिकं स्थापय । ❀ “अन्येषाम् अपि दृश्यते” इति  
दीर्घः ❀ । ये पूर्वचित्ताः अस्मत्तः पूर्वं त्वद्विषयमनस्का निकारिणः  
अस्मदपकारिणः ते त्वा त्वां मा नि क्रन् स्वाधीनं मा कापुः ।  
एवं वा योजना । निकारिणः अस्मदपकारिणः पूर्वचित्ताः अस्मत्तः  
पूर्वमपि त्वद्विषयागकरणमनसोपि त्वां यागेन स्वाधीनं मा कापु-  
रिति । ❀ करोते: “मन्त्रे घस०” इति च्लेलुक् ❀ । हे अग्ने  
तुभ्यं तव । ❀ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ❀ । क्षत्रेण बलेन सह । स्वरूपम्  
इति शेषः । सुयमम् अस्तु सुस्थितम् अस्तु येन अस्मान् अनु-  
गृह्णासि । ❀ यमेः खलि “ल्लिति” इति मत्ययात्पूर्वस्य उदात्त-  
त्वम् । “तुभ्यमलौ ङयि” इति तुभ्यादेशे “ङयि च” इति  
आद्युदात्तत्वम् ❀ । अपि च ते तव उपसत्ता उपसदनशीलः परि-  
चारकोयं यजमानः वर्धताम् पूर्यतां कामैः । अनिष्टुतः केनचिदपि  
अहिंसितः अतिरस्कृतप्रभावः । ❀ स्तृणातिर्हिसाकर्मा द्यादनकर्मा

वा । उपसत्तेति । षड्लृ विशरणगत्यवसादनेषु । अस्मात् रुचि  
“एकाचः०” इति इयिनपेधः ॥

हे अग्निदेव ! आपकी सेवा करने वाले हममें ही आप धनको  
अधिकाधिक स्थापित करिये । और जो हमसे द्वेष रखने वाले  
हमसे पहिले ही आपके लिये यज्ञ करनेका संकल्प कर चुके हों  
वे आपको यागसे स्वाधीन न कर सकें । हे अग्ने ! अपने बलके  
साथ आप अपने ( हम पर अनुग्रह कर सकने वाले ) रूपमें  
सुस्थिर हूजिये । और आपकी सेवा करने वाला यह यजमान  
किसीसे भी न्यूनप्रभावन होता हुआ कामोंसे सम्पन्न होवे-यद्दे३  
चतुर्थी ॥

अन्व॒भिरु॒प॒साम॒ग्रम॒ख्यद॒न्वहानि॑ प्रथ॒मो जा॒तवे॑दाः ।

अनु॒ सूर्य॑ उप॒सो अनु॑ र॒मीननु॑ द्यावा॒पृथि॒वी आ  
विवेश ॥ ४ ॥

अनु । अग्निः । उपसाम् । अग्रम् । अख्यत् । अनु । अहानि ।  
प्रथमः । जातवेदाः ।

अनु । सूर्यः । उपसः । अनु । रमीन् । अनु । द्यावापृथिवी इति ।  
आ । विवेश ॥ ४ ॥

अग्निः अद्भुतदिगुणयुक्तो देवः उपसाम् अग्रम् आदुर्भावम्  
अनु अख्यत् ख्याति प्रकाशते । दृश्यत इति यावत् । प्रथमं तावद्  
उपसां मुखे अग्निः प्रकाशते । ॥ “लक्षणेत्यंभूत०” इत्यादिना  
अनोः कर्मप्रवचनीयत्वम् । “बन्दसि लुङ्लुङ्लिटः” इति ख्याते-  
लुङ् । “अस्पतिवक्तिख्यातिभ्योङ्” ॥ अहानि च । अन्व-  
ख्यत् इति क्रियानुपङ्गः । अहान्यनु प्रतिप्रकाशते । प्रथमो मुख्यः ।

प्रयमानो वा । ॐ प्रथेरमच् प्रत्ययः ॐ । महान् जातवेदाः जातानि  
 वस्तूनि वेदयनीति जातवेदाः जातानां वेदिता जातप्रज्ञो वा प्रका-  
 शते । ॐ गतिकारकयोरपि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च [ उ० ४. २२६ ]  
 इति वेत्तेरमुन् ॐ । सूर्यात्मना अग्निः उत्तरार्धेन स्तूयते । सूर्यः  
 सूर्यात्मकः । श्रूयते हि तैत्तिरीयके । “उद्यन्तं वावादित्यम् अग्नि-  
 रनुसमारोहति । तस्माद् धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे” इति [ तै० ब्रा०  
 २. १. २. १० ] । सूर्यात्मकोऽग्निः उषसोऽनु प्रकाशते । ततो  
 रश्मीन् व्यापनशीलान् किरणान् अनु प्रकाशते । इत्थम् अनेन  
 क्रमेण द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ अन्वा विवेश सर्वत्र द्यावापृथि-  
 व्योराविष्टः प्रकाशत इति । ॐ “दिवसश्च पृथिव्याम्” इति द्यावा-  
 देशः । द्वितीयाद्विचचनस्य “वा छन्दसि” इति पूर्वसर्वादीर्घः ।  
 “देवताद्वन्द्वे च” इति पूर्वोत्तरपदयोर्गुणपत् प्रकृतिस्वरत्वं ॐ ॥

अंगनादिगुणसम्पन्न अग्निदेव उषःकालोंके प्रादुर्भावके साथ  
 ही प्रकाशित होते हैं—दीखते हैं, पहिले उषःके मुखोंमें अग्नि प्रकाशित  
 होते हैं, और यह अग्निदेव दिनोंके साथ भी प्रकाशित होते हैं  
 और यह मुख्य जातवेदा अग्नि सूर्य बनकर † उषःको प्रकाशित  
 करते हैं फिर किरणोंको प्रकाशित करते हैं । इस क्रम से यह  
 सूर्यात्मक अग्नि द्यावापृथिवीमें सर्वत्र व्याप्त होकर प्रकाश फैलाते हैं।

पञ्चमी ॥

प्रत्यग्निरुपसामग्रमख्यत् प्रत्यहानि प्रथमो जातवेदाः ।

† इस मन्त्रके उत्तरार्धमें सूर्यरूप अग्निकी स्तुति की गई है ।  
 तैत्तिरीयकमें भी कहा है, कि—“उद्यन्तं वावादित्यं अग्निरनुसमा-  
 रोहति । तस्माद् धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे ।—उदय होते हुए सूर्यदेव  
 पर अग्निदेव अनुसमारोहण करते हैं । इस कारण दिनमें अग्नि  
 का धुआँ ही दीखता है” ( प्रकाश नहीं दीखता है ) ( तैत्तिरीय-  
 ब्राह्मण २।१।२।१० ) ॥

प्रति सूर्यस्य पुरुषा च रश्मीन् प्रति द्यावापृथिवी आ  
ततान ॥ ५ ॥

प्रति । अग्निः । उपसाम् । अग्रम् । अख्यत् । प्रति । अहानि ।  
प्रययः । जातज्वेदाः ।

प्रति । सूर्यस्य । पुरुषा । च । रश्मीन् । प्रति । द्यावापृथिवी  
इति । आ । ततान ॥ ५ ॥

पूर्वार्धे पूर्वमन्त्रेण व्याख्यातम् । अनोः स्थाने प्रति पदं विशि-  
ष्यते । ❀ “लक्षण०” इत्यादिना मतेः कर्मप्रवचनीयत्वम् ❀ ।  
किं च पुरुषा पुरुन् बहुरूपत्वाद् बहुधा प्रवृत्तान् । ❀ “देव-  
मनुष्य०” इत्यादिना त्रामत्पयः ❀ । सूर्यश्च रश्मीश्च प्रति अख्यत्  
प्रकाशते सूर्यस्य रश्मीन् प्रति स्वयमेव प्रकाशते अग्निसूर्ययोः  
अत्यन्तभेदाभावात् । इत्थम् अनेन क्रमेण द्यावापृथिवां मत्प्रा  
ततान सर्वत्र द्यावापृथिव्योराततो भवति । प्रकाशम् आत्मीयम्  
आतनोतीति यावत् ॥

अंगनादिगुणसम्पन्न अग्निदेव मत्येक उपःकालके प्रादुर्भावेन  
प्रकाशित होते हैं और यह अग्निदेव मत्येक दिनोंके साथ ही प्रका-  
शित होते हैं और मुख्य जातवेदा सूर्यात्मक अग्निदेव, अनेकरूप  
होनेसे अनेक प्रकारसे प्रवृत्त सूर्यकी किरणोंमें भी स्वयं ही प्रका-  
शित होते हैं, ( क्योंकि—अग्नि और सूर्यमें अत्यन्त भेद नहीं है )  
इस प्रकार यह द्यावापृथिवी आदि सबमें अपने प्रकाशका विस्तार  
करते हैं ॥ ५ ॥

पृष्ठी ॥

धृतं ते अग्ने दिव्ये सधस्ये धृतेन त्वा मनुर्द्या समिन्धे ।



घृतं ते देवीर्नप्स्यं आ वहन्तु घृतं तुभ्यं दुहता गावो  
अग्ने ॥ ६ ॥

घृतम् । ते । अग्ने । दिव्ये । सधस्ये । घृतेन । त्वाम् । मनुः ।  
अथ । सम् । इन्धे ।

घृतम् । ते । देवीः । नप्स्यः । आ । वहन्तु । घृतम् । तुभ्यम् ।  
दुहताम् । गावः । अग्ने ॥ ६ ॥

हे अग्ने ते तव संबन्धि घृतम् आज्यं दिव्ये दिवि भवे सधस्ये  
सहस्थाने देवैः सह निवासस्थाने । वर्तत इति शेषः । अथ इदानीं  
मनुः एनत्संज्ञकः त्वां घृतेन क्षरणशीलेन दीपकेन वा आज्येन  
समिन्धे सम्यग् दीपयति । मनुर्नाम राजर्षिः इदानीमपि अग्निम्  
आज्याहुतिभिः समर्पयतीत्यर्थः । हे अग्ने ते तुभ्यं देवीः द्योतमानाः  
नप्यः न पातयिष्यः नप्तसंज्ञापत्यभूता वा । आप इत्यर्थः । घृतम्  
आज्यम् आ वहन्तु अभिमुखं प्रापयन्तु । उदकैरेव ओषध्यादि-  
वृद्ध्या अपां न पातयितृत्वम् । “अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग् आदि-  
त्यम् उपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिः” इति [म० स्मृ० ३. ७६]  
स्मृते अपां नप्तसंज्ञकापत्यभूतत्वम् । किं च हे अग्ने तुभ्यं त्वदर्थं  
गावः धेनवः घृतं दुहताम् दुहताम् । ❀ “बहुलं हन्दसि” इति  
रुद्रागमः ❀ ॥

हे अग्निदेव ! आपका घृत देवताओंके साथ २ रहनेके स्थान  
द्यौमें है । आज कल भी मनु नामक राजर्षि आपको क्षरणशील  
( दीपक वा ) घृतके द्वारा भली प्रकार प्रदीप्त करते रहते हैं

आपके मकाशवान् नप्ता जल ‡ घृतको आपके अभिमुख लावें और हे अग्ने ! गाँपें आपके लिये घृतको दुहें ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

अप्सु ते राजन् वरुण गृहो हिरण्ययो मिथः ।

ततो घृतव्रतो राजा सर्वा धामानि मुञ्चतु ॥ १ ॥

अप्सु । ते । राजन् । वरुण । गृहः । हिरण्ययः । मिथः ।

ततः । घृतव्रतः । राजा । सर्वा । धामानि । मुञ्चतु ॥ १ ॥

हे राजन् सर्वेषां देवानां स्वामिन् वरुण पापनिवारक देव ते तव अप्सु उदकेषु उदकमध्ये मिथः अनन्यसाधारणः परेषाम् अनभिगम्यो वा हिरण्ययः हिरण्यमयः । ❀ “अतृण्यवास्तृण्यवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानि च्छन्दसि” इति मयटो मकारलोपो निपात्यते ❀ । सुवर्णमयो गृहः निवासस्थानम् अस्ति यतः ततः तस्मात् कारणाद् घृतव्रतः । व्रतम् इति कर्मनाम । नियतकर्मा सत्यकर्मा राजा वरुणः सर्वा सर्वाणि धामानि स्थानानि अस्मदीयानि मुञ्चतु, त्यजतु । ❀ धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति हि यास्कः [ नि० ६, २८ ] ❀ । जलोदरादयो रोगा हि वरुण-कर्तृकाः । तस्य हि जलमध्ये निवासस्थानम् अस्ति । अतः स्वेन

‡ जलसे ही आपधि आदिकी वृद्धि होती है अत एव जलों का ‘न पातयितृत्व’ है और अपत्यरूप नष्टत्व भी है, क्योंकि—मनुस्मृतिके तीसरे अध्यायके द्विहत्तरवें श्लोकमें लिखा है, कि—‘अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिः० ।—अग्निमें भली प्रकार होमी हुई आहुति आदित्यके पास पहुँचती है । और आदित्यसे वृष्टि होती है ।’ इस प्रकार जल अग्निका पीता हुआ ।

गृहीतानि अस्पदीयावयवरूपाणि स्थानानि त्यक्त्वा स्वगृहे निव-  
सत्त्वित्यर्थः ॥

हे सब देवताओंके स्वामिन् पापनिवारक वरुणदेव ! जलोंके  
भीतर जो दूसरोंको नहीं मिल सकता ऐसा मिथः अर्थात् अनन्य-  
साधारण सुवर्णमय घर है । इस कारण सत्यकर्मा राजा वरुण-  
देव उन हममें विद्यमान अपने सब घरोंको छोड़ देवें ॥ ( तात्पर्य  
यह है, कि-जलोदर आदि रोग वरुणदेवके करनेसे होते हैं ।  
इन वरुणदेवका जलके मध्यमें निवासस्थान है अतः वह अपने  
आप ग्रहण किये हुए हमारे अवयवरूप स्थानोंको छोड़ कर अपने  
घरमें निवास करें ) ॥ १ ॥

अष्टमी ॥

धाम्नो धाम्नो राजन्निनतो वरुण मुञ्च नः ।

यदापो अघ्न्या इति वरुणेति यदूचिम ततो वरुण  
मुञ्च नः ॥ २ ॥

धाम्नः धाम्नः । राजन् । इतः । वरुण । मुञ्च । नः ।

यत् । आपः । अघ्न्याः । इति । वरुण । इति । यत् । ऊचिम ।

ततः । वरुण । मुञ्च । नः ॥ २ ॥

हे राजन् हे वरुण इतः अस्माद् धाम्नो धाम्न सर्वस्माद् रोग-  
स्थानात् नः अस्मान् मुञ्च मोचय । ॐ धाम्नो धाम्न इति । वीप्सायां  
द्विर्वचनम् । “अनुदात्तं च”-इति आश्रेडितस्य अनुदात्तत्वम् ॐ ।  
किं च हे वरुण ततोपि पापात् नः अस्मान् मुञ्च मोचय । हे आपः  
इति हे अघ्न्याः इति हे वरुण इति यद् ऊचिम यच्छापवाक्यम्  
अबोचाम । यच्छापवाक्यवचनेन पापम् आर्जितं तस्मादपि मुञ्चेति

संवन्धः । शापो हि प्रशस्तदेवतानामसंकीर्तनेन परेषाम् अनर्थाशं-  
सनम् । यद्वा सत्यसति वा विषये “आपो वै सर्वा देवताः” [ऐ०  
ब्रा० २. १६ ] इति सर्वदेवतात्मिकानाम् अपां साक्षित्वेन प्रमा-  
णीकरणम् । हविराधारभूताया गोर्वा जलाधिपतेर्वरुणस्य वा ।  
चपलक्षणम् एतत् प्रशस्तदेवतानाम् अन्यासामपि । हे आपः यूयम्  
अस्मिन् सत्ये असत्ये वा विषये साक्षिभूता भवथ हे आपः युष्मभ्यं  
शपामहे इदम् इत्थम् इत्येवंविधं प्रशस्तदेवतानामधेयपुरःसरं यद्  
चार्यं तेन पापम् आर्ज्यते । सत्येपि हि विषये शपथकरणेन धर्मस्यार्थं  
वैवस्वतो निकृन्तीति किल असत्ये किमु वक्तव्यम् । अतो देवता-  
नामधेयकीर्तनरूपशपथकरणजनितपापाद् अस्मान् मोचयेत्यर्थः ।  
अत्र ऊचिमेति पदेन वचनमात्रं न विवक्षितं किं तु शपथरूपमेव ।  
अत एव तैत्तिरीये “यदापो अघ्निया इति वरुणेति शपामहे” [तै०  
ब्रा० २. ६. ६. २ ] इति समाम्नायते । ॐ आपो अघ्न्या वरु-  
णेति श्रुताद्युदात्तानां मन्त्रपदानाम् इदम् अनुकरणम् । ततश्च सत्यपि  
पदात् परत्वे आमन्त्रितनिघातो न प्रवर्तते । अघ्न्याशब्दो यप्रत्य-  
यान्तः अन्तोदात्तः । यथा “दुहाम् अश्विभ्यां पयो अघ्न्येयम्”  
[ ऋ० १. १६४. २७ ] इति । तस्य आमन्त्रिताद्युदात्तत्वम् ।  
वरुणेति । पाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वम् । ऊचिमेति । घ्रूजो लिटि  
चक्ष्यादेशः । यजादित्वात् संप्रसारणम् । “लिट्यभ्यासस्योभये-  
षाम्” इति अभ्यासस्य संप्रसारणम् ॐ ॥

हे राजन् वरुणदेव ! हमारे शरीरमें स्थित अपने सब रोग-  
स्थानों ( की पीड़ा ) से हमको मुक्त करिये और हे वरुण ! हम  
को पापसे भी मुक्त करिये । हे जलों ! अघ्नय । हे वरुण ! और हम  
जिस शापवाक्यको बोल चुके हैं ( अर्थात् शापवाक्य कहनेसे जो  
पाप हमने अर्जित किया है ) उस पापसे भी हमको मुक्त करिये + २

+ प्रशस्तदेवताका नाम लेकर दूसरोंके लिये अनर्थमय वाक्य

नवमी ॥

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।

अधा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ३

उत् । उदुत्तमम् । वरुण । पाशम् । अस्मत् । अत्र । अधमम् ।

वि । मध्यमम् । श्रथय ।

अध । वयम् । आदित्य । व्रते । तव । अनागसः । अदितये । स्याम ३

हे वरुण उत्तमम् ऊर्ध्वकायस्थितं पाशम् अस्मत् अस्मत्तः सका-

कहना शाप कहलाता है, और जिस विषयके सत् वा असत् होने पर 'आपो वै सर्वा देवताः ।—जल सम्पूर्ण देवमय है' इस ऐतरेय ब्राह्मण २ । १६ के अनुसार सर्वदेवतात्मक जलोंका साक्षीरूपसे प्रमाण करना भी शाप कहलाता है । और इषिकी आधारभूत गौका तथा जलाधिपति वरुणका साक्षीरूपमें प्रमाण करना शाप कहलाता है, अधिक क्या ? सकल प्रशस्त देवताओं का साक्षीरूपमें प्रमाण करना यहाँ शापशब्दवाच्य है । जैसे कि—हे जलों ! तुम इस सत्य वा असत्य विषयमें साक्षी रहो, हे देवताओं ! हम आपके लिये इस प्रकार शाप खाते हैं । इस प्रकार जो प्रशस्त देवताका नाम लेकर शाप खाया जाता है तो उससे पाप अर्जित होता है । बात सच्ची हो तब भी शपथकरणसे धर्मके आधे भागको यमराज अवश्य काट लेते हैं, फिर असत्य के विषयमें तो कहा ही क्या जावे । अतः देवताके नाम लेने रूप शपथसे उत्पन्न हुए पापसे हमको छुड़ाइये । ( तैत्तिरीय ब्राह्मण २ । ६ । ६ । २ में कहा है, कि—“यदापो अग्निया इति वरुणेति शपामहे” ॥

शाद्र उच्छ्रय ऊर्ध्वम् उत्कृष्य नाशय । अधमम् अधःकायस्थितं  
पाशम् अथ श्रयय अधस्ताद् अवकृष्य नाशय । मध्यमम् मध्यदेह-  
स्थितं पाशं वि श्रयय विकृष्य नाशय । ॐ अथ दार्वण्ये । तुरादि-  
रदन्तः । वर्णव्यत्ययेन उपान्त्यस्य दीर्घत्वम् । यद्वा श्रन्थ प्रति-  
हर्षमोचनयोः । अस्मात् लोटि “शायच्छन्दसि सर्वत्र” इति श्रा-  
मत्यघस्य शायजादेशः । “अतो हेः” इति हेर्लुक् ॐ । अध  
अनन्तरम् हे आदित्य अदितेः पुत्रः । ॐ “दित्यदित्यादित्य०”  
इति ययमत्ययः ॐ । हे आदित्य वरुण तव व्रते कर्मणि । ॐ विषय-  
सप्तमी ॐ । कर्मार्थं यागयोग्यतासिद्धयर्थम् अनागसः विमुक्तसर्व-  
पाशा वयम् अदितये अखण्डितत्वाय अनभिशास्तये स्याम भवेम ।  
ॐ अनागस इति । बहुव्रीहौ “नञ्सुभ्याम्” इत्येव स्वरो व्यत्य-  
येन न प्रवर्तते ॐ ॥

हे वरुण ! हमारे शरीरके ऊपरके भागमें स्थित पाशको हमारे  
पाससे ऊपरको खींच कर नष्ट करिये । और शरीरके नीचे  
भागमें स्थित पाशको भी खींच कर नष्ट करिये । और मध्य-  
देहमें स्थित पाशको भी निकाल कर नष्ट करिये । हे अदितिके  
पुत्र ! इसके अनन्तर हम आपके यागकी योग्यताकी सिद्धिके  
लिये सब पाशोंसे रहित होकर अखण्डित स्थितिमें रहनेके लिये  
समर्थ होवें ॥ ३ ॥

दशमी ॥

प्रास्मत् पाशान् वरुण मुञ्च सर्वान् य उत्तमा अधमा  
वारुणा ये ।

दुष्प्रप्यं दुरितं निष्वासमदयं गच्छेम सुकृतस्य लोकम्

प्र । अस्मत् । पाशान् । वरुण । मुञ्च । सर्वान् । ये । उत्तमाः ।  
अधमाः । वारुणाः । ये ।

दुःस्वप्न्यम् । दुःइतम् । निः । स्व । अस्मत् । अथ । गच्छेम ।  
सुकृतस्य । लोकम् ॥ ४ ॥

हे वरुण अस्मत् अस्मत्तः सर्वान् पाशान् प्रमुञ्च । ये वारुणाः  
वरुणस्य भवतः संबन्धिनः उत्तमा अधमाश्च ये पाशाः सन्ति ।  
उद्भूताभिभूतशक्तिभेदाद् अधर्मपाशानां द्वैविध्यम् । ❀ “उत्तम-  
शस्वत्तमौ सर्वत्र” इति उज्ज्वादिषु पाठाद् उत्तमशब्दः अन्तोदात्तः ❀ ।  
किं च दुष्स्वप्न्यम् दुष्टे स्वप्ने भवं दुरितम् पापम् अरिष्टम् अस्मत्  
अस्मत्तः निः पत्र निस्सुत्र । निर्गमयेत्यर्थः । ❀ प्रप्रेरणे । अस्मात्  
लोटि तुदादित्वात् शः । यणादेशो व्यत्ययेन ❀ । अथ पाश-  
दुरितविमोचनानन्तरं सुकृतस्य सुष्ठु कृतस्य पुण्यस्य लोकं गच्छेम  
प्राप्नुयाम ॥

[ इति ] अष्टमेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे वरुणदेव ! हमसे सब पाशोंको छुड़ाइये, जो वरुणदेवके  
( उद्भूत और अनुद्भूतशक्ति-भेदसे ) उत्तम और अधम पाश हैं,  
उनसे आप हमको मुक्त करिये । दुःस्वप्न देखनेसे होने वाले पाप  
को हमसे दूर करिये । इस प्रकार पाश और पापोंसे मुक्त होनेके  
उपरान्त हम पुण्यलोकको प्राप्त होवें ॥ ४ ॥

अष्टम अनुवाकमे प्रथम सूक्त समाप्त ( ४०३ ) ॥

“अनाष्टव्यो जातवेदाः” इति प्रथमाया ऋचः अग्न्युपस्थाने  
लैङ्गिको विनियोगः ॥

इन्द्रमहारुये उत्सवे “इन्द्रं क्षत्रम्” इत्यनया हविर्जुहुयात् ।  
‘इन्द्रं क्षत्रम् इति हविषो हुत्वा’ इति हि [ कौ० १४. ४ ] सूत्रम् ॥

अग्निचयने पुरीषाच्छन्नां चितिं “मृगो न भीमः” इति ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । “मृगो न भीमा [ ७. ८६. ३ ] वैश्वानरो न ऊतये [ ६. ३५ ] इति चितिं पुरीषाच्छन्नाम्” इति हि वैतानं सूत्रम् [ वै० ५. २ ] ॥

स्वस्त्ययनार्थं “त्यम् पु” “त्रातारम्” इत्याभ्यां प्रत्येकम् इन्द्रं यजेत् उपतिष्ठेत् वा । “त्यम् पु [ ७. ६० ] त्रातारम् [ ७. ६१ ] आमन्द्रैः [ ७. १२२ ] इति स्वस्त्ययनकामः” इति हि [ कौ० ७. १० ] सूत्रम् ॥

तथा “त्यम् पु” “त्रातारम्” इत्यनयोः स्वस्त्ययनगणो पाठाद् उपाकर्मणि आज्यहोमे विनियोगः । “स्वस्त्ययनर्नराज्यं जुहुयात्” इति [ कौ० १४. ३ ] सूत्रात् ॥

तथा अन्त्येष्ट्यादिषु स्वस्त्ययनार्थं “त्यम् पु” “त्रातारम्” इति जपेत् तथा इन्द्रमहारूपोत्सवे “त्रातारम् इन्द्रम्” इत्यनया आज्यं जुहुयात् । “त्रातारम् इन्द्रम्” [ ७. ६१ ] इन्द्रः सुत्रामा [ ७. ६६ ] इत्याज्यं हुत्वा” इति हि [ कौ० १४. ४ ] सूत्रम् ॥

स्वस्त्ययनकामः “यो अग्नी” इति अत्रा रुद्रान् यजेत् उपतिष्ठेत् वा । “यो अग्नाविति रुद्रान् स्वस्त्ययनकामः” इति हि [ कौ० ७. १० ] सूत्रम् ॥

तथा अन्त्येष्ट्यादिषु स्वस्त्ययनार्थम् एताम् अचं जपेत् ॥

तथा दर्शपूर्णमासयोः “यो अग्नी” इत्यनया आग्नीध्रः संमार्गम् अग्नीं निक्षिपेत् । उक्तं वैताने । “अग्नीध्रः संमार्गं प्रहरति यो अग्नाविति” [ वै० १. ४ ] ॥

तथा चातुर्मास्येषु साकमेघपर्वणि त्रैयम्बककर्मणि अस्या विनियोगः । उक्तं वैताने । “अयोदञ्चतुष्पथे त्रैयम्बकं यो अग्नाविति” इति [ वै० २. ५ ] ॥

तथा अग्निष्टोमे शालादहनानन्तरं “यो अग्नी” इत्यनेन अग्नये



नमस्कारं कुर्यात् । “यो अग्नाधिति नमस्कृत्य तेनैव निष्क्रामन्ति”  
इति हि वैतानं सूत्रम् [ वै० ३. १४ ] ॥

सर्पविषमैषज्यार्थम् “अपेहि” इत्यनया तृणानि प्रज्वाल्य सर्पा-  
भिमुखं प्रक्षिपेत् । दष्टस्थाने निक्षिपेद् वा । सूत्रितं हि । “अपे-  
हीति तृणानि प्रघृत्य अहिम् अभि निरस्यति । यतो दष्टः” इति  
[ कौ० ४. ५ ] ॥

परिमोक्षविधौ “अपो दिव्याः” इति चतसृभिः शान्त्युदकम्  
अभिमन्त्रयेत् ॥

तथा वेदव्रतादिषु “अपो दिव्याः” इति व्यूचेन “एधोसि” इत्य-  
नया च तिस्रः समिध आदध्यात् ॥

सूत्रितं हि । “अपो दिव्या इति पर्यवेतव्रत उदकान्ते शान्त्युद-  
कम् अभिमन्त्रयेत् । अस्तमिते समित्पाणिरेत्य तृतीयावर्जं समिध  
आदधाति” इति [ कौ० ५. ६ ] ॥

तथा आचार्यमरणे तत्संस्कारानन्तरम् “अपो दिव्याः” इति  
चतसृभिः ब्रह्मचारी स्नायात् । तद् उक्तं कौशिकेन । “त्रिरात्रम्  
अपर्यावर्तमानः शयीत । नोपशयीतेति कौशिकः । स्नानीयाभिः  
स्नायात्” इति [ कौ० ५. १० ] ॥

तथा दर्शपूर्णमासयोः इडाभागप्राशनानन्तरम् “अपो दिव्याः”  
इति तिसृभिः प्रस्तरे मार्जनं कुर्यात् । तद् उक्तं वैताने । “अपो  
दिव्या इति तिसृभिः पवित्रवति मार्जयते” इति [ वै० १. ३ ] ॥

तथा अग्निष्टोमे अवधृद्यस्नानानन्तरम् “अपो दिव्याः” इति  
आहवनीयाग्निम् उपतिष्ठेत् । “अपो दिव्याः” इत्याहवनीयम् उप-  
तिष्ठेत्” इति हि वैतानं सूत्रम् [ वै० ३. १४ ] ॥

अग्निकार्ये ब्रह्मचारी “इदम् आपः” इति हस्तौ प्रक्षालयेत् ।  
“इदम् आपः प्र बहत इति पाणी प्रक्षालयते” इति हि कौशिकं  
सूत्रम् [ कौ० ७. ८ ] ॥

यथा चातुर्मास्येषु वरुणप्रधासपर्वणि “इदम् आपः” इति मार्जनं कुर्यात् । “आपाढ्यां वरुणप्रधासः” इति प्रक्रम्य “इदम् आपः प्र वहतेति मार्जयते” इति वैताने सूत्रितम् [ वै० २. ४ ] ॥

दर्शपूर्णमासयोः दक्षिणामतिग्रहानन्तरम् “एधोसि” इति मन्त्रेण अग्नीध्रः समिधम् आदध्यात् । तद् उक्तं वैताने । “संप्रेषित आग्नीध्र एधोसीति समुद्भृत्य समिधम् आधाय” इति [ वै १. ४ ] ॥

तथा स्मार्तदर्शपूर्णमासयोः संज्ञाबहोमानन्तरम् “एधोसि” इति मन्त्रेण द्वितीयां “समिदसि” इति मन्त्रेण तृतीयां समिधम् आदध्यात् । “तेजोसि” इति मन्त्रेण मुखं विमृज्यात् । सूत्रितं हि “अग्नये स्वाहेति समिधम् आदधाति । एधोसीति द्वितीयां समिदसीति तृतीयां तेजोसीति मुखं विमार्ष्टि” इति [ कौ० १. ६ ] ॥

तथा अग्निकार्ये ब्रह्मचारी “एधोसि” इति हस्तम् अग्नौ प्रताप्य उष्माणं भक्षयेत् । “एधोसीत्युष्मभक्षं भक्षयति” इति हि [ कौ० ७. ८ ] सूत्रम् ॥

जारोचाटनार्थं “अपि वृथ” इति तृचेन जारं दृष्ट्वा वदेत् ॥

तथा अनेन पापाणाम् अभिमन्य जारसंगमस्थाने प्रक्षिपेत् ॥

सूत्रितं हि । “अपि वृथेति जायार्ये जारम् अन्वाह । क्षीयपदे बाधकं धनुर्विष्यति । आशयेरमानं प्रहरति” इति [ कौ० ४. १२ ] ॥

‘अनाधृत्यो जातवेदाः’ इस पहिली ऋचाका अग्निदेवके उपस्थानमें लिंगके अनुसार विनियोग किया जाता है ।

इन्द्रमह नामक उत्सवमें ‘इन्द्र क्षत्रम्’ ऋचासे दक्षिणी आहुति देवे । इस विषयमें कौशिकसूत्र १४ । ४ का प्रमाण है, कि-‘इन्द्र क्षत्रं इति हविषो हुत्वा’ ॥

अग्निचयनमें पुरीपाच्छन्ना चित्तिका ब्रह्मा ‘मृगो न भीमः’ से अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ५ । २ का प्रमाण भी है, कि-‘मृगो न भीमः ( ७ । ८६ । ३ ) वैश्वानरो न ऊतये ( ६ । ३५ ) इति चितिं पुरीपाच्छन्नाम्’ ॥

स्वस्त्ययन करनेके लिये 'त्यमूषु' और 'त्रातारम्' इन दोनों मेंसे प्रत्येकसे इन्द्रदेवका यजन वा उपस्थान करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । १० का प्रमाण भी है, कि—'त्यमूषु ( ७ । ६० ) त्रातारम् ( ७ । ६१ ) आ मन्द्रैः ( ७ । १२२ ) इति स्वस्त्ययनकामः' ॥

तथा 'त्यमूषु' और 'त्रातारम्' इन दोनों सूक्तोंका स्वस्त्ययन-गणमें पाठ होनेसे उपाकर्मके घृतहोममें विनियोग होता है । इस विषयमें कौशिकसूत्र १४ । ३ का प्रमाण है, कि—'स्वस्त्ययनै-राज्यं जुहुयात्' ॥

तथा अन्त्येष्टि आदिमें स्वस्त्ययन करनेके लिये 'त्यमूषु' और 'त्रातारम्' का जप करे ।

तथा इन्द्रमह नामक उत्सवमें 'त्रातारम् इन्द्रम्' ऋचासे घृतकी आहुति देय । इस विषयमें कौशिकसूत्र १४ । ४ का प्रमाण भी है, कि—'त्रातारम् इन्द्रम् ( ७ । ६१ ) इन्द्रः सुत्रामा ( ७ । ६६ ) इत्याज्यं हुत्वा' ॥

स्वस्त्ययन चाहने वाला 'यो अग्नौ' ऋचासे रुद्रोंका यजन वा उपस्थान करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । १० का प्रमाण भी है, कि—'यो अग्नाविति रुद्रान् स्वस्त्ययनकामः' ॥

तथा अन्त्येष्टि आदिमें स्वस्त्ययनके लिये इस ऋचाका जप करे ।

तथा दर्श और पूर्णमासमें आग्नीध्र 'यो अग्नौ' ऋचासे संमार्ग को अग्निमें डाल देय । इस विषयमें वैतानसूत्र १ । ४ का प्रमाण भी है, कि—'आग्नीध्रः सम्मार्गं प्रहरति यो अग्नाविति' ।

तथा चातुर्मास्योंमें साकमेघपर्वके त्रैयम्बक कर्ममें इसका विनियोग होता है । इस विषयमें वैतानसूत्र २ । ५ का प्रमाण भी है, कि—'अधोदधश्चतुष्पथे त्रैयम्बकं यो अग्नाविति' ॥

तथा अग्निष्टोममें शालादहनके अनन्तर 'यो अग्नौ' से अग्निके लिये नमस्कार करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । १४ का प्रमाण है, कि—'यो अग्नाविति नमस्कृत्य तेनैव निष्क्रामन्ति' ॥

• सर्पविपकी चिकित्सा करनेके लिये 'अपेहि' ऋचासे तृणोंको प्रज्वलित करके सर्पके अभिमुख फेंक देवे । सूत्रमें भी कहा है, कि—'अपेहीति तृणानि प्रघृत्य अहिं अभि निरस्यति । यतो दष्टः' ( कौशिकसूत्र ४ । ५ ) ॥

परिमोक्षविधिमें 'अपो दिव्याः' इन चार ऋचाओंसे शान्ति-जलका अभिमन्त्रण करे ।

तथा वेदव्रत आदिमें 'अपो दिव्याः' इस द्वयुचसे और 'एथोऽसि' इस तृचसे भी तीन समिधाओंको रक्खे ।

इनमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—'अपो दिव्या इति पर्यवेतव्रत उदकान्ते शान्त्युदकं अभिमन्त्रयते । अस्तमिते समित्पाणिरेत्य तृतीयावर्जं समिध आदधाति ।' ( कौशिकसूत्र ५ । ६ ) ॥

तथा आचार्यभरणमें उनके संस्कारके अनन्तर 'अपो दिव्याः' इन चार ऋचाओंसे ब्रह्मचारी स्नान करे । इसी वातको कौशिकने कहा है, कि—'त्रिरात्रं अपर्यावर्तमानः शयीत नोपशयीतेति कौशिकः । स्नानीयाभिः स्नायात्' ( कौशिकसूत्र ५ । १० ) ॥

तथा दर्श और पूर्णमासयाममें इडाभागमाशनके अनन्तर 'अपो दिव्याः' इन तीन ऋचाओंसे प्रस्तरमें मार्जन करे । इसी वातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—'अपो दिव्या इति तिसृभिः पवित्रवति मार्जयते' ( वैतानसूत्र १ । ३ ) ॥

तथा अग्निष्टोममें अवभृथ स्नानके अनन्तर 'अपो दिव्याः' से आहवनीयका उपस्थान करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । १४ का प्रमाण है, कि—'अपो दिव्या इत्याहवनीयं उपतिष्ठते'

अधिकार्यमें ब्रह्मचारी 'इदं आपः' से हाथोंको प्रक्षालित करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । ८ का प्रमाण भी है, कि—'इदं आपः प्रवहत इति पाणी प्रक्षालयते' ॥

तथा चातुर्मास्योंके वरुणप्रघासपर्वमें "इदं आपः" से मार्जन

करे । “आषाढ्यां वरुणप्रधासः—आषाढीमें वरुणप्रधास होता है” इस बातका आरम्भ करके कहा है, कि—“इदं आप प्रवहतेति मार्जयते” ( वैतानसूत्र २ । ४ ) ॥

दर्श और पूर्णमासमें दक्षिणाका प्रतिग्रह करनेके अनन्तर अग्नीध्र ‘एधोऽसि’ मन्त्रसे समिधाको रक्खे । इसी बातको वैतानसूत्र १ । ४ में कहा है, कि—“सम्प्रेषित आग्नीध्र एधोऽसीति-समुद्घृत्य समिधं आधाय” ॥

तथा स्मार्त दर्श और पूर्णमासमें संस्त्रावहोमके अनन्तर “एधोऽसि” मन्त्रसे दूसरीको, ‘समिदसि’ मन्त्रसे तीसरी समिधाको रक्खे और ‘तेजोऽसि’ मन्त्रसे मुखकी शुद्धि करे । इस विषयमें सूत्र का प्रमाण भी है, कि—‘अग्नये स्वाहेति समिधं आदधाति । एधोऽसीति द्वितीयां समिदसीति तृतीयां तेजोऽसीति मुखं धिमाष्टि ।’ ( कौशिकसूत्र १ । ६ ) ॥

तथा अग्निकार्यमें ब्रह्मचारी ‘एधोऽसि’ से हाथको अग्निसे ताप कर ऊष्मका भक्षण करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । ८ का प्रमाण भी है, कि—‘एधोऽसीत्युष्मभक्षं भक्षयति’ ॥

जारोन्वाटनके लिये ‘अपि वृश्च’ वृचसे जारको देखकर बोले ।

तथा इससे पाषाणको अभिमन्त्रित करके जारसंगम स्थानमें डाल देय ।

तत्र प्रथमा ॥

अनाधृष्यो जावेवेदा अमर्त्यो विराडग्रे क्षत्रभृद् दीदिहीह ।

विश्वा अभीवाः प्रमुञ्चन् मानुषीभिः शिवाभिर्य परि पाहि नो गयम् ॥ १ ॥

अनाष्टप्यः । जातवेदाः । अमर्त्यः । विराट् । अग्ने । क्षत्रभृत् ।  
दीदिहि । इह ।

विरवाः । अमीवाः । प्रमुञ्चन् । मानुषीभिः । शिवाभिः ।

अथ । परि । पाहि । नः । गयम् ॥ १ ॥

हे अग्ने अनाष्टप्यः ईषदपि धर्पयितुम् अशक्यः । ॐ विष्टपा  
मागन्ध्ये । “श्रद्धुपधाच्चावल्पि चृतेः” इति वयप् । “कृत्योके-  
प्लुक्” इत्यादिना उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॐ । जातवेदाः  
जातानां वेदिता जातधनो वा अमर्त्यः अमरणधर्मा विराट् विविधं  
राजमानः क्षत्रभृत् क्षत्रस्य बलस्य भर्ता धारयिता ईदृशः सन् इह  
अस्मिन् कर्मणि स्थाने वा दीदिहि दीप्यस्व । ॐ दीदेतिदीप्ति-  
कर्मा इति यास्कः । दीव्यतेर्वा “बहुलं छन्दसि” इति शां-  
यलुः ॐ । तथा दीप्तरच त्वं विरवाः सर्वा अमीवाः रोगान् प्रमु-  
ञ्चन् प्रकर्षेण मोचयन् विनाशयन् मानुषीभिः मानुषहिताभिः ।  
ॐ “मनोजातावज्यर्ता” इति अज्यप्रत्ययान्तो मानुषशब्दः ।  
तस्मात् “तस्यैदम्” इत्यर्थे अण् । “टिड्ढाणञ्” इत्यादिना  
ङीप् ॐ । शिवाभिः कन्याणकारिणीभिः ऊतिभिः अथ इदानीनः  
अस्माकं गयम् गृहं परि पाहि सर्वतो रक्ष ॥

हे अग्ने ! आप अनाष्टप्य हैं, उत्पन्न हुए प्रत्येक माणीको  
जानने वाले हैं, अमर्त्य ( देवता , हैं, अनेक प्रकारसे दमकते रहते  
हैं, बलके धारक हैं, ऐसे आप इस कर्ममें दीप्त हजिये । और  
प्रदीप्त होकर सकल रोगोंको नष्ट करते हुए मनुष्यका कन्याण  
करने वाली रक्षाओंके साथ हमारे घरकी भली प्रत्कार रक्षा करिये  
द्वितीया ॥

इन्द्रं क्षत्रमभि वाममोजोजायथा वृषभचर्पणीनाम् ।

अपा॑नुदो॒ जन॑ममि॒त्राय॑न्त॒मु॒रुं दे॒वेभ्यो॑ अ॒कृ॒णो॒रु  
लो॒कम् ॥ २ ॥

इन्द्र॑ । क्ष॒त्रम् । अ॒ग्नि॑ । द॒ामम् । ओजः॑ । अजा॑यथाः । वृ॒षभ॑ ।  
च॒र्प॒णीनाम् ।

आप॑ । अ॒नु॒दः । जन॑म् । अ॒मि॒त्र॒ज्यन्त॑म् । उ॒रुम् । दे॒वेभ्यः॑ ।  
अ॒कृ॒णोः । ऊँ इति॑ । लो॒कम् ॥ २ ॥

हे इन्द्र क्षत्रम् क्षतात् त्रायकं दामम् वननीयम् ओजः बलम्  
अभिलक्ष्य अजायथाः उत्पन्नोसि । हे वृषभ कामानां वर्षितः  
चर्पणीनाम् मनुष्याणाम् अस्माकम् । ❀ “नाम् अन्यतरस्याम्”  
इति नाम उदात्तत्वम् ❀ । उत्पत्त्यनन्तरम् अमित्रयन्तम् अमित्रः  
शत्रुः स इवाचरन्तं जनम् अपानुदः अपागमयः । अपगम्य च  
देवेभ्यः उरुम् विस्तीर्णं लोकम् स्वर्गस्थम् अकृणोः अकार्षीः  
सुखनिवासाय । ❀ उशब्दः समुच्चये ❀ ॥

हे इन्द्रदेव ! आप क्षतसे रक्षा करनेवाले सेवनीय बलको लक्ष्य  
करके उत्पन्न हुए हैं, हे कामनाओंकी वर्षा करने वाले अग्नि-  
देव ! उत्पत्तिके अनन्तर आप शत्रुकी समान आचरण करतेहुए  
जनसंघको दूर करिये । और देवताओंके लिये विशाल स्वर्गलोक  
को सुखनिवासके लिये दीजिये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

मृ॒गो न भी॑मः कु॒चरो गि॑रि॒ष्ठाः प॑रा॒वत॒ आ ज॑ग॒म्यात्  
प॑र॒स्याः ।

सृकं संशायं पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून् तादृ वि  
मृधो नुदस्व ॥ ३ ॥

मृगः । न । भीमः । कुचरः । गिरिऽस्थाः । पराऽवतः । आ ।  
जगम्यात् । परस्याः ।

सृकम् । सम्शाय । पविम् । इन्द्र । तिग्मम् । वि । शत्रून् ।  
तादृ । वि । मृधः । नुदस्व ॥ ३ ॥

कुचरः कुत्सितचरणः गिरिष्ठाः पर्वतनिवासी । ॐ तिष्ठतेर्विचु  
प्रत्ययः ॐ । मृगो न सिंह इव भीमः भयंकरो भवति इन्द्रः । स  
च परस्याः परावतः अतिशयेन दूराद् द्युलोकाद् आ जगम्यात्  
आगच्छतु । ॐ गमेर्विधिलिङि व्यत्ययेन शपः रलुः ॐ ॥ अथ  
प्रत्यक्षकृत उत्तरोर्ध्वः । आगत्य च हे इन्द्र सृकम् सरणशीलं  
तिग्मम् तीक्ष्णं पविम् वज्रं संशाय सम्यक् तीक्ष्णीकृत्य । ॐ शो  
तनूकरणे । व्यपि रूपम् ॐ । शत्रून् अस्मदीयान् वैरिणः वि  
तान्हि तेन वज्रेण विशेषेण विविधं वा ताडय । विनाशयेत्यर्थः ।  
ॐ तड आघाते । अस्माण्यन्तात् लोटि “द्वन्द्वस्युभयया” इति  
हेः आर्धधातुकत्वात् णिलोपः ॐ । तथा मृधः संग्रामोद्युक्तान्  
युयुत्सून् अन्यानपि शत्रून् वि नुदस्व विशेषेण प्रेरय । तिरस्कु-  
र्वित्यर्थः ॥

कुत्सित चरणवाले, पर्वतनिवासी सिंहकी समान भयंकर इन्द्र  
परम दूर द्युलोकसे आजाने और आकर हे इन्द्रदेव ! आप सरण-  
शील तीक्ष्ण वज्रको भली प्रकार तीक्ष्ण करके हमारे वैरियोंको  
उस वज्रसे नष्ट करिये और संग्राम करनेके लिये उद्यत अन्य  
शत्रुओंका भी तिरस्कार करिये ॥ ३ ॥



चतुर्थी ॥

त्यम् पु वाजिनं देवजूतं सहोवानं तरुतारं रथानाम् ।

अरिष्टनेमिं पृतनाजिमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम १

त्यम् । ऊं इति । सु । वाजिनम् । देवजूतम् । सहःऽवानम् । तरु-

तारम् । रथानाम् ।

अरिष्टनेमिम् । पृतनाऽजिम् । आशुम् । स्वस्तये । तार्क्ष्यम् ।

इह । आ । हुवेम ॥ १ ॥

त्यम् तं प्रसिद्धमेव तार्क्ष्यम् वृत्तपुत्रं सुपर्णम् । ❀ वृत्तशब्दो  
 गर्गादिषु पठ्यते ❀ । इह अस्मिन् कर्मणि स्वस्तये क्षेमाय सु  
 सुष्ठु आ हुवेम आह्वयेम । ❀ “बहुलं छन्दसि” इति ह्यतेः  
 संप्रसारणम् । “लिङ्ग्याशिष्यङ्” । यद्वा प्रार्थनायां लिङि । व्य-  
 त्ययेन शः ❀ । कीदृशम् । वाजिनम् अन्नं वन्तं बलवन्तं वा देव-  
 जूतम् देवैः सोमाहरणाय प्रेरितम् । ❀ जु इति गत्यर्थः सौत्रो  
 धातुः । अस्मात् कर्मणि निष्ठा । “तृतीया कर्मणि” इति पूर्वपद-  
 प्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । यद्वा देवैः प्रीयमाणं तर्प्यमाणम् । ❀ यद्वा  
 आह यास्कः । जूतिर्गतिः प्रीतिर्वा देवजूतं देवगतं देवप्रीतं वेति  
 [ नि० १०, २८ ] ❀ । सहोवानम् सहस्वन्तं बलवन्तम् अभि-  
 भवनशक्तिमन्तं वा । ❀ “छन्दसीवनिर्णौ” इति वनिप् ❀ ।  
 अत एव रथानाम् अन्यदीयानां तरुतारम् संग्रामे तरीतारम् ।  
 यद्वा रंहणशीला इमे लोका रथाः । तेषां सोमाहरणसमये शीघ्रं  
 तरीतारम् । श्रूयते हि । ‘एष हीमाँल्लोकान्तस्यस्तरति’ इति [ ऐ०  
 ब्रा० ४, २० ] । ❀ तरतेऽस्तुचि “ग्रसितस्कथित०” इत्यादि-  
 सूत्रे उडागमो निपात्यते ❀ । अरिष्टनेमिम् । नेमिशब्देन तद्वान्

रथो लक्ष्यते । अहिंसितरथम् । यद्वा नेमिः नमनशीलम् आयु-  
धम् अतिरस्कृतायुधम् । अथ वा उपचाराज्जनके जन्यशब्दः ।  
अरिष्टनेमेर्मम अपेर्जनकम् । पृतनाजम् पृतनानां शत्रुसेनानां  
प्राजितारं प्रगमयितारं जेतारं वा । ॐ अज गतिक्षेपणयोः ।  
अस्मात् विवप् । “ वलादायार्धधातुके विकल्प इष्यते ” इति वच-  
नाद् बीभाषाभावः । जयतेर्वाङ्मत्ययः ॐ । आशुं शीघ्रगामिनम् ॥

हम उन प्रसिद्ध वृक्षपुत्र सुपर्णको ही इस कर्ममें स्वस्तिके लिये  
आवाहन करते हैं, यह सुपर्ण बलवान् है, देवताओंने सोमका  
आहरण करनेके लिये इनको प्रेरित किया था, इनमें अभिभवन  
( तिरस्कार ) करनेकी शक्ति है । यह रंहणशील इन लोकरूप  
रथोंको सोमहरणके समय शीघ्र ही तर गए थे † और यह सुभक्त  
अरिष्टनेमिके पिता हैं, और यह शत्रुओंकी सेनाओंको जीतनेवाले  
हैं तथा शीघ्रगामी हैं ( ऐसे सुपर्णका मैं आवाहन करता हूँ ) ?

पञ्चमी ॥

त्रातारमिन्द्रं मवितारमिन्द्रं हवे हवे सुहवं शूरमिन्द्रम् ।  
हुवे नु शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्ति न इन्द्रो मघवान्  
कृणोतु ॥ १ ॥

त्रातारम् । इन्द्रम् । अवि॒तारम् । इन्द्रम् । हवेऽहवे । सुऽहवम् ।  
शूरम् । इन्द्रम् ।

हुवे । नु । शक्रम् । पुरुऽहूतम् । इन्द्रम् । स्वस्ति । नः । इन्द्रः ।

मघ॒ज्वान् । कृ॒णोतु ॥ १ ॥

† ऐतरेय ब्राह्मण ४ । २० में कहा है, कि—“एष हीमान् लोकान् संघस्तरति” ॥

आतारम् रक्तकम् इन्द्रं हुवे हयामि । अवितारम् इन्द्रम्  
इति पुनरुक्तिः पातुतमस्त्वख्यापनार्था । यद्वा त्राणं नाम उपस्थि-  
तेभ्यो भयहेतुभ्यो रक्षणम् । अवनं तु उदेष्यतां निरोध इति  
विशेषः । अथ वा पारमैश्वर्यलक्षणम् अवनम् । हवेहवे सर्वेषु द्वानेषु  
सुहवम् हातुं सुशकं शूरम् समर्थम् इन्द्रं हयामि । तथा शक्रम्  
शक्तं सर्वत्र पुरुहूतम् इन्द्रं नु क्षिप्रं हुवे हयामि । स च मघवान्  
धनवान् इन्द्रः स्वस्ति क्षेमम् अविनाशं न अस्माकं कृणोतु करोतु ।  
❀ कृवि हिंसाकरणयोश्च । “धिन्विकृण्वोर च” इति उपत्ययः ॥

मैं रक्तक इन्द्रदेवका आह्वान करता हूँ, मैं उपस्थित भयोंसे  
रक्षा करने वाले इन्द्रदेवका आह्वान करता हूँ, सकल संग्रामोंमें  
सरलतासे आह्वान करने योग्य इन्द्रदेवका मैं आह्वान करता हूँ  
तथा मैं शक्र पुरुहूत इन्द्रका आह्वान करता हूँ वह धनी इन्द्र हमारा  
क्षेम करें ॥ १ ॥

पृष्ठी ॥

यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्वः १ न्तर्य ओपधीर्वीरुधं आविवेश  
य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो  
अस्त्वग्नये ॥ १ ॥

यः । अग्नौ । रुद्रः । यः । अप्सु । अन्तः । यः । ओपधीः ।

वीरुधः । आविवेश ।

यः । इमा । विश्वा । भुवनानि । चाक्लृपे । तस्मै । रुद्राय । नमः ।

अस्तु । अग्नये ॥ १ ॥

यो रुद्रः रोदयति शत्रून् इति रुद्रः । ❀ “रोदेणिलुक् च”

[ उ० २. २२ ] इति रक् प्रत्ययः । गेलुक् ॐ । एतन्नामा देवः  
 अग्नौ अन्तः मध्यम् आविवेश यष्टव्यत्वेन अग्निमध्यं प्रविष्टः ।  
 यश्च अष्टु अन्तः आविवेश वरुणात्मना प्रविष्टः । ॐ “ऊडि-  
 दम्” इत्यादिना अष्टब्दाद् उत्तरस्या विभक्तेरुदात्तत्वम् ॐ ।  
 यश्च वीरुधः विशेषेण विविधं वा रोहन्तीः ओषधीः ओषः फल-  
 पाको धीयते निधीयते आस्त्रिति ताः फलपाकान्ता लताः आवि-  
 वेश सोमात्मना आविष्टः । ॐ वीरुध इति । विपूर्वाद् रोहतेः  
 विवि “नद्विष्टति०” इत्यादिना उपसर्गस्य दीर्घः । हकारस्य धका-  
 रोपजनश्चान्दसः ॐ । किं बहुना यो रुद्रः इमा इमानि नामरू-  
 पात्मना परिदृश्यमानानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि  
 भवन्ति भूतानि । स्रष्टुम् इति शेषः । चाकलृपे समर्थो भवति ।  
 ॐ कृपू सामर्थ्ये । लिटि “कृपो रो लाः” इति लत्वम् । अभ्या-  
 सस्य छान्दसः साहितिको दीर्घः ॐ । तस्मै सर्वजगत्स्रष्ट्रे सर्व  
 जगद् अनुप्रविष्टाय रुद्राय रुद्रात्मने अग्नये नमः नमस्कारोस्तु ।  
 यद्वा अग्नये अङ्गनादिगुणविशिष्टाय रुद्राय नमोस्तु ॥

शत्रुघ्नोको रुलाने वाले जो रुद्र नामक देव यष्टव्यरूपसे अग्नि  
 के मध्यमें प्रविष्ट हैं और जो वरुणरूपसे जलमें प्रविष्ट होगए हैं  
 और जो लताओंमें सोमात्मारूपसे प्रविष्ट होगए हैं, अधिक क्या ?  
 जो रुद्र इन समस्त भूतोंकी सृष्टि करनेमें समर्थ हैं, उन सर्वजगत्  
 के स्रष्टा सब जगत्में अनुप्रविष्ट रुद्रात्मक अग्निदेवके लिये नम-  
 स्कार है अथवा अंगनादि गुणविशिष्ट रुद्रदेवके लिये नमस्कार है ?  
 सप्तर्षा ॥

अपेह्यरिंस्वरिवा असि ।

विपे विपमपृक्था विपमिद् वा अपृक्थाः ।

अहिमेवाभ्यपेहि तं जहि ॥ १ ॥

अप । इहि । अरिः । असि । अरिः । वै । असि ।

विपे । विषम् । अपृक्थाः । विषम् । इत् । वै । अपृक्थाः ।

अहिम् । एव । अभिऽअपेहि । तम् । जहि ॥ १ ॥ •

अत्र सर्पविषं संबोध्यते । हे विष अपेहि अपगच्छ अस्माद्द दष्टात् पुरुषात् । यतस्त्वम् अरिः शत्रुः असि भवसि । न केवलम् अस्यैव अरिरसि वै सर्वस्य शत्रुर्भवसि खलु । अतो विपे विषवति सर्पे । ❀ अर्शआदित्वाद् अच् प्रत्ययः ❀ । विषम् अपृक्थाः संपर्चयः संयोजय । एतदेव पुनराह । विषमित् विषमेव अपृक्थाः संयोजय । वैशब्दः अवधारणे । विषवति सर्प एव पुनर्विषमेव संयोजयेत्यर्थः । ❀ पृची संपर्के । आन्दसे लुङि “एकाचः” इति इष्टिनषेधः । “भूलो भूलि” इति सिचो लोपः ❀ । उक्तार्थमेव विशदयति । हे विष त्वं यस्य विषं भवसि तम् अहिम् आहन्तारं सर्पमेव अभ्युपेहि अभिलक्ष्य समीपं गच्छ । गत्वा च तम् अहिं जहि विनाशय ॥

( इस मन्त्रमें सर्पविषको सम्बोधित किया गया है, कि—)  
हे विष ! तू इस डसे हुए पुरुषमेंसे निकल जा, क्योंकि—तू शत्रु है, तू केवल इसका ही शत्रु नहीं है, किन्तु सबका शत्रु है, अत एव तू विष वाले सर्पमें संयुक्त होजा ! तू विषको अर्थात् अपने को सपसे संयुक्त कर, हे विष ! तू जिसका विष है उस काटने वाले सर्पको ही प्राप्त हो और प्राप्त होकर उस सर्पका विनाश करडाल  
अष्टमी ॥

अपो दिव्या अंचायिपं रसेन समपृद्धमहि ।

पयस्वानम आगमं तं मा सं सृज वर्चसा ॥ १ ॥

अपः । दिव्याः । अचायिपम् । रसेन । सम् । अपृक्षमहि ।

पयस्वान् । अग्ने । आ । अगमम् । तम् । या । सम् । सृज । वर्चसा १

दिव्याः दिवि भवा अपः उदकानि । ❀ “ऊद्विदम्” इति शस उदात्तत्वम् ❀ । अचायिपम् पूजयामि । स्नानार्थम् अभि-  
ष्टौमीत्यर्थः । ❀ चायृ पूजानिशामनोः । लुकि रूपम् ❀ । तासाम्  
अपां रसेन समपृक्षमहि संगताः स्मः । रसेन संसिक्ता भवाम  
इत्यर्थः । वचनव्यत्ययो वा । समपृक्षि संगतोस्मि । ❀ पृची संपर्के ।  
“लिङ्सिचावात्मनेपदेषु” इति सिचः क्त्विम् ❀ ॥ हे अग्ने अहं  
त्वां पयस्वान् अन्नवान् हविर्भिस्तद्वान् आगमम् आगतोस्मि ।  
हविषा यण्डुं तव समीपम् आगतोऽस्मीत्यर्थः । गमेलुङि लृदि-  
त्वाद् अह् ❀ । तं तादृशं त्वत्समीपं प्राप्तं मामां वर्चसा । ❀ वर्चो  
वृणक्तेः ❀ । तेजोविशेषेण सं सृज संयोजय । “अग्ने यत् ते  
दिवि वर्चः पृथिव्याम्” इति हि निगमः [ ऋ० ३. २२. २ ] ॥

धामें होने वाले जलोंका ( मैं स्नान करनेके लिये ) पूजन  
करता हूँ, उनके रससे मैं संयुक्त होऊँ । हे अग्ने ! मैं आपके पास  
पय अर्थात् हविरूप अन्न लेकर आगया हूँ अर्थात् हवि लेकर  
आपका यजन करनेके लिये आगया हूँ, ऐसे मुझको आप तेज  
से † संयुक्त करिये ॥ १ ॥

नवमी ॥

सं माग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा ।

विदुर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात् सह ऋषिभिः । २ ।

† ऋग्वेदसंहिता ३। २२। २ में कहा है, कि-‘अग्ने यत् ते  
दिवि वर्चः पृथिव्याम् ।-हे अग्निदेव ! आपका जो धामें-और  
पृथिवीमें वर्च ( तेज ) है’ ॥

सम् । मा । अग्ने । वर्चसा । सृज । सम् । प्रऽजया । सम् । आयुषा ।

विद्युः । मे । अस्य । देवाः । इन्द्रः । विद्यात् । सह । ऋषिऽभिः २

हे अग्ने मा मां वर्चसा तेजसा बलेन वा सं सृज संयोजय । प्रजया पुत्रादिकया सं सृज । आयुषा जीवनेन च सं सृज । किं च अस्य एनम् ॥ अन्वादेशे इदमः अशादेशोऽनुदात्तः । विभक्तिः सुप्त्वाद् अनुदात्ता । अतः सर्वानुदात्तं पदम् ॥ एनं मे माम् । कर्मार्थे षष्ठ्यौ ॥ देवा विद्युः असौ पूत इति जानीयुः । तथा ऋषिभिः अतीन्द्रियदर्शिभिर्मुनिभिः सह इन्द्रश्च विद्यात् मां पूतं जानीयात् । यद्वा अस्य एतादृशस्य मे अभिमतफलं साधयितुम् इन्द्रादयो विद्युरिति ॥

हे अग्ने ! आपः मुझको बलसे सम्पन्न करिये, पुत्र पौत्र आदि प्रजा और जीवनसे सम्पन्न करिये, इस मुझको देवता और ऋषियों सहित इन्द्रदेव 'यह पवित्र है' यह समझें ॥ २ ॥

दशमी ॥

इदमापः प्र वहतावद्यं च मलं च यत् ।

यच्च अभिदुद्रोहानृतं यच्च शेषे अभीरुणम् ॥ ३ ॥

इदम् । आपः । प्र । वहत । अवद्यम् । च । मलम् । च । यत् ।

यत् । च । अभिऽदुद्रोह । अनृतम् । च । यत् । शेषे । अभीरुणम् ३

हे आपः इदं पापं प्र वहत अपनयत । यद् अवद्यम् गलीनिन्दारूपं यच्च मलम् दुरितं च मयि वर्तते यच्च अनृतम् असत्यम् अभिदुद्रोह पित्रादिभ्यः अयथार्थनिर्वन्धेन द्रोहम् अकार्पम् यच्च अभीरुणम् । उत्तमर्णाय देयं वस्तु रुणम् इत्युच्यते । तद्

ऋणम् अभिप्राप्य शेषे अपलापाय शपथं कृतवान् अस्मि । तत् पापम् अपनयतेति संबन्धः । ॐ अभिदुद्रोहेति । द्रुह जिघांसा-  
याम् । लिटि उत्तमणलि रूपम् । “यद्रुहत्तान्नित्यम्” इति निघात-  
निपेयः । “तिष्ठि चोदाचवति” इति गतेनिघातः । शेषे इति । शप  
आक्रोशे । अस्मान्लिटि उत्तमैकवचने इटि “शप उपालम्भनं”  
इति आत्मनेपदम् । वाचा शरीरस्पर्शनम् उपालम्भः । यद्रुहत्त-  
योगाद् अनिघातः ॐ ॥

हे जलों ! मेरे इस पापसंघको दूर करो, जो निन्दारूप मल और  
पाप मुझमें वर्तमान है, और जो असत्य है तथा पिता आदिका  
यथार्थसम्मान न करना रूप जिस तथा द्रोहको मैं कर चुका हूँ  
और ऋणको लेकर उसका अपलाप करनेके लिये जो मैंने  
शपथ खाई है ( इन समस्त कार्योंके करनेसे उत्पन्न हुए पापको  
आप दूर करिये ) ॥ ३ ॥

एकादशी ॥

एधोस्येधिपीय समिदंसि समंधिपीय ।

तेजोसि तेजो मयि धेहि ॥ ४ ॥

एधः । असि । एधिपीय । समृश्त् । असि । सम् । एधिपीय ।

तेजः । असि । तेजः । मयि । धेहि ॥ ४ ॥

हे अग्ने त्वम् एधः इदः दीप्तः असि भवसि । ॐ विद्मन्धी  
दीप्ता । यन्नि “अवोर्दधौन्नमथयहिमथयाः” इति उपधानकारलोपो  
निपात्यते ॐ । यतस्त्वं समिदाधानेन दीप्तो भवसि अतः । यद्वा ।  
ॐ एध दृढी इत्यस्माद् उत्पन्न एधशब्दः ॐ । इविपा मृद्भो  
भवसि । अतोऽहम् एधिपीय फलेन समृद्धो भूयासम् । ॐ विद्मन्धी  
दीप्ता । आशीर्लिङि व्यत्ययेन नकारलोपे गुणे च रूपम् । यद्वा ।



एष वृद्धौ इत्यस्मात् आशीर्लिङि रूपम् । उभयत्र लिङः सीयुट् ।  
 वत्तादिलक्षण इट् । “इटोत्” इति अदादेशः ॐ । तथा हे अग्ने  
 समित् समिद्धः समित्संबन्धनी वा संदीपनी शक्तिरसि । ॐ इन्धेः  
 कर्मणि करणे वा क्विपि उपधानकारलोपः ॐ । यतः अग्ने त्वं  
 समिदसि अतोहं समेधिषीय फलैः समिद्धः संपूर्णो भूयासम् ।  
 ॐ अत्र इन्धेः आशीर्लिङि छान्दसं रूपं प्रदर्शितं भवति ॐ ।  
 हे अग्ने त्वं तेजोसि दीप्तिः तेजःसाधनः वा भवसि । अतस्त्वं तेज-  
 स्तादृशं मयि धेहि स्थापय ॥

हे अग्ने ! आप प्रदीप्त होजाते हैं, ( आप समिदाधानसे समृद्ध  
 होते हैं इस कारण ) मैं भी फलसे समृद्ध होऊँ, हे अग्ने ! आप  
 समित्सम्बन्धिनी संदीपिनी शक्ति हैं अत एव मैं भी फलोंसे  
 समिद्ध होऊँ, हे अग्ने ! आप तेजःस्वरूप हैं अत एव मुझमें तेज  
 को स्थापित करिये ॥ ४ ॥

द्वादशी ॥

अपि वृश्च पुराणवद् व्रततेरिव गुष्पितम् ।

ओजो दासस्य दम्भय ॥ १ ॥

अपि । वृश्च । पुराणवत् । व्रततेःइव । गुष्पितम् ।

ओजः । दासस्य । दम्भय ॥ १ ॥

हे अग्ने त्वं पुराणवत् । ॐ व्यत्ययेन द्वितीयार्थे वृत्तिः ॐ ।  
 पुराणान् पुरातनान् शत्रूनिव इदानींतनमपि जारूपं शत्रुं वृश्च  
 छिन्धि । ॐ “पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु” इति निपातनात्  
 तुडभावः । ओत्रश्चू छेदने । तुदादित्वात् शः । “ग्रहिव्या०”  
 इत्यादिना संप्रसारणम् ॐ । यद्धौ । ॐ पुराणवेदिति “तत्र  
 तस्येव” इति षष्ठ्यर्थे वृत्तिः ॐ । पुराणानां पुरातनानां शत्रूणा-

मिव नूतनस्यापि जाररूपशत्रोर्वलं वृश्च इति चलशब्दाध्याहारेण योजना । छेदने दृष्टान्तः व्रततेरिव गुण्यितम् इति । ॐ गुण्यतिगु-  
न्फतिपर्यायो द्रष्टव्यः ॐ । यथा व्रततेर्लताया गुन्फं कुञ्जं शाखा-  
समूहं वृश्चन्ति तद्विदिति । तदेवाह तृतीयपादेन । दासस्य उप-  
क्षपयितुः शत्रोर्जारस्य ओजः वलं प्रजननसमर्थं वीर्यं वा दम्भय  
विनाशाय । ॐ दम्भयतिर्वधकर्मा इति यास्कः ॐ ॥

हे अग्ने ! आप पुरातन शत्रुओंकी समान इस जाररूप शत्रुका  
भी छेदन करिये, अथवा इस पुरातन शत्रुओंकी समान इस जार  
रूप शत्रुके चलको इस प्रकार काट डालिये, जिस प्रकार लताओं  
के कुञ्ज ( शाखासमूह ) को काटते हैं । और दासके अर्थात् उप-  
क्षय करने वाले शत्रु जारके वीर्यको नष्ट करिये ॥ १ ॥

त्रयोदशी ॥

वयं तदस्य संभृतं वस्विन्द्रेण वि भजामहे ।

म्लापयामि भ्रजः शिभ्रं वरुणस्य व्रतेन ते ॥ २ ॥

वयम् । तत् । अस्य । सम्भृतम् । वसु । इन्द्रेण । वि । भजामहे ।

म्लापयामि । भ्रजः । शिभ्रम् । वरुणस्य । व्रतेन । ते ॥ २ ॥

अस्य पुरोवर्तिनो जारस्य शत्रोः संभृतम् एकत्र संपादितं तद्  
वसु धनम् इन्द्रेण सहायभूतेन वयं वि भजामहे विभक्तम् अपगतं  
करवामहे । यद्वा तस्य धनं वयं विशेषेण भजामहे । तस्य धनस्य  
वयं भागिनो भवाम इत्यर्थः ॥ उत्तरार्धे जारः संश्लेष्यते । हे जार  
ते तत्र शुभ्रम् श्वेतवर्णं भ्रजः दीप्तम् अपत्यप्रजननसमर्थं रेतः वरु-  
णस्य बारकस्य देवस्य व्रतेन कर्मणा म्लापयामि क्षीणं करोमि ।  
ॐ ग्लौ ग्लौ हर्षतये । एयन्तात् पुगागमः । भ्रजतेर्दीप्त्यर्थाद् अमुनि  
रूपं भ्रज इति ॐ ॥

इस जार-शत्रुके एकत्रित किये हुए धनको हम इन्द्रकी सहायतासे निकालते हैं । हे जार ! तेरा जो सन्तानको उत्पन्न करनेमें समर्थ शुभ्र वर्ण वाला दमकता हुआ वीर्य है उसको मैं जिवारक वरुणदेवके कर्मसे क्षीण करता हूँ ॥ २ ॥

चतुर्दशी ॥

यथा शेषोऽपयातै स्त्रीषु चासदनावयाः ।

अवस्थस्य क्रदीवतः शाङ्कुरस्य नितोदिनः ।

यदाततमव तत् तनु यदुत्ततं नि तत् तनु ॥ ३ ॥

यथा । शेषः । अपयातै । स्त्रीषु । च । असत् । अनावयाः ।

अवस्थस्य । क्रदीवतः । शाङ्कुरस्य । नितोदिनः ।

यत् । आस्ततम् । अव । तत् । तनु । यत् । उदस्ततम् । नि ।

तत् । तनु ॥ ३ ॥

शेषः पुंस्प्रजननस्य नाम । ॐ वृद्धशीङ्भ्यां रूपस्वाङ्गयोः पुक् च [ ३० पा० ४, २०० ] इति असुन् । पुडागमः ॐ । यथा येन प्रकारेण शेषः जारस्य व्यञ्जनम् अपयातै अपगच्छेत् । भोग्यायाः पतिवत्न्या नार्याः सकाशाद् अपगतं भवेत् । ॐ अय पय गतौ । लोटि “लेटोडाटौ” इति आडागमः । “वैतोन्यत्र” इति एकारस्य ऐकारादेशः ॐ । च यथा च स्त्रीषु भोग्यासु अनावयाः । ॐ वेतेर्गत्यर्थाद् असुन् । लिङ्गन्यत्ययः ॐ । अनागच्छद् असत् भवेत् । यथा जारस्य व्यञ्जनं स्त्रीषु संसक्तं न भवेदित्यर्थः । ॐ असत् इति । अस्तेर्लेटिरूपम् ॐ । यद्वा । आवयतिः अत्तिकर्मा । ॐ आङ्पूर्वाद्वेतेर्भक्षणार्थाद् असुन् ॐ । अत्र भक्षणं भोगयान्नोपलक्षणम् । यथा च जारः स्त्रीषु परकीयासु अनावयाः अभोक्ता संभोग-

रहितः असत् भवेत् । अयम् अर्थः । यथा जारस्य शेषो भोग्यायाः  
स्त्रियाः सकाशाद् अपगच्छेत् भोक्तुं न क्षमेत यथा च स्त्रीव्यञ्जने  
संसक्तं जारो वा संभोक्ता न भवेत् तथा कुर्विति देवः प्रार्थ्यते ।  
कस्य शेषः इति तम् आह उत्तरेणार्थेन । अवस्थस्य स्त्रीसमीपे  
अवतिष्ठमानस्य । ❀ अवपूर्वात् तिष्ठतेः “स्थः क च” इति क-  
प्रत्ययः ❀ । अथ वा अवः अवस्तात् स्त्रिया अधःप्रदेशे संभो-  
गाय तिष्ठतः । ❀ “पूर्वापराधराणाम् असिपुरधवधैषाम्”  
इति अधरशब्दस्य असिप्रत्यये अव् आदेशः । अवोपसृष्टात्  
तिष्ठतेः असिप्रत्ययान्ताधरशब्दपूर्वाद् वा तिष्ठते रूपम् इति  
व्युत्पत्त्यनवधारणाद् अनवग्रहः ❀ । स्त्रीसमीपे संभोगाय  
तिष्ठतः क्रदिवतः । ❀ क्रदेः आहानार्थाद् औणादिको भावे  
इप्रत्ययः । रेफस्य नकारोपजनश्चान्दसः ❀ । संभोगार्थम् आहान-  
घतः शाङ्कुरस्य शङ्कुरिव शङ्कुः पुंन्यञ्जनं तद्वान् शङ्कुरः । ❀ रो  
मत्वर्थीयः ❀ । शङ्कुर एव शाङ्कुरः । ❀ मज्ञादित्वाद् अण् ❀ ।  
पुंन्यञ्जनवतः नितोदिनः नितरां संभोगेन नारीं व्यथयतः । ❀ तुद  
व्यथने इत्यस्माद् “बहुलम् आभीक्ष्ण्ये” इति णिनिः ❀ । एता-  
दृशस्य जारस्य आततम् आयामवत् यत् शेषोऽस्ति तत् शेषः अव  
तनु अवततं दैर्घ्यरहितं कुरुः । तथा उच्चतम् ऊर्ध्वं विस्तृतम् उन्नतं  
यत् शेषः तद् नि तनु नितनं नीचीनं कुरु ॥

अष्टमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

श्रीमद्राजाधिराजराजपरमेश्वरश्रीवीरमहाराजराज्यधुरंधर-  
सायणाचार्यविरचिते माधवार्च्ये अथर्वसंहिताभाष्ये  
वेदार्थप्रकाशे सप्तमकाण्डे अष्टमोनुवाकः ॥

जिस प्रकार जारका पुंन्यञ्जन नारीके पाससे दूर होजावे  
और स्त्रियोंमें संसक्त न होवे, ( इस प्रकारकी हम देवताओंसे  
प्रार्थना करते हैं ) स्त्रीके अधः प्रदेशमें संभोगके लिये स्थित,

संभोगके लिये आह्वान वाले शंकु ( खूँटे ) की समान पुंन्यञ्जन वाले, संभोगसे नारीको अतिपीड़ित करने वाले जारके आतत पुंन्यञ्जनको दीर्घतारहित करिये और उच्चतको नीचा करिये ३

अष्टम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त ( ४१० ) ॥

अथर्ववेदसंहिताके अष्टम काण्डमें अष्टम अनुवाक समाप्त ॥

नवमेनुवाके द्वे सूक्ते । तत्र “इन्द्रः सुत्रामा” इत्याद्ये सूक्ते आद्येन तृचेन ग्रामकामः इन्द्रं यजेत उपतिष्ठेत वा ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि उदुम्बरपत्ताशकर्कन्धूनां समिदाधान-सभोपस्तरणहोमादीनि कर्माणि अनेन कुर्यात् ॥

सूत्रितं हि । “इन्द्रः सुत्रामेति ग्रामकामो ग्रामसांपदानामप्ययः” इति [ कौ० ७. १० ] ॥

तथा इन्द्रमहारूपे उत्सवे “इन्द्रः सुत्रामा” इत्यनया आज्यं जुहुयात् । सूत्रितं हि । “अर्वाश्वम् इन्द्रम् [ ५. ३. ११ ] त्रातारम् इन्द्रम् [ ७. ६१ ] इन्द्र सुत्रामा [ ७. ६६ ] इत्याज्यं हुत्वा” इति [ कौ० १४. ४ ] ॥

अग्निष्टोमे [ “ध्रुवं ध्रुवेण” इति ऋचा ] आसन्दीं नीयमानं सोमराजम् अनुमन्त्रयेत् । उक्तं वैताने । “ध्रुवं ध्रुवेणेति राजानं राजवहनाद् आसन्द्यां नीयमानम् अनुमन्त्रयते” इति [ वै० ३. ३ ]

तथा अग्निष्टोमे अग्निमारुतशस्त्रावसाने अवनीयमानं ध्रुवपात्रस्थसोमम् अनया ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । “ध्रुवं ध्रुवेणेति ध्रुवम् अवनीयमानम् अनुमन्त्रयते” इति हि [ वै० ३. १३ ] सूत्रम् ॥

आभिचारिके कर्मणि “उदस्य श्यावौ” इति तृचेन आज्यं जुहुयात् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि सूत्रोक्तरीत्या अनेन तृचेन मण्डूक-मुलम् अपनुदेत् ॥

अभिचारकर्मणि “असदन् गावः” इति ऋचा रक्तशालितण्डुलैः क्षीरौदनं कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य द्वेष्पाय दद्यात् ॥

दर्शपूर्णमासयोः “यद् अद्य त्वा प्रयति” इत्यष्टर्चेन संस्थित-  
होमान् जुहुयात् । “यद् अद्य त्वा प्रयति [ ७. १०२ ] इत्यष्टर्चेन  
संस्थितहोमाः । मनसस्पते [ ७. १०२. ८ ] इत्युत्तमं चतुष्टयीतेन”  
इति [ कौ० १. ६ ] सूत्रात् ॥

उपनयनकर्मणि ब्रह्मचारिणं “समिन्द्र एः” इत्यनया अष्टर्चे-  
नाभिमन्त्रितम् उदपात्रम् अवेक्षयेत् । “उपनयनं” प्रक्रम्य सूत्रि-  
तम् । “उदपात्रं समवेक्षयेत् समिन्द्र एः” इति [ कौ० ७. ६ ] ॥

नवम सूक्तमें दो अनुवाक हैं । उनमेंसे ‘इन्द्रः सुत्रामा’ इस  
पहिले सूक्तके पहिले सूचसे ग्रामकी चाहना वाला इन्द्रदेवका  
यजन वा उपस्थान करे ।

तथा उसी कर्ममें गूलड़ पलाश और बेरकी समिधाओंका  
आधान, सभामें पिरालसा बिछाना और होम आदि कर्मोंको करे ॥

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—‘इन्द्रः सुत्रामेति ग्राम-  
कामो ग्रामसाम्पदानामप्ययः ।’ ( कौशिकसूत्र ७ । १० ) ॥

तथा इन्द्रमह नाम वाले उत्सवमें “इन्द्रः सुत्रामा” से घृतकी  
आहुति देय । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—“अर्वाञ्च  
इन्द्रम् ( ५ । ३ । ११ ) वातारम् इन्द्रम् ( ७ । ६१ ) इन्द्रसुत्रामा  
( ७ । ६६ ) इत्याज्यं हुत्वा” ( कौशिकसूत्र १४ । ४ ) ॥

अग्निष्टोममें “ध्रुवं ध्रुवेण ऋचासे पालकी पर ले जाते हुए  
सोमराजका अनुमन्त्रण करे । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है,  
कि—“ध्रुवं ध्रुवेणेति राजानं राजवहनाद् आसन्त्यां नीयमानं अनु-  
मन्त्रयेत्” ( वैतानसूत्र ३ । ३ ) ॥

तथा अग्निष्टोममें अग्निमारुतशस्त्रावसानमें अवनीयमान ध्रुव-  
पात्रमें स्थित सोमका इस ऋचासे ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे ।—इस  
विषयमें वैतानसूत्र ३ । १३ का प्रमाण है, कि—“ध्रुवं ध्रुवेणेति  
ध्रुवं अवनीयमानं अनुमन्त्रयेत्” ॥

आधिचारिक कर्ममें 'उदस्यश्यावौ' तृचसे घृतकी आहुति देवे ।  
तथा इसी कर्ममें सूत्रोक्तरीतिसे इस तृचसे मण्डूकके मुखका  
अपनुदन करे ।

अभिचारकर्ममें 'असदन् गावः' ऋचासे रक्तशाली तण्डुलों  
से क्षीर भात बना कर सम्पातित और अभिमंत्रित द्वेष्टके लिये  
देदेय ।

दर्श और पूर्णमासमें 'यद् अद्य त्वा प्रयति' इस अष्टर्चसे संस्थित  
होमोंको करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र १ । ६ का प्रमाण है,  
कि—'यद् अद्य त्वा प्रयति ( ७ । १०२ ) इत्यष्टर्चेन संस्थित-  
होमाः । यनसस्पते ( ७ । १०२ । ८ ) इत्युच्यते चतुर्गृहीतेन' ॥

उपनयनकर्ममें ब्रह्मचारीको 'समिन्द्र णः' इस ऋचासे अष्टर्चसे  
अभिमंत्रित जलपूर्ण पात्रको दिखावे । उपनयनका आरंभ करके  
कौशिकसूत्र ७।६ में कहा है कि—'उदपात्रं समवेक्ष्येत् समिन्द्र णः' ॥

तत्र प्रथमा ॥

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवाँभिः सुमृडीको भवतु विश्व-  
वेदाः ।

बाधतां द्वेषो अभयं नः कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्यामः ।

इन्द्रः । सुत्रामा । स्ववान् । अवाऽभिः । सुमृडीकः । भवतु ।

विश्ववेदाः ।

बाधताम् । द्वेषः । अभयम् । नः । कृणोतु । सुवीर्यस्य । पतयः ।

स्याम् ॥ १ ॥

सुत्रामा सुष्ठु ज्ञाता । ❀ "आतो मनिन्स्वनिन्स्वनिपथ" इति  
चनिन् । कृदुत्तरपदमकृतिस्वरत्वम् ❀ । स्ववान् धनवान् हितात्मा

वा इन्द्रः अवोभिः रक्षणैः सुमृलीकः सुमुखः सुष्ठु सुखयिता  
भवतु । कीदृशः । विश्ववेदाः बहुधनः विश्वं विद्वान् वा । द्वेपः ।  
द्विप अमीर्ता । असुन । शेरुक् ॐ । द्वेपांसि द्वेष्टन् वाधताम् दिन-  
स्तु । अभयं च नः अस्माकंकृणोतु करोतु । वयं सुवीर्यस्य शोभन-  
वीर्योपेतस्य धनादिकस्य पतयः स्वामिनः स्याम भूयास्म । ॐ सु-  
वीर्यस्येति । “वीरवीर्यौ च” इति उत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॐ ॥

भली प्रकार रक्षा करने वाले धनी इन्द्र रक्षाओंके द्वारा हमको  
सुन्दर सुख देने वाले होंगे और यह बड़े भारी धनसे सम्पन्न  
इन्द्र हमारे शत्रुओंका संहार करें । और हमको अभय भी दें ।  
और हम शोभन वीर्य वाले धनके स्वामी होंगे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मदाराचिद् द्वेपः सनुतयुयोतु  
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम १  
सः । सुत्रामा । स्ववान् । इन्द्रः । अस्मत् । आरात् । चिद् । द्वेपः ।  
सनुतः । युयोतु ।

तस्य । वयम् । सुमतौ । यज्ञियस्य । अपि । भद्रे । सौमनसे । स्याम १

सुत्रामा सुष्ठु त्राता स्ववान् धनवान् स प्रसिद्ध इन्द्रः अस्मत्  
अस्मत्तः आराचित् दूरादेव द्वेपः द्वेष्टन् । ॐ द्विपतेर्व्यत्ययेन  
विष् प्रत्यये गुणः । द्वितीयाबहुवचनं शस् ॐ । सनुतः । अन्तर्हित-  
नामैतत् । तिरोहितान् गूढान् युयोतु पृथक् करोतु । ॐ यु मिश्र-  
णामिश्रणयोः । “बहुलं बन्दसि” इति शपः श्लुः ॐ । यज्ञियस्य  
यज्ञार्हस्य तस्य इन्द्रस्य सुमतौ शोभनायाम् अनुग्रहयुद्धौ वर्तमाना  
वयं तस्यैव भद्रे कन्याणे सौमनसे सुमनसो भावे अपि स्याम विषय-  
भूता भवेम । ॐ सौमनस इति । सुमनःशब्दाद् भावे अण् प्रत्ययः ॐ ॥



भली प्रकार रक्षा करने वाले धनी इन्द्र हमसे दूर ही हमारे शत्रुओंको तिरोहित कर डालें अलग २ कर डालें, हम यज्ञके पात्र उन इन्द्रदेवकी अनुग्रहरूपा बुद्धिमें रहते हुए उनके कन्याण-मय भावको पाते रहें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

इन्द्रेण म॒न्युना॑ व॒यम॒भि ष्या॑म पृ॒तन्य॒तः ।

अ॒न्तो वृ॒त्राण्य॑प्र॒ति ॥ १ ॥

इन्द्रेण । म॒न्युना॑ । व॒यम् । अ॒भि । ष्या॑म । पृ॒तन्य॒तः ।

अ॒न्तः । वृ॒त्राणि॑ । अ॒प्रति॑ ॥ १ ॥

इन्द्रेण सहायेन म॒न्युना॑ तदीयेन कोपेन । यद्वा म॒न्यति॑र्दीप्ति-  
कर्मा । म॒न्युम॑ता इन्द्रेण सहायेन वयं पृ॒तन्य॒तः पृ॒तनां॑ संग्रामम्  
इच्छतः युयुत्सून् शत्रून् अभि ष्याम अभिभवेम । ❀ “कप्यध्वर-  
पृतनस्याविलोपः” इति क्वचि पृतनाशब्दस्य अन्त्यलोपः । अभि  
ष्यामेति । “उपसर्गप्रादुर्भ्याम् अस्तित्यन्तरः” इति षत्वम् ❀ ।  
किं कुर्वन्तः वयम् । वृत्राणि आवारकाणि पापानि । शत्रून् इत्यर्थः ।  
अप्रति अप्रतिपक्षं अन्तः यथा प्रतिपक्षशेषो न भवति तथा अन्तः ।  
निःशेषं हिंसन्त इत्यर्थः ॥

प्रदीप्त इन्द्रदेवकी सहायतासे हम संग्राम करना चाहने वाले  
शत्रुओंको दबा डालें, उन शत्रुओंका कुछ भी भाग शेष न रखते  
हुए उनको समाप्त कर डालें ॥ १ ॥

चतुर्थी ॥

ध्रु॒वं ध्रु॒वेण॑ ह॒विषा॒व सोमं॑ नयामसि ।

यथा॑ न॒ इन्द्रः॑ के॒वली॒र्विशः॑ स॒मन॑सस्करत् ॥ १ ॥

ध्रुवम् । ध्रुवेण । हविषा । अत्र । सोमम् । नयामसि ।

यथा । नः । इन्द्रः । केवलीः । विशः । सम्मनसः । करत् ?

ध्रुवेण स्थिरेण सुप्रतिष्ठितेन हविषा पुरोडाशादिना युक्तं ध्रुवम् ध्रुवग्रहस्थं सोमम् अत्र नयामसि अत्राद्मुखं निनयामः । यद्वा ध्रुवम् स्थिरं सोमं राजवहनाद् अनसः सकाशाद् आसन्दीं प्रति अवतारयामः । यथा येन प्रकारेण इन्द्रो नः अस्माकं विशः प्रजाः केवलीः असाधारणाः संमनसः संगतमनस्काः समानमनस्काश्च करत् करोतु । तथा अत्र नयामसीति संबन्धः । ॐ “केवलमामक-भागधेय०” इति केवलशब्दाद् डीप् । करत् इति । करोतेर्लेटि अडागमः ॐ ॥

सुप्रतिष्ठित स्थिर पुरोडाश आदि हविसे युक्त ध्रुवग्रहस्थ सोम को हम अत्राद्मुख लाने हैं अथवा स्थिर सोमको गाड़ीसे राजा की सवारी पालकीमें लाते हैं ( ऐसा करनेसे ) इन्द्र देवता हमारी प्रजाओंको असाधारणरूपसे समान मन वाली करें ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

उदस्य श्यावौ विथुरौ गृध्रौ द्यामिव पेततुः ।

उच्छोचनप्रशोचनावस्योच्छोचनौ हृदः ॥ १ ॥

उत् । अस्य । श्यावौ । विथुरौ । गृध्रौ । द्याम्इव । पेततुः ।

उच्छोचनप्रशोचनी । अस्य । उत्प्रशोचनी । हृदः ॥ १ ॥

अस्य मण्डूकात्मना भावितस्य शत्रोः संबन्धिनौ विथुरौ । ॐ व्यय भयचलनयोः इत्यस्माद् औणादिकः कुरच् प्रत्ययः । छान्दसं संसारणम् ॐ । संततं चलनशीलौ श्यावौ श्याववर्णौ ओष्ठौ उत्पेततुः उत्पतताम् उद्गच्छताम् । मण्डूकमुखापनोदनेन

शत्रोरोष्ठौ विदारितौ भवताम् इत्यर्थः । यद्वा । शयैङ् गतौ  
इत्यस्माद् उत्पन्नः श्यावशब्दः । श्यावौ परस्परसंसक्तौ शत्रु-  
रूपेण भावितस्य मण्डूकस्य प्राणापानौ विधुरौ व्यधनशीलौ भय-  
वन्तौ सन्तौ उत्पतताम् इति । श्याववर्णौ वा प्राणापानौ । तौ हि  
वायोर्द्विचिभेदौ । वायोर्हि धूम्रवर्णत्वं मन्त्रशास्त्रप्रसिद्धम् । उद्गमने  
वृष्टान्तः । शृधौ घामिवेति । यथा शृधौ ताक्ष्यौ घाम् दिवम् उत्प-  
ततः । “अतोमृशसोः” इति द्योशब्दस्य अमि परत आका-  
रादेशः । पेतहुरिति । छान्दसो लिट् । किं च उच्छोचनप्रशो-  
चनौ । उच्छोचयति ऊर्ध्वम् उत्कृष्य उत्कृष्टं वा शोकं करोतीति  
उच्छोचनः । प्रकर्षेण शोचयतीति प्रशोचनः । एतत्संज्ञकौ मृत्यु-  
दूतौ अस्य पुरोवर्तिमण्डूकरूपेण भावितस्य शत्रोः हृदः हृदयस्य  
उच्छोचनौ उत्कर्षेण शोचयितारौ । भवत इति शेषः । शोच-  
यतेर्नन्वादित्वात् न्युः ॥

इस मण्डूकात्मारूपसे भावित शत्रुके सदा चलते रहने वाले  
श्याव वर्ण वाले ( ओठ ) चिर जावें अर्थात् मण्डूकका मुख  
चीरनेसे शत्रुके ओष्ठ विदीर्ण होजावें । अथवा-शत्रुरूपसे भावित  
मण्डूकके परस्परसंसक्त प्राण और अपान भयभीत होकर (इस  
प्रकार ) उड़ जावें जिस प्रकार गीध आकाशमेंको उड़ते हैं ।  
ऊपरको उत्कृष्टरूपसे खेंच कर शोक देने वाले उच्छोचन और  
प्रकृष्टरूपसे शोक देने वाले प्रशोचन नाम वाले दोनों मृत्युदूत  
इस सामने वर्तमान मण्डूकरूपमें भावित शत्रुके हृदयको बड़ा ही  
शोक देने वाले होवें ॥ १ ॥

पृष्ठी ॥

अहमेनावुदन्तिष्ठिं गावौ श्रान्तसदाविव ।

कुर्कुराविव कूजन्तावुदवन्तौ वृकाविव ॥ २ ॥

अहम् । एनौ । उत् । अतिष्ठिपम् । गावौ । श्रान्तसर्दाऽइव ।

कुर्कुरीऽइव । कृजन्तौ । उत्अवन्तौ । वृकौऽइव ॥ २ ॥

एनौ पूर्वमन्त्रोक्तौ श्यावौ ओष्ठौ प्राणापानौ वा शत्रुसंवन्धिनी ।  
 ❀ इदंशब्दस्य अन्वादेशे “द्वितीयाटीस्त्वेनः” इति एनादेशः अनु-  
 दात्तः ❀ । अहं प्रयोक्ता उदतिष्ठिपम् उत्थापयामि उद्गमयामि ।  
 बलान्निःसारयामीत्यर्थः । ❀ तिष्ठतेर्त्यन्तात् लुङि चङि “तिष्ठ-  
 तेरित्” इति इत्त्वम् ❀ । बलात्कारेण उत्थापने दृष्टान्तत्रयं गाया-  
 वित्यादि । यथा श्रान्तसर्दा श्रान्तौ श्रमवन्तौ सीदन्तौ गोष्ठे श्रमेण  
 निपीदन्तौ गावौ बालदण्डमूलनितोदनादिना बलाद् उत्थापयन्ति ।  
 यथा च कृजन्तौ ध्वनिं कुर्वन्तौ कुर्कुरी रवानौ पापाणमहरणादिना  
 बलाद् अपसारयन्ति । यथा च वृकौ । अरण्यश्वा वृक इत्युच्यते ।  
 उदवन्तौ गोयूथमध्ये वत्सान् उद्गृह्य गच्छन्तौ धावन्तौ वृकौ यथा  
 गोपालाः बलाद् यूथाद् अपसारयन्ति तद्वत् । ओष्ठयोः प्राणा-  
 पानयोर्वा द्वित्वाद् द्वित्वसंख्यावन्तौ गावौ रवानौ वृकौ दृष्टान्त-  
 त्वेन उपन्यस्तौ । ❀ अवनैर्धातो रक्षणाद्यनेकार्थस्मरणाद् अप्र-  
 गत्यर्थः अवतिः ❀ ॥

जैसे थक कर बैठे हुए बैलोंको ( पूँछ आदि खेंच कर )  
 उठाते हैं और भाँकते हुए कुत्तोंको ( पापाण आदि फेंक कर )  
 भगा देते हैं और बज्रोंको पकड़ कर लेजाने वाले भेड़ियोंको  
 गोपाल बलपूर्वक भगा देते हैं । इसी प्रकार मैं पूर्वमन्त्रमें कहे  
 हुए शत्रुके ओठ वा प्राणोंको बलपूर्वक अलग करता हूँ ॥ २ ॥

सप्तमी ॥

आतोदिनौ नितोदिनावथौ संतोदिनावुत ।

अपि नह्याम्यस्य मेतुं य इतः स्त्री पुमान् जभारं ३

आ॒स्तो॒दिनौ॑ । नि॒स्तो॒दिनौ॑ । अथो॒ इति॑ । सम्॒स्तो॒दिनौ॑ । उ॒त ।

अपि॑ । न॒ह्यामि॑ । अ॒स्य । मे॒ढूम् । यः । इ॒तः । स्त्री । पु॒मान् ।

ज॒भार ॥ ३ ॥

अत्र शत्रोरोष्ठौ प्राणापानौ वा उत्क्रमणवेलायाम् एतदेतदवस्थापन्नौ करोतीति पूर्वार्धेन उच्यते । आतोदिनौ सर्वतो व्यथनगीतौ शत्रोः सर्वावयवसंक्रेशकारिणौ । उत्थापयामीति पूर्वमन्त्रोक्तक्रियानुपङ्गः । तथा नितोदिनौ नितरां निकृष्टं वा व्यथयन्तौ अतिकृष्टं वाधाकारिणौ । अथो अनन्तरम् उत अपि च संतोदिनौ संभूय व्यथाकारिणौ । उद्धमयामीति संबन्धः । किं च यः स्त्री पुमान् वा द्वेभ्यः इतः अस्मदीयात् स्थानात् जभार जहार । आस्माकीनं धनम् इति शेषः । यद्वा इतः अस्मिन् प्रदेशे जहार ग्रहतवान् अस्मान् बाधितवान् । अस्य शत्रोः मेढूम् । मर्मस्थानोपलक्षणम् एतत् । अपि नह्यामि वञ्चामि । यथा मर्मस्थानबन्धनेन मरिष्यति तथा करोमीत्यर्थः ॥

मैं शत्रुके प्राणोंको उत्क्रमणके समय सब अवयवोंको क्रेश देने वाले, अति कष्ट देने वाले और एकत्रित होकर व्यथित करने वाले करके उखाड़ता हूँ । जिस स्त्री वा पुरुषने हमारे धनको हर लिया है वा हम पर ग्रहार किया है उसके मेढू आदि मर्मस्थानोंको मैं बाँधता हूँ, ( कि-वह मर्मस्थानोंके बन्धनसे मर जावे ) ॥ ३ ॥

अष्टमी ॥

अस॒दन् गा॒वः स॒दने॑प॒सद् व॒सति॑ व॒यः ।

आ॒स्थाने॑ प॒र्वता॑ अ॒स्थुः स्था॒न्नि वृ॒क्षाव॑ति॒ष्ठियम् १

असदन् । गावः । सदने । अपप्तत् । वसतिम् । वयः ।

आस्थाने । पर्वताः । अस्थुः । स्थान्नि । वृकौ । अतिष्ठिपम् ?

सदने । सीदन्ति अत्रेति सदनम् । ❀ अधिकरणे न्युट् ❀ ।  
यथा गावः गोष्ठे असदन्सीदन्ति निपीदन्ति । ❀ सदेरब्जान्दसे  
लुङि लृदिच्चात् च्लेः अङ् आदेशः ❀ । यथा च वयः पक्षी  
वसतिम् स्वर्गीयं नीडम् अपप्तत् पतति गच्छति । प्रविशतीत्यर्थः ।  
❀ पतेर्लुङि पूर्ववत् अङ् । “पतः पुम्” इति पुम् आगमः ❀ ।  
यथा च पर्वताः गिरयः स्थाने स्वकीये आस्थुः आतिष्ठन्ति ।  
❀ तिष्ठतेर्लुङि “गातिस्था०” इति सिचो लुक् । “आतः” इति  
भेजुर्लुक् ❀ । यथा गवादिकाः स्वेस्वे सदने सुखेन निवसन्ति तथा  
स्थान्नि । तिष्ठन्ति अत्रेति स्थाप गृहम् । ❀ तिष्ठतेः अधिकरणे  
मनिन्प्रत्ययः ❀ । शत्रोर्गृहे वृकौ वृकश्च वृकी च एता । ❀ “पुमान्  
स्त्रिया” इति पुंस एकशेषः ❀ । दम्पतिभूतौ वृकौ अतिष्ठिपम्  
स्थापयामि निदधामि । शत्रुगृहं वृकावासस्थानं करोमि । आगन्तुक-  
वृकप्रवेशशङ्कानिरासाय वृकाविति स्त्रीपुंसौ निर्दिष्टौ यथा वृकः  
स्त्रीपुत्रादिभिः शत्रोर्गृहे वर्तते तथा करोमीति । अनेन शत्रुं नि-  
शेषं कृत्वा तद्गृहम् अरण्यं करोमीत्यर्थ उक्तो भवति ॥

जैसे गी गोठमें सुखपूर्वक बैठती हैं और जैसे पक्षी घोंसलेकी  
ओर दौड़ते हैं और जैसे पर्वत अपने स्थानमें स्थित हैं, इसी  
प्रकार मैं शत्रुके घरमें वृक और वृकीको स्थापित करता हूँ अर्थात्  
इस प्रकार शत्रुको निःशेष करके उसके घरको जंगलसा बनाना  
चाहता हूँ ॥ १ ॥

नवमी ॥

यद्य त्वां प्रयति यज्ञे अस्मिन् होतश्चिकित्वन्नवृणी-  
महीह ।

ध्रुवमयो ध्रुवमुता शंविष्ठ प्रविद्वान् यज्ञमुप याहि सोमम्

यत् । अद्य । त्वा । प्रज्यति । यज्ञे । अस्मिन् । होतः । चिकित्वन् ।

अवृणीमहि । इह ।

ध्रुवम् । अयः । ध्रुवम् । उत । शंविष्ठ । प्रज्यति । यज्ञम् । उप ।

याहि सोमम् ॥ १ ॥

हे होतः देवानाम् आवातः यष्टर्वा । ॐ हयतेजुर्होतेर्वा रूपम् एतत् ॐ । हे चिकित्वन् हानवन् । ॐ कित ज्ञाने । अस्माद् यङ्लुगन्तात् मतुप् । अभ्यासस्य गुणाभावरब्धान्दसः । “नामन्त्रिते समानाधिकरणे०” इति पूर्वामन्त्रितस्य अविद्यमानवत्त्वनिपेधेन पदात् परत्वात् सर्वानुदात्तत्वम् ॐ । एवंगुणक हे अमे त्वा त्वाम् अद्य इदानीं प्रयति प्रवर्तमाने । विच्छेदेन विना क्रियमाण इत्यर्थः । अस्मिन् यज्ञे इह अस्मिन् प्रयोजने यत् यस्माद् अवृणीमहि होतृत्वेन वयं वृतवन्तः । ॐ वृङ् संभक्तौ । क्रयादित्वात् श्वा प्रत्ययः । यद्वृत्तयोगाद् अनिघातः । प्रयतीति । प्रपूर्वाद् एतेः शतरि यणादेशः । “शतुरनुमो न घञादी” इति सप्तम्या उदात्तत्वम् ॐ । यस्माद् वयं होतृत्वेन त्वां वृतवन्तः तस्माद् ध्रुवम् सर्वथा अयः अयाक्तीः यज । यष्टव्यान् देवान् इति शेषः । “ऋधग् अयाद् ऋधग् उताशमिष्टाः” इति तैत्तिरीयश्रुतेः [ तै० सं० १. ४. ४४. २ ] । ॐ यजतेः “छन्दसि लुङ्लङ्लिटः” इति लङि छान्दसी रूपसिद्धिः ॐ । उत अपि च ध्रुवम् अशमिष्टाः शमय । कर्मणो वैगुण्यम् इति शेषः । किं च प्रविद्वान् प्रकर्षेण जानन् सोमम् सोमवन्तं यज्ञम् उप याहि समीपम् आगच्छ । यद्वा यज्ञं प्रविद्वान् अस्मदभिमतफलोपायत्वेन प्रजानन् सोमम् अस्माभिर्दीय-

मानं हविः उप याहि उपगच्छेति ॥ अथ वा यत् यस्मात् त्वां वृत-  
वन्तः तस्माद् यज्ञम् उप याहि । आगत्य च ध्रुवम् अयात्तीः यष्ट-  
व्यान् देवान् ध्रुवम् अशमिष्ठाः यज्ञं संस्थापितवान् असीति ॥  
ॐ भूतार्थे एव लुङ् प्रत्ययः ॐ ॥

हे देवताओंका आह्वान करने वाले ज्ञानवान् अग्ने ! हम आप  
का अविच्छिन्नरूपसे होने हुए इस यज्ञमें होतारूपसे वरण करते  
हैं हमने आपका होतारूपसे वरण किया है, इस कारण आप  
देवताओंका पूजन करिये और कर्मकी विगुणताको शान्त कर  
दीजिये । और हमारे अभीष्टफलके उपायको समझते हुए हमारी  
दी हुई हविके समीप आइये ॥ १ ॥

दशमी ॥

समिन्द्र नो मनसा नेप गोभिः सं सूरिभिर्हरिवन्त्सं  
स्वस्त्या ।

सं ब्रह्मणा देवहितं यदस्ति सं देवानां सुमती यज्ञि-  
यानाम् ॥ २ ॥

सम् । इन्द्र । नः । मनसा । नेप । गोभिः । सम् । सूरिभिः ।  
हरिवन् । सम् । स्वस्त्या ।

सम् । ब्रह्मणा । देवहितम् । यत् । अस्ति । सम् । देवानाम् ।  
सुमती । यज्ञियानाम् ॥ २ ॥

हे इन्द्र नः अस्मान् मनसा गोभिः शब्दैः स्तुतिलक्षणैश्च सं  
नेप संनय संयोजय । मनस्विनो वाग्मिनश्च कुरु । त्वां स्तोतुम्  
इत्यर्थः । यद्वा गोभिः पशुभिः संनय । ॐ नयतेर्लोटि शप् ।



“सिब्वहुलम्” इति सिप् । “अतो हेः” इति हेल्लोपः ॐ । किं च हे हरिवः । हरिसंज्ञकौ अश्वौ । ॐ हरी इन्द्रस्येति यास्कवचनात् [ निघ० १. १५ ] ॐ । तद्वन् हे इन्द्र सूरिभिः विद्वद्भिः । संनयेति क्रियानुपङ्गः । स्वस्त्या अविनाशेन संनय । किं च ब्रह्मणा वेदेन वेदार्थज्ञानेन तदर्थानुष्ठानेन वा संनय । यच्च देवहितम् देवेभ्यो हितम् अस्ति अग्निहोत्रादि कर्म तेनापि संनय । ॐ “क्ते च” इति चतुर्थ्यन्तपूर्वपदमकृतिस्वरत्वम् ॐ । तथा यज्ञियानाम् यज्ञार्हाणां देवानाम् अग्न्यादीनां सुमतौ शोभनायां बुद्धौ अनुग्रहात्मिकायां संनय अस्मान् । ॐ सुमतौ इति । “मन्त्रे वृषेप०” इति क्तिन् उदात्तत्वम् । “मन्त्रिन्व्याख्यान०” इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॐ ॥

[ इति ] नवमेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे इन्द्रदेव ! आप हमको मनसे और स्तुतिरूपा वाणियोंसे संयुक्त करिये अर्थात् अपनी स्तुति करनेके लिये आप हमको मनस्वी और वाग्मी करिये । अथवा पशुओंसे संयुक्त करिये । और हे हरिनामक घोड़ों वाले इन्द्र ! आप विद्वानोंके साथ स्वास्तिके साथ हमको संयुक्त करिये और वेदार्थज्ञानके साथ वा वेदानुष्ठान के साथ हमको संयुक्त करिये और देवताओंका हित करने वाला जो अग्निहोत्र आदि है उससे भी हमको संयुक्त करिये । और यज्ञमें पूजनीय देवताओंकी अनुग्रहरूपा बुद्धिसे भी हमको संयुक्त करिये ॥ २ ॥

नवम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त ( ४१६ ) ॥

दर्शपूर्णमासयोः संस्थितहोमेषु “यान् आवहः” इत्यादीनां षण्णाम् ऋचाम् “यदद्य त्वा प्रयत्ति” इत्यत्र विनियोगः उक्तः ॥

तथा औत्तदर्शपूर्णमासयोः “यान् आवहः” इति षड्ऋचेन संस्थितहोमान् जुहुयात् । उक्तं वैताने । “यान् आवह” इति षड्भिः

संस्थितहोमान् जुहोति मनसस्पत इत्यासाम् उत्तमा” इति [ वै० १. ४ ] ॥

दर्शपूर्णमासयोः ग्रहियमाणप्रस्तरानुमन्त्रणं “सं वर्हिरक्तम्” इत्यनया ब्रह्मा कुर्यात् । “सं वर्हिरक्तम् इति प्रस्तरं ग्रहियमाणम्” इति [ वै० १. ४ ] ॥

स्मार्तदर्शपूर्णमासयोः “सं वर्हिरक्तम्” इत्यनया वर्हिःप्रहरणं कुर्यात् । “वर्हिराज्यशेषेणानक्ति” इति प्रक्रम्य सूत्रितम् । “सं वर्हिरक्तम् इत्यनुप्रहरति” इति [ काँ० १. ६ ] ॥

श्रौतदर्शपूर्णमासयोः वेदिं परिस्तृणन्तम् अश्वयुष्म “परि स्तृणीहि” इत्यनया ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । “परि स्तृणीहीति वेदिं परिस्तृणन्तम्” इति वैतानमूत्रात् [ वै० १. २ ] ॥

दुःस्वप्नदर्शननिमित्तदोषपरिहारार्थम् “पर्यावर्ते” इति श्रुचं जपन् पर्यावर्तेत् ॥

स्वप्ने अन्नभक्षणनिमित्तदोषपरिहारार्थं “यत् स्वप्ने” इति श्रुचं जपेत् ॥

सूत्रितं हि । “पर्यावर्ते [ ७. १०५ ] इति पर्यावर्तते । यत् स्वप्ने [ ७. १०६ ] इत्यश्नात्यवेक्षते” इति [ काँ० ५. १० ] ॥

स्वस्त्ययनार्थं “नमस्कृत्य” इत्यनया मान्वावर्णिनीभ्यो देवताभ्यो नमस्कारम् उपस्थानं वा कुर्यात् । “नमस्कृत्येति मन्त्रोक्तम्” इति हि सूत्रम् [ काँ० ७. ३ ] ॥

दर्श और पूर्णमासके संस्थित होमोंमें “यान् आवहः” इत्यादि छः श्रुचाओंका “यद्य त्वा प्रयति” में विनियोग कह दिया है ।

तथा श्रौत दर्शपूर्णमासयागमें “यान् आवहः” इस षडृचसे संस्थित होमोंकी आहुति देय । इसी बातको वैतानमूत्र १ । ४ में कहा है, कि—“यान् आवह इति षड्भिः संस्थितहोमान् जुहोति मनसस्पत इत्यासां उत्तमा” ॥

ब्रह्मा 'सं वर्हिरक्तम्' ऋचासे दर्श और पूर्णमासमें ग्रहिय-  
माण प्रस्तरका अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र १।४ का  
प्रमाण है, कि—“सं वर्हिरक्तं इति प्रस्तरं ग्रहियमाणम्” ॥

स्मार्त दर्श और पूर्णमासमें 'सं वर्हिरक्तम्' से वर्हिप्रहरण करे ।  
कौशिकसूत्र १।६ में इस विषयका प्रमाण भी है, कि—  
“वर्हिराज्यशेषेणानक्ति” का आरम्भ करके सूत्रमें कहा है, कि—  
'सं वर्हिरक्तं इत्यनुप्रहरति'

श्रौतदर्शपूर्णमासमें वेदीका परिस्तरण करते हुए अध्वर्युको  
“परि स्तृणीहि” ऋचासे ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें  
वैतानसूत्र १।२ का प्रमाण भी है, कि—“परि स्तृणीहीति वेदिं  
परिस्तृणन्तम्” ॥

दुःस्वप्न देखनेसे होसकने वाले दोषको दूर करनेके लिये 'पर्या-  
वर्ते' ऋचाका जप करता हुआ पर्यावर्तन करे ।

स्वप्नमें किये हुए अन्नभक्षणसे होसकने वाले दोषका परि-  
हार करनेके लिये 'यत् स्वप्ने' ऋचाको जपे ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—“पर्यावर्ते (७।१०५)  
इति पर्यावर्तते । यत् स्वप्ने (७।१०६) इत्यश्नात्यवेक्षते”  
( कौशिकसूत्र ५।१० ) ॥

स्वस्त्ययनके लिये “नमस्कृत्य” ऋचासे मात्रवर्णिक ( मन्त्र  
में वर्णित ) देवताओंके लिये नमस्कार वा उपस्थान करे । इस  
विषयमें कौशिकसूत्र ७।३ का प्रमाण है, कि—“नमस्कृत्येति मंत्रोक्तम्”

तत्र प्रथमा ॥

यानावह उशतो देव देवास्तान् प्रेरय स्वे अंशे सुधस्थे ।  
जक्षिवांसः पविवांसो मधून्यस्मै धत्त वसवो वरुनि ३

यान् । आ॒श्व॒वहः । उ॒श॒तः । दे॒व । दे॒वान् । तान् । म । ई॒र॒य ।  
स्वे । अ॒ग्ने । स॒ध॒स्थे ।

ज॒त्ति॒वांसः । प॒पि॒वांसः । म॒धू॒नि । अ॒स्मै । ध॒त्त । व॒स॒वः ।

व॒मू॒नि ॥ ३ ॥

हे देव दीप्यमान हे अग्ने त्वम् उशतः इतीति कामयमानान् यान् देवान् आश्वहः आवाहितवान् आहूतवान् असि । ॐ बहे-  
र्लङि यद्बृत्तयोगाद् अनिघातः । उशत इति । वशेः शतरि अदा-  
दिश्चात् शपो लुक् । “ग्रहिज्या०” इत्यादिना संप्रसारणम् ।  
“शतुरनुमः०” इति द्वितीयाया उदात्तत्वम् ॐ । तान् आहूतान्  
देवान् स्ये स्वकीये सधस्थे सहस्थाने यत्र ते सह तिष्ठन्ति तत्र  
मेरय मस्थापय । ॐ “सुपि स्थः” इति तिष्ठतेः अधिकरणार्थेपि  
को द्रष्टव्यः । “सध मादस्थयोः०” इति सहस्य सधादेशः ॐ ॥  
ते देवाः संबोध्यन्ते । जत्तिवांसः पुरोडाशादीन् भक्तितवन्तः मधूनि  
मधुररसोपेतानि आज्यादीनि पपिवांसः पीतवन्तः हे वसवः लोकानां  
वासयितारः यूयं वमूनि धनानि अस्मै यजमानाय धत्त । मयच्छ-  
तेत्यर्थः । ॐ जत्तिवांस इति । लिङादेशो ववसौ “लित्वन्यतर-  
स्याम्” इति अदेर्घस्त्वादेशः । “गमहन०” इति उपधालोपः ।  
पपिवांस इत्यत्रापि लिङः ववसुः । त्वमयत्र “वस्वेकाजादसाम्”  
इति इङागमः । वसव इति । “आमन्त्रितस्य च” इति आष्टमिकं  
सर्वानुदात्तत्वम् ॐ ॥

हे दमरुते हुए अग्निदेव ! आपने इविकी कामना करने वाले  
जिन देवताओंको बुला लिया है । उन बुलाये हुए देवताओंको  
जहाँ वे एकत्रित होकर स्थित होते हैं उस सधस्थमें मेरित करिये ।  
पुरोडाश आदिका भक्षण करने वाले, मधुररससम्पन्न घृत

आदिका पान करने वाले वसुओ ! आप -इस यजमानको धन दीजिये ॥ ३ ॥

द्वितीया ॥

सुगा वो देवाः सदना अकर्म य आजग्म सवने मा  
जुपाणाः ।

वहमाना भरमाणाः स्वा वसूनि वसुं धर्म दिवमा  
रोहतानु ॥ ४ ॥

सुगा । वः । देवाः । सदना । अकर्म । ये । आऽजग्म । सवने ।  
मा । जुपाणाः ।

वहमानाः । भरमाणाः । स्वाः । वसूनि । वसुम् । धर्मम् । दिवम् ।

आ । रोहत । अनु ॥ ४ ॥

हे देवाः वः युष्माकं सदना सदनानि स्थानानि सुगा सुगानि  
सुगमनानि सुखेन गन्तव्यानि अकर्म अकार्प्यम् । ॐ सुपूर्वाद् गमेः  
“गमश्च” इति डः । अत्र सदनेत्यत्रापि “शेष्ठन्दसि०” इति  
शेर्लोपः । अकर्मैति । करोतेः “मन्त्रे घस०” इति च्त्वेर्लुक् ।  
“छन्दस्युभयथा” इति तिङ् आर्धधातुकत्वेन क्त्वाभावाद् गुणः ॐ ।  
देवा विशेप्यन्ते । जुपाणाः हवींषि सेवमानाः तैः प्रीयमाणा वा  
ये यूयम् इमा इमानि सवना सवनानि आजग्म आगताः स्य ।  
ॐ गमेर्लिटि मध्यमबहुवचने “गमहन०” इति उपधालोपः ॐ ।  
यतः युष्मदर्थं सदनानि अकार्प्यः अतः यूयं स्वा स्वानि स्वकी-  
यानि वसूनि धनानि वहमानाः प्रापयन्तः अस्मान् । तथा भर-  
माणाः पोषयन्तः अस्मदर्थं धनानि हस्तैर्वारयन्तो वा वसुम् सर्वस्य

लोकस्य वासयितारं धर्मम् आदित्यम् आ रोहत आतिष्ठत । अनु  
अनन्तरं दिवम् द्युलोकम् आ रोहत आतिष्ठत । ॐ रुह बीजजन्मनि  
प्रादुर्भावे ॐ । अस्मभ्यं धनानि दत्त्वा स्वीयं स्थानं गच्छतेत्यर्थः ॥

हे हविसे मसन्न हुए देवताओं ! आप यहाँ आये थे अब  
आपके लिये हमने आपके स्थानोंको सुखसे मस्थान करने योग्य  
कर दिया है । क्योंकि-हमने आपके लिये भवन ठीक कर दिये  
हैं अतः आप हमारे लिये धनोंको प्राप्त कराते हुए और हमारे  
लिये पुष्टि देते हुए आदित्य पर आरोहण करिये फिर द्युलोक  
पर आरोहण करिये । अर्थात् हमको धन देकर अपने स्थानोंको  
पधारिये ॥ ४ ॥

तृतीया ॥

यज्ञं यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ । स्वां योनिं गच्छ  
स्वाहा ॥ ५ ॥

यज्ञ । यज्ञम् । गच्छ । यज्ञपतिम् । गच्छ ॥ स्वाम् । योनिम् ।  
गच्छ । स्वाहा ॥ ५ ॥

हे यज्ञ त्वं यज्ञम् यष्टव्यं परमात्मानं विष्णुं गच्छ येन त्वं  
प्रतिष्ठितो भवेः । अनन्तरं यज्ञपतिम् यज्ञस्य पालयितारं यज्ञ-  
मानं गच्छ फलप्रदानेन प्राप्नुहि । ॐ “पत्यावैश्वर्ये” इति पूर्व-  
पदप्रकृतिस्वरत्त्वम् ॐ । अनन्तरं स्वाम् आत्मीयां योनिं गच्छ ।  
योनिः कारणम् सर्वजगत्कारणभूता पारमेश्वरी शक्तिः । तां  
प्राप्नुहि । स्वाहा स्वाहुतम् इदम् आज्ञ्यं तवास्तिवति ॥

हे यज्ञ ! आप पूजनीय परमात्मा विष्णुके पास जाइये कि-  
जिनसे आप प्रतिष्ठित हुए हैं । फिर यज्ञके पालक यज्ञपति यज्ञ-  
मानको फलप्रदानसे प्राप्त हूजिये । फिर सब जगत्की कारण-

भूत पारमेश्वरी शक्ति अपनी योनिको प्राप्त हुईजिये । यह भल्ली  
प्रकार आहुत घृत आपका हो ॥ ५ ॥

चतुर्थी ॥

एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः । सुवीर्यः स्वाहा ६

एषः । ते । यज्ञः । यज्ञस्पते । सहसूक्तवाकः ॥ सुवीर्यः ।

स्वाहा ॥ ६ ॥

हे यज्ञपते यजमान एष यज्ञः सहसूक्तवाकः । सूक्तं वक्तीति  
सूक्तवाकः यथाक्रमं यष्टव्यदेवतानामकीर्तनपरः प्रैषः । तत्सहित  
एष यज्ञः । अथ वा सूक्तवचनसहितः विविधस्तोत्रकः सुवीर्यः  
सुव्रतः शोभनपुत्रपौत्रादिकर्मयुक्तो वा ते तव । श्रेयसे कल्पताम्  
इत्यर्थः । स्वाहा स्वाहुतम् इदम् आज्यम् अग्नयेस्तु ॥

हे यज्ञपते ! यह पूजनीय देवताके नामका कीर्तन करने वाले  
प्रैषरूप सूक्तके साथ वर्तमान शोभन कर्मयुक्त यज्ञ आपके कल्याण  
के लिये समर्थ होवे, भल्ली प्रकार आहुत यह घृत अग्निके लिये हो ६

पञ्चमी ॥

वषट् हुतेभ्यो वषट् हुतेभ्यः । देवा गातुविदो गातुं  
विच्वा गातुमित ॥ ७ ॥

वषट् । हुतेभ्यः । वषट् । अहुतेभ्यः ॥ देवाः । गातुविदः ।

गातुम् । विच्वा । गातुम् । इत् ॥ ७ ॥

हुतेभ्यः इष्टेभ्यो देवेभ्यः वषट् । प्रदानवाची वषट् शब्दः ।  
इदम् आज्यं हुतम् अस्तु । अहुतेभ्यः पूर्वम् अनिष्टेभ्यो देवेभ्यो वषट्  
इदम् आज्यं वषट् हुतम् अस्तु । अस्य संस्थितहोमत्वात् पूर्व

हविःप्रदानेन प्रीणिता अपि देवा ह्यन्ते किल किम् उत पूर्वम्  
 अहुता देवा इत्युभयत्र वषट्कारप्रयोगः । ❀ “नमःस्वस्तिस्वाहा-  
 स्वधालंबपडयोगाच्च” इति हुताहुतशब्दाभ्यां चतुर्थी ❀ । हे  
 गातुचिदः गातुर्मार्गस्तं जानाना हे देवाः यूयम् । ❀ “विभाषितं  
 विशेषवचने बहुवचनम्” इति पूर्वस्यामन्त्रितस्य अविद्यमानत्वनिपे-  
 षाद् द्वितीयस्य निघातः ❀ । गातुम् मार्गं विच्वा लब्ध्वा अस्म-  
 दीयं यज्ञं प्रति आगमनकाले येन मार्गेण आगतास्तमेव मार्गं  
 लब्ध्वा गातुम् इत समाप्ते कर्मणि पुनः स्वकीयगृहगामनाय तमेव  
 मार्गं तेनैव मार्गेण प्रतिनिवर्तध्वम् । ❀ विच्वेति । विदेर्लाभा-  
 र्थात् क्त्वाप्रत्यये “एकाचः०” इति इट्प्रतिषेधः । ज्ञानार्थात् तुं  
 निषेधाभावाद् इड्भवत्येव । तस्मादेव वा “अनित्यम् आगम-  
 शासनम्” इति इड्भावः । गातुं विच्वा विदित्वा ज्ञात्वेतितत्त्वार्थः ।  
 इतेति । इण् गती । लोटि मध्यमबहुवचने अदादित्वात् शपो लुक् ❀ ॥

जिन देवताओंका यजन कर चुके हैं उनके लिये यह घृत हुत  
 होवे और पहिले जिनकी पूजा नहीं की गई है उन देवताओंके लिये  
 यह घृत आहुत हो । हे मार्गको जानने वाले देवताओं ! यज्ञमें  
 आगमनके समय जिस मार्गसे आप आए थे उसी मार्गको जान  
 कर कर्मके समाप्त होने पर फिर उसी मार्गसे अपने घरको जाने  
 के लिये लौट जाओ ॥ ७ ॥

पृथी ॥

मनसस्पत इमं नो दिवि देवेषु यज्ञम् ।

स्वाहा दिवि स्वाहा पृथिव्यां स्वाहान्तरिक्षे स्वाहा  
 वातेधां स्वाहा ॥ ८ ॥

मनसः । पते । इमम् । नः । दिवि । देवेषु । यज्ञम् ।



स्वाहा । दिवि । स्वाहा । पृथिव्याम् । स्वाहा । अन्तरिक्षे ।  
स्वाहा । वाते । धाम् । स्वाहा ॥ ८ ॥

हे मनसस्पते सर्वभूतानाम् अन्तरात्मतया मनसोऽपि पते हे देव । ❀ “सुचामन्त्रिणे पराङ्मवत् स्वरे” इति मनस इति शब्दस्य आमन्त्रितानुप्रवेशाद् मनसस्पत इति षष्ठ्यामन्त्रितसमुदायस्य “आमन्त्रितस्य च” इति पाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वम् ❀ । नः अस्मदीयम् इमं यज्ञं दिवि द्युलोके वर्तमानेषु देवेषु अग्न्यादिषु धाम् । ❀ पुरुषव्यत्ययः ❀ । धाः धेहि स्थापय । इति स्वाहा सरस्वती । अत्रवीद् इत्यर्थः । मन्त्रमध्यवर्तिनां स्वाहाशब्दानां प्रदानार्थत्वाभावात् । वस्तुतश्च स्वाहाशब्दस्य वाक्कर्तृकवचनरूपेण निरुक्तत्वात् । स्वा स्वकीया प्रजापतिसंबन्धिनी वाग् आह अत्रवीत् इति स्वाहाशब्दस्य अर्थ उक्तः । तथा च तैत्तिरीयके वाक्प्रजापत्योरुक्तिप्रत्युक्तिरूपं वाक्यम् एवं श्रूयते । “तं वाग् अभ्यवदज्जुहुधीति । कस्त्वम् इत्यत्रवीत् । स्वैव ते वाग् इत्यत्रवीत् । सोऽजुहोत् स्वाहेति । तत् स्वाहाकारस्य जन्म” इति [ तै० ब्रा० २. १. २. ३ ] । एवम् उत्तरे त्रयः स्वाहाशब्दा व्याख्यायाः । अनन्तरं द्युपृथिव्यन्तरिक्षलोकेषु अस्मदीयं यज्ञं धाः स्थापयेति सरस्वत्याहेति । ततः इमम् अस्मदीयं यज्ञं वाते सर्वकर्माधारे धाः स्थापय । यस्माद् अयं यज्ञः प्रयुक्तः तत्रैव वाते स्थापय । “वाताद् अध्वर्युर्यज्ञं प्रयुङ्क्ते” इति श्रुतेः [ तै० ब्रा० ३. ३. ६. १२ ] । “मनसस्पतिना देवेन वाताद् यज्ञः प्रयुज्यताम्” इति च [ तै० ब्रा० ३. ७. ४. १ ] । स्वाहा इदम् आज्यं स्वाहुतम् अस्तु इति अन्तिमस्वाहाशब्दस्य प्रदानार्थता । ❀ दिवीति । “ऊढिदम्” इति सप्तम्या उदात्तत्वम् । पृथिव्याम् इति । “उदात्तयणो हन्पूर्वात्” इति विभक्त्युदात्तत्वम् । धाम् इति । दधातेर्लोटि

“बहुलं चन्दसि” इति शपो लुक् । “तिष्ठं तिष्ठो भवन्ति” इति सिपो मिबादेशः । “इतश्च लोपः परस्मैपदेषु” इति इकारलोपः ॥

हे सय भूतोंके अन्तरात्मा होनेसे मनके पते देन ! हमारे इस यज्ञको धुलोकमें वर्तमान देवताओंमें स्थापित करिये । इस बातको प्रजापतिसंवन्धिनी वाणी सरस्वती कहती है ‡ । फिर पृथिवी अन्तरिक्ष और धुलोकमें हमारे इस यज्ञको धुलोकमें वर्तमान देवताओंमें स्थापित करिये । इस बातको प्रजापतिसम्बन्धिनी वाणी सरस्वती कहती है । फिर हमारे इस यज्ञको सर्वकर्माधार बातमें स्थापित करिये — यह आहुति स्वाहुत हो ॥ = ॥

‡ जो स्वाहा शब्द मन्त्रके अन्तमें आते हैं उनका ही ‘यह आहुति स्वाहुत हो’ यह अर्थ होता है, मन्त्रके मध्यमें आये स्वाहा शब्दका अर्थ आहुति स्वाहुत हो यह नहीं होना है, किन्तु वाक्-कर्तृक वचनरूपमें निरुक्तसे उक्त होनेके कारण सरस्वती होता है । अर्थात् अपनी प्रजापतिसम्बन्धिनी वाणी कहती है यह मध्यगत स्वाहाशब्दका अर्थ होता है । इसी लिये तैत्तिरीय ब्राह्मण २ । १ । २ । ३ में वाणी और प्रजापतिका उक्तिप्रत्युक्तिरूपवाक्य इस प्रकार लिखा है, कि—“सं वाग्भ्यवदज्जुहुधीति । कस्त्वं इत्यब्रवीत् । स्वैव ते वाग् इत्यब्रवीत् । सोऽजुहोत् स्वाहेति । तत् स्वाहाकारस्य जन्म ।—वाणीने उससे कहा कि—आहुति दो । उसने कहा, कि—तू कौन है । उत्तर दिया, कि—स्वाहा यही स्वाहाकारका जन्म है ॥

—तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ । ३ । ६ । १२ में कहा है, कि—‘वाताइ अध्वर्युर्यज्ञं प्रयुंक्ते ।—वातसे अध्वर्यु यज्ञका प्रयोग करता है’ और तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ । ७ । ४ । १ में भी कहा है, कि—“मनसस्पतिना देवेन वाताइ यज्ञः प्रयुज्यताम् ।—मनसस्पति देवके द्वारा वातसे यज्ञको प्रयुक्त करो” ॥

सप्तमी ॥

सं वहिर्ऋक्तं हविषा घृतेन समिन्द्रेण वसुना सं मरुद्भिः ।

सं देवैर्विश्वदेवेभिरक्तमिन्द्रं गच्छतु हविः स्वाहा १

सम् । वहिः । अक्तम् । हविषा । घृतेन । सम् । इन्द्रेण । वसुना ।

सम् । मरुद्भिः ।

सम् । देवैः । विश्वदेवेभिः । अक्तम् । इन्द्रम् । गच्छतु । हविः ।

स्वाहा ॥ १ ॥

वहिः स्रगाद्यासादनस्थानभूतं हविषा पुरोडाशादिना घृतेन आज्येन च समक्तम् सम्यग् अभ्यक्तम् अभूत् । ❀ अङ्ग व्यक्तिसलक्षणदिपु । कर्मणि निष्ठा ❀ । तथा वसुना वासत्रेन वस्वाख्यदेवसहितेन वा इन्द्रेण समक्तम् इत्यनुपङ्गः । मरुद्भिश्च समक्तम् । तथा विश्वदेवेभिः विश्वदेवैः एतत्संज्ञकैः देवैः गण-  
देवैः समक्तम् अभूत् । तादृशं सर्वदेवाधिष्ठितं हविरासादनाधार-  
भूतं वहिः इन्द्रम् सर्वदेवममुखं गच्छतु प्राप्नोतु । स्वाहा इदं वहिः  
स्वाहुतम् अस्तु ॥

स्रवा आदि रखनेका स्थानरूप वहिं पुरोडाश घृत आदिसे समक्त होगया है और वसुनामक देवता और इन्द्रसे भी समक्त होगया है । मरुत् देवता और विश्वदेवताओंसे भी समक्त हो गया है, ऐसा सब देवताओंसे अधिष्ठित हविके आसादनका आधारभूत वहिं सर्वदेवममुख इन्द्रदेवको प्राप्त हो, यह वहिः स्वा-  
हुत हो ॥ १ ॥

अष्टमी ॥

परि स्तृणीहि परि धेहि वेदिं मा जामिं मोपीरमुया  
शयानाम् ।

होतृपदनं हरितं हिरण्यं निष्का एते यजमानस्य लोके

परि । स्तृणीहि । परि । धेहि । वेदिम् । मा । जामिम् । मोषीः ।

अमुया । शयानाम् ।

होतृपदनम् । हरितम् । हिरण्यम् । निष्काः । एते । यजमा-  
नस्य । लोके ॥ १ ॥

अत्र आस्तीर्यमाणो दर्भस्तम्बः संबोध्यते । हे दर्भस्तम्ब परि  
स्तृणीहि वेदिं परित आस्तीर्णो भव आच्छादय वा । ॐ स्तृन्  
छादने । क्रयादिः ॐ । एतदेवाह । वेदिं परि धेहि वेदिम् आच्छा-  
दय । अमुया अनया वेद्या सह शयानाम् तिष्ठन्तीम् । वेद्या यज-  
मानसंभितत्वात् तत्समानाकृतित्वं यजमानस्यास्तीति शयानाम्  
इत्युक्तम् । ॐ शीङ् शानच्, लसार्यधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः ॐ ।  
अथ वा । ॐ सप्तम्या याजादेशः ॐ । अमुष्यां वेद्याम् । ॐ विषय-  
सप्तमी ॐ । वेदिविषये शयानाम् । परिचरन्तीम् इत्यर्थः । यद्वा ।  
ॐ द्वितीयाया याजादेशः ॐ । अमुं वेदिं शयानाम् । उपवसन्तीम्  
इत्यर्थः । जामिम् जायत इति जामिः मजा तां यन्धुभृतां यजमानं  
मा मोषीः । मा हिंसीरित्यर्थः । ॐ मुपस्तेये । “माङि लुङ्” ॐ ।  
कीदृशो दर्भः संबोधितः तं दर्शयति । होतृपदनम् । ॐ होता  
सीदति अत्रेति अधिकरणे ण्युट् ॐ । दर्भरूपवस्त्वपेक्षया नपुंस-  
कत्वम् । दर्भकदम्बकापेक्षया वा । हरितम् हरिद्वर्णं हिरण्यम्  
हिरण्यमं शोभनवर्णं हितरमणीयं वा एतादृशम् हे दर्भरूप वस्तु ।  
त्वं परि स्तृणीहीति पूर्वत्र संबन्धः ॥ अथ परोक्षकृतश्चरमः पादः ।  
एते आस्तीर्यमाणा दर्भाः यजमानस्य लोके पुण्यभोगस्यानं निष्काः  
सुवर्णमया अलंकारा भवन्तु ॥

( इस ऋचासे फैलाये जाते हुए दर्भस्तम्बको सम्बोधित किया गया है ) हे दर्भस्तम्ब ! वेदी पर चारों ओर फैल जाइये । वेदी को चारों ओरसे ढक दीजिये और इस विराजमान वेदीकी संतान-रूप यजमानको नष्ट न करिये । यह दर्भ होताओंके बैठनेका स्थान है, हरित वर्ण वाला है, शोभन वर्ण वाला है, ऐसे हे दर्भ ! आप वेदी पर फैल जाइये । यह विज्ञाये हुए दर्भ यजमानके पुण्यभोगस्थलमें सुवर्णमय अलंकार होवें ॥ १ ॥

नवमी ॥

पर्यावर्ते दुष्स्वप्न्यात् पापात् स्वप्न्यादभूत्याः ।

ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः ॥ १ ॥

परिऽआवर्ते । दुःऽस्वप्न्यात् । पापात् । स्वप्न्यात् । अभूत्याः ।

ब्रह्म । अहम् । अन्तरम् । कृण्वे । परा । स्वप्नमुखाः । शुचः १

दुष्स्वप्न्यात् दुष्टस्वप्नमभवात् पापात् पर्यावर्ते प्रतिनिवृत्तो भवामि । अपसरामीत्यर्थः । ॐ वृत्तु वर्तने । लटि उत्तमे रूपम् ॐ । तथा स्वप्नात् । पापाद् इति अनुपज्यते । दुष्टात् स्वप्नात् जनिताया इति शेषः । अभूत्याः असंपदः अश्रेयसः । पर्यावर्त इति संबन्धः । किं च अहं ब्रह्म मन्त्रम् अन्तरम् दुःस्वप्ननिवारकं व्यवधायकं कृण्वे कुर्वे । यथा दुःस्वप्नजनितं दुरितं मां न प्राप्नोति तथा तन्निर्हरणसमर्थं मन्त्रसंघं कवचं करोमीत्यर्थः । तेन व्यवधिकरणेन स्वप्नमुखाः । मुखशब्द उपाये वर्तते । स्वप्नद्वारिकाः दुःस्वप्ननिवन्धनाः शुचः शोकाः परा । भवन्तु इति क्रियाध्याहारः ॥

मैं दुष्ट स्वप्नसे होने वाले पापसे पर्यावृत्त होता हूँ—लौटता हूँ । स्वप्नके पापसे मुक्त होता हूँ और असम्पत्तिसे मुक्त होता हूँ, मैंने दुःस्वप्ननिवारक मन्त्रको व्यवधायक ( रोकने वाला ) कर लिया

है अर्थात् दुःस्वप्नजनित दुरितमुक्तको प्राप्त न हो इस लिये मैं उस को दूर करनेमें समर्थ मन्त्रपुंजको कवचकी समान धारण कर रहा हूँ । इस कारण दुःस्वप्ननिवन्धन शोकपलायन कर जावें ?

दशमी ॥

यत् स्वप्ने अन्नं भक्षामि न प्रातरधिगम्यते ।

सर्वं तदस्तु मे शिवं नहि तद् दृश्यते दिवा ॥ १ ॥

यत् । स्वप्ने । अन्नम् । अक्षामि । न । प्रातः । अधिगम्यते ।

सर्वम् । तत् । अस्तु । मे । शिवम् । नहि । तद् । दृश्यते । दिवा ।

यद् अन्नं स्वप्ने अक्षामि भक्षयामि । ॐ अन्न भोजने । क्रयादिः ॐ । तद् अन्नं प्रातर्नाधिगम्यते न दृश्यते । हि यस्मात् तद् अन्नं दिवा अहनि न दृश्यते अतः तत् स्वप्ने अन्नभोजनं सर्वम् अन्नभोजनसदृशम् अखाद्यभक्षणादिकं मे मम शिवम् मङ्गलकारि अस्तु भवतु । स्वप्ने अन्नभोजनेन यद् अरिष्टं भवति तद् अनेन मन्त्रजपेन शाम्यतु प्रत्युत कल्याणकारि भवत्वित्यर्थः ॥

मैं जिस अन्नको स्वप्नमें खाता हूँ, वह अन्न प्रातःकाल नहीं दीखता है, क्योंकि—वह अन्न दिनमें नहीं दीखता है, अतः वह स्वप्नका अन्न भोजन और अखाद्यभक्षण आदि सब अन्न मेरे लिये मङ्गलकारी हो ( अर्थात् स्वप्नमें अन्नभोजनसे जो अरिष्ट होता है वह इस मन्त्रजपसे शान्त होजावे और कल्याण करने वाला हो ॥ १ ॥

एकादशी ॥

नमस्कृत्य द्यावापृथिवीभ्यामन्तरिक्षाय सृत्येव ।

भेर्जाम्यूर्ध्वस्तिष्ठन् मा मां हिंसिपुत्रीश्वराः ॥ १ ॥

नमःकृत्य । आवापृथिवीभ्याम् । अन्तरिक्षाय । मृत्यवे ।

येत्तारमि । ऊर्ध्वः । तिष्ठन् । मा । मा । हिंसिषुः । ईश्वराः ॥१॥

आवापृथिव्यादिभ्यो नमस्कृत्य नमस्कारं कृत्वा तिष्ठन् आसी-  
नोहम् ऊर्ध्वः ऊर्ध्ववत् ऊर्ध्वमुखो मैष्यामि । ऊर्ध्वलोकं मा  
गमिष्यामीत्यर्थः । यद्वा नमस्कारेण ऊर्ध्वो मा गमिष्यामि । किं  
तु तिष्ठन् इह लोके चिरकालावस्थायी । भवामीति शेषः ।  
❀ मैष्यामीति । “अमानोवाः प्रतिषेधे” इति प्रतिषेधवाचिनो मा  
इति निपातस्य ग्रहणं न तु ङितो माशब्दस्य । यदि माङ्स्तर्हि  
“माङ् लिङ्” स्यात् । तस्य सर्वलकाराणाम् अपवादत्वात् । एते-  
र्लृट् । “श्यतासी०” इति स्यः ❀ । ईश्वराः स्वामिनः ध्रुपृथि-  
व्यन्तरिक्षदेवता अग्निवायुसूर्या मृत्युश्च मा मां मा हिंसिषुः मा  
वधिषुः । चिरकालम् इह लोके माम् अवस्थापयन्तु इत्यर्थः ॥

नवमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

इति माधवीये अथर्वसंहिताभाष्ये वेदार्थप्रकाशे

सप्तमकाण्डे नवमोऽनुवाकः ॥

आवापृथिवीके लिये, अन्तरिक्षके लिये और मृत्युदेवताके लिये  
नमस्कार करके बैठा हुआ मैं ऊपरके लोकोंमें न जाऊँ, किंतु इसी  
लोकमें चिरकाल तक बैठा रहूँ, ध्रुलोक पृथिवीलोक और अन्त-  
रिक्षलोकके ईश्वर अग्नि वायु और सूर्यदेव तथा मृत्युमेरा बध न  
करें अर्थात् मुझे चिरकाल तक इसी लोकमें स्थापित रखवों ॥१॥

नवम अनुवाकम् द्वितीयं सूक्तं समाप्त ( ४२३ ) ॥

सप्तमकाण्डम् नवम अनुवाक समाप्त ॥

दशमेनुवाके त्रीणि सूक्तानि । तत्र “को अस्या नः” इति आद्ये  
सूक्ते आद्याभ्याम् ऋग्भ्यां सर्वफलकामः प्रजापतिं यजेत उपतिष्ठेत

वा । “को अस्या न इति प्रजापतिम्” इति हि [ कौ० ७. १० ] सूत्रम् ॥

“कः पृश्निम्” इत्येषा उर्वराख्ये सवयज्ञे विनियुक्ता । “कः पृश्निम् इत्युर्वरा” इति [ कौ० ८. ७ ] सूत्रात् ॥

उपनयने आदित्यवीक्षणानन्तरम् “अपक्रामन्” इत्यनया माणवकं प्राङ्मुखम् उपवेशयेत् । सूत्रितं हि । “अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणान इत्येनं बाहुगृहीतं प्राञ्चम् अवस्थाप्य” इति [ कौ० ७. ६ ] ॥

ग्रामगृहादिषु अन्योक्तसंदेशाकथने तत्प्रायश्चित्तार्थं “यद् अस्मृति” इत्यनया अग्निम् उपतिष्ठेत् । “यद् अस्मृतीति संदेशम् अपर्याप्य” इति हि [ कौ० ५. १० ] सूत्रम् ॥

तथा दर्शपूर्णमासयोः “यद् अस्मृति” इत्यनया कर्मविस्मरणप्रायश्चित्तार्थं जुहुयात् “यन्मे स्फन्नम् यद् अस्मृति [ १११ ] इति च स्फन्नास्मृतिहोमौ” [ कौ० १. ६ ] सूत्रितम् ॥

अग्निष्टोमे दीक्षानियमलोपप्रायश्चित्तार्थम् अनया अग्निम् उपतिष्ठेत् । “व्रतलोपे यदस्मृतीत्यग्निम् उपतिष्ठेत्” इति हि वैतानं सूत्रम् [ वै० ३. २ ] ॥

कासरलेष्मभैषज्यार्थम् “अत्र दिवस्तारयन्ति” इति अत्रा अन्नं सक्तुमन्यं वा अभिमन्त्र्य भक्षयेद् उदकं वा अभिमन्त्र्य आचामयेत् सूर्योपस्थानं वा कुर्यात् । “यथा मनः [ ६. १०५ ] अत्र दिवः [ ७. ११२ ] इत्यग्निष्टेन” इति [ कौ० ४. ७ ] सूत्रात् ॥

अभिचारकर्मणि “यो न स्तायत्” इति मृचेन अशनिहतवृत्तसमिध आदध्यात् ॥

द्युतजयकर्मणि “इदम् उग्राय” इति सप्तर्चेन दधिमधुनोस्त्रिरात्रं वासितान् अक्षान् अभिमन्त्र्य द्युतकीढां कुर्यात् । “इदम् उग्रायेति वासितान् अक्षान् निवपति” इति हि कौशिकं सूत्रम् [ कौ०-५. ५ ] ॥



अग्रचाधाने “इदम् उग्राय” इति घृतेन अभ्यक्तान् अक्षान्  
अध्वर्यवे दद्यात् । तद् उक्तं वैताने । “इदम् उग्रायेत्यन्वक्तान्  
अक्षान् विदेवनायाध्वर्यवे प्रयच्छति” इति [ वै० २. २ ] ॥

दशम अनुवाकमें तीन सूक्त हैं । इनमेंसे “को अस्या नः” इस  
प्रथम सूक्तकी पहिली दो ऋचाओंसे सकल फलोंको चाहने वाला  
प्रजापति देवताका यजन वा उपस्थान करे । इस विषयमें कौशिक  
सूत्र ७।१० का प्रमाण है, कि—‘को अस्या न इति प्रजापतिम्’ ॥

“कः पृश्निम्” इस ऋचाका उर्वर नामक सबयज्ञमें विनि-  
योग होता है । इस विषयमें कौशिकसूत्र ८।७ का प्रमाण है,  
कि—“कः पृश्निम् इत्युर्वराम्” ॥

उपनयनमें सूर्यको देखनेके अनन्तर “अपक्रामन्” ऋचासे  
बालकको पूर्वकी ओर मुञ्च करके बैठावे । कौशिकसूत्र ७।६ में  
कहा है, कि—“अपक्रामन् पौरुषेयाद् दृष्टान इत्येनं बाहुगृहीतं  
प्राञ्च अवस्थाप्य” ॥

ग्राम घर आदिमें दूसरेके कहे हुए सन्देशको न कहनेका  
प्रायश्चित्त करनेके लिये “यद् अस्मृति” ऋचासे अग्निका उप-  
स्थान करे । कौशिकसूत्र ५।१० में कहा है, कि—“यद् अस्मृ-  
तीति संदेशं अपर्याप्य” ॥

तथा दर्श और पूर्णमासमें “यद् अस्मृति” ऋचासे कर्मविस्मरण  
का प्रायश्चित्त करनेके लिये आहुति देवे । इस विषयमें कौशिक-  
सूत्र १।६ का प्रमाण भी है, कि—“यन्मे स्कन्नं यद् अस्मृति”  
( १११ ) इति च स्कन्नास्मृतिहोमौ’ ॥

अग्निष्टोममें दीक्षानियमलोपका प्रायश्चित्त करनेके लिये इस  
ऋचासे अग्निका उपस्थान करे । वैतानसूत्र ३।२ में कहा है,  
कि—“व्रतलोपे यदस्मृतीत्यग्निं उपतिष्ठते” ॥

खाँसी और कफरोवकी चिकित्साके लिये “अवदिवस्तार-

( ३८४ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित . .

यन्ति” ऋचासे अन्नको वा संक्तु मन्थको अभिमन्त्रित करके भक्षण करावे वा अभिमन्त्रित करके आचमन करादेय वा सूर्योपस्थान करे । कौशिकसूत्र ४ । ७ में कहा है, नि ‘यथा मनः ( ६ । १०५ ) अत्र दिवः ( ७ । ११२ ) इत्यरिष्टेन’ ॥

अभिचारकर्ममें “यो नस्तापत्” आदि दो ऋचाओंसे विजली से ताड़ित वृत्तकी समिधाओंको रखे ।

घृतजपकर्ममें “इदं उग्राय” इस सप्तर्चसे दही और शहदों तीन रात डाले हुए फाँसोंको अभिमन्त्रित करके घृतकोड़ा करे कौशिकसूत्र ५ । ५ में कहा है, कि—“इदं उग्रायेति वासितान् अक्षान् निवपति” ॥

अन्याधानमें ‘इदं उग्राय’ से पृथग्गत फाँसोंको अश्वपुर्को देवे । इसी बातको वैतानसूत्र २ । २ में कहा है, कि—‘इदं उग्राग्रेत्यनक्षान् अक्षान् विदेवनायाध्वर्यवे मयच्छति’ ॥

तत्र प्रथमा ॥

को अस्य नाद्रुहोवद्यवत्या उन्नेप्यति क्षत्रियो वस्य इच्छन् ।

को यज्ञकामः क उ पूर्तिकामः को देवेषु वनुते दीर्घमायुः

कः । अस्याः । नः । द्रुहः । अवद्यवत्याः । उत् । नेप्यति ।

क्षत्रियः । वस्यः । इच्छन् ।

कः । यज्ञकामः । कः । ऊं इति । पूर्तिकामः । कः । देवेषु ।

वनुते । दीर्घम् । आयुः ॥ १ ॥

अस्मिन् ब्रूचे मश्रवाविना किंशब्देन मजापतिरुच्यते । अनि-

रुक्त्वात् तस्य । श्रूयते हि तैत्तिरीयके । “कोहं स्याम् इत्यब्रवीत्  
एतत् प्रदायेति । एतत् स्या इत्यब्रवीद् यद् एतद् ब्रवीषीति” इति  
[ तै० ब्रा० २. २. १०. २ ] । को ह वै नाम प्रजापतिरिति  
प्रश्नवाचिन एव किंशब्दस्य प्रजापतिवाचकत्वं युक्तम् । अन्यथा  
“कस्मै देवाय हविषा विधेम” [ ऋ० १०. १२१. १ ] इत्यत्र स्मै  
इति आदेशो न स्यात् । अयम् अस्या ऋचोर्यः । वस्यः वसीयः  
प्रशस्तं फलम् । ❀ वसुशब्दाद् ईयसुनि ईकारलोपरब्धान्दसः ❀ ।  
इच्छन् अस्मभ्यं प्रदातुं कामयमानः कः क्षत्रियः क्षत्रियजात्यभि-  
मानी को राजा । ❀ “क्षत्राद् घः” इति घः ❀ । अस्याः इदानीं  
वाधिकाया अवचयत्याः । गर्हम् अवचम् । ❀ “अवचपण्यवर्गो”  
इति गर्हार्थे अवचशब्दो यत्प्रत्ययान्तत्वेन निपातितः ❀ । निघ-  
रूपादियुक्ताया द्रुहः द्रोघ्रयाः । ❀ द्रुह जिघांसायाम् विवप् ❀ ।  
अहितकारिण्याः पिशाच्या दुर्गतेः सकाशात् नः अस्मान् उन्ने-  
ष्यति उद्धरिष्यति । को वा यज्ञकामः अस्माभिरनुष्ठीयमानं यज्ञं  
कामयमानो भवति । उशब्दः वार्थे । पूर्तिकामः अस्माकं धनादि-  
पूर्तिम् अभिवाञ्छन् भवति । को वा देवेषु मध्ये दीर्घम् चिरकाल-  
भावि आयुः जीवनं वनते संभजते । ❀ वन पण् संभक्तौ । व्य-  
त्ययेन आत्मनेपदम् ❀ । यद्वा । ❀ वनतिर्दानार्थवाची । धातू-  
नाम् अनेकार्थत्वात् ❀ । देवेषु मध्ये को वा दीर्घम् आयुः प्रयच्छति ।  
अत्रोक्तानां प्रश्नवाक्यानां कः प्रजापतिरेव अस्मान् दुर्गताद् उद्द-  
रिष्यति अस्मदीयं यज्ञं पूर्तिं च कामयते आयुश्च प्रयच्छति इत्युत्तरं  
भवति । किंशब्देन प्रजापतिरुच्यते इत्युक्तत्वात् ॥

प्रशस्त फलको देना चाहने वाला कौन राजा इस वाधिका  
निन्दनीया द्रोहिणी पिशाची दुर्गतिसे आज हमारा उद्धार करेगा ।  
और हमारे अनुष्ठित इस यज्ञको कौन चाहता है । और कौन  
हमारी धन आदिकी पूर्तिको करेगा । और देवताओंमें कौन

दीर्घायुका सेवन करता है अथवा कौन दीर्घायुका प्रदान करता है ( उत्तर क अर्थात् प्रजापति ) ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

कः पृश्निं धेनुं वरुणेन दत्तामथर्वणे सुदुघां नित्यं वत्साम्  
बृहस्पतिना सख्यं जुपाणो यथावशं तन्वः कल्पयाति  
कः । पृश्निम् । धेनुम् । वरुणेन । दत्ताम् । अथर्वणे । सुदुघाम् ।

नित्यं वत्साम् ।

बृहस्पतिना । सख्यम् । जुपाणः । यथावशम् । तन्वः । कल्पयाति ।  
पृश्निम् माष्टवर्णम् । ॐ पृश्निः माश्रुत एनं वर्ण इति नैरुक्ता  
इति हि यास्कः [ नि० २. १४ ] ॐ । लोहितादिवर्णोपेतां सुदु-  
घाम् सुदु दोग्धीम् । ॐ “दुहः कव्यश्च” इति कप् प्रत्ययः ।  
घकारश्च अन्तादेशः ॐ । दोग्धुं सुशकां वा । ॐ “ईपद्दुःसुपु०”  
इति खल् । वर्णोपजनशब्दान्दसः । “लिति” इति प्रत्ययात् पूर्वस्य  
लदात्तत्वम् ॐ । नित्यवत्साम् सर्वदा वत्सोपेताम् । अनेन सर्वदा  
नवप्रभूतत्वम् उक्तं भवति । अथर्वणे वरुणेन दत्तां धेनुम् । वरुणे-  
नाथर्वणे गार्दत्तेति पञ्चमकाण्डे स्पष्टम् आम्नातम् । “कथं महै  
असुरायाववीरिह कथं पित्रे हरये त्वेपनृम्णः । पृश्नि वरुण दक्षिणां  
ददावान् पुनर्मघ त्वं मनसाचिकित्सीः” इति [ ५. ११ ] । एतादृशीं  
धेनुं बृहस्पतिना बृहतां महतां देवानां पालकेन देवेन सख्यम्  
सौहार्दं जुपाणः सेवमानः को देवः यथावशम् यथाकामम् । ॐ पदा-  
र्थानतिवृत्तौ अव्ययीभावः ॐ । तन्वः तनूः कल्पयाति कल्पयेत्  
संमर्थानि कुर्यात् । ॐ कल्पयतेर्लेटि आडागमः ॐ । कः कल्पयेत्  
इति प्रश्नस्य प्रजापतिरेव कल्पयतीत्युत्तरं भवति ॥

लोहित आदि वर्णोंसे युक्त, अच्छी तरहसे दुहाने वाली, सदा बछड़ेसे युक्त रहने वाली, अथवाके द्वारा वरुणको भी दी हुई धेनुको बृहस्पतिके साथ मित्रता रखने वाले प्रजापतिदेव कामना के अनुसार शरीरकी शक्तियोंको प्रदान करें ॥ १ ॥

तृतीया ॥

अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः ।

प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह ॥ १ ॥

अपक्रामन् । पौरुषेयात् । वृणानः । दैव्यम् । वचः ।

प्रणीतीः । अभिऽआवर्तस्व । विश्वेभिः । सखिभिः । सह १

हे माणवक त्वं पौरुषेयात् पुरुषेभ्यो हितं तत्र वर्तमानं काम-  
वादभक्षणदिकं लौकिकं कर्म तस्मात् । ❀ “सर्वपुरुषाभ्यां  
ण्डवौ” इति ढव् प्रत्ययः । ढस्य एय् आदेशः ❀ । तस्मात्  
लौकिकात् कर्मणः अपक्रामन् अपगच्छन् दैव्यम् देवसंवन्धि ।  
❀ “देवाद् यज्वौ” इति यव् प्रत्ययः ❀ । तद् वचः वाक्यं वेद-  
लक्षणं वृणानः संभजमानः । ❀ वृङ् संभक्तौ । क्रयादिः । हेतौ  
शानच् प्रत्ययः ❀ । स्वाध्यायसंभजनाद् हेतोः प्रणीतीः प्रकृष्ट-  
नयनादिवेदब्रह्मचर्यनियतीः अभ्यावर्तस्व अभिगच्छ । विश्वेभिः  
सर्वैः सखिभिः समानख्यानैः सव्रह्मचारिभिः सह अभ्यावर्तस्वेति ॥

हे माणवक ! तू पुरुषोंके लिये हितकर कामवाद भक्षण आदि  
लौकिककर्मसे दूर हटता हुआ देवसंवन्धी वेदलक्षण वाक्यको  
भजता हुआ स्वाध्यायका सेवन करनेके लिये ब्रह्मचर्य वेदा-  
ध्ययन आदि वेदको शीघ्र ही सिखाने वाली प्रणीतियोंका अपने  
सकल सहपाठियोंके साथ आश्रय ले ॥ १ ॥

चतुर्थी ॥

यदस्मृति चकृम किंचिदग्न उपारिम चरणे जातवेदः ।  
ततः पाहि त्वं नः प्रचेतः शुभे सखिभ्यो अमृतत्व-  
मस्तु नः ॥ १ ॥

यत् । अस्मृति । चकृम । किम् । चित् । अग्ने । उपऽआरिम । चरणे ।  
जातवेदः ।

ततः । पाहि । त्वम् । नः । प्रऽचेतः । शुभे । सखिभ्यः ।  
अमृतत्वम् । अस्तु । नः ॥ १ ॥

हे अग्ने वयम् अस्मृति स्मरणरहितं पूर्वोत्तरकर्मानुसंधानरहितं  
यत् किंचित् कर्म चकृम अकार्ष्म । सांतत्येन क्रियमाणे कर्मणि  
मध्ये यत् किंचित् कर्म अनुष्ठेयं विस्मृतवन्तः अन्योक्तं वा संदे-  
शादिकं तदीयाय जनाय न कथितवन्तो वा । तथा हे जातवेदः  
जातानां वेदितः जातैः भूतीर्ज्ञायमान वा चरणे अनुष्ठाने उपारिम  
यत् कर्म उपार्तं लुप्तम् अकार्ष्म । यत्कर्मानुष्ठाने मूढा अभूमेत्यर्थः ।  
ॐ चकृमेति । करोतेर्लिटि क्रादिनियमात् इणिनपेधः । उपारि-  
मेति । उपपूर्वाद् अर्तेः “इडर्यतिव्ययतीनाम्” इति इडागमः ।  
यद्भट्टचयोगाद् अनिघाते “तिङि चोदात्तवति” इति गतेर्निघातः ॐ ।  
हे प्रचेतः प्रकृष्टज्ञान अग्ने त्वं ततः तस्माद् विस्मरणनिवन्धनात्  
पापात् नः अस्मान् पाहि पालय । ततः सखिभ्यः समान-  
ख्यानेभ्यः मित्रभूतेभ्यो नः अस्मभ्यं त्वदनुग्रहात् शुभे शोभने  
सांगे कर्मणि । संपन्ने इति शेषः । अमृतत्वम् अविनाशित्वम् अस्तु ॥

हे अग्ने ! हमने पूर्वोत्तरकर्मके अनुसंधानसे रहित जो कुछ  
स्मरणरहित कर्म कर लिया है, अर्थात् चलते हुए कर्म में मध्यमें

करने योग्य कर्मको भूल कर अगला कर्म कर लिया है वा दूसरे से कहने योग्य संदेशको भूल गए हैं । हे जातवेदः ! अनुष्ठानके समय जो कर्म हमसे लुप्त होगया है तात्पर्य यह है, कि-जिस कर्मके अनुष्ठानमें हम मूढ़ होगए थे, हे प्रकृष्ट ज्ञान वाले अग्ने ! आप उस विस्मरणसे होसकने वाले पापसे हमारी रक्षा करिये । फिर हम समान प्रसिद्धि वालोंका आपके अनुग्रहसे सांग कर्म पूर्ण होने पर अविनाशित्व होवे ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

अव दिवस्तारयन्ति सप्त सूर्यस्य रश्मयः ।

आपः समुद्रिया धारास्तास्ते शल्यमसिस्रसन् ॥१॥

अव । दिवः । तारयन्ति । सप्त । सूर्यस्य । रश्मयः ।

आपः । समुद्रियाः । धाराः । ताः । ते । शल्यम् । असिस्रसन् १

एकस्य हि सूर्यस्य अंशभूताः सप्त सूर्या विद्यन्ते । तत्र प्रधान-भूतः कश्यपसंज्ञकः सर्वदा महामेरौ वर्तते । इतरे तदंशभूता आरोगादिनामानो विश्वस्य प्रकाशकाः प्रवर्षकाश्च भवन्ति । श्रूयते हि तैत्तिरीयके । “आरोगो आजः पटरः पतङ्गः स्वर्णरो ज्योतिषी-मान् विभासः । ते अस्मै सर्वे दिवम् आतपन्ति” इति । “कश्य-पोष्टमः । स महामेरुं न जहाति” इति । “यस्मिन् सूर्या अर्पिताः सप्त साकम्” इति च [ तै० आ० १. ७. १ ] ॥ तथा चास्या ऋचः अयम् अर्थः । सूर्यस्य कश्यपनाम्नः संवन्धिनः सप्त सप्तसंख्याका रश्मयः व्यापकाः किरणा आरोगादयः सूर्याः समुद्रियाः । समु-द्रम् अन्तरिक्षम् । ❀ समुद्रवन्त्यस्माद् आप इति हि यास्कः [ नि० २. १० ] । तत्र भवाः । “समुद्राभ्राद् घः” इति घः ❀ । अन्त-रिक्षभवा धारारूपा आपः । ❀ द्वितीयार्थे प्रथमा ❀ । अपः दिवः

धुलोकाद् अथ तारयन्ति अवपातयन्ति । प्रवर्पन्तीत्यर्थः । ताः  
सूर्यरश्मिभिरवतारिता आपा हे रुग्ण ते तव शन्यवत् शन्यम्  
पीडाकारिणं कासरलेप्मादिरोगम् असिस्रसन् संसयन्तु विनाश-  
यन्तु । ❀ संप्तु गतौ । एयन्तात् लुङि चङि “अनिदिताम्०”  
इति उपधानकारलोपः । “सन्वद्वधुनि०” इति सन्वद्भावात्  
“संन्यतः” इति अभ्यासस्य इत्त्वम् ❀ ॥

(एक ही सूर्यके अंशभूत सात सूर्य हैं । उनमें प्रधानभूत करयप  
नामक सूर्य सदा महामेरुमें रहते हैं । दूसरे उनके अंशभूत आरोग  
आदि नाम वाले विश्वको प्रकाशित करते रहते हैं और वर्षा भी  
करते हैं । तैत्तिरीय आरण्यक १ । ७ । १ में कहा है, कि—  
“आरोगो भ्राजः पटरः पतङ्गः स्वर्णरो ज्योतिषीमान् विभासः ।  
ते अस्मै सर्वे दिवम् आतपन्ति ।—आरोग भ्राज पटर पतंग स्वर्णर  
ज्योतिषीमान् और विभास नामक सात सूर्य इसके लिये द्यौमें  
तपते रहते हैं” । “करयपोऽष्टमः स महामेरुं न जहाति ।—करयप  
आठवें हैं वे महामेरुको नहीं छोड़ते हैं” ॥ तथा ‘यस्मिन् सूर्याः  
अर्पिताः सप्त साकम् ।—जिसमें एक साथ ही सात सूर्य अर्पित  
हैं” ॥ अब इस ऋचाका अर्थ यह है, कि—) करयप नामक सूर्य  
से सम्यन्ध रखने वाली सात किरणें अर्थात् आरोग आदि सात  
सूर्य अन्तरिक्षमें होने वाली जलरूप धाराओंको धुलोकसे नीचे  
उतारती हैं, वे सूर्यकी किरणोंसे नीचेको उतारे हुए स्पर्शरूप जल  
हे रोगिन् ! तेरे शन्यकी समान पीडा देने वाले खौंसी श्लेष्मा  
आदि रोगको नष्ट कर डालें ॥ १ ॥

पृष्ठी ॥

यो नंस्तायद् दिप्सति यो नं आविःस्वो विद्वानरणो  
वा नो अग्ने ।



प्रतीच्येत्वरणी दत्वती तान् मैषामग्ने वास्तु भून्मो  
अपत्यम् ॥ १ ॥

यः । नः । तायत् । दिप्सति । यः । नः । आविः । स्वः । विद्वान् ।  
अरणः । वा । नः । अग्ने ।

प्रतीचीः । एतु । अरणी । दत्वती । तान् । मा । एषाम् । अग्ने ।  
वास्तु । भूत् । मो । इति । अपत्यम् ॥ १ ॥

हे अग्ने यः शत्रुः नः अस्मान् तायत् । अन्तर्हितनामैतत् ।  
अन्तर्हितम् अपकाशं दिप्सति दम्भितुं हिंसितुम् इच्छति ।  
❀ “दम्भ इच्च” इति सन्प्रत्यये इकारादेशः । “अत्र लोपोभ्या-  
सस्य” इति अभ्यासलोपः ❀ । यश्च शत्रुः नः अस्मान् आविः  
प्रकाशं दिप्सति । तथा विद्वान् परवाधनोपायं जानन् स्वः स्वीयः  
बन्धुर्वा नः अस्मान् दिप्सति । अरणः । ❀ अर्तेः अरणः ❀ ।  
अरातिर्वा नः अस्मान् हन्तुम् इच्छति । तान् अपकाशहननोद्युक्ता-  
दीन् शत्रून् दत्वती दन्तोपेता । ❀ “छन्दसि च” इति दन्त-  
शब्दस्य दत् आदेशः ❀ । अरणी आर्तिकारणी राक्षसी प्रतीची  
प्रत्यगञ्चना एतु प्राप्नोतु । दन्ताभ्यां तान् भक्षयितुम् अभिगच्छ-  
त्वित्यर्थः । निःशेषहननाय दत्वतीति विशेषणम् । किं च हे अग्ने  
एषां पूर्वोक्तानाम् अन्तर्हितघातकादीनां वास्तु गृहं मा भूत् । अ-  
पत्यम् पुत्रादिकं मो मैव भूत् ॥

हे अग्ने ! जो शत्रु हमको अन्तर्हित करना चाहता है, जो हम  
को मारना चाहता है, जो हमारे प्रकाशको बन्द करना चाहता  
है, दूसरोंको पीड़ा देनेकी युक्तिको जानने वाला जो अपना वंश  
हमको मारना चाहता है, जो शत्रु हमको मारना चाहता है ।

उनको यह दाँतोंकी रस्सी वाली पीड़ा देने वाली रान्तसी अभि-  
मुख होकर प्राप्त हों और इन शत्रुओंका घर न रहे और इनके  
पुत्र आदि भी न रहें ॥ १ ॥

सप्तमी ॥

यो नः सुप्तान् जाग्रतो वाभिदासात् तिष्ठतो वा चरतो  
जातवेदः ।

वैश्वानरेण सयुजा सजोपास्तान् प्रतीचो निर्दह जात-  
वेदः ॥ २ ॥

यः । नः । सुप्तान् । जाग्रतः । वा । अभिदासात् । तिष्ठतः ।  
वा । चरतः । जातवेदः ।

वैश्वानरेण । सयुजा । सजोपाः । तान् । प्रतीचः । निः । दह ।  
जातवेदः ॥ २ ॥

यः शत्रुः सुप्तान् निद्राणान् नः अस्मान् अभिदासात् अभि-  
दासयेत् अभितः उपक्षपयेत् अभिमुख वा हिंस्यात् । ॐ दसु उप-  
क्षपे । एयन्तात् लेटि आडागमः । “छन्दस्युभयथा” इति निप  
आर्धधातुकत्वात् णिलोपः ॐ । यः शत्रुः जाग्रतः प्रबुध्यमानान्  
नः अस्मान् अभिदासयेत् । ॐ जाग्र निद्राक्षपे । शतरि अदादि-  
त्वात् शपो लुक् । “नक्षित्यादयः षट्” इति अभ्यस्तसंज्ञायाम्  
“अभ्यस्तानाम् आदिः” इति आद्युदात्तत्वम् ॐ । तथा हे जात-  
वेदः जातप्रज्ञ हे अग्ने तिष्ठतः सुखेन एकत्रासीनान् अस्मान् यो  
हिंस्यात् चरतः कार्येषु व्याप्तिमाणां वा अस्मान् यः शत्रुः उप-  
क्षपयेत् । ॐ तिष्ठतश्चरत इत्युभयत्र लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातु-  
स्वरः ॐ । हे जातवेदः जातानां वेदितरमे त्वं वैश्वानरेण विश्व-

नरसंबन्धिना एतत्संज्ञकेन जाठराग्निना । ॐ “नरे संज्ञायाम्”  
इति विश्वशब्दस्य दीर्घः ॐ । तेन अग्निना सयुजा सहयोका  
सहायेन सजोपाः समानशीतिः सन्प्रतीचः स्वप्नजागरणाद्यवस्था-  
पन्नान् अस्मान् उपक्षपयितुं प्रतिमुखम् आगच्छतस्तान् शत्रून्  
निर्दह निःशेषेण भस्मसात् कुरु । जाठराग्निः अन्तर्दहतु त्वं तु  
बहिर्दहेत्यर्थः ॥

जो शत्रु हम सोतो हुओंको क्षीण करना चाहता है, जो हम  
जागते हुओंको मारे, और हे जातवेदा अग्ने ! जो हम बैठे हुओं  
को वा घूमने वालोंको मारे सन्मुख आते हुए उन सब शत्रुओंको  
आप वैश्वानर ( जाठर ) अग्निके साथ मित्रता कर मार डालिये ।  
तात्पर्य यह है, कि—जाठर अग्नि भीतरसे भस्म करे और आप  
बाहरसे भस्म करिये ॥ २ ॥

अष्टमी ॥

इदमुग्राय वभ्रवे नमो यो अक्षेषु तनूवशी ।

घृतेन कलिं शिञ्चामि स नो मृडातीक्ष्णो ॥ १ ॥

इदम् । उग्राय । वभ्रवे । नमः । यः । अक्षेपु । तनूवशी ।

घृतेन । कलिम् । शिञ्चामि । सः । नः । मृडाति । ईक्ष्णो ॥ १ ॥

उग्राय उद्गूर्णवस्त्राय वभ्रवे वभ्रुवर्णाय एतत्संज्ञकाय द्यूतजय-  
कारिणे देवाय इदं नमः नमस्करणम् । भवतु इति शेषः । ॐ “नमः-  
स्वस्ति०” इति नमःशब्दयोगे वभ्रव इति चतुर्थी ॐ । यो वभ्रुः  
अक्षेपु देवनसाधनेषु तनूवशी यथाकामी । स्वेच्छाभीनजय इत्यर्थः ।  
घृतेन आज्येन घन्त्राभिषन्त्रितेन कलिम् । पराजयहेतुः पञ्चसंख्या-  
युक्तोक्तविषयोऽयः कलिस्त्रियुच्यते । तं शिञ्चामि ताडयामि । हन्मी-  
त्यर्थः । एकादयः पञ्चसंख्यान्ता अक्षविषया अयाः । तत्र पञ्चानां

कलिरिति संज्ञा । तथा च तैत्तिरीयकम् । “ये वै चत्वारः स्तोमाः कृतं तत् । अथ ये पञ्च कलिः सः” इति [ तै० ब्रा० १. ५. ११. १ ] । तत्र कलिशब्दवाच्यस्य अयस्य आगमने पराजयो भवति । तम् अनेन आज्येन विनाशयामि । अहम् अन्यैर्न पराजीये किं तु अन्यान् अहमेव जयामीत्यर्थः । ❀ शिञ्जतिर्विद्योपादानवाची । तच्च विद्याग्रहणम् अध्यापककर्तृककशाताडनं विना न भवतीति अत्र लक्षणया ताडनमात्रं विवक्ष्यते । व्यत्ययेन परस्मैपदम् ❀ । यद्वा । ❀ शकेः सनि प्रत्यये “सनि मीमा०” इति इस् आदेशः । “अत्र लोपः०” इति अभ्यामलोपः ❀ । कलिं शिञ्जामि शक्तं समर्थं कर्तुम् इच्छामि । यथा कलिः स्वयं पराजयसमर्थः पराजयवान् भवति तथा करोमीत्यर्थः । अस्मिन्नर्थे देवतानुग्रहम् आशास्ते । स नमस्कृतः अक्षयूतदेवता बभ्रुः ईदृशो देवननियन्धने कलिपराभावनरूपे जयलक्षणे च फले नः अस्मान् मृलाति मृडयतु सुखयतु । ❀ मृड सुखने । लेटि आडागमः ❀ ॥

मचण्ट यल वाले बभ्रु नामक घृतमें विजय देनेवाले देवताके लिये यह नमस्कार हो, यह बभ्रु अक्षों ( फाँसों ) में अपनी कामनाके अनुसार विजय दिलाने वाले हैं । और मन्त्राभिमन्त्रित घृतसे मैं ( पञ्चसंख्यायुक्त पराजयके हेतु ) कलि नामक फाँसेको ताड़ित करता हूँ † यह बभ्रु देवता इस खेलनेसे होने वाले जयपराजयमें हमको सुख देवें ॥ १ ॥

† एकसे पाँच तकके फाँसे अथ कहलाते हैं । उनमें पाँचोंकी कलि संज्ञा है । तैत्तिरीयब्राह्मण १ । ५ । ११ । १ में कहा है, कि—“ये वै चत्वारः स्तोमाः कृतं तत् । अथ ये पञ्च कलिः सः ।—जो चारका फाँसा होता है वह कृत कहलाता है और पाँचका कलि कहलाता है” ॥

नवमी ॥

घृतमप्सराभ्यो वह त्वमग्ने पांसून्क्षेत्रेभ्यः सिकता अपश्च ।  
 यथाभागं हव्यदाति जुषाणा मदन्ति देवा उभयानि  
 हव्या ॥ २ ॥

घृतम् । अप्सराभ्यः । वह । त्वम् । अग्ने । पांसून् । क्षेत्रेभ्यः ।

सिकताः । अपः । च ।

यथाऽभागम् । हव्यऽदातिम् । जुषाणाः । मदन्ति । देवाः ।

उभयानि । हव्या ॥ २ ॥

हे अग्ने त्वम् अप्सराभ्यः । अप्सु सरन्त्यश्वरन्त्यः अन्तरिक्ष-  
 चारिण्यो वा । ताभ्यः तदर्थं घृतम् अक्षभ्यञ्जनसाधनम् आज्यं  
 वह प्रापय । अस्माकं जयार्थम् इति शेषः । तथा क्षेत्रेभ्यः । अक्ष-  
 शब्देन तैर्दीव्यन्तः प्रतिक्रितवा उच्यन्ते । अक्षहस्तेभ्यः प्रतिक्रित-  
 वेभ्यः पांसून् सूक्ष्मान् भूरजःकणान् सिकताः शर्कराः अपः उद-  
 कानि च प्रापय । यथा तेषां पराजयो भवति तथा तन्मुखेषु पां-  
 स्वादीन् प्रक्षिपेत्यर्थः ॥ किं च यथाभागम् भागम् अनतिक्रम्य  
 स्वीयस्वीयभागानुसारेण हव्यदातिम् हविषः प्रदानं जुषाणाः  
 सेवमाना देवाः इन्द्राद्या उभयानि द्विप्रकाराणि औपधपाशुक-  
 भेदेन सोमाज्यभेदेन श्रौतस्मार्तकर्मभेदेन वा द्विविधानि हव्या  
 हव्यानि हवींषि । आस्वाद्येति शेषः । मदन्ति माद्यन्ति तृप्ता  
 भवन्ति । ते देवा अपि अस्माकं च तूजयं कुर्वन्तु इति प्रार्थना ॥

हे अग्ने ! आप अन्तरिक्षमें विचरण करने वाली अप्सराओंके  
 लिये ( फाँसोंको स्वच्छ करने वाले ) घृतको पहुँचाइये । और

फाँसोंसे खेलने वाले हमारे प्रतिद्वन्दी जुआरियोंके निमित्त जल और रेत धूल दीजिये ( अर्थात् उनका पराजय करनेके लिये उनके मुखमें धूल आदि भोंक दीजिये ) और अपने २ भागके अनुसार हव्यदानका सेवन करते हुए इन्द्र आदि देवता आपध पाशुक, सोम और घृत, तथा श्रौत और स्मार्त इन दो प्रकारकी हवियोंका आस्वादन कर वृत्त होवें ( वे भी हमको घृतमें विजय देवें, यही प्रार्थना है ) ॥ २ ॥

दशमी ॥

अप्सरसः सधमादं मदन्ति हविर्धानमन्तरा सूर्यं च ।  
ता मे हस्तौ सं सृजन्तु घृतेन सपत्नं मे कित्वं  
रन्धयन्तु ॥ ३ ॥ ॥

अप्सरसः । सधमादम् । मदन्ति । हविःधानम् । अन्तरा ।  
सूर्यम् । च ।

ताः । मे । हस्तौ । सम् । सृजन्तु । घृतेन । सपत्नम् । मे ।  
कित्वम् । रन्धयन्तु ॥ ३ ॥

अप्सरसः घृतक्रियादेवताः सधमादम् सह संभूय मादः  
मादनं यस्मिन् मदनकर्मणि तत् । ॐ माद्यतेर्घञ् व्यत्ययेन । “सध  
मादस्ययोरद्वन्द्वसि” इति सहस्य सधादेशः ॐ । सहमदनं यथा  
भवति तथा मदन्ति माद्यन्ति । कुत्रेति तद् उच्यते । हविर्धानम्  
हविर्धायते अत्रेति हविर्धानो भूलोकः । ॐ अधिकरणे न्युट् ॐ ।  
तं सूर्यम् सूर्याधिष्ठितं ब्रूलोकं तं च अन्तरा । ॐ “अन्तरान्तरेण  
युक्ते” इति द्वितीया ॐ । द्यावापृथिव्योर्मध्ये अन्तरिक्षलोके  
माद्यन्ति । ताः अप्सरसः मे मम हस्तौ देवनसाधनौ पाणी घृतेन

घृतयत् सारभूतेन जयलक्षणेन फलेन सं सृजन्तु संयोजयन्तु ।  
तथा सपत्नम् प्रतिदीव्यन्तं कित्तवं मे मम रन्धयन्तु । ❀ रन्धयति-  
र्वशगमने इति यास्कः [ नि० १०. ४० ] ❀ । वशयन्तु स्वाधीनं  
कुर्यन्तु । ❀ रथ हिंसासंराध्योः । णिचि “रधिजभोरचि” इति  
नुम् आगमः ❀ ॥

[ इति ] दशमेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

धूनक्रियाकी देवता अप्सरायें ( जिसमें एकत्रित होकर मद  
होता है उस ) इविःधान अर्थात् भूलोकमें, सूर्याधिष्ठित धुलोकमें  
और इन दोनोंके बीचके लोक अन्तरिक्षलोकमें मदमें भरी रहती  
हैं, वे अप्सरायें मेरे खेलनेके हाथोंको घृतकी समान सारमय जय-  
रूप फलसे संयुक्त करें और खेलते हुए प्रतिपक्षी जुआरीको मेरे  
वशमें करें ॥ ३ ॥

दशम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त ॥

“आदिनवं प्रतिदीव्ये” इति चतुर्ध्वस्य धूतजयकर्मणि  
“इदम् उग्राय” इत्यनेन सह उक्तो विनियोगः ॥

परसेनाजयार्थम् “अग्न इन्द्रश्च” इति द्वाभ्यां नवरथं संपात्य  
अभिमन्य ससारथिं राजानम् आरोहयेत् । तद्वत्तं कौशिकेन ।  
“अग्न इन्द्रः [ ७. ११५ ] दिशश्चतस्रः [ ८. ८. २२ ] इति नवं  
रथं राजानं ससारथिम् आस्थापयति” इति [ कौ० २. ६ ] ॥

तथा सर्वफलकामः “अग्न इन्द्रश्च” इति तिसृभिः अग्नीन्द्रौ  
यजेत उपतिष्ठेत वा । “अग्न इन्द्रश्चेति मन्त्रोक्तान् सर्वकामः”  
इति हि [ कौ० ७. १० ] सूत्रम् ॥

आग्रयणेष्टौ “अग्न इन्द्रश्च” इति आग्नेन्द्रपुरोडाशयागम् अनु-  
मन्त्रयते । “अग्न इन्द्र इत्यग्नेन्द्रम्” इति हि वैतानं सूत्रम्  
[ वै० २. ४ ] ॥

वृषोत्सर्गे “इन्द्रस्य कुक्षिः” इत्यनया वृषभं संपात्य अभिमन्य

विसृजेत् । “इन्द्रस्य कुक्षिः [ ७. ११६ ] साहस्रः [ ६. ४ ] इत्पृषभं संपातवन्तम् अतिष्ठजति” इति कौशिकसूत्रात् [ कौ० ३. ७ ] ॥

अग्निष्टोमे प्रातःसवने सोमसहितं पूतमृत्पात्रम् “इन्द्रस्य कुक्षिः” इति ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । “इन्द्रस्य कुक्षिरित्यासितो सोमे पूत-भृतम्” इति हि वैतानं सूत्रम् [ वै० ३. ७ ] ॥

सर्वव्याधिभैषज्यार्थं “शुम्भनी” इति ऋचेन उदकघटं संपात्य अभिमन्त्र्य मौञ्जैः पाशैः संधिषु बद्धं व्याधितं दर्भपिजूलीभिः आस्रावयेद् अवसिञ्चेद् वा । सूत्रितं हि । “शुम्भनी इति मौञ्जैः पाशैः पर्वसु बद्ध्वा पिजूलीभिरास्रावयत्यवसिञ्चति” इति [ कौ० ४. ८ ] ॥

तथा “शुम्भनी” इत्यस्य अंहोलिङ्गगणं पाठात् “ओपधिवन-स्पतीनाम् अनूक्तान्यप्रतिपिडानि भैषज्यानाम् अंहोलिङ्गाभिः” इत्यादौ [ कौ० ४. ८ ] विनियोगो द्रष्टव्यः ॥

विवाहे “शुम्भनी” इत्यनया आज्यं हुत्वा वरवध्वोर्मूर्ध्नोः संपातान् आनयेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनयर्चा वरवध्वोरञ्जन्योः उदपात्रो-दकं निनयेत् ॥

सूत्रितं हि । “तुभ्यम् अग्रे [ १४. २ ] शुम्भनी [ ७. ११७ ] अग्निर्जनवित् इति मूर्ध्नोः संपातान् आनयति । उदपात्र उत्तरान् शुम्भन्याञ्जन्योर्निनयति” इति [ कौ० १०. ४ ] ॥

‘आदिनवं प्रतिदीप्ते’ इस चतुर्ऋचका धृतजयकर्ममें ‘इदं उग्राय’ के साथ विनियोग कह दिया है ।

शत्रुकी सेनाको जीतनेके लिये ‘अग्रे इन्द्रश्च’ इन दो ऋचाओं से नवीन रथको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके सारथि-सहित राजाको उस पर चढ़ावे । इसी बातको कौशिकसूत्र २।६



में कहा है, कि—‘अग्न इन्द्रः ( ७।११५ ) दिशश्चतस्रः ( ८।८।२२ ) इति नवं रथं राजानं ससारयिं आस्थापयति’ ॥

तथा सर्वफलकाम “अग्न इन्द्रश्च” इन तीन ऋचाओंसे अग्नि और इन्द्रदेवका यजन वा उपस्थान करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७।१० का प्रमाण है, कि—“अग्न इन्द्रश्चेति मन्त्रोक्तान् सर्वफलकामः” ॥

आश्रयणोष्ट्रिमें “अग्न इन्द्रश्च” से आग्नेन्द्रपुरोडाशयागका अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र २।४ का प्रमाण है, कि—‘अग्न इन्द्र इत्याग्नेयम्’ ॥

वृषोत्सर्गमें ‘इन्द्रस्य कुत्तिः’ ऋचासे वृषभको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके छोड़ देय इस विषयमें कौशिकसूत्र ३।७ का प्रमाण है, कि—‘इन्द्रस्य कुत्तिः ( ७।११६ , साहस्रः ( ६।४ ) इत्यृषभं सम्पातवन्तं अतिसृजति’ ॥

अग्निष्टोमके प्रातःसवनमें सोमसहित पूतभृत्पात्रका ‘इन्द्रस्य कुत्तिः’ से ब्रह्मा अनुगन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ३।७ का प्रमाण है, कि—‘इन्द्रस्य कुत्तिरित्यासक्ते सोमे पूतभृत्’ ॥

सर्वव्याधिचिकित्साके लिये “शुम्भनी” ऋचसे जलपूर्ण घट को सम्पातित और अभिमन्त्रित करके रोगीको सूँजके पाशोंसे जोड़ों पर बाँधे फिर दर्भकी मुट्ठीसे आलावित वा अवसिञ्चित करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ४।८ का प्रमाण भी है, कि—‘शुम्भनी इति माँज्जैः पाशैः पर्वसु बद्ध्वा पिङ्गुलीभिरालावयत्यवसिञ्चति’ ॥

तथा “शुम्भनी” ऋचाका अहोलिंगगणमें पाठ होनेसे ‘औपधि-वनस्पतीनां अनुक्तान्यप्रतिषिद्धानि भैषज्यानां अहोलिंगाभिः’ इत्यादिमें विनियोग करना चाहिये ।

विवाहमें “शुम्भनी” ऋचासे धृतकी आहुति देकर वर और वधूके मस्तक पर सम्पातोंको लावे ।

( ४०० ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहिते

तथा तर्हा ही कर्ममें इस अचासे वर और वधूके हाथमें जल-पूर्णपात्रके जलको डालें ।

इस विषयमें कौशिकगूत्र १० । ४ का प्रमाण भी है, कि—  
‘तुभ्यं अग्रे १४ । २ शुम्भनी ७ । १६७ अग्निर्जनवित् इति मूर्ध्नोः  
सम्पातान् आनयति । उदपात्र उत्तरान् शुं भन्याञ्जन्योर्निनयति’  
तत्र प्रथमा ॥

आदिनवं प्रतिदीप्ते घृतेनास्माँ अभि क्षर ।

वृक्षमिवाशन्या जहि यो अस्मान् प्रतिदीव्यति ४

आदिनवम् । प्रतिदीप्ते । घृतेन । अस्मान् । अभि । क्षर ।

वृक्षम् इव । अशन्या । जहि । यः । अस्मान् । प्रतिदीव्यति ४

प्रतिदीप्ते प्रतिकूलम् दीव्यते प्रतिकितवाय । “क्रियार्थोप-  
पदस्य०” इति चतुर्थी । प्रतिदिवानं जेतुम् आदिनवम् आदी-  
व्यामि अक्षतः आदीवनं करोमि । आङ्पूर्वाद् दीव्यतेश्चान्दसे  
लङि व्यत्ययेन भ्रः । “लोपो व्योर्वलि” इति यकारलोपः । “तस्थ-  
स्थमिषाम्०” इति थम् आदेशो गुणश्च । यद्वा । लङि व्यत्ययेन  
भ्रम् । प्रतिपूर्वाद् दीव्यतेः कनिन् युट्प्रितक्षितजिधन्विद्युप्रतिदिवः  
इति [ उ० १. १५४ ] कनिन् प्रत्ययः । चतुर्थ्येकवचने अङ्लोपे  
कृते “हलि च” इति दीर्घः । अस्मान् आदीव्यतः घृतेन घृत-  
वत्सारभूतेन जयलक्षणेन फलेन अभि क्षर संयोजय । देवनक्रिया-  
मिमानी देवः संबोध्यते । यः कितवः अस्मान् प्रतिदीव्यति जेतुं  
प्रतिकूलं घृतं करोति तम् अशन्या विद्युना वृक्षम् शुष्कं तरुमिव  
जहि तिरस्कुरु । “हन्तेर्जः” इति जादेशः ॥

( हे देवनक्रियाके अभिमानी देव ! मैं प्रतिपक्षी जुआरीको  
जीतनेके लिये खेलता हूँ, मुझको आप घृतकी समान सारभूत

जयरूप फलसे संयुक्त करिये । जो जुआरी हमसे खेलना चाहता है उसको आप बिजलीसे मारे हुए वृक्षकी समान तिरस्कृत कर डालिये ॥ ४ ॥

द्वितीया ॥

यो नो द्युवे धनमिदं चकार यो अक्षाणां ग्लहनं  
शेषणं च ।

स नो देवो हविरिदं जुषाणो गन्धर्वेभिः सधमादं मदेम  
यः । नः । द्युवे । धनम् । इदम् । चकार । यः । अक्षाणाम् ।  
ग्लहनम् । शेषणम् । च ।

सः । नः । देवः । हविः । इदम् । जुषाणः । गन्धर्वेभिः । सध-  
मादम् । मदेम ॥ ५ ॥

यो देवः नः अस्माकं द्युवे द्यूताय तदर्थम् । यद्वा द्युवे दीव्यते  
नः । ॐ वचनव्यत्ययः ॐ । मदात् । अथ वा नः अस्मदीयाय  
द्युवे दीव्यते पुरुषाय इदं प्रतिक्रितवसंबन्धि धनं चकार जयेन  
संपादितवान् । ॐ द्युव इति । दीव्यतेः कर्तरि भावे वा क्विप् ।  
“च्छोः शूडनुनासिके च” इति वकारस्य ऊट् । यण् आदेशः ॐ ।  
यश्च देवः अक्षाणां परकीयानां ग्लहनम् ग्रहणं स्वकीयैरक्षैर्जित्वा  
स्वीकरणं शेषणम् स्वीयानाम् अक्षाणां जयाद्वस्थाने अवशेषणं च  
कृतवान् । ॐ ग्लहनम् इति । ग्लहु ग्लहे इति घात्वन्तरम् अन्वैर्भू-  
वादौ पठ्यते । तस्मात् ल्युट् । गृहातेर्वा । रेफस्य लृत्वं द्वान्दसम् ॐ ।  
स देवः द्यूताभिमानो नः अस्मदीयम् इदं हविः जुषाणः सेवमानो  
भवतु । वयं च गन्धर्वेभिः गन्धर्वैः अक्षाधिष्ठायकैः सधमादम् सह-  
मदनं यथा तथा मदेम हृण्यास्म । ॐ माद्यतेः “लिङ्ग्याशिष्यङ्”  
इति आङ् प्रत्ययः ॐ ॥

जिन देवताने हमारे जुएके लिये इस प्रतिपत्तीके धनको जय से सम्पादित किया है और जिन देवताने शत्रुओंके अत्तोंको जितवा कर दिलाया है और शत्रुओंके फाँसोंको निःशेष कर दिया है, यह द्यूताभिमानी देवता हमारी हविका सेवन करें और हम अत्तोंके अधिष्ठायक गन्धर्वोंके साथ आनन्द पावें ॥ ५ ॥

तृतीया ॥

संवसव इति वो नामधेयमुग्रं पश्या राष्ट्रभृतो ह्यं चाः ।

तेभ्यो व इन्द्रवो हविषां विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम्

सम्ज्वसवः । इति । वः । नामधेयम् । उग्रम् पश्याः । राष्ट्रभृतः ।

हि । अत्ताः ।

तेभ्यः । वः । इन्द्रवः । हविषां । विधेम । वयम् । स्याम । पतयः ।

रयीणाम् ॥ ६ ॥

हे गन्धर्वाः अत्ता वा गूयं संवसव इति संप्राप्तभ्रनाः संप्रापित-  
धना यतो भवथ अतो वः युष्माकं संवसव इति नामधेयं भवति ।  
हि यस्माद् उग्रं पश्या । ॐ पश्या लुक् ॐ । उग्रं पश्यायाः राष्ट्र-  
भृतः । इदं द्वयम् अप्सरोविशेषनामधेयम् । तयोः संवन्धिनो भवन्ति  
अत्ताः । अत्ताणाम् एतत्संवन्धित्वं तृत्तिरीये श्रूयते । “उग्रं पश्ये  
राष्ट्रभृच्चचराणि यद् अक्षवृत्तम् अनुवृत्तम् एतत्” इति [ तै०  
आ० २. ४. १ ] । तेभ्यः गन्धर्वाप्सरोभ्यः तदधिष्ठितेभ्यः असेभ्यो  
वा वः युष्मभ्यं युष्मदर्थम् इन्द्रवः । ॐ लुप्तमत्वर्थीयः ॐ । इन्दु-  
मन्तः सोमवन्तः सोमोपलक्षितद्विद्युक्ता वयं हविषा उचिनेन  
विधेम परिचरेम । ॐ विध विधाने तादाटिकः ॐ । अनन्तरं वयं  
दीव्यन्तः रयीणाम् धनानां पतयः स्वामिनः स्याम, भवेम । द्यूते  
प्रतिक्रितवजयेन धनवन्तः स्यामेत्यर्थः ॥

हे गन्धर्वों ! वा अक्षों ! धनको प्राप्त कराने वाले होनेसे आपका संवसव नाम है, यह अक्ष उग्रपश्या और राष्ट्रभृत् नामक अप्सराओं के सम्बन्धी हैं ‡ उन गन्धर्व अप्सराओंकी वा उनसे अधिष्ठित अक्षोंकी सोम वाली हविको लिये हुए हम सेवा करते हैं, तदनन्तर खेलते हुए हम धनके स्वामी होवें ॥ ६ ॥

चतुर्थी ॥

देवान् यन्नाथितो हुवे ब्रह्मचर्यं यदूपिम ।

अक्षान् यद् वभ्रूनालभे ते नो मृडन्तु ईदृशे ॥ ७ ॥

देवान् । यत् । नाथितः । हुवे । ब्रह्मचर्यम् । यत् । ऊपिम ।

अक्षान् । यत् । वभ्रून् । आलभे । ते । नः । मृडन्तु । ईदृशे ७

नाथितः उपतप्तः । ॐ नाष्ट नाष्ट याश्चोपतापैश्वर्याशीःषु । अस्मात् निष्ठा ॐ । देवान् अग्न्यादीन् हुवे आह्वयामि धनलाभार्थम् इति यत् । ॐ ह्यतेर्व्यत्ययेन शपः शः ॐ । ब्रह्मचर्यम् वेदग्रहणार्थं ब्रह्मचारिनियमम् ऊपिम ऊपितवन्तः इति यत् । ॐ वसेर्निवासायात् लटि उत्तमवहुवचने धातोरभ्यासस्य च संसारणे “शासिबसिघर्सानां च” इति यत्वे रूपम् ॐ । वभ्रून् वभ्रुवर्णान् वभ्रुणा अक्षाभिमानिना देवेन अधिष्ठितान् वा अक्षान् देवनसाधनभूतान् आलभे देवितुं स्पृशामीति यत् । ॐ आङ्पूर्वो लभिः स्पर्शार्थः । तस्माद् वर्तमाने लटि उत्तमे रूपम् ॐ । तेन कारणेन ते देवादयः ईदृशे जयलक्षणे फले नः अस्मान् मृडन्तु मुलयन्तु ॥

‡ तैत्तिरीय आरण्यक २ । ४ । १ में अक्षोंका अप्सराओंसे सम्बन्ध जुना जाता है, कि-‘उग्रपश्ये राष्ट्रभृच्चराणि यद् अक्षवृत्तं अनुवृत्तं एतत्’ ॥

उपतप्त हुआ मैं घनके लाभके लिये अग्नि आदि देवताओंका आवाहन करता हूँ । हमने जो ब्रह्मचर्य किया है और हम बभ्रु-देवतासे अधिष्ठित पाशोंको छू रहे हैं इस कारण वे देवता आदि ऐसे जयलक्षणरूपफलमें हमको सुख देवें ॥ ७ ॥

पञ्चमी ॥

अ॒ग्न इन्द्र॑श्च दा॒शुपे॑ ह॒तो वृ॒त्राण्य॑प्र॒ति । उ॒भा हि वृ॒त्र-  
हन्त॑मा ॥ १ ॥

अ॒ग्ने । इन्द्रः॑ । च॒ । दा॒शुपे॑ । ह॒तः । वृ॒त्राणि॑ । अ॒प्र॒ति ॥ उ॒भा ।  
हि । वृ॒त्रहन्॑स्त॒मा ॥ १ ॥

हे अग्ने इन्द्रश्च युवां दाशुपे हविर्दत्तवते यजमानाय तदर्थं वृत्राणि आवरकाणि शत्रुरूपाणि दुरितानि अप्रति अप्रतिपत्तम् । निःशेषम् इत्यर्थः । हयः हिंस्यः । ॐ हन्तेर्वर्तमाने स्तुति मध्यम-द्विवचने रूपम् ॐ । हि यस्माद् उभा उभौ अग्नीन्द्रौ वृत्रहन्तमा वृत्रहन्तमौ अतिशयेन वृत्रं हतवन्तौ । ॐ “ब्रह्मभूणवृत्रेषु०” इति विश्वः । तदन्ताद् आतिशायनिकस्तम् । “नाद घस्य” इति जुडागमः ॐ ॥

हे अग्ने ! और हे इन्द्रदेव ! आप हवि देने वाले यजमानके आवरक शत्रुरूप पापोंको निःशेषरूपसे नष्ट करिये, क्योंकि—आप दोनों वृत्रको मारने वाले ही हैं ॥ १ ॥

षष्ठी ॥

याभ्याम॒जंय॑न्त्स्व॒ १ र॒ग्रं ए॒व या॒वा॒त॒स्थतु॑र्भु॒वंना॒नि वि॒श्वां  
प्र॒च॒र्षणी॑ वृ॒षेणा॑ वज्रं॒वाहू॑ अ॒ग्निमिन्द्रं॑ वृ॒त्रह॑णां हु॒वेह॑म्

याभ्याम् । अजयन् । स्वः । अग्रे । एव । यौ । आ॒स्त॒स्थतुः ।

भुवनानि । विश्वा ।

प्रचर्षणी इति प्रचर्षणी । वृषणा । वज्रबाहू इति वज्रबाहू । अग्निम् ।

इन्द्रम् । वृत्रहृता । हुवे । अहम् ॥ २ ॥

अग्रे पूर्व याभ्याम् अग्नीन्द्राभ्यामेव स्वः स्वर्गम् अजयन् स्वाधीनीकृतवन्तो देवाः । यौ च अग्नीन्द्रौ विश्वा विश्वानि भुवनानि भवन्ति भूतजातानि आतस्थतुः स्वपहिन्ना आक्रान्तवन्तौ । व्याप्तवन्तौ यौ च प्रचर्षणी प्रकर्षेण द्रष्टारौ । स्वोपासकसंबन्धिकर्मफलस्येति शेषः । यद्वा चर्षणय इति मनुष्यनाम । प्रकृष्टार्चर्षणयो मनुष्या यथोर्यष्ट्वेन सन्तीति तौ । वृषणा वृषणौ वर्षितारौ अभिमतफलस्य । वज्रबाहू । वज्रो बाहोर्ययोरिति व्यधिकरणबहुव्रीहिः । वज्रः वर्जकम् आयुधम् । आयुधपाणी अत एव वृत्रहृता वृत्रहणौ वृत्रं हतवन्तौ । तादृशम् अग्निम् इन्द्रं च अहं जयकामः हुवे आह्वयामि ॥

पहिले जिन दोनों अग्नि और इन्द्रके द्वारा ही देवताओंने स्वर्गको अपने वशमें किया था और जो इन्द्र और अग्निदेवता सकल भूतोंमें अपनी महिमासे व्याप्त होगए हैं और जो उपासक के कर्मफलको भली प्रकार देखने वाले हैं—वा अनेक पुरुष जिन का पूजन करते हैं ऐसे अभिमत फलकी वर्षा करने वाले, हाथमें वज्र धारण करने वाले वृत्रके नाशक इन्द्र और अग्निका विजयाभिलाषी मैं आह्वान करता हूँ ॥ २ ॥

सप्तमी ॥

उप॑ त्वा दे॒वो अ॒ग्रभी॑च्चम॒सेन॒ बृह॒स्पतिः॑ ।

इन्द्रं॑ भी॒र्भिर्न॒ आ वि॒श॒ यज॑मानाय सु॒न्वते॑ ॥ ३ ॥

उप । त्वा । देवः । अग्रभीत् । चमसेन । बृहस्पतिः ।

इन्द्र । गीऽभिः । नः । आ । विश । यजमानाय । सुन्वते ॥३॥

हे इन्द्र त्वा त्वां बृहस्पतिः बृहतां महतां देवानां पतिः हिता-  
चरणेन पालयिता एतन्नामा देवः चमसेन । चमन्ति अदन्ति अन्न  
सोमम् इति चमसः सोमपात्रम् । तेन उपाग्रभीत् उपगृहीतवान् ।  
अन्यत्र यथा न गच्छसि तथा स्वाधीनं कृतवान् इत्यर्थः । ॐ ग्रहे-  
र्बुद्ध् । “हृग्रहोर्भः०” ॐ । अतो बृहस्पतिपरिग्रहात् हे इन्द्र सुन्वते  
सोमम् अभिपुण्वते यजमानाय । ॐ “क्रियार्थोपपदस्य०” इति  
चतुर्थी ॐ । यजमानं धनादिनापोपयितुं नः प्रयोक्तव्याम् अस्माकं  
गीर्भिः स्तुतिभिः आ विश । स्तूयमान आगच्छेत्त्यर्थः ॥

हे इन्द्र ! आपको बड़े २ देवताओंका हिताचरण कर  
उनका पालन करने वाले बृहस्पति नामक देवने सोमपात्रके द्वारा-  
ग्रहण कर लिया है अर्थात् आप अन्यत्र न जा सकें इस  
प्रकार आपको स्वाधीन कर लिया है । अतः बृहस्पतिके पकड़ने  
से हे इन्द्र ! आप सोमका अभिपव करने वाले यजमानको धन  
आदिसे पुष्ट करनेके लिये हमारी स्तुतियोंसे प्रवेश करिये अर्थात्  
स्तुति पाते हुए आइये ॥ ३ ॥

अष्टमी ॥

इन्द्रस्य कुचिरंसि सोमधानं आत्मा देवानामुत्तमानु-  
पाणाम् ।

इह प्रजा जनय यास्तं आसु या अन्यत्रेह तास्तं रमन्ताम्

इन्द्रस्य । कुत्तिः । अस्ति । सोमधानः । आत्मा । देवानाम् ।

उत्त । मानुपाणाम् ।



इह । प्रजाः । जनय । वाः । ते । आसु । याः । अन्यत्र । इह ।  
ताः । ते । रमन्ताम् ॥ १ ॥

अत्र अतिसृज्यमानो वृषभः पूतभृत्पात्रं वा संबोध्यते । हे वृषभ  
पूतभृत्कलश वा त्वं सोमधानः । सोमो धीयते निधीयतेत्रेति सोम-  
धानः । ❀ अधिकरणे व्युट् ❀ । सोमाधारभूतः इन्द्रस्य कुक्षिः  
जठरम् असि । तथा । उतशब्दः चार्थे । देवानां मानुषाणां च  
आत्मा शरीरम् असि । किं च इह लोके प्रजाः पुत्रादिका जनय  
उत्पादय । आसु पुरोवर्तिनीषु गोषु यजमानादिरूपासु वा विष्णु ते  
त्वदर्थं या विद्यन्ते अन्यत्र अन्यस्मिन् देशे या गावो यजमानादि-  
रूपा वा प्रजा विद्यन्ते ताः प्रजा इह अस्मिन् लोके ते त्वदर्थं रम-  
न्ताम् सुखेन विहरन्तु । यद्वा इह आसु गोषु प्रजासु वा प्रजाः  
जनय यास्त्वदर्थम् आसु वभूवुः । तथा अन्यत्र च या भवन्ति ता  
इह अस्मिन् प्रदेशे त्वदर्थं रमन्ताम् । ❀ आसु । “ऊडिदम्” इति  
विभक्तोरुदात्तत्वम् । यद्वा । अस्तेर्लोदि प्रथमपुरुषवहुवचने असि  
अन्त्यलोपञ्छान्दसः । भूभावो व्यत्ययेन न प्रवर्तते । यद्वा उत्त-  
योगाद् अनिवाते प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वम् । अस गतिदीप्त्या  
दानेषु । अस्माद् वा लिट् । सुवन्तपक्षे तिङन्तपक्षे च स्वरः  
समानः ❀ ॥

(यहाँ उत्सृज्यमान वृषभ वा पूतभृत् पात्रको सम्बोधित किया गया  
है, किं—) हे वृषभ ! वा पूतभृत्कलश ! आप सोमको धारण करने  
वाले हैं, मनुष्योंके और देवताओंके आत्मा हैं, इस लोकमें  
आप प्रजाओंको उत्पन्न करिये, जो इन सामने खड़ी हुई गाँओंमें  
वा यजमानादिरूप प्रजाओंमें प्रजाएँ हैं वा अन्यत्र हैं वे आपके  
लिए सुखसे विहार करें ॥ १ ॥

नवमी ॥

शुम्भनी द्यावापृथिवी अन्तिसुम्ने महिब्रते ।

आपः सप्त सुस्रुवुर्देवीस्ता नो मुञ्चन्त्वंहंसः ॥ १ ॥

शुम्भनी इति । द्यावापृथिवी इति । अन्तिसुम्ने इत्यन्तिसुम्ने ।

महिब्रते इति महिऽब्रते ।

आपः । सप्त । सुस्रुवुः । देवीः । ताः । नः । मुञ्चन्तु । अंहंसः १

शुम्भनी शुम्भन्यौ । ॐ शुभ शुम्भ शोभार्थे । अस्मात्स्रुवुः ॐ । सर्वस्य शोभाकारिण्यौ । द्यावापृथिव्योर्मध्ये विश्वस्यावस्थानात् । अन्तःस्वप्ने । स्वपन्तीति स्वप्नाः अज्ञानावृता जनाः । ॐ “स्वपो नन्” इति नन् प्रत्ययः कर्तरि व्यत्ययेन भवति ॐ । स्वप्नाः अचेतनाश्चेतनाश्च ययोरन्तः मध्ये वर्तन्ते तादृश्या महिब्रते महद्ब्रतं कर्म ययोस्ते द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ । वर्तते इति शेषः । तथा सप्त सर्पणस्वभावाः सप्तसंगव्याका वा देवीः देव्यः द्योतमाना आपः सुस्रुवुः स्रवन्ति । ॐ स्र गतौ ॐ । ताः द्यावापृथिव्यौ आपश्च अंहंसः पापाद् नः अस्मान् मुञ्चन्तु मोचयन्तु पृथक् कुर्वन्तु ॥

द्यावापृथिवी परमशोभायुक्त हैं, उनके मध्यमें चेतन और अचेतन अज्ञानवृत्त व्यक्ति रहते हैं, इनका कर्म विशाल है, और दमकते हुए सात जल भी सरकते रहते हैं । ये द्यावापृथिवी और जल हमको पापसे मुक्त करें ॥ १ ॥

दशमी ॥

मुञ्चन्तु मा शपथ्याद्दयो वरुण्यादुत ।

अथो यमस्य पद्वींशाद् विश्वंस्माद् देवकिल्बिषात् २

मुञ्चन्तु । मा । शपथ्यात् । अथो इति । वरुण्यात् । उत ।

अथो इति यमस्य । पद्मीशात् । विश्वस्मात् । देवकिन्विपात् २

“मुञ्चन्तु मा शपथ्यात्” इत्येषा पूर्वमेव व्याख्याता [ ६. ६६. २ ]

[ इति ] दशमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

जल मुक्तको शपथजनित ब्राह्मणके आक्रोशरूप पापसे अलग रक्खें, और भूत बोलनेसे भोगने पढ़ने वाले वरुणके अधिकार के पापसे भी मुक्तको अलग करें और यमराजके अधिकारके पादबन्धनसे भी मुक्तको मुक्त रक्खें और क्या सब हीं देवसंधन्धी पापोंसे मुक्तको मुक्त रक्खें ॥

दशम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त ( ४३२ ) ॥

स्त्रीपुरुषयोः परस्परविद्वेषणार्थं वाणापर्ण्याख्यौपधिचूर्णं लोहि-  
तायाजायाः क्षीरद्रप्सेन संमिश्र्य “वृष्टिके” इति मृचेन अभिमन्त्र्य  
शरणायां परिकिरेत् ॥

तथा दौर्भाग्यकरणार्थम् “आ ते ददे” इत्यनया मन्त्रोक्तान्  
अवयवान् स्पृशन् अभिमन्त्रयेत् विद्वेषिणं दृष्ट्वा जपेद् वा ॥

सूत्रितं हि । “वृष्टिके [ ७. ११८ ] इति वाणापर्णम् । आ  
ते ददे [ ७. ११६ ] इति मन्त्रोक्तानि संस्पृशति । अपि चान्वाह”  
इति [ कौ० ४. १२ ] ॥

रक्षोग्रहादिभैषज्यार्थं “प्रेतो यन्तु” इत्यनया आज्यसमित्पुरो-  
डाशादिशङ्कुल्यन्तद्रव्याणां त्रयोदशानाम् अन्यतमं जुहुयात् ।  
“प्राग्नये [ ६. ३४ ] प्रेतः [ ७. ११६. २ ] इत्युपदधीत” इति  
हि [ कौ० ४. ७ ] सूत्रम् ॥

नैऋतकर्मसु चतुर्थे कर्मणि काकस्य जह्यायां सपुरोडाशं लोह-  
कण्टकं बद्ध्वा “प्र पतेतः” इत्यनया तं कार्कं विसृजेत् ॥

पञ्चमे नैऋतकर्मणि सूत्रोक्तलक्षणैर्वस्त्रैः परिधानाच्छादनशिरो-

वेष्टनानि कर्ता कृत्वा “या मा लक्ष्मीः” इत्यनया लोहितखण्ड-  
सहितम् उष्णीषम् उदके प्रक्षिपेत् ॥

“एकशतं लक्ष्म्यः” इत्यनया आच्छादनवस्त्रं लोहखण्डेन सह  
अप्सु प्रक्षिपेत् ॥

“एता एनाः” इत्यृचा परिधानीयं लोहेन सह अप्सु प्रक्षिपेत् ॥  
तद् उक्तं संहिताविधौ । “कृष्णचैलपरिहितः । निश्चैति-  
कर्माणि मयुङ्क्ते” इति मक्रम्य “कृष्णशकुनेः सव्यजङ्घायाम् अङ्गु-  
अनुग्रथ्य अङ्गे पुरोडाशं म पतेत इत्यनावृतं प्रपातयति । नीलं  
संधाय लोहितम् आच्छाद्य शुक्रं परिणष्ट द्वितीययोष्णीपम् अङ्गे-  
नोपसाद्य सव्येन सहाङ्गेन अवाङ् अप्सु प्रविध्यति । तृतीययाच्छन्नं  
चतुर्थ्या संवीतम्” इति [ कौ० ३. १ ] ॥

काम्यकर्मसु विघ्नरूपदुःस्वप्नदर्शनदोषपरिहारार्थं “म पतेतः  
पापि लक्ष्मि” इति चतसृभिर्दुःस्वप्नदर्शनम् अभिपिञ्चेत् । “चत्वारः  
खलु विनायका भवन्ति” इति [ शा० क० ४ ] मक्रम्य शान्ति-  
कल्पेऽभिहितम् । “ताभिष्ट्वाम् अभिपिञ्चामि पावमानीः पुनस्तु त्वा ।  
म पतेतः पापि लक्ष्मीति चतस्रः” इति [ शा० क० ६. १६ ] ॥

सर्वज्वरभैषज्यार्थं सूत्रोक्तप्रकारेण मण्डूकं घट्वा खट्वाया  
अथः संस्थाप्य तस्या उपरि स्थितं व्याधितं “नमो रूराय” इति  
मृचाभिमन्त्रितोदकेन अवसिञ्चेत् । सूत्रितं हि । “नमो रूरायेति  
शयने निवेश्य इषीकाचितं मण्डूकं नीललोहिताभ्यां सूत्राभ्या  
सकृत् घट्वा” इति [ कौ० ४. ८ ] ॥

स्वस्त्ययनकामः “आ मन्द्रैः” इति मृचेन इन्द्रस्य यागम् उप-  
स्थानं वा कुर्यात् । “त्युम् पु [ ७. ६० ] वातारम् [ ७. ६१ ]  
आ मन्द्रैः [ ७. १२२ ] इति स्वस्त्ययनकामः” इति हि [ कौ०  
७. १० ] सूत्रम् ॥

शवसंस्कारानन्तरं कर्ता प्रतिदिनं स्वस्त्ययनार्थम् “आ मन्द्रैः” इति जपेत् ॥

तथा अग्निष्टोमे हारियोजनग्रहहोमानुमन्त्रणम् “आ मन्द्रैः” इति कुर्यात् । “हारियोजनहोमम् आ मन्द्रैः” इति वैतानमूत्रात् [ वै० ३. १३ ] ॥

परसेनाज्ञासनार्थं “मर्माणि ते” इत्यनया कवचम् अभिमन्त्र्य धारणार्थं राज्ञे दद्यात् । “मर्माणि त इति क्षत्रियं संनाहयति” इति हि [ कौ० २. ७ ] सूत्रम् ॥

महाव्रते दुन्दुभ्याहननानन्तरं “मर्माणि ते” इति राजानं संनाहयेत् । उक्तं वैताने । “तीर्थदेशे राजानम् अन्यं वा मर्माणि त इति संनद्धम्” इति [ वै० ६. ४ ] ॥

स्त्री पुरुषमें परस्पर विद्वेष करानेके लिये बाणापर्णी नामक औषधके चूर्णको लाल बकरीके पतले दहीमें मिलाकर “वृष्टिके” धृचसे अभिमन्त्रित करके शय्यामें बखेर देय ।

तथा दौर्भाग्यकरणके लिये “आ ते ददे” ऋचासे मन्त्रमें कहे हुए अवयवोंका स्पर्श करके अभिमन्त्रण करे वा विद्वेषीको देख कर जप करे ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—“वृष्टिके ( ७।११८ ) इति बाणापर्णीम् । आ ते ददे ( ७।११६ ) इति मन्त्रोक्तानि संस्पृशति । अपि चान्वाह” ( कौशिकसूत्र ४।१२ ) ॥

राक्षस ग्रह आदिकी चिकित्साके लिये ‘प्रेतो यन्तु’ ऋचासे घृत समिधा पुरोडाश आदि तेरह द्रव्योंमेंसे एक द्रव्यकी आहुति देय । इस विषयमें कौशिकसूत्र ४।७ का प्रमाण भी है, कि—“प्राग्नये ( ६।३४ ] प्रेतः ( ७।११६।२ ) इत्युपदधीत” ॥

नैऋतकर्मके चतुर्थ कर्ममें काककी जह्वामें पुरोडाशसहित लोह-कण्टकको बाँध कर “प्र पतेतः” ऋचासे काँएकी ओड़ देय ।

पञ्चम नैऋतिकर्ममें सूत्रमें कहे हुए वस्त्रोंसे कर्ता परिधान ( विद्यौना ) आच्छादन ( ओढ़ना , शिरोवेष्टन ( पगड़ी ) करके 'यामा लक्ष्मीः' ऋचासे लोहखण्डसहित पगड़ीको जलमें फेंकदेय ।

“एकशतं लक्ष्म्यः” ऋचासे आच्छादनवस्त्रको लोहखण्डके साथ जलमें फेंक देय ।

“एता एनाः” ऋचासे परिधानीयवस्त्रको लोहेके साथ जलमें फेंक देय ।

इसी बातको संहिताविधिमें कहा है, कि—“कृष्णचैलपरिहितः । निऋतिकर्माणि प्रयुक्ते” इति प्रक्रम्य ‘कृष्णशकुनेः सव्यजङ्घायां अङ्गुम् अनुग्रथ्य अंके पुरोडाशं प्र पतेत इत्यनाद्यृतं प्रपातयति । नीलं सन्धाय लोहितं आच्छाद्य शुक्रं परिणह्य द्वितीययोष्णीपं अंकेनोपसाद्य सव्येन सहांकेन अवाङ् अप्पु प्रविध्यति । तृतीय-याच्छन्नम् चतुर्थ्या सम्भीतम्” ( कौशिकसूत्र ३ । १ ) ॥

काम्यकर्मोंमें विघ्नरूप दुःस्वप्नके दर्शनकी दोषकी शान्तिके लिये ‘प्र पतेतः पापि लक्ष्मि’ इन चार ऋचाओंसे दुःस्वप्नदर्शन का अभिषेक करे । शान्तिकल्प ४ में ‘चत्वारः खलु विनायका भवन्ति ।—चार विनायक हैं’ का आरम्भ करके शान्तिकल्प ६ । १६ में कहा है, कि—‘ताभिर्घ्ना अभिषिञ्चामि पावमानीः पुनन्तु त्वा । प्र पतेतः पापि लक्ष्मीति चतस्रः’ ॥

सर्वज्वरकी चिकित्साके लिये सूत्रमें कही हुई रीतिसे मेंढक को बाँध कर खट्वाके नीचे स्थापित करे फिर उस खट्वाके ऊपर स्थित रोगीको ‘नमो रूराय’ इस ऋचसे अभिमन्त्रित जल से अवसिञ्चित करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—‘नमो रूरायेति शयने निवेश्य इपीकाचितं मण्डकं नीललोहिताभ्यां सूत्राभ्यां सकृत् वदन्वा नमो रूरायसे खाट्मे बैठा कर सीकों से घिरे हुए मण्डककको नीले और लाल डोरोंसे बगलमें बाँध कर” ( कौशिकसूत्र ४ । ८ ) ॥

स्वस्त्ययनको चाहने वाला 'आ मन्द्रैः' ऋच से इन्द्रका याग वा उपस्थान करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । १० का प्रमाण है, कि—'त्यमृषु ( ७ । ६० ) ज्ञातारम् ( ७ । ६१ ) आ मन्द्रैः ( ७ । १२२ ) इति स्वस्त्ययनकामः' ॥

शवसंस्कारके अनन्तर कर्ता प्रतिदिन स्वस्त्ययनके लिये 'आ मन्द्रैः' को अपे ।

तथा अग्निष्टोममें 'आ मन्द्रैः' से हारियोजनग्रहहोमका अनु-मन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । १३ का प्रमाण है, कि—'हारियोजनहोमं आ मन्द्रैः' ॥

शत्रुकी सेनाको डरानेके लिये 'मर्माणि ते' ऋचासे कवचको अभिमन्त्रित करके धारण करनेकेलिये राजाको देवे । इस विषय में कौशिकसूत्र २ । ७ का प्रमाण भी है, कि—'मर्माणि त इति जत्रियं संनाहयति' ॥

महाव्रतमें दुन्दुभिको ताडित करनेके अनन्तर 'मर्माणि ते' से राजाको कवच पहिरावे ।

इसी बातको वैतानसूत्र ६ । ४ में कहा है, कि—“तीर्थदेशे राजानं अन्यं वा मर्माणि त इति सन्नद्धम्” ॥

तत्र प्रथमा ॥

तृष्टिके तृष्ट्वन्दन उदमं छिन्धि तृष्टिके ।

यथा कृतद्विष्टासोमुष्मै शेप्यावते ॥ १ ॥

तृष्टिके । तृष्ट्वन्दने । उद । अमृषु । छिन्धि । तृष्टिके ।

यथा । कृतद्विष्टा । असः । अमुष्मै । शेप्यावते ॥ १ ॥

हे तृष्टिके । कुत्सिता तृष्टा तृष्टिका । ❀ “कुत्सिते” इति क-प्रत्ययः । जितृष पिपासायाम् इत्यस्मात् तृष्टशब्दः ❀ । अति-

पिपासया अन्तः शरीरे दाहो जन्यते । अत्र जन्ये जनकशब्दः ।  
अतः तृष्टशब्दस्य दाहजनकत्वमात्रमेव अत्रार्थो विवक्षितः । हे  
कुत्सिते दाहजनिके हे वाणापण्यारुण्यापधे हे तृष्टवन्दने । वन्दना  
नाम लतानां वृक्षाणां चोपरि मरुदास्तदीयशाखाम् आवेष्टमाना  
विभिन्नपर्णलताविशेषाः । तृष्टाः दाहजनिका वन्दना लता-  
विशेषा यस्याः सा ओपधिः स्वयमपि दाहजनिका दाहकलतोपेता  
च । एतादृशि अतिरुसे ओपधे त्वम् अमूं स्त्रियम् उच्छिन्धि उद्गृह्य  
विभिन्नां कुरु । भोक्तुः पुरुषाद् वलात्कारेण पृथक्कुर्वित्यर्थः ।  
उच्छेदनप्रकारमेवाह । हे तृष्टिके कोपजनिके हे ओपधे शोष्यावते ।  
शोष इति पुंस्मजननस्य नाम । तत्र भवं शोष्यं वीर्यं तद्वते प्रजनन-  
सामर्थ्यवते संभोगक्षमाय अमुष्मै पुरुषाय यथा कृतद्विष्टा कृतं  
संपादितं द्विष्टं द्वेषणं क्रोधो यथा द्वेषकारिणी यथा येन प्रकारेण  
असः भवेः । ❀ अस्तेर्लेटि अडागमः ❀ । योपिदोषधयोः अभे-  
दविवक्षया भवेरिति मध्यमपुरुषप्रयोगः । यद्वा । ❀ अस इति ।  
तिपः स्थाने व्यत्ययेन सिप् ❀ । यथा असौ योषित् पुरुषाय द्विष्टा  
भवेत् तथा अमूं उच्छिन्धीति ॥

हे कुत्सित दाहको उत्पन्न करने वाली हे तृष्टाको उत्पन्न करनेकी  
लता वाली ! तू इस स्त्रीको भोक्ता पुरुषके पाससे वलात्कार-  
पूर्वक पृथक् कर । हे कोपजनिके ओपधे ! इस प्रजननसामर्थ्य  
वाले संभोगक्षमपुरुषके लिये यह जिस प्रकार द्वेष उत्पन्न करने  
वालीहो तिस प्रकार कर ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

तृष्टासि तृष्टिका विपा विपातक्युसि ।

परिवृक्ता यथासंस्थपभस्यं वशेवं ॥ २ ॥

तृष्टा । असि । तृष्टिका । विपा । विपातकी । असि ।



परिवृक्ता । यथा । अससि । ऋषभस्य । वशाऽद्व ॥ २ ॥

हे ओषधे तृष्टिका कुत्सिता दाहजनिका त्वं तृष्टा दाहजनक-  
स्वभावा असि भवसि । तृतीयपादगतो यथाशब्दः अत्रापि अनु-  
षज्यते । यथा तृष्टासि । यथा च विषा विषस्वरूपा त्वं विषातकी ।  
❀ तकि कृच्छ्रजीवने ❀ । विषम् आतङ्कयति संयोजयतीति विषा-  
तकी । विषस्य संयोजयित्री असि । यथा च परिवृक्ता सर्वैः परि-  
वर्जिता अससि भवसि । स्पण्डुम् अयोग्यासि । चरमः पादो  
दृष्टान्तः । ऋषभस्य पुंगवस्य वशेव यथा वशा वन्ध्या गौः पुंग-  
वस्य परिवर्जनीया भवति एवम् इयं योषिदपि भोगयोग्या च न  
भवेत् ॥ यद्वा एकं विशेषणम् ओषधिपरतया द्वितीयं योषित्परतया  
न्याख्येयम् । यथा ओषधे त्वं तृष्टासि एवम् इयं योषित् तृष्टिका  
पुरुषस्य क्रोधरूपदाहजनिका भवेत् । यथा च ओषधे त्वं विषात-  
वसि एवम् इयं योषित् विषा पुरुषस्य विषरूपिणी स्यात् । यथा  
विषम् अभोज्यम् एवम् इयम् इति विपेत्युक्तम् । यथा च ओषधे  
त्वं परिवृक्ता सर्वैः प्राणिभिः परिवर्जिता अससि भवसि एवम्  
इयं योषित् स्वपुरुषस्य परिवृक्ता संभोगेन त्यक्ता भवेत् । तत्र  
दृष्टान्तः । ऋषभस्य वशेवेति । यथा पुंगवस्य दन्ध्या गौर्भोग्या  
न भवति एवम् इयं पुरुषस्य भोग्या न स्याद् इति ॥

हे कुत्सित दाहको उत्पन्न करने वाली तृष्टिका औषधे ! तू  
दाहजनक स्वभाव वाली है विषस्वरूप है, इस कारण तू वन्ध्या  
गौ जिस प्रकार वृषभसे परित्यक्त रहती है, तिस प्रकार तू सबसे  
परित्यक्त रहती है । ( दूसरा अर्थ ) हे औषधे ! जैसे तू तृष्टिका  
( दाहजनिका ) है इसी प्रकार यह स्त्रीपुरुषके क्रोधरूप दाहको  
उत्पन्न करने वाली हो हे ओषधे ! जैसे तू विषातकी है इसी  
प्रकार यह पुरुषके लिये विषकी समान लगे अर्थात् जिस प्रकार  
विष अभोज्य होता है ऐसे ही यह अभोग्या होजाय । हे औषधे

जैसे सब माणी तुझको छोड़ देने हैं, तिसी प्रकार पुरुष इस स्त्री को त्याग देय । उसमें दृष्टान्त यह है, कि-जैसे साँड़के लिये बंध्या गाँ भोग्या नहीं होती है, इसी प्रकार यह पुरुषके भोगके योग्य न होवे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

आ ते ददे वृक्षणाभ्य आ तेहं हृदयाद् ददे ।

आ ते मुखस्य संकाशात् सर्वं ते वर्च आ ददे ॥ १ ॥

आ । ते । ददे । वृक्षणाभ्यः । आ । ते । अहम् । हृदयात् । ददे ।

आ । ते । मुखस्य । समुत्काशात् । सर्वम् । ते । वर्चः । आ । ददे । १

हे नारि ते तव वृक्षणाभ्यः । ऊरुसंधिर्वृक्षणा इत्युच्यते । तेन स्त्रीप्रजननं लक्ष्यते । स्त्रीलिङ्गत्वं योनिशब्दापेक्षया बहुवचनं तु अवयवबहुत्यापेक्षया । यद्वा । ॐ वृक्ष रोधे इति धातुः । रुध्यते पुरुषो यैरिति । वृक्षणाः । व्यत्ययेन टाप् ॐ । कटिविकटयूरुपावेभ्य इत्यर्थः । तेभ्योऽङ्गेभ्यः वर्चः सौभाग्यलक्षणं तेजः आ ददे स्त्रीकरोमि । अपहरामीत्यर्थः । तथा हे नारि ते तव हृदयात् समीचीनपदार्थव्यापिनो धीरान्मनसः संकाशाद् वर्चः साधुपुरुषध्यानरूपं तेजः अहम् आ ददे । नारीविषयदर्भाग्यकामोहम् अपहरामीत्यर्थः । तथा ते तव मुखस्य विश्वाहादकस्य वदनस्य संकाशाद् वर्चः विश्वसंमोहनरूपं तेजः । आ इति उपसर्गश्रुतेर्ददे इत्यपहः । किं बहुना ते तव सर्वम् सर्वान्वयवर्निवर्चः सौभाग्यलक्षणं तेजः आ ददे अपहरामि । ॐ “आदो दोनास्यविहरणे” इति आत्मनेपदम् ॐ ॥ अयं मन्त्रः प्रकरणात् स्त्रीविषयदर्भाग्यकरणे विनियुज्यते ॥

हे नारि ! जिनसे पुरुष रुँघता है मोहको उत्पन्न होता है उन

तेरे ऊरु कटि विकटि पैर आदि अङ्गोंसे मैं सोभाग्यरूप तेजको ग्रहण करता हूँ । और हे नारि ! तेरे समीचीनपदार्थका ध्यान करने वाले धीर मनसे साधु पुरुषका ध्यान करने योग्य तेजको नारीविषयकदौर्भाग्यको चाहने वाला मैं अपहरण करता हूँ । और तेरे मुख से सबको आल्हादित करने वाले तेजका मैं अपहरण करता हूँ, अधिक क्या मैं तेरे सब अवयवोंमें विद्यमान सौभाग्यरूप तेजको दूर करता हूँ ( इस मन्त्रका प्रकरणवश स्त्रीविषयकदौर्भाग्यकरण में विनियोग होता है ) ॥ १ ॥

चतुर्थी ॥

प्रेतो यन्तु व्याध्यः प्रानुध्याः प्रो अशस्तयः ।

अग्नी रक्षस्विनीर्हन्तु सोमो हन्तु दुरस्यतीः ॥ २ ॥

प्र । इतः । यन्तु । विऽआध्यः । प्र । अनुऽध्याः । प्रो इति । अशस्तयः ।

अग्निः । रक्षस्विनीः । हन्तु । सोमः । हन्तु । दुरस्यतीः ॥ २ ॥

व्याध्यः आधयो मानस्यः पीडाः । विविधा मनोनिष्ठाः पीडा व्याधयः रोगा वा । इतः अस्माद् रक्षोग्रहादिगृहीतात् पुरुषात् प्र यन्तु प्रगच्छन्तु । ॐ व्याङ्पूर्वाद् दधाते किः । “संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः” इति “जसि च” इति विहितस्य गुणस्याभावे यण् आदेशः ॐ । यद्वा विविधानि आध्यानानि दुश्चिन्तनानि प्रगच्छन्तु । ॐ व्याङ्पूर्वाद् ध्यायते : “अन्येभ्योपि दृश्यते” इति क्विप् संप्रसारणे च यण् आदेशः ॐ । तथा अनुध्याः अनुध्यानानि रक्षोग्रहादिविषयाणि अनुगतानि संततानि स्मरणानि प्र । यन्तु इति अनुपङ्गः । तथा अशस्तयः अस्तुतयः परकृता निन्दाः हिंसा वा प्रो प्रैव यन्तु । किं च अग्निर्देवः रक्षस्विनीः रक्षो राक्षसः तद्वतीः तत्तद्विताः पिशाचीः हन्तु विनाशयतु । सोमश्च दुरस्यतीः दुष्टं परेषाम् इच्छन्तीः

हन्तु । ❀ “दुरस्युर्द्रविणस्युर्दृषण्यति रिपण्यति” इति दुष्टशब्दस्य  
क्यचि दुरस्भावो निपात्यते । तदन्तात् शतृप्रत्ययः । “उगितश्च”  
इति ङीप् ❀ ॥

तुम्हारी विविध प्रकारकी मानसी पीड़ायेँ वा व्याधियेँ दूर  
होजावेँ । और राक्षस आदिके सब समय सदा रहनेवाले स्मरण  
दूर होजावेँ । और परकृतनिन्दायेँ दूर होजावेँ । अग्निदेवता  
राक्षसियों सहित पिशाचियोंको नष्ट कर डालें । और सोमदेव  
भी दूसरोंका घुरा चाहने वाली पिशाचियोंको नष्ट कर डालें २  
पञ्चमी ॥

प्र पतेतः पापि लक्ष्मि नश्येत् प्राप्नुतः पत ।

अयस्मयेनाङ्केन द्विपते त्वा संजामसि ॥ १ ॥

प्र । पत । इतः । पापि । लक्ष्मि । नश्य । इतः । प्र । अमुतः । पत ।

अयस्मयेन । अङ्केन । द्विपते । त्वा । आ । संजामसि ॥ १ ॥

हे पापि पापरूपिणि लक्ष्मि । अलक्ष्मीत्यर्थः । ❀ “केवल-  
मामक०” इत्यादिना पापशब्दात् ङीप् । पापि लक्ष्मि इत्युभयत्र  
“अम्भ्वार्थनयोर्ह्रस्वः” इति ह्रस्वत्वम् ❀ । इतः अस्मात् प्रदेशात्  
प्र पत प्रगच्छ । तथा इतः अस्मिन् प्रदेशे । ❀ सप्तम्यर्थे तसिः ❀ ।  
नश्य अदृष्टा विनष्टा भव । ❀ एष अदर्शने । दैवादिकः ❀ ।  
किं च अमुतः । अदःशब्दो विप्रकृष्टवाची । अतिदूरात् देशादपि  
प्र पत प्रगच्छ । अपि च हे अलक्ष्मि अतिदूराद् देशादपि प्र-  
गच्छन्ती त्वा त्वाम् अयस्मयेन अयोमयेन अङ्केन वरटकेन सह  
द्विपते शत्रवे सचाममि संबन्धीमः । ❀ पच समवाये अयस्मये  
नेति । “अयस्मयादीनि च्छन्दसि” इति निपातनाद् भसंज्ञायां  
पदसंज्ञानिवन्धनरुत्वाभावः ❀ ॥

हे पापरूपिणि लक्ष्मि अर्थात् अलक्ष्मि ! इस प्रदेशसे जा तथा इस प्रदेशमें नष्ट हो जा और दूरसे भी दूर देशमें चली जा । हे अलक्ष्मि ! अति दूर देशको भी जाती हुई तुझको हम लोहे के काँटेके साथ शत्रुसे संयुक्त करते हैं ॥ १ ॥

पृष्ठी ॥

या मां लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टाभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम्  
अन्यत्रास्मत् सवितस्तामितो धा हिरण्यहस्तो वसु नो  
रराणः ॥ २ ॥

या । मा । लक्ष्मीः । पतयालूः । अजुष्टा । अभिचस्कन्द ।  
वन्दनाऽइव । वृक्षम् ।

अन्यत्र । अस्मत् । सवितः । ताम् । इतः । धाः । हिरण्यहस्तः ।  
वसु । नः । रराणः ॥ २ ॥

पतयालूः पातयित्री दौर्गत्यकारिणी । ॐ पत गत्याम् इति चुरादौ अदन्तः पठ्यते । तस्माद् आलुच् प्रत्ययः ॐ । अजुष्टा अभिया निन्द्या या लक्ष्मीः मा माम् अभिचस्कन्द अभितो व्याप्ता वर्तते । तत्र दृष्टान्तः वन्दनेव वृक्षम् इति । वन्दना लताविशेष इति “वृष्टिके वृष्टवन्दने” इत्यत्र [ ११८ ] उक्तम् । सा यथा वृक्षम् अभित आवेष्ट्य वर्तते । ॐ स्कन्दिर्गतिशोपणयोः ॐ । अलक्ष्मीः मा मां शोपयामास वा । यथा वृक्षं वन्दना शोपयति । प्ररूढवन्दनस्तरुः शुष्यतीति प्रसिद्धम् । हे सवितः सर्वस्य प्रेरक देव ताम् अलक्ष्मीम् अस्मत् अस्मत्तः इतः अस्माद् अन्यत्र प्रदेशे धाः वेदि स्थापय । ॐ दधातेर्लेटि “इतश्च लोपः०” इति सिप इकार-

( ४२० ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

लोपः ॐ । किं कुर्वन् । हिरण्यहस्तः सुवर्णयुक्तपाणिः हिरण्य-  
पाणिर्वा नः अस्माकं वसु धनं रराणः प्रयच्छन् । ॐ रा दाने ।  
लिटः कानच् ॐ । “हिरण्यपाणिम् ऊतये सवितारम् उप ह्वये”  
[ ऋ० १. २२. ५ ] इत्यादौ सवितुर्हिरण्यहस्तत्वम् आम्नायते ॥

दुर्गति देने वाली अमिय जो लक्ष्मी मेरे चारों ओर वृक्षको  
सुखाने वाली वन्दनाकी समान व्याप्त है, अर्थात् मुझको सुखा  
रही है, ( यह प्रसिद्ध ही है, कि-जिसके ऊपर वन्दना चढ़  
जाती है वह वृक्ष सुख जाता है ) हे सूर्यदेव ! आप सुवर्णको  
हाथमें ले ! हमको सुवर्ण देते हुए उस अलक्ष्मीको इस हमारे  
स्थानसे दूसरे स्थानमें भेज दीजिये ॥ २ ॥

सप्तमी ॥

एकशतं लक्ष्म्यो३ मर्त्यस्य साकं तन्वा जनुपोधि जाताः  
तासां पापिष्ठा निस्तिः प्र हिरण्य शिवा अस्मभ्यं  
जातवेदो नि यच्छ ॥ ३ ॥

एकशतम् । लक्ष्म्यः । मर्त्यस्य । साकम् । तन्वा । जनुपः ।  
अधि । जाताः ।

तासाम् । पापिष्ठाः । निः । इतः । प्र । हिरण्यः । शिवाः ।  
अस्मभ्यम् । जातवेदः । नि । यच्छ ॥ ३ ॥

एकशतम् एकाधिरुशतसंख्याका लक्ष्म्यः मर्त्यस्य मरणधर्मणः

‡ ऋग्वेदसंहिता १ । २२ । ५ में कहा है, कि-“हिरण्यपाणिम्  
ऊतये सवितारम् उपह्वये ।-मैं सुवर्णपाणि सूर्यदेवका रक्षाके लिये  
आह्वान करता हूँ ॥ २-॥

मनुष्यस्य तन्वा शरीरेण साकम् सह जनुषः । ❀ अधिः पञ्च-  
म्यर्थानुवादी ❀ । जन्मनः उत्पत्तिप्रभृति जाताः उत्पन्नाः । मनु-  
ष्यस्य शरीरोत्पत्तिसमकाल एव एकशतं लक्ष्म्य उत्पन्नाः । तासां  
लक्ष्मीणां मध्ये पापिष्ठाः अतिशयेन पापीः अलक्ष्मीः इतः अस्मात्  
प्रदेशाद् निः निःशेषं प्र हिएमः प्रेषयामः अपसारयामः । ❀ हि  
गतौ वृद्धौ च । स्वादित्वात् श्नुः । “हिनु मीना” इति एत्वम् ।  
“लोपश्चास्यान्यतरस्यां भ्रोः” इति उकारलोपः ❀ । हे जातवेदः  
जातानां वेदितः अग्ने तासां मध्ये याः शिवाः मङ्गलकारिण्यो  
लक्ष्म्यः ताः अस्मभ्यं नि यच्छ नियमय । स्थापयेत्यर्थः । ❀ यमेः  
“इषुगमियमां छः” इति छ्वा देशः ❀ । यद्वा नि यच्छ निनरां  
प्रयच्छ । ❀ दाण् दाने । “पाप्त्रा०” इत्यादिना यच्छादेशः ❀ ॥

एकसौ एक लक्षिमयें मनुष्यके जन्मके साथ उत्पन्न हुई हैं, उन  
मेंसे परम पापभरी (अलक्षिमयों) को हम यहाँसे पूर्णरूपसे विदा  
करते हैं । हे जातवेदा अग्ने ! इनमें जो कल्याणारिणी लक्षिमयें हैं  
उनमें हमको नियमपूर्वक स्थापित करिये ॥ ३ ॥

अष्टमी ॥

ए॒ता ए॒ना व्या॒करं॑ खि॒ले गा वि॒ष्ठिता॑ इव ।

रम॑न्तां पु॒ण्यां ल॒क्ष्मी॒र्याः पा॒पीस्ता॑ अ॒नीन॑शम् । ४ ।

ए॒ताः । ए॒नाः । वि॒आ॒करम् । खि॒ले । गाः । वि॒स्थिताः । इ॒व ।

रम॑न्ताम् । पु॒ण्याः । ल॒क्ष्मीः । याः । पा॒पीः । ताः । अ॒नीन॑शम् ४

ए॒ताः निर्दि॑ष्टा ए॒नाः एक॑शतं लक्ष्म्य इत्यन्वादिष्टा लक्ष्मीः व्या-  
करम् विविच्य आकरोमि द्विधा करोमि । ❀ करोतेर्लुङि “क-  
मृदुरुहिभ्यः०” इति च्लेः अङ् । “ऋदृशोङिगुणः” इति गुणः ❀ ।

तत्र दृष्टान्तः । यथा खिले व्रजे विष्टिताः विशेषेण संभूय स्थिता  
एकत्र प्रदेशे स्थिता गा यथा विविञ्चन्ति गोपालास्तत्तत्कार्य-  
करणाय ॥ तत्र पुण्याः कल्याण्यो लक्ष्मी लक्ष्म्यः रमन्ताम् मयि  
सुखेन निवसन्तु । याः पापीः पापकारिण्यो दुर्लक्ष्म्यः ताः सर्वा  
अनीनशन् । नश्यन्तु इत्यर्थः । ❀ स्वार्थिको णिच् ❀ । नाश-  
यन्तु वा देवाः ॥

मैं इन एक सौ एक लक्ष्मियोंको विचार कर दो भागोंमें इस  
प्रकार विभक्त करता हूँ, ( जिस प्रकार ) गोठमें वर्तमान गोपाल  
गौश्रोंको विभक्त कर लेते हैं । इन लक्ष्मियोंमेंसे कल्याणमयी  
लक्ष्मियें मुझमें रमण करें और पापकारिणी सब लक्ष्मियें-  
दुर्लक्ष्मियें नष्ट होजायें ॥ ४ ॥

नवमी ॥

नमो रूराय च्यवनाय नोदनाय धृष्णवे ।

नमः शीताय पूर्वकामकृत्वने ॥ १ ॥

नमः । रूराय । च्यवनाय । नोदनाय । धृष्णवे ।

नमः । शीताय । पूर्वकामकृत्वने, ॥ १ ॥

च्यवनाय । ❀ च्युङ् प्लुङ् गतौ । “अनुदात्तेतश्च इत्यादेः”  
इति युच् ❀ । च्यावयित्रे शारीरस्वेदपातयित्रे नोदनाय । ❀ नुद  
प्रेरणे ❀ । इतस्ततः प्रेरकाय विक्षेपयित्रे धृष्णवे । ❀ धृष मस-  
हने इति चुरादौ पठ्यते । “आधृपाङ् वा” इति विकल्पितो णिच् ।  
“त्रसिष्टविष्टपिप्तिपेः क्तुः” इति क्तुः ❀ । मसहनकारिणे  
रूराय धृष्णज्वराय ज्वराभिमानिने देवाय नमः नमस्कारोस्तु ।  
तथा पूर्वकामकृत्वने पूर्वेषाम् अभिलाषाणां कर्त्रे ज्ञेत्रे शीताय  
ज्वराय शीतज्वराभिमानिने नमः नमस्कारोस्तु । शीतज्वरो हि इदं



करोमि इदं करोमीति पूर्वं काम्यमानम् अभिलाषं निकृन्तति चिरकालं बाधाकारित्वात् । ❀ कृती छेदने । “अन्येभ्योपि दृश्यन्ते” इति कनिष् । “नेद्वशि कृति” इति इणिनपेधः ❀ ॥

शरीरमेंसे पसीना बहाने वाले, शरीरको इधर उधर फिक्कवाने वाले, धर्षक उष्णज्वर ( के अभिमानी ) रूरके लिये नमस्कार हो, तथा पहिली अभिलाषाओंको छिन्न भिन्न करनेवाले शीतज्वरके अभिमानी शीतके लिये नमस्कार हो अर्थात् शीतज्वर ही यह करूँगा वह करूँगा आदि अभिलाषाओंको चिरकाल तक रहनेके कारण नष्ट कर डालता है ॥ १ ॥

दशमी ॥

यो अन्येद्युरुभयेद्युरभ्येतीमं मण्डूकमभ्येत्त्वव्रतः ॥ २ ॥

यः । अन्येद्युः । उभयेद्युः । अभिऽएति । इमम् । मण्डूकम् ।

अभि । एतु । अव्रतः ॥ २ ॥

यो ज्वरः अन्येद्युः अन्यस्मिन् दिवसे इमं पुरुषम् अभ्येति अभिगच्छति । यश्च उभयेद्युः उभयोर्दिवसयोः । अतीतयोरिति शेषः । अभ्येति । चातुर्थिकज्वर इत्यर्थः । इदम् अनियतकालागामिनो ज्वरस्य उपलक्षणम् । ❀ “सद्यः परत् परायैपमः०” इति सूत्रे अन्येद्युरुभयेद्युरिति शब्दौ निपातितौ ❀ । अव्रतः । व्रतशब्दौ नियमवाची । अनियतकालः स ज्वरः मण्डूकम् भेकम् अभ्येतु अभिगच्छतु ॥

जो ज्वर तीसरे दिन इस पुरुषको आजाता है अथवा चौथे दिन आजाता है, ऐसा अनियमित ज्वर मण्डूक पर उतर जावे २

एकादशी ॥

आ मन्दैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूरैर्मभिः ।

( ४२४ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

मा त्वा के चिद् वियमन् विं न पाशिनोति धन्वेव  
ताँ इहि ॥ १ ॥

आ । मन्त्रैः । इन्द्र । हरिभिः । याहि । मयूररोमभिः ।

मा । त्वा । के । चित् । वि । यमन् । विम् । न । पाशिनः ।

अति । धन्वेऽव । तान् । इहि ॥ १ ॥

हे इन्द्र मन्त्रैः मदशीलैः स्तुत्यैर्वा मयूररोमभिः मयूररोमसदृश-  
रोमयुक्तैः श्यामवर्णैः हरिभिः अश्वैः आ याहि आगच्छ । हे इन्द्र  
त्वा त्वां के चित् स्तोतारः मा वि यमन् स्तुतिभिर्मा विशेषेण  
नियन्क्षन्तु । मा निरास्तुरित्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः विं न पाशिन  
इति । नशब्द उपमार्थे । यथा विम् पक्षिणं पाशिनः पाशवन्तो  
व्याधा पाशैर्व्यज्जन्ति तद्वत् । तान् अन्यान् स्तोतृन् अति । ॐ अति  
क्रमणे अतिः कर्मप्रवचनीयः ॐ । अतीत्य इहि गच्छ अस्मान् ।  
तत्र दृष्टान्तः धन्वेवेति । यथा धन्व निर्जलं मरुप्रदेशं पिपासिताः  
पान्थाः शीघ्रम् अतियन्ति तद्वत् । मन्त्रनिरिक्तान् अन्यान् स्तोतृन्  
अतीत्य अस्मान् एव शीघ्रम् आगच्छेत्यर्थः ॥

हे इन्द्र ! आप मदमाने और मयूरोंके रोमकी समान रोम वाले  
घोड़ोंके द्वारा यहाँ आइये । जैसे जल वाले बहेलिये पत्तीको घोंथ  
लेते हैं, इस प्रकार आपको कोई और स्तोता रोक न सके जैसे  
प्यासा मनुष्य मरुदेशको शीघ्र ही लॉव जाता है तिसी प्रकार  
आप उन अन्य स्तोताओंको लॉवकर शीघ्र हमारे पास ही आइये ?  
द्वादशी ॥

मर्माणि ते वर्मणा दद्यामि सोमंस्त्वा राजा मृतेनानु  
वस्ताम् ।

उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वानु देवा मदन्तु १

मर्माणि । ते । वर्मणा । द्वादयामि । सोमः । त्वा । राजा । अमृ-  
तेन । अनु । वस्ताम् ।

उरोः । वरीयः । वरुणः । ते । कृणोतु । जयन्तम् । त्वा । अनु ।  
देवाः । मदन्तु ॥ १ ॥

हे जयकाम राजन् ते त्वदीयानि मर्माणि मर्मस्थानानि वर्मणा  
कवचेन द्वादयामि प्रयोक्ता अहं संवृणोमि । - सोमो राजा त्वा  
त्वाम् अमृतेन अविनाशिना तेजसा वा अनु वस्ताम् मर्मच्छादना-  
नन्तरम् आच्छादयतु । ॐ वस आच्छादने । आदादिकः । अनु-  
दात्तेत् । लोटि “आम् एतः” इति आम् आदेशः ॐ ॥ तथा उरोः  
वहोरपि वरीयः वरुतरं सुखं वरुणः शत्रुनिवारकः एतन्नामा देवः  
ते तुभ्यं कृणोतु करोतु । ॐ वरीय-इति । वरुशब्दाद् ईयसुन् ।  
“मियस्थिर०” इत्यादिना वरू आदेशः ॐ ॥ तथा देवाः इन्द्राद्याः  
सर्वे जयन्तम् परसेनां त्रासयन्तं [ त्वा ] त्वाम् अनु मदन्तु अनु-  
हृष्यन्तु । जहि भिन्धि इत्येवंविधैर्वाक्यैः प्रोत्साहयन्तु इत्यर्थः ॥

तृतीयं सूक्तम् ।

सप्तमकाण्डे दशमोनुवाकः ।

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थाथतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

श्रीमद्राजाधिराजपरमेस्वरश्रीवीरहरिहरमहाराजधुरन्धरेण

सायणाचार्येण विरचिते अथर्वसंहिताभाष्ये

सप्तमकाण्डः समाप्तः ॥

( ४२६ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

हे जयाभिलाषिन् राजन् ! प्रयोग करने वाला मैं आपके मर्म-स्थानोंको कवचसे ढकता हूँ, मर्माच्छादनके अनन्तर राजा सोम आपको अविनाशी तेजसे सम्पन्न करें। और वरुण देवता आपको बड़ेसे बड़ा सुख देवें। और शत्रुसेनाको जीतते हुए आपका इन्द्र आदि देवता अनुमोदन करें अर्थात् मार डालिये, काट डालिये आदि वाक्योंसे आपको उत्साहित करें ॥ १ ॥

तृतीय सूक्त समाप्त ( ४३८ ) ॥

दशम अनुवाक समाप्त

इति श्रीअथर्ववेदसंहिताका सप्तम काण्ड ऋषिकुमार

प० रामस्वरूपशर्मात्मज सनातनधर्मपताका

सम्पादक ऋ० कु० प० रामचन्द्र

शर्मा कृत सायणभाष्यानुकूल

भाषानुवाद सहित

समाप्त.

॥ सप्तमः काण्डः समाप्तः ॥



❀ श्रीहरिः ❀

# अथर्ववेदसंहिता

## अष्टमं काण्डम्



सायणभाष्य और भाषानुवादसहित

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानाम् उपक्रमे ॥

यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥

वागीश आदि देवता सब कार्योंका आरम्भ करते समय जिनको प्रणाम करके कृतकृत्य होते हैं उन गजाननको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

यस्य निश्वासितं वेदा यो वेदेभ्योखिलं जगत् ॥

निर्ममे तम् अहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

वेद जिनके निःश्वासरूप हैं और जिन्होंने वेदोंके अनुसार सम्पूर्ण वेदोंकी सृष्टि की है उन विद्यातीर्थ महेश्वर-शंकर-को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥

अष्टमकाण्डे पञ्चानुवाकाः । तत्र आद्येनुवाके पञ्च सूक्तानि । तेषु “अन्तकाय मृत्यवे” इत्यादिसूक्तद्वयम् अर्थसूक्तम् इत्युच्यते । अनेन उपनयनकर्मणि माणवकस्य नाभिं संस्पृश्य आचार्यो जपं कुर्यात् । “उपनयनम्” प्रक्रम्य सूत्रितम् । “दक्षिणेन पाणिना नाभिदेशे संस्तभ्य जपति अन्तकाय मृत्यवे [ ८. १ ] आरभस्व” [ ८. २ ] इति [ कौ० ७. ६ ] ॥

तथा आयुष्कामस्य “अन्तकाय” इति सूक्तद्वयेन शरीरम् अभिमन्त्रयेत् ॥

तथा ऋषिहस्तेन आयुष्कामस्य शरीरम् अभिमन्त्रयेत् ॥

सूत्रितं हि । “उप मियम् [ ७. ३३ ] अन्तकाय मृत्यवे [ ८. १ ] आ रभस्व” [ ८. २ ] इति [ कौ० ७. ६ ] ॥

तथा अस्य अर्थसूक्तस्य आयुष्यगणे पाठाद् “विरवकर्मभिरायुष्यैः स्वस्त्ययनैराज्यं जुहुयात्” [ कौ० १४. ३ ] इत्यादिषु विनियोगोनुसंधेयः ॥

तथा त्रिशन्महाशान्तितन्त्रभूतायां महाशान्तौ “अन्तकाय” इत्यनेन जपं कुर्यात् । उक्तं नक्षत्रकल्पे । “पुनस्तदेव जप्यं तु शंतातीयम् अथावतः । अन्तकाया रभस्वेति” इति [ न० क० २३ ] ॥

आठवें काण्डमें पाँच अनुवाक हैं । पहिले अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं । इसमें “अन्तकाय मृत्यवे” ये दो सूक्त अर्थसूक्त कहलाते हैं । इस अर्थसूक्तसे उपनयनकर्ममें बालककी नाभिका स्पर्श कर आचार्य जप करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७।६ में कहा है, कि—“उपनयनम्” का आरम्भ करके फिर कहा है, कि—“दक्षिणेन पाणिना नाभिदेशे संस्तभ्य जपति अन्तकाय मृत्यवे (८।१) आ रभस्व (८।२) इति” ॥

तथा “अन्तकाय” इन दोनों सूक्तोंसे आयुष्कामके शरीरका अभिमन्त्रण करे ।

तथा ऋषिहस्तसे आयुष्कामके शरीरका अभिमन्त्रण करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७।६ का प्रमाण है, कि—“उप मियम् (७।३३) अन्तकाय मृत्यवे (८।१) आ रभस्व (८।२)” ॥

तथा इस अर्थसूक्तका आयुष्यगणमें पाठ होनेसे “विरवकर्मभिरायुष्यैः स्वस्त्ययनैराज्यं जुहुयात् ।—विरवकर्मगणके आयुष्यगणके और स्वस्त्ययनगणके मन्त्रोंसे घृतकी आहुति देय ।” इन का कौशिकसूत्र ७।६ आदिमें विनियोग करना चाहिये ।

तथा तीस महाशान्तियोंकी प्रधानरूप महाशान्तिमें 'अन्तकाय' से जप करे । इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि—“पुनस्त-  
देव जप्यं तु शन्तातीयं अथावतः । अन्तकाया रभस्वेति”  
( नक्षत्रकल्प २३ ) ॥

तत्र प्रथमा ॥

अन्तकाय मृत्यवे नमः प्राणा अपाना इह ते रमन्ताम् ।  
इहायमस्तु पुरुषः सहासुना सूर्यस्य भागे अमृतस्य  
लोके ॥ १ ॥

अन्तकाय । मृत्यवे । नमः । प्राणाः । अपानाः । इह । ते ।  
रमन्ताम् ।

इह । अयम् । अस्तु । पुरुषः । सह । असुना । सूर्यस्य । भागे ।  
अमृतस्य । लोके ॥ १ ॥

आयुष्कामस्य आयुर्वृद्धिः मृत्योरधीनेति तन्नमस्कार आदौ  
क्रियते । अन्तकाय अन्तं करोतीत्यन्तकस्तस्मै सर्वप्राणिनाशकर्त्रे  
मृत्यवे प्राणिवियोजकाय एतन्नामकाय देवाय नमः नमस्कारः ।  
अस्त्विति शेषः । हे आयुष्काम भागवत्कादे ते तव प्राणाः ।  
प्राणन्तीति प्राणाः वहिर्मुखसंचारिणो वायवः । अपानाः । अप  
अनन्तीत्यपानाः अवाङ्मुखसंचारिणः । ते च अन्तकानुग्रहाद्  
इह अस्मिन् शरीरे रमन्ताम् क्रीडन्तु । प्राणापहर्तुर्मृत्योर्नमस्कारेण  
प्रीतत्वात् तद्विषयभीतिम् अपहाय सुखेन संचरन्तु इत्यर्थः । प्राणा-  
पानयोर्व्यापारवृत्तेर्वहुत्वाद् बहुवचनप्रयोगः । एवं प्राणापानयो-  
रनपगम् आशास्य इदानीं तत्सहितस्य पुरुषस्य अनपगतिम्

आशास्ते । अयं प्राणप्रच्युतिं शङ्कमानः पुरुषः अमुना प्राणेन ।  
वृत्तिवहुत्वानपेक्ष्यात् सामान्याभिप्रायेण एकवचनम् । तेन सह  
सर्वदा अविनाभूतः सन् इह भूलोक एवास्तु भवतु । इह अस्त्विति  
यद् उक्तं तद् विशिनष्टि । सूर्यस्य आदित्यस्य भागे प्रदेशविशेषे  
भूलोके । सूर्यव्याप्तेर्विषयभूतास्त्रयो भागाः द्यौरन्तरिक्षं भूश्च ।  
तत्र अपेक्षितत्वाद् इह भागशब्देन भूलोकः परिगृह्यते । तम् एव  
विशिनष्टि । अमृतस्य लोके । अमृतशब्देनात्र पानादिरूपेणाव-  
स्थानम् अभिधीयते मनुष्यैराशास्यमानत्वात् । श्रूयते हि । “मजाम्  
अनु मजायसे तद् तु ते मर्त्यामृतम्” इति [ तै० ब्रा० १. ५. ५. ६ ] ।  
तथाविधस्य अमृतस्य लोके । लोच्यत इति लोकः स्थानं भूलोक  
इत्युक्तं भवति ॥

( आयुष्कामकी आयुर्वृद्धि मृत्युके अधीन है अत एव पहिले  
उसको ही नमस्कार करते हैं, कि-) अन्त करने वाले अन्तक,  
सकल प्राणियोंका नाश करने वाले मृत्यु नामक देवताके लिये  
नमस्कार है । वहिर्मुखसञ्चारी प्राणन करने वाले प्राण, और  
अवाद्मुखसञ्चारी अपान अंतकके अनुग्रहसे इस शरीरमें जींड़ा  
करें । तात्पर्य यह है, कि-प्राणका हरण करनेवाले मृत्युके नमस्कार  
के द्वारा मसन्न होने पर उसकी भीतिको छोड़ कर ( अनेक  
प्रकारकी व्यापारवृत्ति वाले ) प्राण और अपान सुखपूर्वक विच-  
रण करें । ( इस प्रकार प्राण और अपानके अनपगमनकी प्रार्थना  
कर अब उनके साथ वर्तमान पुरुषके अनपगमनकी आशा करते  
हैं, कि-) यह प्राणोंके छूटनेकी शङ्का करता हुआ पुरुष प्राणसे  
रहता हुआ मजा आदिसे अमृतलोक इस सूर्यके भागरूप  
भू लोकमें रहे + ॥ १ ॥

+ सूर्यव्याप्तिके द्यौ अन्तरिक्ष और भू ये तीन लोक हैं यहाँ  
अपेक्षित होनेसे भाग शब्दसे भूलोकका ही ग्रहण किया है और



द्वितीया ॥

उदेनं भगो अग्रभीदुदेनं सोमो अंशुमान् ।

उदेनं मरुतो देवा उदिन्द्राग्नी स्वस्तये ॥ २ ॥

उत् । एनम् । भगः । अग्रभीत् । उत् । एनम् । सोमः । अंशुमान् ।

उत् । एनम् । मरुतः । देवाः । उत् । इन्द्राग्नी इति । स्वस्तये । २ ।

भगो नाम आदित्यमूर्तिविशेषः । “अंशश्च भगश्च” [ तै०  
आ० १, १३, ३ ] इति अदितिपुत्राणां मध्ये श्रवणात् । सर्व-  
प्राणिभिर्भजनीयो भगो देवः एनं मूर्च्छालक्षणे अन्धे तमसि प्रवि-  
शन्तं पुरुषम् उद् अग्रभीत् उद्घृतवान् । ❀ “ह्यग्रहोर्मश्चन्दसि”  
इति भत्वम् ❀ ॥ तथा अंशुमान् अमृतमयैरंशुभिस्तद्वान् सोमो  
देवः । एनम् उत् । अग्रभीत् इत्यनुपज्यते । एवं मरुतः एकोन-  
पञ्चाशत्संख्याका देवा एनम् उत् । अग्रभीपुरिति वचनविपरि-  
णामेन अनुपङ्गः कर्तव्यः । एवम् इन्द्राग्नी इन्द्रश्च अग्निश्च उभा-  
वपि मुख्यौ देवौ उदग्रधीष्टाम् । अत्र द्विवचनविपरिणामः किम-  
र्थम् उदग्रहणम् इति तत्राह । स्वस्तये । सु अस्तीति स्वस्तिः ।  
क्षेमायेत्यर्थः ॥

भग ( सूर्य ) नामक सत्र प्राणियोंके भजने योग्य देवताने  
इस मूर्खारूप अन्धकारमें प्रवेश करते हुए पुरुषका उद्धार कर

पुत्र पौत्र आदिरूपमें वर्तमान रहनारूप अमृतत्वकी मंनुष्य प्रार्थना  
करते हैं, अत एव मर्त्यलोकको अमृतका लोक कहा है । तैत्ति-  
रीयब्राह्मण १ । ५ । ५ । ६ में कहा है, कि—प्रजाम् अन्तु प्रजायसे  
तदु ते मर्त्यामृतम् ।—जो तू प्रजारूपमें उत्पन्न होता है, हे मर्त्य !  
यही तेरा अमृतत्व है” ॥

( ४३२ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषाजुवादसहित ।

लिया है तथा ( अमृतमय ) किरणों वाले चन्द्रदेवने भी इसका उद्धार कर लिया है, उड़झास मरुद्गणोंने भी इसका उद्धार कर लिया है तथा इन्द्र और अग्निदेवताने भी इसका उद्धार करनेके लिये इसको ग्रहण कर लिया है ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इह तेसुरिह प्राण इहायुरिह ते मनः ।

उत् त्वा निःश्रुत्याः पाशेभ्यो दैव्या वाचा भरामसि

इह । ते । अमुः । इह । प्राणः । इह । आयुः । इह । ते । मनः ।

उत् । त्वा । निःश्रुत्याः । पाशेभ्यः । दैव्या । वाचा । भरामसि ३

हे आयुरर्प्यमान पुरुष ते अमुः मुख्यः प्राणरवचक्षुरादिः इह शरीरे अस्तु । तथा ते प्राणः पञ्चवृत्त्यात्मको वायुरपि इह अस्तु । एवं ते आयुरपि इह अस्तु । तथा ते मनोपि इह अस्तु । एते सर्वेपि त्वां विहाय अन्यत्र मापसरन्तु । हे गतासो पुरुष त्वा त्वां निःश्रुत्याः एतन्नामिकायाः पापदेवतायाः पाशेभ्यः बन्धनरज्जुभ्यः सकाशाद् दैव्या देवसंविन्विन्या वाचा मन्त्ररूपया उद्गरामसि ऊर्ध्वं भरामः हरामः नयामः ॥

हे आयुकी प्रार्थना करने वाले पुरुष ! तेरा मुख्य प्राण चक्षु आदि इस शरीरमें रहे, तथा पञ्चवृत्त्यात्मक प्राण भी इस शरीर में रहे, तेरी आयु भी इसी शरीरमें रहे और तेरा मन भी यहाँ ही रहे । अर्थात् ये सब तुझको छोड़ कर अन्यत्र न जावें । हे गतासो पुरुष ! तुझ निःश्रुति नामक पापदेवतार्क पाशोंसे दैवसंविन्विनी मन्त्ररूपा वाणीसे उद्धार करते हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

उत् क्रामातः पुरुष मावं पत्या मृत्योः पद्वीशमव-  
मुञ्चमानः ।

मा च्छित्था अस्मात्लोकादग्नेः सूर्यस्य संदृशः । ४।

उत् । क्राम । अतः । पुरुष । मा । अव । पत्थाः । मृत्योः ।

पद्वीशम् । अवमुञ्चमानः ।

मा । छित्थाः । अस्मात् । लोकात् । अग्नेः । सूर्यस्य । सम्दृशः ।

हे पुरुष त्वम् अतः अस्माद् मृत्युपाशनिचयाद् उत्क्राम उत्क्रमणं कुरु । माव पत्थाः अवपतनं मा कार्षीः । ॐ पद गतौ इत्यस्मात् लुकि “एकाच उपदेशेनुदात्तात्” इति इट्प्रतिषेधः । “भूलो भूति” इति सिचो लोपः ॐ । वद्धस्य कथम् उत्क्रमणं घटत इत्यत आह । मृत्योः हिंसकस्य देवस्य पद्वीशम् पादबन्धनपाशम् अवमुञ्चमानः विच्छिन्दन् अस्माद् भूलोकाद् मा च्छित्थाः छिन्नो मा भूः । ॐ छिदेर्लुङि पूर्ववह इट्प्रतिषेधः ॐ । किमर्थम् इति चेद् उच्यते । अग्नेः सूर्यस्य च संदृशः संदर्शनाद्धेतोः अग्नि-सूर्ययोरिचरकालसंदर्शनाय । चिरजीवनायेत्यर्थः । “ज्योक् च सूर्यं दृशे” इति हि श्रुतिः [ अ० १०. ६. ७ ] । ॐ संपूर्वाद् दृशेः संपदादित्वाद् भावे क्विप् ॐ ॥

हे पुरुष ! तू इस मृत्युके पाशजालसे उत्क्रमण कर, इसमें ही नीचेको मत गिर । तू हिंसक मृत्युदेवके पाशबन्धनको काट दे और इस भूलोकसे अग्नि और सूर्यदेवका दर्शन करनेके लिये ‡ छिन्न न हो ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

तुभ्यं वातः पवतां मातरिश्वा तुभ्यं वर्षन्त्वमृतान्यापः ।

‡ ऋग्वेदसंहिता १० । ६ । ७ में कहा है, कि—“ज्योक् च सूर्यं दृशे” ॥

सूर्यस्ते तन्वे शं तपाति त्वां मृत्युर्दयतां मा प्रमेष्टाः ५

तुभ्यम् । वातः । पवताम् । मातरिश्वा । तुभ्यम् । वर्पन्तु । अमृतानि । आपः ।

सूर्यः । ते । तन्वे । शम् । तपाति । त्वाम् । मृत्युः । दयताम् ।  
मा । प्र । मेष्टाः ॥ ५ ॥

पुनः प्ररणाभावं सोपपत्तिकम् आशास्ते । हे मृमूर्पो पुरुष तुभ्यं त्वदर्थं मातरिश्वा । माता अन्तरिक्षम् निर्मीयन्तेस्मिन् भूतानीति व्युत्पत्तेः । तस्मिन् श्वसितीति मातरिश्वा । तादृशो वातः वायुस्तव सुखाय पवताम् । ॐ पवतिर्गतिरुर्मा ॐ । संचरतु । तथा आपश्च तुभ्यं त्वदर्थम् अमृतानि वर्पन्तु सिञ्चन्तु । तथा सूर्यो देवस्ते तव तन्वे शरीराय शम् सुखं यथा भवति तथा तपाति तपतु । ॐ तप संतापे । अस्मात् लेट् । “लेटोढाटौ” इति आढागमः ॐ । एतत् सर्वं मृत्योरनुग्रहम् अन्तरेण न घटत इति तदनुग्रहम् आशास्ते । हे पुरुष त्वां मृत्युर्देवो दयताम् रक्षां करोतु । अतस्त्वं मा प्र मेष्टाः मृतिं मा गाः । ॐ मीट् हिंसायाम् । लुङि पूर्ववद् इट्प्रतिषेधः ॐ ॥

हे मृमूर्पु पुरुष ! जिसमें मृतोंका निर्माण होता है उस मातारूप अन्तरिक्षमें श्वास लेने वाले मातरिश्वा वायु तेरे लिये सुखपूर्वक चले, और जल भी तेरे लिये अमृतकी वर्षा करें, सूर्य-नारायण तेरे शरीरको जिस प्रकार सुख पहुँचे तिस प्रकार तपें, ( यह सब मृत्युके अनुग्रहके बिना नहीं होसकता अतः मृत्युसे आशा करते हैं, कि—) मृत्युदेवता तेरे ऊपर दया करें, इस लिये तू मृत्युको प्राप्त न हो ॥ ५ ॥

पृष्ठी ॥

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि  
 आ हि रोहेमममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि  
 उत्स्यानम् । ते । पुरुष । न । अवस्यानम् । जीवातुम् । ते । दक्ष-  
 तातिम् । कृणोमि ।

आ । हि । रोह । इमम् । अमृतम् । सुखम् । रथम् । अथ ।  
 जिर्विः । विदथम् । आ । वदासि ॥ ६ ॥

हे पुरुष ते तव उद्यानम् उद्गमनमेव । मृत्युपाशाद् इति शेषः ।  
 अवयानम् अवागमनं नैवास्ति । तत् कथम् एतत् संपत्स्यत इति  
 तत्राह । ते तव जीवातुम् जीवनौषधं कृणोमि करोमि । केवलं  
 जीवनमेव न किं तु दक्षतातिम् । ॐ स्वार्थिकस्तातिः ॐ । दक्षं  
 वलं च कृणोमि । त्वं च आ रोह अधितिष्ठ इमम् अमृतम् अमरण-  
 धर्मकं सुखम् इन्द्रियेभ्योऽनुकूलं रथम् यानम् । देहो वा रथत्वेन  
 उपचर्यते । अतो जीवात्मनो देहेव स्थानं प्रार्थ्यते । आरुह्य च अजिर्विः  
 अजीर्णः सन् । ॐ जप् वयोहानौ । औणादिको विन् प्रत्ययः ।  
 “अमृत इद्धातोः” इति ईत्त्वम् ॐ । विदथम् वेदनम् आ वदासि  
 आवद । लब्धसंज्ञोऽस्मीति आचक्ष्वेत्यर्थः ॥

हे पुरुष ! मृत्युके पाशसे तेरा उद्गमन ही होवे उस पर नीचे  
 को गिरना न हो (ऐसा होनेका उपाय यह है, कि—) तेरे जीनेके  
 लिये औषधको करता हूँ । तेरे लिये बलको करता हूँ । तू इस  
 अमरणधर्मक इन्द्रियसुखके निमित्त रसरूप शरीर पर आरोहण  
 कर और आरुढ़ होकर अजीर्ण रहता हुआ वेदनको कह अर्थात्  
 मुझको होश होगया है—यह कह ॥ ६ ॥

।सप्तमी ॥

मा ते मनस्तत्र गान्मा तिरो भून्मा जीवेभ्यः प्रमदो  
मानु गाः पितृन् ।

विश्वे देवा अभि रक्षन्तु त्वेह ॥ ७ ॥

मा । ते । मनः । तत्र । गात् । मा । तिरः । भूत् । मा । जीवेभ्यः ।  
प्र । मदः । मा । अनु । गाः । पितृन् ।

विश्वे । देवाः । अभि । रक्षन्तु । त्वा । इह ॥ ७ ॥

तत्र तस्मिन् यमविषये ते मनो मा गात् गतं मा भूत् । तथा  
मा तिरो भूत् अन्तर्हितं विलीनमपि मा भूत् । किं चत्वं जीवेभ्यः  
बन्धुभ्यस्तेषाम् अर्थाय मा प्र मदः अनवधानं माप्नुहि ।  
❀ मदी हर्षे । पुषादित्वाद् अद् । मदिः प्रोपसृष्टः अनवधाने  
वर्तते ❀ । पितृन् मृतान् पूर्वपुरुषान् मानु गाः अनुगतिं मा कार्षीः ।  
विश्वे देवाः इन्द्राद्या इन्द्रियाणि वा त्वा त्वाम् अभि रक्षन्तु सर्वतः  
पालयन्तु । कुत्रेति चेद् उच्यते । इह अस्मिन्नेव शरीरे इह भूतले वा ॥

यमके विषयमें तेरा मन न जावे, तथा विलीन भी न होवे  
और तू बन्धुरूप जीवोंसे प्रमाद न कर, पितरोंके पास मत जा ।  
इन्द्र आदि संपूर्ण देवता वा इन्द्रियें इस शरीरमें ही चारों ओर  
तेरी रक्षा करें ॥ ७ ॥

आष्टमी ॥

मा गतानामा दीधीथा ये नयन्ति परावतेम् ।

आ रोह तमसो ज्योतिरेह्या ते हस्तौ रभामहे ॥ ८ ॥

मा । गतानाम् । आ । दीधीयाः । ये । नयन्ति । पराश्वतम् ।  
आ । रोह । तमसः । ज्योतिः । आ । इहि । आ । ते । हस्तौ ।  
रभामहे ॥ ८ ॥

गतानाम् पितृलोकं प्राप्तानाम् । मार्गम् इति शेषः । मा दीधीयाः  
तं प्रति देवनं मा कार्पीः । ॐ दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः । लुङ् ।  
छान्दसः सिचो लुक् ॐ । अथ वा गतमार्गं मा ध्याय । ॐ ध्यै  
चिन्तायाम् । छान्दसी रूपसिद्धिः ॐ । अथ वा । ॐ गतानाम्  
इति कर्मणि षष्ठी ॐ । मृनान् मा चिन्तयेत्यर्थः । ते विशेष्यन्ते ।  
ये गतास्त्वामपि पराश्वतम् दूरदेशं नयन्ति । यथा त्वं पुनर्नयासि  
तथा प्रापयन्तीत्यर्थः । अतस्त्वं तमसः । श्रियमाणस्य पुरुषस्य  
समस्तस्यापि ज्ञानस्य नाशात् तमः प्रवेश इव भवति अतस्तमसः  
सकाशात् ज्योतिः । ज्योतिः प्रकाशः । प्रकाशं ज्ञानम् आ  
रोह अधिष्ठित । आश्रयेत्यर्थः । अन्धकारप्रविष्टस्य कथम् आरोह-  
णम् इति तत्राह । ते तव हस्तौ आ रभामहे गृहीमः । आरोह-  
णानुकूलप्रयत्नं कुर्म इत्यर्थः ॥

पितृलोकको प्राप्त हुए पितरोंके मार्गका चिन्तवन न कर-  
उन मरे हुआका ध्यान न कर-वे गए हुए भी तुम्हको दूर देश  
को लो जा सकते हैं, जिस प्रकार तू फिर न आवे तिस प्रकार ले  
जा सकते हैं ( मरनेके निकट पड़े हुए पुरुषका समस्त ज्ञान नष्ट  
होजानेसे उसका वह अंधकार प्रवेश सा होता है अतः उस )  
अंधकारसे ज्योति प्रकाश-ज्ञान पर आरुढ़ हो ( अंधकारमें घुसे  
हुएका आरोहण किस प्रकार हो सकता है, इस शंकाके उत्तर  
में कहते हैं, कि- ) तेरे हाथोंको हम ग्रहण करते हैं अर्थात् आरो-  
हणके अनुकूल प्रयत्नको करते हैं ॥ ८ ॥

नवमी ॥

श्यामश्च त्वा मा शवलश्च प्रेपितौ यमस्य यौ पथिरक्षी  
श्वानौ ।

अर्वाङ्गेहि मा वि दीध्यो मात्र तिष्ठः पराङ्मनाः ६

श्यामः । च । त्वा । मा । शवलः । च । प्रेपितौ । यमस्य ।  
यौ । पथिरक्षी इति पथिरक्षी । श्वानौ ।

अर्वाङ् । आ । इहि । मा । वि । दीध्यः । मा । अत्र । तिष्ठः ।  
पराङ्मनाः ॥ ६ ॥

हे सुमूर्खो पुरुष त्वा त्वां श्यामश्च एतन्नामा श्वा । वर्णमपु-  
त्तेयं संज्ञा । मा । वाधताम् इति शेषः । एवं शवलश्च श्वा मा  
वाधताम् । चित्रवर्णत्वात् शवल इति संज्ञा । तौ विशेष्येते । यमस्य  
सर्वमाणिमाणपदहर्तुर्वस्य पथिरक्षी मार्गरक्षकौ यौ श्वानौ स्तः ।  
तत्र श्यामश्च शवलश्चेति संबन्धः । श्वभ्याम् असंदष्टः सन् अर्वाङ्  
अस्मदभिमुखः एहि आगच्छ । मा वि दीक्षतः ध्यानं मा कार्षीः ।  
किम् इत्याशङ्कायां मृतानां मार्गम् इत्यवतिष्ठते । तदेव भङ्ग्यन्तरे-  
णाह । अत्र अस्मिन् भूलोके वर्तमानः सपदि पराङ्मनाः अमति-  
निवृत्तिचित्तविषयध्यानोपेतः सन् मा तिष्ठः मा वर्तस्व ॥

हे सुमूर्ख पुरुष ! सब प्राणियोंके प्राणोंको हरने वाले . यम-  
राजके जो श्याम और शवल नामक मार्गरक्षक दो कुत्ते हैं वे  
तुम्हको बाधा न दें, कुत्तोंसे न कटवा कर हमारी ओरमुख कर  
के आ, ध्यान मत करे, विषयोंसे पराङ्मुख होकर यहाँ न रह  
( सांसारिक सभी कामोंको कर ) ॥ ६ ॥



दशमी ॥

सैतं पन्थामनुं गा भीम एष येन पूर्व नेयथ तं ब्रवीमि ।  
तम एतत् पुरुष मा प्र पन्था भयं परस्तादभयं ते अर्वाक् ॥

मा । एतम् । पन्थाम् । अनु । गाः । भीमः । एषः । येन । पूर्वम् ।  
न । इयथ । तम् । ब्रवीमि ।

तमः । एतत् । पुरुष । मा । प्र । पन्थाः । भयम् । परस्तात् । अध-  
यम् । ते । अर्वाक् ॥ १० ॥

हे गतासो पुरुष त्वम् एतं पूर्वोक्तं पन्थाम् पन्थानं मृता येन  
गच्छन्ति तं मानु गाः अनुसृत्य मा याहि । अनुगपननिषेधस्य  
कारणम् आह । एष मार्गो भीमो भयहेतुः । एतच्छब्दार्थम् आह ।  
येन मार्गेण पूर्वम् मृतेः प्राक्काले नेयथ न गच्छति । ॐ वचन-  
व्यत्ययः ॐ । [तं] मार्गं ब्रवीमि । मानु गा इति निषेधप्रतियोगि-  
तया वच्मीत्यर्थः । एतत् मरणलक्षणं तमः अन्धकारम् अज्ञानं  
या प्र पन्थाः प्रयत्नं मा कार्षीः । पुरस्तात् पूर्वदेशे यमपुरप्रदेशे  
भयम् । भवतीति शेषः । अर्वाक् अस्मदभिमुखान्गमनमार्गे ते  
तव अभयम् भयाभावः । क्षेमं भवतीत्यर्थः ॥

इत्यष्टमकाण्डे प्रथमेनुशाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे गतासु पुरुष ! जिससे मरे हुए पुरुष जाते हैं उस मार्गका  
अनुसरण करके तू न जा, क्योंकि—यह मार्ग भयंकर है, इस मार्ग  
से मरनेसे पहिले नहीं जाना चाहिये । हे पुरुष ! तू इस मरणात्मक  
अन्धकारको प्राप्त न हो, यमदेशमें भय होता है और हमारी ओर  
मुख करके आनेके मार्गमें भयाभाव अर्थात् क्षेम होगा ॥ १० ॥

अष्टम काण्डके प्रथम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त ॥

“रक्षन्तु त्वा” इत्यस्य सूक्तस्य उपनयनकर्मादिषु पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

तथा हिरण्यगर्भाख्ये महादाने “रक्षन्तु त्वा” इत्यनेन कर्तृ रक्षां कुर्यात् । “हिरण्यगर्भविधिम् अनुक्रमिष्यामः” इति प्रक्रम्य उक्तं परिशिष्टे । “यदावधन् [ १. ३५ ] इति हिरण्यस्रजम् आग्रध्य रक्षन्तु त्वा [ ८. २. ११-२१ ] इति रक्षां कृत्वा” इति [ प० १३. १ ] ॥

तथा अश्वरथारूपमहादाने अनेन यजमानम् अभिमन्त्रयेत् । “अथाश्वरथदानविधिः” इति प्रक्रम्य उक्तं परिशिष्टे । “पुनन्तु मा [ ६. १६ ] इत्यात्मानम् आलभ्य जपेद् रक्षन्तु त्वाग्रयः [ ८. २ ] इति यजमानम् अभिमन्त्र्य” इति [ प० १४. १ ] ॥

“रक्षन्तु त्वा” इस सूक्तका उपनयन कर्म आदिमें पहिले सूक्त के साथ विनियोग कह दिया है ।

तथा हिरण्यगर्भ नामक महादानमें “रक्षन्तु त्वा” से कर्ताकी रक्षा करे । परिशिष्टमें “हिरण्यगर्भविधिम् अनुक्रमिष्यामः” का आरम्भ करके कहा है, कि-“यदावधन् ( १ । ३५ ) इति हिरण्यस्रजं आग्रध्य रक्षन्तु त्वा ( ८ । २ ) इति यजमानं अभिमन्त्र्य” ( परिशिष्ट १३ । १ )

तथा अश्वरथ नामक महादानमें इससे यजमानका अभिमन्त्रण करे । “अथाश्वरथदानविधिः” का आरम्भ करके परिशिष्टमें कहा है, कि-“पुनन्तु मा ( ६ । १६ ) इत्यात्मानं आलभ्य जपेद् रक्षन्तु त्वाग्रयः ( ८ । २ ) इति अभिमन्त्र्य” ( परिशिष्ट १४ । १ ) ॥

तत्र प्रथमा ॥

रक्षन्तु त्वाग्रयो ये अस्मिन्ता रक्षन्तु त्वा मनुष्याश्च यमिन्धते ।

वैश्वानरो रक्षतु जातवेदा दिव्यस्त्वा मा प्र धाक्  
विद्युतां सह ॥ ११ ॥

रक्षन्तु । त्वा । अग्नयः । ये । अप्सु । अन्तः । रक्षतु । त्वा ।  
मनुष्याः । यम् । इन्धते ।

वैश्वानरः । रक्षतु । जातवेदाः । दिव्यः । त्वा । मा । प्र ।  
धाक् । विद्युता । सह ॥ ११ ॥

अप्सु अन्तः उदकेषु मध्ये ये अग्नयो वाडवादिरूपेण वर्तन्ते  
तेऽग्नयः त्वा त्वाम् हे रक्षाकाम राजादे रक्षन्तु पालयन्तु । उद-  
केष्वग्निसद्भावम् आह मन्त्रः । “अप्स्वमे सधिष्ठव” [ अ० ८.  
४३. ६ ] अग्निं च विश्वशंभुवम् [ अ० १०. ६. ६ ] इत्या-  
दिकः । “सोपः प्राविशत् [ तै० सं० २. ६. ६. १ ] इति च ।  
अवधिष्ठानबहुत्वम् अपेक्ष्य अग्नीनां बहुत्वाभिधानम् । यद्वा अग्नी-  
पोमयोरखिलजगत्कारणत्वेन विकारेषु सर्वेष्वपि अग्निसंभवाद्  
बहुत्वाभिधानम् । तथा यम् अग्निं मनुष्या आहवनीयादिरूपेण  
वर्तमानं वा पाकाद्यर्थम् अवस्थापितं वा इन्धते दीप्तं कुर्वन्ति सोऽपि  
त्वां रक्षतु । ❀ अन्ता रक्षत्वित्यत्र “दूतोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः”  
इति दीर्घः ❀ । एवं वैश्वानरः विश्वेषां नराणां संबन्धी जाड-  
रोग्निः स च जातवेदाः जातप्रज्ञो जातधनो वा त्वां रक्षतु । तथा  
दिव्यः दिवि भवो वैद्युतो विद्युता स्वशरीरेण सह सहितः सन्  
त्वां मा प्र धाक् प्रकर्षेण मा दहतु । ❀ दह भस्मीकरणे । “मन्त्रे  
घस०” इति च्लेलुक् ❀ ।

जो अग्निये बड़वा आदि रूपसे जलोंमें रहती है + वे हे रक्षा-

+ जलमें अग्निका होना इन मन्त्रोंमें स्पष्टतया कहा है, कि-

काम ! तेरी रक्षा करें । तथा जिन आहवनीयादिरूपमें वा पाक आदिके लिये स्थापित अग्निको मनुष्य प्रदीप्त करते हैं वे अग्नियें भी हे रक्षाकाम ! तेरी रक्षा करें । इसी प्रकार वैश्वानर जाठ-राग्नि जातवेदा तेरी रक्षा करें । और धीमें होने वाला दिव्य वैद्युत अग्नि अपने शरीर बिजलीके द्वारा तुझे भस्मन करें ॥ ११ ॥

द्वितीया ॥

मा त्वां क्रव्याद्भि मंस्तारात् संकसुकाच्चर ।

रक्षतु त्वा द्यौ रक्षतु पृथिवी सूर्यश्च त्वा रक्षतां चन्द्रमाश्च  
अन्तरिक्षं रक्षतु देवहेत्याः ॥ १२ ॥

मा । त्वा । क्रव्यऽअत् । अभि । मंस्त । आरात् । सम्कसुकात् । चर ।  
रक्षतु । त्वा । द्यौः । रक्षतु । पृथिवी । सूर्यः । च । त्वा । रक्षताम् ।  
चन्द्रमाः । च ।

अन्तरिक्षम् । रक्षतु । देवहेत्याः ॥ १२ ॥

क्रव्यात् मांसाशनोभिः । ॐ “क्रव्ये च” इति अदेर्विद् ॐ ।  
स च त्वा त्वां माभि मंस्त मम त्वम् आहार इत्यभिमानं मा करोतु ।  
“नास्य रुद्रः पशून् अभिमन्यते” [ तै० सं० १. ६. ७. ४ ]  
इत्यादौ तथा दर्शनात् । ॐ मन ज्ञाने । लुङि सिचि “एकाच  
उपदेशेनुदात्तात्” इति इट्पतिषेधः ॐ । त्वं च संकसुकात् शव-  
“अप्स्वये सधिष्टव” ( ऋग्वेदसंहिता ८ । ४३ । ६ ) तथा “अग्नि  
च विश्वशंसुवम्” ( ऋग्वेदसंहिता १० । ६ । ६ ) और तैत्ति-  
रीयसंहिता २ । ६ । ६ । १ में भी कहा है, कि-“सोऽपः प्रावि-  
शत्-वह जलमें प्रवेश कर गया” ॥

भक्षकाद् एतन्नामकाद् अग्नेः आरात् दूरदेश एव चर । तथा  
द्यौः पृथिवी सूर्यश्चन्द्रमाश्च प्रत्येकं स्वस्वसंबन्धिनो भयात् त्वा त्वां  
रक्षतु । अन्तरिक्षमपि त्वां देवहेत्याः देवमेरिताद् आयुधाद् रक्षतु ॥

मांसका भक्षण करने वाला क्रव्याद् अग्नि मेरा यह आहार  
है—इस प्रकार तुम्हको न माने । और तू भी शवभक्षक संकुसुक  
नामक अग्निसे दूरस्थानमें ही विचरण कर । तथा सूर्य चन्द्रमा  
द्यौ और पृथिवी अपने २ भयसम्बन्धसे तेरी रक्षा करें । अन्त-  
रिक्ष भी देवमेरित आयुधसे तेरी रक्षा करे ॥ १२ ॥

तृतीया ॥

बोधश्च त्वा प्रतीबोधश्च रक्षतामस्वप्नश्च त्वानवद्राणश्च  
रक्षताम् ।

गोपायंश्च त्वा जागृविश्च रक्षताम् ॥ १३ ॥

बोधः । च । त्वा । प्रतिबोधः । च । रक्षताम् । अस्वप्नः । च ।  
त्वा । अनवद्राणः । च । रक्षताम् ।

गोपायन् । च । त्वा । जागृविः । च । रक्षताम् ॥ १३ ॥

[ बोधप्रतीबोधौ नाम ऋषी ] । “ऋषी बोधप्रतीबोधौ” इति  
प्रागुक्तत्वात् [ ५. ३०. १० ] । तत्सहप्रपाठाद् अनोक्ताः पठपि  
ऋषयः । बोधः सर्वदा प्रतिबुध्यमानः । प्रतीबोधः प्रतिवस्तु प्रति-  
क्षणं वा बुध्यमानः । अस्वप्नः स्वप्नरहितः । अनवद्राणः निद्रा-  
रहितः । गोपायन् सर्वदा देहस्य गोपायिता । जागृविः जागरण-  
शीलः । एते सर्वे देहाश्रयाः प्राणापानमनोबुद्धिचक्षुर्द्वयरूपा इन्द्रि-  
याभिमानिदेवा यथोचितं बोद्धव्याः । ते युग्मशस्त्वां रक्षन्तिवत्यर्थः ॥

सदा बुध्यमान बोध, प्रतिवस्तुको जानने वाले प्रतिबोध, स्वप्न-  
रहित अस्वप्न, निद्रारहित अनवद्राण, सदा देहकी रक्षा करने

बाले गोपायन् और जागरणशील जागृवि ऋषि तेरी रक्षा करें ।  
तात्पर्य यह है, कि—ये सब देहाश्रय प्राण अपान, मन बुद्धि और  
नेत्रद्वयरूप इन्द्रियाभिमानि देवता युग्म २ होकर तेरी रक्षा करें १३  
चतुर्थी ॥

ते त्वां रक्षन्तु ते त्वां गोपायन्तु तेभ्यो नमस्तेभ्यः  
स्वाहा ॥ १४ ॥

ते । त्वा । रक्षन्तु । ते । त्वा । गोपायन्तु । तेभ्यः । नमः । तेभ्यः ।  
स्वाहा ॥ १४ ॥

ते बोधाद्याः त्वा त्वां रक्षन्तु, पालयन्तु । ते त एव त्वा गोपा-  
यन्तु । गोपायनं सर्वतो रक्षणम् । तेभ्यः बोधादिभ्यो देवेभ्यो  
नमः नमस्कारोस्तु । तेभ्यः स्वाहा । इदं द्रव्यं स्वाहुतम् अस्तु ॥

ये बोध आदि तेरा पालन करें, वे ही तेरी चारों ओरसे रक्षा  
करें, इन बोध आदि देवताओंके लिये नमस्कार हो, यह द्रव्य  
उनके लिये आहुत हो ॥ १४ ॥

जीवेभ्यस्त्वा समुदे वायुरिन्द्रो धाता दधातु सविता  
त्रायमाणः ।

मा त्वां प्राणो वलं हासीदसुं तेनुं ह्वयामसि ॥ १५ ॥

जीवेभ्यः । त्वा । समुज्जदे । वायुः । इन्द्रः । धाता । दधातु ।  
सविता । त्रायमाणः ।

मा । त्वा । प्राणः । वलम् । हासीत् । अमुम् । ते । अन्तु । ह्वया-  
मसि ॥ १५ ॥

मा त्वां जम्भः संहनुर्मा तमो विदन्मा जिह्वा वह्निः  
प्रमयुः कथा स्याः ।

उत् त्वादित्या वसवो भरन्तूदिन्द्राग्नी स्वस्तये ॥ १६ ॥

मा । त्वा । जम्भः । समुद्भुः । मा । तमः । विदत् । मा ।  
जिह्वा । आ । वह्निः । प्रमयुः । कथा । स्याः ।

उत् । त्वा । आदित्याः । वसवः । भरन्तु । उत् । इन्द्राग्नी इति ।  
स्वस्तये ॥ १६ ॥

उत् त्वा द्यौरुत् पृथिव्युत् प्रजापतिरग्रभीत् ।

उत् त्वां मृत्योरोषधयः सोमराज्ञीरपीपरन् ॥ १७ ॥

उत् । त्वा । द्यौः । उत् । पृथिवी । उत् । प्रजापतिः । अग्रभीत् ।

उत् । त्वा । मृत्योः । ओषधयः । सोमराज्ञीः । अपीपरन् १७

पञ्चमी । जीवेभ्यः । अत्र जीवोपयुक्तानि इन्द्रियाणि जीव-  
शब्दव्यपदेशं भजन्ते । तेषाम् अर्थाय । अथ वा जीवाः पोष-  
णीयाः पुत्रभार्यादासादयः । तेषाम् अर्थाय । तादर्थ्यं विशि-  
नष्टि । समुदे तेषां संमोदाय त्वां वाय्वादयः प्रत्येकं समुदायो वा  
दधातु स्यापयतु मृत्योराकृष्य प्रयच्छतु । त्रायमाण इति सन्नि-  
विशेषणम् । त्वां पालयमानः ॥ किं च त्वा त्वां प्राणः शरीर-  
बलं च मा हासीत् मा त्याक्षीत् । ते असुम् अनुद्वयामसि आनु-  
कूल्येन आद्वयाम ॥ किं च त्वा त्वां संहनुः संहतदन्तो जम्भः  
असुरः । अथ वा संहनुः संहतदनुर्जम्भः अस्थूलदन्तो मा विदत्

मा विन्दतु । भक्षयितुम् इति [शेषः । “तं वो जम्भे दधामि”  
[ तै० सं० ४. ५. ११. २ ] इत्यादिमन्त्रदर्शनात् । तथा तमः  
अज्ञानमपि मा विदत् । एवं वहिः वहिरिक् आयामविस्तारोपेता  
उद्यमाना जिह्वा रक्षःप्रभृतेः संबन्धिनी मा विदत् । किमर्थम् एवं  
प्रार्थयत इति चेत् तत्राह । कथा केन प्रकारेण त्वं प्रमथुः प्रगत-  
हिंसः प्रगतहिंसको वा स्याः भवंः । एवमर्थं जम्भादि मा विद-  
दित्यर्थः ॥

पृथी ॥ आदित्याः अदितेः पुत्रा देवा धात्रादयः त्वा त्वाम्  
उद्धरन्तु ऊर्ध्वं हरन्तु मृत्योर्मुखात् । तथा वसवः अष्टसंख्याका  
धरादयः उद्धरन्तु । इन्द्राग्नी । इन्द्रश्च अग्निश्च देवी उद्धरताम् ।  
किमर्थम् । स्वस्तये क्षेमाय । तथा द्यौः द्युदेवता त्वाम् उद्धरतु  
पृथिवी च उद्धरतु । किं बहुना । प्रजापतिः सर्वेषां देवानां पिता  
उदग्रभीत् उदग्रहणम् अकार्षीत् उदग्रह्वात् । सोमराज्ञीः सोमस्य  
पत्न्यः ओषधयो देव्यो मृत्योः सकाशात् त्वाम् उदपीपरन्  
अपालयन् ॥

वायु इन्द्र धाना और रक्षा करते हुए सूर्यदेव तुम्हको मृत्युसे  
खेच कर जीवकी उपयोगी इन्द्रियोंके लिये बांपोपणीय पुत्र भार्या  
दास आदिके लिये, उनको प्रसन्न करनेके लिये देवें । प्राण  
और यत्न तुम्हको न छोड़े, हम तेरे प्राणको अनुकूलरूपमें बुलाते हैं ॥

मिले हुए श्रोत्रोंवाला जन्म नामक असुर भक्षण करनेके लिये  
तुम्हको खानेके लिये न पासके । अज्ञान भी तुम्हको प्राप्त न  
होवे और कुशाकी समान विस्तार आदिवाली राक्षस आदिकी  
जिह्वा भी तुम्हको प्राप्त न होवे । क्योंकि—तू प्रगतहिंसक होगया है ॥

अदितिके पुत्र धाता आदि मृत्युके मुखसे तेरा उद्धार करें ।  
धर आदि आठवसु भी तेरा मृत्युमुखसे उद्धार करें । इन्द्र और  
अग्निदेवता भी क्षेमके लिये तेरा उद्धार करें ॥ द्युदेवता और



पृथिवी भी तेरा उद्धार करे । अधिक क्या सब देवताओंके पिता  
प्रजापति भी तेरा उद्धार करें, सोमकी पत्नियों औषधियों भी  
मृत्युसे तेरा पालन करें ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

सप्तमी ॥

अयं देवा इहैवास्त्वयं मामुत्र गादितः ।

इमं सहस्रवीर्येण मृत्योरुत् पारयामसि ॥ १८ ॥

अयम् । देवाः । इह । एव । अस्तु । अयम् । मा । अमुत्र । गात् । इतः ।

इमम् । सहस्रवीर्येण । मृत्योः । उत् । पारयामसि ॥ १८ ॥

हे देवाः आदित्याद्या अयं पुरुषः इहैव भूलोके अस्तु भवतु ।  
एतदेव व्यतिरेकमुखेनाह । अयम् इतः अस्माद् भूलोकाद् अमुत्र  
स्वर्गे मा गात् । वयं रक्षाकर्तारः इमं पुरुषं सहस्रवीर्येण अपरि-  
मितसामर्थ्येन रक्षाविधानेन मृत्योः सकाशाद् उत्पारयामसि  
उत्पारयामः ॥

हे देवताओं ! यह पुरुष इस भूलोकमें ही रहे । यह इस लोक  
से स्वर्गलोकमें न जावे । रक्षा करने वाले हम अपरिमित शक्ति  
वाले रक्षाविधानसे मृत्युके फन्देसे इसको बाहर कर रहे हैं ॥ १८ ॥

अष्टमी ॥

उत् त्वां मृत्योरपीपरं सं धमन्तु वयोधसः ।

मा त्वां व्यस्तकेश्यो मा त्वांघरुदो रुदन् ॥ १९ ॥

उत् । त्वा । मृत्योः । अपीपरम् । सम् । धमन्तु । वयोधसः ।

मा । त्वा । व्यस्तकेश्यः । मा । त्वा । अघरुदः । रुदन् ॥ १९ ॥

हे आयुष्काम पुरुष त्वा त्वां मृत्योरुदपीपरं पालयन्तु वयो-

धसः अन्नस्य आयुष्यस्य वा धातारो देवाः सं धमन्तु संधानं  
कुर्वन्तु च । ॐ धमतिर्गतिरुर्मा ॐ । त्वा त्वां प्रति व्यस्त-  
केश्यः कीर्णकेशा बन्धुयोपितो मा रुदन् अथ्रविमोकं मा कोपुः ।  
तथा अघरुदः अघे व्यसने दुःखे बान्धवेन रोदनकर्तारो मा रुदन् ॥

हे आयुष्काम पुरुष ! अन्न वा आयुको पुष्ट करने वाले देवता  
तेरा संधान करें । तेरे लिये बांधवोंकी स्त्रियें बाल बखेर कर न  
रोयें, और दुःखमें रौने वाले बांधव भी तेरे निमित्त रौने वाले  
न हों ॥ १६ ॥

नवमी ॥

आर्हापमविदं त्वा पुनरागा पुनर्णवः ।

सर्वाङ्ग सर्व ते चक्षुः सर्वमायुश्च तेविदम् ॥ २० ॥

आ । अर्हापम । अविदम् । त्वा । पुनः । आ । अगाः । पुनः ऽनवः ।

सर्वः ऽङ्ग । सर्वम् । ते । चक्षुः । सर्वम् । आयुः । च । ते । अविदम् ।

हे मृत्युग्रस्त पुरुष त्वात्वाम् आहार्पम् मृत्युमुखाद् आहृतवान्  
अस्मि । आहत्य च त्वा त्वाम् अविदम् लब्धवानस्मि । हे पुन-  
र्णव पुनरुत्पन्न त्वं पुनरागाः पुनरागतोसि । पुनर्जीवित्वाभात्  
पुनर्नवत्वव्यपदेशः । हे सर्वाङ्ग केनचिदपि चक्षुराद्यङ्गेन अविकल  
संपूर्णाङ्ग । मृत्यभावेऽपि प्रायेण श्रृंगवैकल्यं दृढरोगग्रस्तस्य भव-  
तीत्यभिप्रायेण एवम् आह । ते तव सर्वं चक्षुः । चक्षुर्विषयम्  
इत्यर्थः । सर्वमपि इन्द्रियजातं स्वविषयप्रकाशकम् । भवत्विति  
शेषः । ते तव सर्वम् शतसंवत्सरलक्षणम् आयुः अविदम् लब्ध-  
वान् अस्मि ॥

हे मृत्युग्रस्त पुरुष ! मैंने तुम्हको मृत्युके मुखसे खेंच लिया है  
और खेंचकर तुम्हको पालिया है, हे दूसरी बार उत्पन्न हुए

पुरुष ! तू फिर आया है, इसलिये फिर नवीन होगया है । हे चक्षु आदि प्रत्येक अङ्गसे अविकलरूपमें सम्पन्न ! तेरी चक्षु आदि सकल इन्द्रियें अपने २ विषयोंको प्रकाशित करने वाली होवें । तेरे निमित्त सौ वर्षकी आयुको मैंने प्राप्त कर लिया है २० दशमी ॥

व्यवात् ते ज्योतिरभूदप त्वत् तमो अक्रमीत् ।

अप त्वन्मृत्युं निःश्रुतिमप यक्ष्मं नि दध्मसि ॥ २१ ॥

वि । अवात् । ते । ज्योतिः । अभूत् । अप । त्वत् । तमः । अक्रमीत् ।

अप । त्वत् । मृत्युम् । निःश्रुतिम् । अप । यक्ष्मम् । नि । दध्मसि ।

हे विसंज्ञ पुरुष ते व्यवात् व्यौच्छत् तमोविवासनम् अभूत् । अत एव ज्योतिः संज्ञानम् अभूत् । तथा त्वत् त्वत्तः सकाशात् तमः कृत्स्नम् अपाक्रमीत् अपक्रान्तम् अभूत् । कुतो हेतोरिति तत्राह । त्वत् त्वत्तः मृत्युम् प्राणापहर्त्री देवतां निःश्रुतिम् पापदेवताम् अप । नि दध्मसीति उत्तरक्रियानुपपन्नः । तथा यक्ष्मम् बाह्यम् आभ्यन्तरं च रोगम् अप नि दध्मसि अपनिदध्मः त्वत्तः प्रच्यावयामः ॥

इत्यष्टमकाण्डे प्रथमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे संज्ञाहीन पुरुष ! तेरा तम दूर होगया है, अत एव संज्ञान होगया है । तथा तेरे पाससे सारा अन्धकार दूर होगया है, क्योंकि—तेरे पाससे हम प्राणोंका अपहरण करने वाली मृत्यु-देवताको और पापदेवता निःश्रुतिकों अलग कर चुके हैं और तेरे भीतरी बाहरी रोगको भी दूर कर चुके हैं ॥ २१ ॥

अष्टम काण्डके प्रथम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त ( ४२९ ) ॥

“आ रभस्व” इति सूक्तत्रयम् अर्थभूक्तम् । तेन उपनयन-  
कर्मणि माणवरुस्य नाभि संस्पृश्य आचार्यो जपं कुर्यात् । “उप-  
नयनं” प्रक्रम्य सूत्रितम् । “दक्षिणेन पाणिना नाभिदेशे संस्तभ्य  
जपति अन्तकाय मृत्यवे [ ८. १ ] आ रभस्व” [ ८. ३ ] इति  
[ कौ० ७. ६ ] ॥

तथा आयुष्कामः “आ रभस्व” इति सूक्तत्रयेण शरीरम् अभि-  
मन्त्रयेत् ॥

तथा ऋषिहस्तेन आयुष्कामस्य शरीरम् अनेनाभिमन्त्रयेत् ॥

सूत्रितं हि । “आ रभस्व [ ८. १ ] प्राणाय नमः [ ११.४ ]  
विपासहिम् [ १७. १ ] इत्यभिमन्त्रयते” इति [ कौ० ७. ६ ] ॥

तथा अस्यार्थसूक्तस्य आयुष्यगणे पाठाद् “विश्वकर्मभिरायुष्यैः  
स्वस्त्ययनैराज्यं जुहुयात्” [ कौ० १४. ३ ] इत्यादिषु विनियोगो  
द्रष्टव्यः ॥

तथा नामकरणाख्ये कर्मणि अनेनार्थसूक्तेन कुमारस्य हस्ते  
अविच्छिन्नान् उदकधारां निनयेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनेनार्थसूक्तेन देवदारुमणिं संपाप्य  
अभिमन्त्र्य बध्नीयात् । तस्यैव मणिं निघृष्य पायनं च कुर्यात् ।  
तद् उक्तं कौशिकेन । “अथ नामकरणम् आ रभस्वेमाम् इत्य-  
विच्छिन्नान् उदकधाराम् आलम्बयति । पूतिदारुं बध्नाति ।  
पापयति” इति [ कौ० ७. ६ ] ॥

अन्त्येष्टौ “आ रभस्व” इति त्रिभिः श्रेताग्निम् आदीपयेत् ॥

त्रिंशन्महाशान्तिन्तत्रभूतायां महाशान्तां “आ रभस्व” इत्ये-  
तज्जपेत् । उक्तं नक्षत्रकल्पे ॥

पुनस्तदेव जप्यं तु शंतातीयम् अयावतः ।

अन्नकाया रभस्वेति [ न० क० २३ ] ॥

तथा “वैश्वदेवां गतायुषाम्” इति [ न० क० १७ ] विहि-

तायां महाशान्तौ देवदारुमणिवन्धनम् अनेन कुर्यात् । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । “आ रभस्वेति पूतिदारं वैश्वदेव्याम्” इति [ न० क० १६ ] ॥

‘आरभस्व’ आदि तीन सूक्तोंका समूह अर्थसूक्त कहलाता है । इससे उपनयनकर्ममें माखवककी नाभिका स्पर्श करके आचार्य जप करे । उपनयनका आरंभ करके सूत्रमें कहा है, कि—‘दक्षिणेन पाणिना नाभिदेशे संस्तभ्य जपति अन्तकाय मृत्यवे (८।१) आ रभस्व ( ८ । ३ )’ ॥

तथा आयुको चाहने वाला ‘आरभस्व’ आदि तीन सूक्तोंसे शरीरका अभिमन्त्रण करे ।

तथा ऋषिहस्तसे आयुष्कामके शरीरका इससे अभिमन्त्रण करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—‘आरभस्व ( ८ । १ ) प्राणाय नमः ( ११ । ४ ) विपासहिस् ( १७ । १ ) इत्यभिमन्त्रयते’ ( कौशिकसूत्र ७ । ६ ) ॥

तथा इस अर्थसूक्तका आयुष्यगणमें पाठ होनेसे ‘विश्वकर्म-भिरायुष्यैः स्वस्त्ययनैराज्यं जुहुयात्’ कौशिकसूत्र ७ । ६ आदि में विनियोग करना चाहिये ।

तथा नामकरण नामक कर्ममें इस अर्थसूक्तसे कुमारके हाथमें अविच्छिन्न ( अटूट ) जलधाराको ढाले ।

तथा इसी कर्ममें इस अर्थसूक्तसे देवदारुकी मणिको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके बाँधे । और उसीकी मणिको घिस कर भी पिलावे । इसी बातको कौशिकने कहा है, कि—‘अथ नामकरणं आ रभस्वेमां इत्यवच्छिन्नां उदकधारां आलंभयति । पूतिदारं वध्नाति । पाययति’ ॥

अन्त्येष्टिमें ‘आ रभस्व’ आदि तीनसे प्रेताशिको प्रचण्ड करे ।

तीस महाशान्तियोंकी प्रधान महाशान्तिमें ‘आरभस्व’ का जप

( ४५२ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

करे । इसी बातको नक्षत्ररूपमें कहा है, कि—‘पुनस्तदेव जप्यं तु  
जान्तातीयं अथावतः । अन्तकाया रभस्वेति’ (नक्षत्ररूप २३) ॥

तथा ‘वैश्वदेवीम् गतायुषाम्-गतायुओंके लिये वैश्वदेवी  
शान्तिम् करे’ इस नक्षत्ररूप १७ से विहित वैश्वदेवी महा-  
शान्तिमें इससे देवदारुमणिधनको करे । इसी बातको नक्षत्र-  
रूप १८ में कहा है, कि—‘आ रभस्वेति पूतिदारुं वैश्वदेव्याम्’ ॥

तत्र आ रभस्वेति प्रथमसूक्ते प्रथमा ॥

आ रभस्वेमाममृतस्य श्नुष्टिमच्छिद्यमाना जरदष्टि-  
रस्तु ते ।

असुं त आयु पुनरा भरापि रजस्तमो मोष गा मा  
प्र मेष्टाः ॥ १ ॥

आ । रभस्व । इमाम् । अमृतस्य । श्नुष्टिम् । अच्छिद्यमाना ।

जरत्श्रुष्टिः । अस्तु । ते ।

अमृतम् । ते । आयुः । पुनः । आ । भरापि । रजः । तमः । मा ।

उप । गाः । मा । प्र । मेष्टाः ॥ १ ॥

हे आयुष्काम पुरुष इमाम् अस्माभिः क्रियमाणाम् अमृतस्य  
अमरणत्वस्य श्नुष्टिम् प्रप्नुतिम् आ रभस्व उपक्रमस्व । अनुभवि-  
तुम् इति शेषः । यद्वा कुमारस्य हस्ते अविच्छिन्नाम् उदरुधारां  
निनयेदिति विनियोगाद् अमृतशब्देन उदरम् उच्यते । तस्य  
श्नुष्टिम् । उदरुधाराम् इत्यर्थः । अच्छिद्यमाना परैर्विच्छेत्तुम् अनर्हा  
जरदष्टिः जरावस्थापर्यन्तम् अष्टिः अशनं जरदष्टिः । सा ते अस्तु  
भवतेस्तु । तदर्थं ते तव अमृतम् प्राणं मृत्युना अपहृतम् आयुश्च

पुनः आ भरामि आहरामि । त्वं च रजः रागम् अस्माकं सत्त्व-  
गुणप्रतिबन्धकं मोष गाः मा प्राप्नुहि । ॐ इण् गतौ । “इणो गा  
लुङि” इति गादेशः ॐ । एवं तमः आवरकं हिताहितविवेकप्रति-  
रोधकं तम आख्यगुणं मोष गाः । न केवलं रजस्तमसोरप्राप्ति-  
रेव प्रार्थ्यते किं तु मृतिनिवारणमपि मा प्र मेष्टा इति । हिंसां च मा  
प्राप्नुहि । ॐ मीड् हिंसायाम् । लुङि रूपम् ॐ ॥

हे आयुष्काम पुरुष ! इस हमारी कीहुई अमरणत्वकी प्रस्तुति  
का उपक्रम कर ( अथवा—इस हमारी दी हुई जलधाराका अनु-  
भव कर ) यह तेरे निमित्त दूसरोंसे न टूटने योग्य, जरावस्था  
तक रहनेवाली हो । मैं तेरे निमित्त, मृत्युसे हरे हुए प्राण और  
आयुको फिर लाता हूँ । तू हममें सत्त्वगुणके प्रतिबंधक रज-राग-को  
प्राप्त न होना । इसप्रकार हिताहित विवेकके प्रतिबन्धक आवरक  
तमोगुणको प्राप्त न हो और हिंसाको प्राप्त न हो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

जीवितां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङ् त्वा हरामि शतशारदाय ।  
अवमुञ्चन् मृत्युपाशानशस्तिं द्राघीय आयुः प्रतरं ते  
दधामि ॥ २ ॥

जीविताम् । ज्योतिः । अभिऽएहि । अर्वाङ् । आ । त्वा । हरामि ।  
शतऽशारदाय ।

अवऽमुञ्चन् । मृत्युऽपाशान् । अशस्तिम् । द्राघीयः । आयुः ।  
प्रऽतरम् । ते । दधामि ॥ २ ॥

हे पुरुष त्वं जीविताम् मनुष्याणां ज्योतिः दीप्तिं ज्ञानम् अर्वाङ्  
अस्मदभिमुखः अभ्येहि अभ्यागच्छ । अहं तु त्वा त्वाम् आ

हरामि । मृत्युमकाशाद् इति शेषः । किमर्थम् । शतशारदाय । शतसंख्याकशरद्वधिकम् आयुः शतशारदम् । शतायुषे । चिर-  
कालजीवनायेत्यर्थः । मृत्युपाशवद्धस्य कथम् आगमनम् इति तत्राह ।  
मृत्युपाशान् मृत्योः ऊवरशिरोरोगादिनानाविधान् पाशान् अव-  
मुञ्चन् उत्सृजन् । तथा अशस्तिम् निन्दाम् अवमुञ्चन् । सा हि  
कोश इव आच्छादयति । एतत् सर्वं सत्यायुषि संभवतीत्या-  
शङ्क्याह । द्राघीयः अतिदीर्घं शतसंवत्सरलक्षणम् आयुः । ॐ “मि-  
यास्थर०” इत्यादिना दीर्घशब्दस्य द्राघादेशः ॐ । ते त्वदर्थं  
मतरम् प्रकृष्टतरं दधामि स्थापयामि ॥

हे पुरुष ! तू जीवित पुरुषोंके ज्ञानको चिरकाल तक जीवित  
रहनेके लिये हमारे अभिमुख होता हुआ प्राप्त हो तू ऊवर शिरो-  
रोग आदि मृत्युके अनेक प्रकारके पाशोंको त्यागता हुआ तथा  
निन्दाको त्यागता हुआ प्राप्त हो, मैं तेरी अतिदीर्घ प्रकृष्टतर आयु  
को स्थापित करता हूँ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

वातात् ते प्राणमविदं सूर्याच्चक्षुरहं तव ।

यत् ते मनस्त्वयि तद् धारयामि सं वित्स्वाङ्मैवद  
जिह्वयालपन् ॥ ३ ॥

वातात् । ते । प्राणम् । अविदम् । सूर्यात् । चक्षुः । अहम् । तव ।

यत् । ते । मनः । त्वयि । तत् । धारयामि । सम् । वित्स्व ।

अङ्गैः । वद । जिह्वया । अलपन् ॥ ३ ॥

हे गतासो पुरुष ते तव प्राणं वातात् स्वाश्रयभूताद् वाह-  
वायोः सकाशाद् अविदम् लब्धवान् अस्मि । प्राणदायोर्मरणा-



वस्थायां वायुप्राप्तेः उत्पत्त्यवस्थायां तत् एवोत्पत्तेश्च एवम् उच्यते ।  
 तथा च श्रूयते । “वातं प्राणम् अन्ववसृजतात्” इति [ ऐ० ब्रा०  
 २. ६ ] “वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्” [ ऐ० आ०  
 २. ४. २ ] इति च । अहं तव चक्षुश्च सूर्याद् अविदम् । पूर्व-  
 वन्मृतिसमये चक्षुषः सूर्यप्राप्तेः उत्पत्तिसमयेऽपि सूर्यादेवोत्पत्तेश्च एवम्  
 उच्यते । “सूर्यं चक्षुर्गमयतात्” इति [ ऐ० ब्रा० २. ६ ] “आदि-  
 त्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्” [ ऐ० आ० २. ४. २ ] इति च ।  
 किं च यत् ते मनः उत्क्रमणसमये निर्गतं तत् त्वदप्येव धारयामि  
 स्थापयामि । त्वंतु यत् एवम् अतो विश्वाङ्गैः कृत्स्नैरङ्गैरुपेतः सन्  
 जिह्वया आलपन् व्यक्तम् उच्चरन् वद वाचम् उदीरय । जीवनस्य  
 अभिवदनं स्पष्टं लिङ्गम् इति तत् प्रार्थ्यते ॥

हे गतास्तु पुरुष ! मैंने तेरे प्राणको स्वाश्रयभूत बाह्य वायुसे  
 प्राप्त कर लिया है । प्राणवायु मरणावस्थामें वायुको प्राप्त हो  
 जाता है और उत्पत्तिदशामें भी उससे ही उत्पन्न होजाता है अतः  
 एव यह कहा है । ऐतरेयब्राह्मण २ । ६ में कहा है, कि—‘वातं  
 प्राणं अन्ववसृजतात् ।—वात प्राणको रचता हुआ’ तथा ऐतरेय  
 ब्राह्मण २ । ४ । २ में भी कहा है, कि—‘वायुः प्राणो भूत्वा  
 नासिके प्राविशत् ।—वायु प्राण बन कर नासिकामें प्रवेश कर  
 गया’ ) और मैंने तेरे चक्षुको सूर्यसे प्राप्त कर लिया है ( ऐत-  
 रेय ब्राह्मण २ । ६ में कहा है, कि—‘सूर्यं चक्षुर्गमयतात् ।—चक्षु  
 सूर्यको प्राप्त होगया’ ऐतरेय ब्राह्मण २ । ६ तथा ऐतरेय आर-  
 ण्यक २ । ४ । २ में कहा है, कि—‘आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी  
 प्राविशत् ।—आदित्यने चक्षु होकर नेत्रोंमें प्रवेश किया’ ) और  
 तेरा जो मन उत्क्रमणके समय निकल गया था उसको तुझमें  
 ही स्थापित करता हूँ अतः एव तू सम्पूर्ण अंगोंसे सम्पन्न होकर  
 जिह्वासे स्पष्ट वाणीका उच्चारण कर ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

प्राणेन त्वा द्विपदां चतुष्पदामग्निमिव जातमभि सं  
धमामि ।

नमस्ते मृत्यो चक्षुषे नमः प्राणाय तेकरम् ॥ ४ ॥

प्राणेन । त्वा । द्विष्पदाम् । चतुःष्पदाम् । अग्निम् इव । जातम् ।  
अभि । सम् । धमामि ।

नमः । ते । मृत्यो इति । चक्षुषे । नमः । प्राणाय । ते । अकरम् ४

हे निर्यत्प्राण त्वा त्वां द्विपदाम् पुरुषादीनां चतुष्पदाम् गवा-  
श्वादीनां च प्राणेन । सर्वप्राणिनां प्राणेनेत्यर्थः । तेन जातम् मय-  
नाद् उत्पन्नम् अग्निमिव तं यथा अणीयांसं सन्तं नान्यादिसाध-  
नेन मुखवायुना अभिसंधमति तद्वद् अल्पप्राणं सन्तं सर्वप्राणि-  
प्राणेन अभि सं धमामि संयोजयामि प्रभूतप्राणं करोमि । हे मृत्यो  
ते तव चक्षुषे क्रूराय नमः अकरम् । तथा ते प्राणाय प्रकृष्टाय  
बलायामि नमः अकरम् करोमि । ॐ करोतेर्लुङि “कृष्टृहृ-  
भ्यश्छन्दसि” इति अङ् ॥

हे क्षीणप्राण ! तुझको द्विपद पुरुष आदिके तथा चतुष्पद गौ  
आदिके अर्थात् सरल प्राणियोंके प्राणोंसे तुझको इस प्रकार  
प्रभूत प्राण वाला करता हूँ जिस प्रकार मयनसे उत्पन्न हुए  
अल्प अग्निको मुखकी वायुसे बढ़ाते हैं, हे मृत्यो ! तेरी क्रूर  
चक्षुके लिये मैं नमस्कार करता हूँ, तथा तेरे प्राणबलके लिये भी  
मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

अयं जीवतु मा मृतेमं समीरयामसि ।

कृणोम्यस्मै भेषजं मृत्यो मा पुरुषं वधीः ॥ ५ ॥

अयम् । जीवतु । मा । मृत । इमम् । सम् । ईरयामसि ।

कृणोमि । अस्मै । भेषजम् । मृत्यो इति । मा । पुरुषम् । वधीः ५

अयं गतासुः पुरुषो जीवतु । मा मृत मरणं मा प्राप्नुयात् ।  
 ❀ मृङ् प्राणत्यागे । “लुङ्” । “उश्च” इति सिचः कित्त्वम् ।  
 “ह्रस्वाद् अङ्गात्” इति सिचो लोपः ❀ । इमं पुरुषं समीरयामसि सम्यक् प्रेरयामः । यथा चेष्टते तथा प्रयतामहे । तद् एव एकवद् आह । अस्मै मुमूर्षवे पुरुषाय भेषजम् चिकित्सां कृणोमि करोमि । हे मृत्यो त्वं तु पुरुषम् अमुं मा वधीः मा जहि ॥

यह गतासु पुरुष जीवित रहे मरणको प्राप्त न हो, इस पुरुष को हम भली प्रकार प्रेरित करते हैं अर्थात् यह जिस प्रकार चेष्टा कर सके तैसा प्रयत्न करते हैं, मैं इस मुमूर्षु पुरुषके लिये चेष्टा करता हूँ । हे मृत्यो ! तू इस पुरुषका वध न कर ॥ ५ ॥

पृष्ठी ॥

जीवलां नघरिषां जीवन्तीमोषधीमहम् ।

त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह हुवेस्मा अरिष्ट-  
 तांतये ॥ ६ ॥

जीवलाम् । नघरिषाम् । जीवन्तीम् । ओषधीम् । अहम् ।

त्रायमाणाम् । सहमानाम् । सहस्वतीम् । इह । हुवे । अस्मै ।

अरिष्टस्तांतये ॥ ६ ॥

जीवलाम् । ❀ मत्वर्थीयो लः ❀ । जीवन्तीम् । जीवप्रदाम् इत्यर्थः । नघरुषाम् । न हन्तीति नघा । नघा रूपा रोषोऽस्यां

सा नघरुपा । यस्याः कोपोपि न घातकस्तादृशीम् इत्यर्थः । अथ वा घर्परहिताम् अघकारिरोपरहितां वा । स्वयं जीवन्तीम् । कदाचिदपि अशुष्काम् इत्यर्थः । अथ वा सजीवाम् । त्रायमाणाम् रक्तन्तीं स्वसेविनां रोगपरिहारेण रक्षाकर्त्रीम् । सहमानाम् रोगस्याभिभवित्रीम् । सहस्वतीम् सहो बलं तद्वतीम् । एवंमहिमोपेताम् ओषधीम् पाठारूपाय अहं व्याधिनाशकामः इह अस्मिन् शान्तिकर्मणि हुवे आह्वयामि । कस्मै प्रयोजनाय । उच्यते । अस्मै संनिहिताय पुरुषाय । रिष्टं हिंसा तदभावाय अरिष्टतातये अरिष्टकरणाय । उत्तरमन्त्रे अस्मै मृत्यो अवि ब्रूहीति मृत्युशब्दश्रवणाद् अत्रापि मृत्युः संबोध्यः । ॐ “शिवशमरिष्टस्य करे” इति करोत्यर्थे तातिल् ॐ । अथ वा जीवलादयः प्रत्येकम् ओषधिविशेषाः । ओषधीम् इत्येतत् प्रत्येकं संबध्यते । इह हुवे इति सर्वत्रान्वयः ॥

जीवन प्रदान करने वाली, कोप करने पर भी न मारने वाली, स्वयं जीवित रहने वाली—कभी शुष्क न होने वाली, अपना सेवन करने वालोंके रोगका अपहरण करके रक्षा करने वाली, रोगको दवाने वाली ऐसी पाठा नामक औषधिको मैं व्याधिको नष्ट करने वाला इस शान्तिकर्ममें आह्वान करता हूँ । इस संनिहित पुरुषकी अहिंसाकरणके लिये आह्वान करता हूँ ६

सप्तमी ॥

अधि ब्रूहि मा रभथाः सृजेमं तवैव सन्तसर्वहाया इहास्तु  
भवांशर्वो मृडतं शर्वं यच्चतमपसिध्यं दुरितं धत्तमायुः

अधि । ब्रूहि । मा । आ । रभथाः । सृज । इमम् । तव । एव ।

सन् । सर्वहायाः । इह । अस्तु ।

भवांशर्वो । मृडतम् । शर्म । यच्छतम् । अयसिध्य । दुःश्रुतम् ।

धत्तम् । आयुः ॥ ७ ॥

हे मृत्यो त्वम् अधि ब्रूहि । पक्षपातेन वचनम् अधिवचनम् । मदीयोयम् इति वद । मा आ रभथाः आरम्भं मा कार्षीः । हन्तुम् इति शेषः । हननोद्योगो निषिध्यते । तवैव अयं जनस्तवैव । स्वम् इति शेषः । अतः इमं सं सृज । प्राणैरिति शेषः । अयम् इह अस्मिन् भूलोके सर्वहायाः सर्वगतिरस्तु । ❀ वहिहाधाज्भ्य-  
श्छन्दसि [ उ० ४. २२० ] इति असुनि णिष्ठङ्गावाद् युगा-  
गमः ❀ । किं च हे भवांशर्वो युवाम् भवश्च शर्वश्च भवांशर्वो ईश्वर-  
मूर्तिभेदौ । ❀ “आनङ् ऋतो द्वन्द्वे” इति आनङ् ❀ । मृड-  
तम् सुखयतम् अशुभै शर्म सुखं यच्छतम् दत्तम् । ❀ “पाघ्रा०”  
इत्यादिना यच्छादेशः ❀ । शर्म यच्छतम् इत्युक्तम् अर्थं विष्ट-  
णोति । दुरितम् उपस्थितं व्याध्यादिलक्षणं पापम् अपसिध्य  
निराकृत्य आयुः धत्तम् स्थापयतं प्रयच्छतम् ॥

हे मृत्यो ! आप आग्रहपूर्वक कहिये, यह मेरा है । और इस  
को मारनेका आरम्भ न करिये । यह आपका ही जन है अतः  
इसके प्राण छोड़ दीजिये । यह इस भूलोकमें सब प्रकारकी गति  
वाला होवे । हे भव और शर्व देवताओं ! आप इसके लिये सुख  
दीजिये । इसके व्याधि आदिरूप पापको दूर करके इसको आयु  
दीजिये ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

अस्मै मृत्यो अधि ब्रूहीमं दयस्वोदितोऽयमेतु ।

अरिष्टः सर्वाङ्गः सुशुब्जजस्वा शतहायन आत्मना भुज-  
मश्लुताम् ॥ ८ ॥

अस्मै । मृत्यो इति । अधि । ब्रूहि । इमम् । दयस्व । उत् । इतः ।

अयम् । एतु ।

अरिष्टः । सर्वेऽश्विनः । सुश्रुत् । जरसा । शतश्रायनः । आत्मना ।

भुजम् । अश्रुताम् ॥ ८ ॥

हे मृत्यो त्वम् अस्मै त्वत्तो मृतिम् आशङ्कमानाय अधि ब्रूहि अस्मा मदनुग्रहाह इति शब्दं कुरु । इमं प्रति दयस्व दयां कुरु इमं रक्ष वा । अयम् इतः अस्माद् मृत्योः उदेतु उद्गच्छतु । उक्तम् अर्थं स्पष्टम् आह । अरिष्टः अहिंसितः सर्वाङ्गः सर्वैरङ्गैश्चक्षुरादिभिः सम्पन्नः सुश्रुत् सुष्ठु श्रोता जरसा वार्धकावस्थया शतश्रायनः शतं श्रायना अस्य स तथोक्तः शतसंवत्सरं जीवन् आत्मना अनन्यापेक्षः सन् भुजम् भोगम् अश्रुताम् प्राप्नोतु ॥

हे मृत्यु । तुमसे मृत्युकी आशंका करते हुए इस पुरुषके विषय में आप यह मेरे अनुग्रहका पात्र है—ऐसा शब्द करिये । इस पर दया करो । यह इस मृत्युसे उदय होवे, ( स्पष्ट करते हैं, कि—) यह अहिंसित रहता हुआ, चक्षु अदि सकल अंगोंसे सम्पन्न होकर भली प्रकार सुनता हुआ, बुढ़ापेसे सौ वर्षका होता हुआ दूसरेकी अपेक्षा न रख स्वयं ही भोगोंको भोगे ॥ ८ ॥

नवमी ॥

देवानां हेतिः परिं त्वा वृणक्तु पारयामि त्वा रजस  
उत् त्वां मृत्योरपीपरम् ।

आरादधि क्रव्यादं निरूहं जीवातवे ते परिधिं दयामि

देवानाम् । हेतिः । परि । त्वा । वृणक्तु । पारयामि । त्वा । रजसः ।  
उत् । त्वा । मृत्योः । अपीपरम् ।

आरात् । अग्निम् । क्रव्यऽअदम् । निःऽऊहन् । जीवातवे । ते ।  
परिऽधिम् । दधामि ॥ ६

देवानाम् रुद्रादीनां हेतिः आयुधं त्वा त्वां परि वृणक्तु परि-  
वर्जयतु हिंसां मा कुर्यात् । त्वा त्वां रजसः मूर्धार्लक्षणाद् आवर-  
णात् पारयामि पालयामि वा । किं च त्वा त्वां मृत्योः सका-  
शाद् उदपीपरम् उद्धरामि । ॐ पृ पालनपूरणयोः । ययन्तस्य  
लुङि रूपम् ॐ । आरात् दूरदेश एव क्रव्यादम् मांसाशनम् अग्निं  
निरौहम् निरुहामि निर्गमयामि च । ते तव जीवातवे जीवनाय  
परिधिम् प्राकारं दधामि स्थापयामि च । देवयजनम् अग्निम् इति  
शेषः । परिधिं दधामि ॥

देवताओंका आयुध तुभको त्याग देय-हिंसा न करे तेरा  
मूर्धार्लूप रजसे उद्धार करता हूँ । और तेरा मृत्युसे उद्धार  
करता हूँ । और मांसभक्षक अग्निको दूर ही निकाले देता हूँ  
और तरे जीवनके लिये प्राकाररूपमें देवयजन अग्निको स्थापित  
करता हूँ ॥ ६ ॥

दशमी ॥

यत् ते नित्यानें रजसं मृत्योः अनवधर्ष्यम् ।

पथ इमं तस्माद् रक्षन्तो ब्रह्मास्मै वर्मं कृणुमसि १०

यत् । ते । निऽज्यानम् । रजसम् । मृत्यो इति । अनवऽधर्ष्यम् ।

पथः । इमम् । तस्मात् । रक्षन्तः । ब्रह्मा । अस्मै । वर्मं । कृणुमसि

हे मृत्यो ते तव संबन्धि यत् नियानम् नियान्त्यत्रेति नियानं  
मार्गः । कीदृक् । रजसम् रजोमयम् अनवधृष्यम् केनापि धर्षि-  
तम् अशक्यम् । तस्माद् उक्तलक्षणात् पथः मार्गाद् इमं सुमूर्धुं  
पुरुषं रक्षन्तो वयम् अस्मै सुमूर्धवे ब्रह्म परिवृढं शान्तिरूपं कर्म  
उदीरितलक्षणं मन्त्रसमूहं वा वर्म तनुत्रं कृणमसि कृणमः कुर्मः ॥

इत्यष्टमकाण्डे प्रथमेऽनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

हे मृत्यो ! तेरा मार्ग रजोमय है, कोई भी उसका धर्षण नहीं  
कर सकता, ऐसे मार्गसे इस सुमूर्धुं पुरुषकी रक्षा करते हुए  
हम इस सुमूर्धुं पुरुषके लिये मन्त्ररूप कवचको करते हैं ॥१०॥

अष्टम काण्डके प्रथम अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त ॥

“कृणोमि ते प्राणापानौ” इति सूक्तस्य “आरभस्व” [८, २]  
इत्यनेन सह उक्तो विनियोगः ॥

कलहरूपनिर्धृतिमृहीने कुले तच्छद्धान्त्यर्थम् “आरादरातिम्”  
इति व्यूचेन आज्यं जुहुयात् । सूत्रितं च । “अथ यत्रैतत् कुलं  
कलहि भवति तन्निर्धृतिमृहीतम् इत्याचक्षते । तत्र जुहुयाद्  
आरादरातिम् इति द्वे” इति [ कौ० १२. ५ ] ॥

नैर्धृतकर्मणि अनेन व्यूचेन इन्द्रिडाज्यादीनि शर्करामिश्राणि  
कृत्वा जुहुयात् । “अथातो नैर्धृतं कर्म” इति प्रक्रम्य नक्षत्र-  
फल्ये सूत्रितम् । “आरादरातिम् इति द्वे । अपेत एतु निर्धृति-  
रित्येतैः सममांसम् इन्द्रिडम् आज्यम्” इत्यादि [ न० क० १५ ] ॥

गोदानादिषु संस्कारकर्मसु “शिवे ते स्ताम्” इति व्यूचेन ग्रीहि-  
यवशमीरभिमुख्य कुमारस्य मूर्ध्नि दद्यात् । सूत्रितं हि । “शिवे  
ते स्ताम् [ १४ ] इति आवापृथिवीभ्यां परिददाति” “शिवे ते  
स्ताम् इति परिदानान्तानि” इति च [ कौ० ७. ५ ] ॥

बालरुस्य निष्क्रमणकर्मणि “शिवे ते स्ताम्” इति व्यूचेन बालकं  
निष्क्रमयेत् । सूत्रितं हि । “शिवे ते स्ताम् इति कुमारं प्रथमं  
निर्णयति” इति [ कौ० ७. ६ ] ॥



अद्भुतमहाशान्तौ “शिवास्ते सन्त्वोपधयः” इत्युक्त्वा सूर्याचन्द्र-  
मसौ यजेत् । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । “उरु विष्णो वि क्रमस्व”  
[ ७. २७. ३ ] इति विष्णोः ‘शिवास्ते सन्त्वोपधयः’ [ ८. २.  
१५ ] इति सूर्याचन्द्रमसोः” इति [ न० क० १४ ] ॥

तथा मिथ्याभिशापनिवृत्त्यर्थं “शिवास्ते” इत्यनया सक्तुमन्यम्  
ओदनं वा अभिमन्य अभ्याख्याताय दद्यात् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि दुष्णमणि पलाशायोलोहहिरण्या-  
नाम् अन्यतमं वा मणिम् अनया संपात्य अभिमन्य निन्दिताय  
दधनीयात् ॥

सूत्रितं हि । “उतामृतासुः [ ५. १. ७ ] शिवास्ते [ ८. २.  
१५ ] इत्यभ्याख्याताय प्रयच्छति । दुष्णशिरो रज्ज्वा बध्नाति ।  
प्रतिरूपं पलाशायोलोहहिरण्यानाम्” इति [ कौ० ५. १० ] ॥

नामकरणे “यत् ते वासः” इत्यनया बालकं वस्त्रेण आच्छाद-  
येत् । “यत् ते वास इत्यहतेनाच्छादयेत्” इति सूत्रम् [ कौ० ७. ६ ] ॥

गोदानारूपसंस्कारकर्मणि चौले उपनयने च “यत् क्षुरेण”  
इत्यनया क्षुरस्य अभ्युक्ष्णं मार्जनं च कुर्यात् । “यत् क्षुरेणेत्यु-  
दक्षप्रं क्षुरम् अभ्युक्ष्य त्रिः प्रमाष्टि” इति [ कौ० ७. ४ ] “यत्  
क्षुरेणेत्युक्तम्” इति च कौशिकसूत्रम् [ कौ० ७. ६ ] ॥

अन्नप्राशनकर्मणि “शिवौ ते स्तां व्रीहियवौ” इति द्वाभ्याम्  
ऋग्भ्यां व्रीहियवौ पिष्ट्वा अभिमन्य बालकं प्राशयेत् । “शिवौ  
ते स्ताम्” इति व्रीहियवौ प्राशयति” इति सूत्रम् [ कौ० ७. ६ ] ॥

तथा आभ्याम् ऋग्भ्यां व्रीहियववाभिमन्य गोदानादिपु कुमा-  
रस्य मूर्ध्नि परिदद्यात् । “शिवौ ते स्ताम् इति व्रीहियवाभ्याम्” इति ॥

गोदानादिपु संस्कारकर्मसु “अहे च त्वा” इत्यनया व्रीहि-  
यवावभिमन्य कुमारस्य मूर्ध्नि दद्यात् । “अहे च त्वेत्यहो-  
रात्राभ्यां परिददाति” इति हि सूत्रम् [ कौ० ७. ६ ] ॥

‘कृणोमि ते पाणापानौ’ सूक्तका ‘आरभस्व’ इस = १२ के साथ विनियोग कह दिया है ।

कलहरूपा पापराक्षसीसे गृहीत कुलमें शान्ति करनेके लिये ‘आरादरातिम्’ इस बृचसे घृतकी आहुति देवे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—‘अथ यत्रैतत् कुलं कलहि भवति तन्निर्ऋतिगृहीतम् इत्याचक्षते । तत्र जुहुयादारादरातिम् इति द्वौ जिस कुलमें कलह मचता रहता है उसको निर्ऋति ( पाप-राक्षसी ) से गृहीत रहते हैं । ऐसे अवसर पर ‘आरादरातिम्’ इन दो ऋचाओंसे आहुति देवे ।’ ( कौशिक सूत्र १३ । ५ ) ॥

नैऋतकर्ममें इस बृचसे शर्करामिश्रित इंगिड घृत आदिको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके आहुति देय । “अथातो नैऋत-कर्म” को कह कर नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि—“आरादरातिं इति द्वे । अथेत् एतु निर्ऋतिरित्येतेः सममांसम् इद्विडं आज्यम्” ० ( नक्षत्रकल्प १५ ) ॥

गोदान आदि संस्कारकर्मोंमें ‘शिवे ते स्ताम्’ इस बृचसे धान जाँ और जण्डको अभिमन्त्रित करके कुमारके मस्तक पर रखे । इस विषयका सूत्रमें भी प्रमाण है, कि—‘शिवे ते स्ताम् ( १४ ) इति घावापृथिवीभ्यां परिददानि’ इति ‘शिवे ते स्ताम् इति परि-दानान्तानि’ इति च ( कौशिकसूत्र ७ । ५ ) ॥

बालकके निष्क्रमण कर्ममें ‘शिवे ते स्ताम्’ इस बृचसे बालक का निष्क्रमण करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । ६ का प्रमाण भी है, कि—‘शिवे ते स्ताम् इति कुमारं प्रथमं निर्णयति’ ॥

अद्भुतमहाशान्तिमें “शिवास्ते सन्त्वोषधयः” ऋचासे सूर्य और चन्द्रमाका यजन करे । इसी वातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि—“वरु विष्णो विक्रमस्व ( ७ । २७ । ३ ) इति विष्णोः

शिवास्ते सन्वोषधयः ( ८ । ५ । १५ ) इति सूर्याचन्द्रमसोः  
( नक्षत्रकल्प १४ ) ॥

तथा भूटे अभिशापकी निवृत्तिके लिये 'शिवास्ते' ऋचासे सक्तुमन्थको वा ओदनको अभिमन्त्रित करके अभ्याख्यातको देदेय तथा इसी कर्ममें दुग्धमणिको ( कुन्हाड़े की मणिको ) वा ढाक लोहा सुवर्णमेंसे एक की मणिको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके निन्दितके वाँध देय ।

नामकरणमें 'यत् ते वासः' ऋचासे बालकको वस्त्रसे आच्छादित करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । ६ का प्रमाण भी है, कि—'यत् ते वास इत्यहतेनाच्छादयेत्' ॥

गोदाननामक संस्कारकर्ममें अथवा चौल तथा उपनयनमें भी 'यत् क्षुरेण' ऋचासे क्षुरेका अभ्युक्षण और मार्जन करे । इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण है, कि—'यत् क्षुरेणेत्युदक्पत्रं क्षुरं अभ्युच्य त्रिः प्रमाष्टि' इति ( कौशिकसूत्र ७ । ४ ) 'यत् क्षुरेणेत्युक्तम्' इति ( कौशिकसूत्र ( ७ । ६ ) ॥

अन्नप्राशनकर्ममें 'शिवौ ते स्तां व्रीहियवौ इन दो ऋचाओं से धान और जौंको पीस कर और अभिमन्त्रित करके बालक को चटा देवे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । ६ का प्रमाण भी है, कि—'शिवौ ते स्ताम् इति व्रीहियवौ प्राशयति' ॥

तथा इन दोनों ऋचाओंसे धान और जौंको अभिमन्त्रित करके गोदान आदिमें कुमारके मस्तक पर लगावे । इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण है, कि—'शिवौ ते स्तां इति व्रीहियवाभ्याम्' ॥

गोदान आदिसंस्कारकर्मोंमें "अहो च त्वा" ऋचासे धान और जौंको अभिमन्त्रित करके कुमारके मस्तक पर रखे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । ६ का प्रमाण है, कि—'अहो च त्वेत्यहोरात्राभ्यां परिददाति' ॥

तत्र प्रथमा ॥

कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति ।  
वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतोपं सेधामि सर्वान्  
कृणोमि । ते । प्राणापानौ । जराम् । मृत्युम् । दीर्घम् । आयुः ।  
स्वस्ति ।

वैवस्वतेन । प्रहितान् । यमदूतान् । चरतः । अप । सेधामि ।  
सर्वान् ॥ ११ ॥

हे आयुष्काम पुरुष ते तव प्राणापानौ शरीरे ऊर्ध्वाधःसंचा-  
रिणौ वायू कृणोमि । प्रतिपदं कृणोमि त इति यथोचितं तत्त-  
द्वाक्यशेषोऽध्याहर्तव्यः । ते प्राणापानौ स्थिरौ कृणोमि । जरां  
मृत्युं च । त्वां यथा न स्पृशतस्तथा कृणोमि । दीर्घम् आयुश्च ते  
कृणोमि । तथा कृत्वा स्वस्ति । अविनाशिनामैतत् । अविनाशं  
कृणोमि । कथम् एतत् सर्वं घटते यमदूतेष्वासन्नेषु इति तत्राह ।  
वैवस्वतेन यमेन प्रहितान् प्रेषितान् चरतः आनयनाय व्यापार-  
यतः सर्वान् यमदूतान् अप सेधामि दूरे निराकरोमि । मन्त्रसाम-  
ध्याद् इत्यभिप्रायः ॥

हे आयुष्काम पुरुष ! तेरे शरीरमें मैं ऊपर और नीचेको विच-  
रण करनेवाले प्राण और अपान वायुओंको स्थिर करता हूँ । जरा  
और मृत्युको, भी स्पर्श न करनेवाले करता हूँ, तेरी आयुको दीर्घ  
करता हूँ । फिर तेरे लिये स्वस्ति करता हूँ ( अवशङ्का होती है,  
कि-यमदूतोंके पास होने पर यह सब बातें कैसे संभव हैं, इस  
शंकाका उत्तर देनेके लिये कहते हैं, कि-) यमराजके भेजे हुए  
लेजानेके लिये चेष्टा करने हुए सकल यमदूतोंको मैं मन्त्रशक्तिसे  
दूर करता हूँ ॥ ११ ॥

द्वितीया ॥

आरादरातिं निऋतिं पुरोग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान् ।  
रक्षो यत् सर्वं दुर्भूतं तत् तम इवापहन्मसि ॥ १२ ॥

आरात् । अरातिम् । निःऽऋतिम् । परः । ग्राहिम् । क्रव्यऽअदः ।  
पिशाचान् ।

रक्षः । यत् । सर्वम् । दुःऽभूतम् । तत् । तमःऽइव । अप । हन्मसि

अरातिम् अदार्त्रीं शत्रुभूतां वा पुरोग्राहिम् पुरस्ताद् ग्रहणशी-  
लाम् एवंविधां निऋतिम् पापदेवतां कलहोत्पादिकाम् । “यत्रैतत्  
कुलं कलहि भवति तन्निऋतिगृहीतम् इत्याचक्षते” इति सूत्रकार-  
वचनात् [ कौ० १३. ५ ] । आरात् हन्मसीति संबन्धः । निकृष्टं  
हन्मः । तथा क्रव्यादः मांसाशनान् पिशाचान् अप हन्मसि ।  
एवं दुर्भूतम् दुष्टत्वम् आपन्नं यत् सर्वं रक्षोस्ति राक्षसजातिरस्ति ।  
अथ वा दुष्टं च तद् भूतं च दुर्भूतं तादृग् रक्षः तत् तम एव तमो-  
वद् आवरकमेव । तद् अप हन्मः ॥

हम शत्रुभूत पुरोग्रहण करने वाली पापदेवता कलहोत्पा-  
दिका निऋतिको निकृष्टरूपसे मारते हैं । मांसभक्षी पिशाचोंको  
मारते हैं । और जो दुर्भावनारूप सब रक्षस्त्व है उसको पासमें  
ही मारते हैं, इन अन्धकारकी समान आवरक सबको हम मारते हैं १२

तृतीया ॥

अश्रेष्ठे प्राणममृतादायुष्मतो वन्वे जातवेदसः ।

यथा न रिप्यां अमृतं सजूरसस्तत् ते कृणोमि तदु ते  
समृन्ध्यताम् ॥ १३ ॥

अग्नेः । ते । प्राणम् । अमृतात् । आयुष्मतः । वन्वे । जातवेदसः ।

यथा । न । रिप्याः । अमृतः । सज्जुः । असः । तत् । ते ।

कृणोमि । तत् । । ऊँ इति । ते । सम् । अध्ययताम् ॥ १३ ॥

अमृतात् अमरणाद् देवाद् आयुष्मतः चिरजीविनः । “अग्नि-  
रायुष्मान्” इति हि श्रुतिः [ तै० सं० २. ३. १०. ३ ] । तथा-  
विधमाहात्म्यवतः अग्नेः सकाशात् हे निश्चर्त्यादिना अपहृतमाण  
पुरुष ते प्राणं वन्वे याचे । पुनः क्रीडशाद् अग्नेः । जातवेदसः  
जातमज्ञात् जातधनाद् वा । हे पुरुष त्वं च यथा न रिप्याः हिंसितो  
न भवेः । ॐ रुप रिप हिंसायाम् । अस्माद् देवादिकात् लेटि  
आडागमः ॐ । अमृतः अमरणः सज्जुः सह प्रीयमाणश्च असः  
भवेः । ॐ अस्तेर्लेटि अडागमः ॐ । तत् तादृक् शान्तिकर्म ते त्यदर्धं  
कृणोमि करोमि । तदु तदेव ते तव समृध्यताम् समृद्धं भवतु ॥

हे निश्चर्ति आदिके द्वारा अपहृत माण वाले मनुष्य ! मैं  
अमृत अर्थात् न मरने वाले अमर देवता आयुष्मान् जात-  
वेदा अग्निसे तेरे प्राणकी याचना करता हूँ । हे पुरुष ! तू भी  
जिस प्रकार हिंसित न हो, अमर और साथ ही साथ प्रसन्न होने  
वाला हो तिस प्रकार तेरे लिये शान्तिकर्मको करना हूँ, वही तेरे  
लिये समृद्ध होवे ॥ १३ ॥

चतुर्थी ॥

शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असंतापे अभिश्रियो ।

शं ते सूर्य आ तपतु शं वातां वातु ते हृदे ।

शिवा अभि चरन्तु त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ॥ १४ ॥

शिवे इति । ते । स्ताम् । द्यावापृथिवी इति । असंतापे इत्यसम्तापे ।  
अभिऽश्रियौ ।

शम् । ते । सूर्यः । आ । तपत् । शम् । वातः । वातु । ते । हृदे ।  
शिवाः । अभि । क्षरन्तु । त्ना । आपः । दिव्याः । पयस्वतीः ॥

हे कुमार ते तव निष्क्रमणसमये । यद्वा गोदानादिभिः  
कर्मभिः संस्क्रियमाण पुरुष । ते तव द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ  
देव्यौ शिवे मङ्गले कल्याणकारिण्यौ स्ताम् भवताम् । तथा असं-  
तापे संतापम् अकुर्वत्यौ स्ताम् । अभिश्रियौ प्राप्तश्रीके श्रीपदे  
स्ताम् । तथा सूर्यश्च ते त्वदर्थं शम् सुखं यथा भवति तथा आ तपतु  
प्रकाशयतु । एवं ते हृदे हृदयाय मनोनुकूलतायै वातः वायुः शम्  
सुखं यथा भवति तथा वातु संचरतु । तथा त्वा त्वां प्रति दिव्याः  
दिवि भवाः पयस्वतीः बहुभिः पयोभिः स्वाद्वंशैरुपेता आपः शिवाः  
सत्यः अभि क्षरन्तु अभि क्षवन्तु ॥

हे कुमार ! तेरे निष्क्रमणके समयमें (अथवा हे गोदान आदि  
से संस्क्रियमाण पुरुष ! ) तेरे लिये द्यावापृथिवी कल्याणका-  
रिणी होवें सन्तापको न देने वाली होवे, लक्ष्मी देने वाली होवें ।  
और सूर्यदेव भी जिस प्रकार तुझको सुख मिले तिस प्रकार  
तपें, और तेरे हृदयकी अनुकूलता दिखाते हुए वायु भी सुखप्रद  
होकर वहें । और द्यौमें होने वाला स्वादु अंशोंसे सम्पन्न जल  
कल्याणकारक होते हुआ वहे ॥ १४ ॥

पञ्चमी ॥

शिवास्ते सन्त्वोषधय उत त्वांहर्षमधरस्या उत्तरां  
पृथिवीमभि ।

तत्र त्वादित्यौ रक्षतां सूर्याचन्द्रमसां उभा ॥ १५ ॥

शिवाः । ते । सन्तु । ओषधयः । उत । त्वा । अहार्षम् ।

अधरस्याः । उत्तराम् । पृथिवीम् । अभि ।

तत्र । त्वा । आदित्यौ । रक्षताम् । सूर्याचन्द्रमसौ । उभा ॥ १५ ॥

हे कुमार ते [ तव ] ओषधयः आहारार्थम् उपयुज्यमाना ग्रीष्मादयः शिवाः सुखकराः सन्तु भवन्तु । त्वा त्वाम् अधरस्याः पृथिव्याः सकाशाद् उत्तरां पृथिवीम् अभिलक्ष्य उदाहार्षम् उद्धरणम् अकार्षम् । पृथिव्या एकस्या अपि अधरोत्तरभावः अंशभेदेन त्रित्वाद् उपपद्यते । “तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीरुत धून्” [ अ० २. २७. ८ ] “तिस्रो महीरुपराः” [ अ० ७. ८७. ५ ] इत्यादिमन्त्रेषु त्रित्वस्यान्नात् । अवमध्यमोत्तमभेदेन पृथिव्यास्त्रैविध्यम् आम्नायते मन्त्रान्तरे । “यदिन्द्राग्नी अवमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यां परमस्याम् उत स्थः” [ अ० १. १०८. २ ] । अतः अवमस्याः सकाशात् परमाम् पृथिवीम् अभिलक्ष्य उद्धरणम् अत्र अभिधीयते । तत्र उत्तरस्यां पृथिव्याम् हे बालक त्वा त्वाम् आदित्यौ अदितेः पुत्रौ देवा रक्षताम् पालयताम् । कौतावादित्यौ इति तां दर्शयति । उभा उभौ सूर्याचन्द्रमसौ । ❀ “देवताद्वन्द्वे च” इति आनङ् आदेशः ❀ ॥

हे कुमार ! आहारके लिये उपयोगमें आने वाली ग्रीहि आपि ओषधियें तुम्हे सुख पहुँचाने वाली होवें, तुम्हको मैंने नीचेकी पृथिवीसे उत्तरकी पृथ्वीको लक्ष्य करके उद्धृतकर लिया है ‡ ।

‡ पृथिवी एक है तब भी अधरोत्तरभाव अंशभेदवश त्रित्व के कारण उत्पन्न होता है । ऋग्वेदसंहिता २ । २७ । ८ में कहा है, कि—“तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीरुत धून् ।—तीन भूमियोंको और



उस उत्तरकी भूमिमें हे बालक ! अदितिके पुत्र सूर्य चन्द्रमा नामक देवता तेरी रक्षा करें ॥ १५ ॥

पृथी ॥

यत् ते वासः परिधानं यां नीविं कृणुषे त्वम् ।

शिवं ते तन्वेऽ तत् कृणुमः संस्पर्शेद्रूक्षामस्तु ते १६

यत् । ते । वासः । परिधानम् । याम् । नीविम् । कृणुषे । त्वम् ।

शिवम् । ते । तन्वेऽ । तत् । कृणुमः । समस्पर्शे । अद्रूक्षाम् ।

अस्तु । ते ॥ १६ ॥

हे बालक ते तव परिधानम् उपरि आच्छादनीयं यद् वासोस्ति त्वं च यां नीविं कृणुषे । नाभिदेशे संवद्धं वस्त्रं नीविरित्युच्यते । मध्यदेशाच्छादनम् इत्यर्थः नीव्यपेक्षया याम् इति स्त्रीलिङ्गव्यपदेशः । तत् द्विप्रकारकं वस्त्रं ते तन्वे तव शरीराय शिवम् सुखकरं कृणुमः । तच्च वस्त्रं संस्पर्शे विषये अद्रूक्षाम् अरुद्धं यथा मार्दवम् अरज्जुते व्याप्नोति गच्छति तथा कृणुमः ॥

हे बालक ! तेरा जो ऊपरके अङ्गको ढकने वाला परिधान-वस्त्र है, और तू जिस वस्त्रको नीवी करता है ( नाभि पर बाँधा

तीन धाको धारण किया" ॥ तथा ऋग्वेदसंहिता ७ । ८७ । ५ में भी कहा है कि—“तिस्रो महीरुपराः” ॥ इत्यादि मन्त्रोंसे पृथ्वी के त्रित्वका वर्णन है । अन्य मन्त्रोंमें भी उत्तम मध्यम निष्कृष्ट-भेदसे पृथिवीके तीन भेदोंका वर्णन है, यथा-ऋग्वेदसंहिता १ । १०८ । ६ में कहा है, कि—“यदिन्द्राग्नी अवमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यां परमस्यां उत स्थः ।—हे इन्द्र और अग्नि देवताओं ! तुम उत्तर मध्यम और अवम पृथिवीमें हो” ॥

हुआ वस्त्र नीची कहलाता है ) उन दोनों प्रकारके वस्त्रोंको हम तेरे शरीरको सुख देने वाले करते हैं । और वे दोनों वस्त्र जिस प्रकार अद्रक्ष्य ( कोमल स्पर्श वाले ) हों तैसा करते हैं ॥१६॥  
सप्तमी ॥

यत् क्षुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता वपसि केशश्मश्रु ।

शुभं मुखं मा न आयुः प्र मोपीः ॥ १७ ॥

यत् । क्षुरेण । मर्चयता । सुतेजसा । वप्ता । वपसि । केशश्मश्रु ।

शुभम् । मुखम् । मा । नः । आयुः । प्र । मोपीः ॥ १७ ॥

यत् यदा हे देव सवितः संस्कारक पुरुष वा त्वं वप्ता केशानां छेदा नापितः सन् मर्चयता व्यापारयता सुतेजसा शोभनतेजो-युक्तेन क्षुरेण केशश्मश्रु शिरोरोमणि मुखरोमाणि च वपसि । यद्यपि वपतिधातुर्वीजसंतानार्थस्तथापि केशसमभिव्याहारात् छेदने वर्तते । तदा वपनं कुर्वन् मुखम् गोदानचालोपनयनैः संस्क्रियमाणस्य बालस्य मुखं शुभम् दीप्तं तेजस्वि कुरु । वपने सति मुख-विकाशभावाद् एवं प्रार्थ्यते । नः अस्माकं पुत्रस्य आयुर्मा प्र मोपीः ॥

हे संस्कारक सवितः ! जब आप मुण्डन करने वाले होकर शोभन तेज वाले व्यापारमें प्रवृत्त ह्युसे शिर और मुखके बालों को मूँड रहे हैं उस समय गोदान उपनयन और चालसे संस्क्रियमाण बालके मुखको दमकता हुआ करिये और हमारे पुत्रकी आयुका अग्रहरण न करिये ॥ १७ ॥

अष्टमी ॥

शिवो ते तं स्तां ब्रीहियवावन्वलासावन्दोमधो ।

एतौ यद्गमं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः ॥ १८ ॥

शि॒वौ । ते । स्ता॒म् । ब्री॒हि॒ऽय॒वौ । अ॒व॒ला॒सौ । अ॒दो॒म॒धौ ।

ए॒तौ । य॒क्ष॒म् । वि । बा॒धे॒ते इति । ए॒तौ । मु॒ञ्च॒तः । अ॒ह॒सः १८

हे अन्नम् अन्नं बालक ते तव ब्रीहियवौ अन्नत्वेन कल्पितौ शिवौ स्ताम् मङ्गलौ सुखकरौ भवताम् । अवलासौ शारीरबलस्य अक्षेप्तारौ । बलकरावित्यर्थः । तथाविधौ स्ताम् । तथा अदोमधू उपयोगानन्तरं मधुरौ ॥ एवम् इष्टमाप्तिम् आशास्य अरिष्टपरिहारम् आशास्ते । एतौ ब्रीहियवौ यक्षम् शरीरगतं रोगं वि बाधेते विशेषेण पीडयतः । एतावेव ब्रीहियवौ कुमारम् अहसः पापाद् मुञ्चतः मोचयतः ॥

हे अन्नका भक्षण करते हुए बालक ! तेरे अन्नरूपसे कल्पित धान और जौ मंगल देने वाले होवें, शारीरिक बलका क्षय न करने वाले होवें अर्थात् बलको देने वाले होवें और उपयोगके अनन्तर मधुर होवें । ये धान और जौ शरीरगत रोगको विशेषरूपसे बाधा देते हैं, ऐसे ये धान और जौ बालकको पापसे मुक्त करें ॥ १८ ॥

नवमी ॥

यद् अ॒श्ना॒सि॒ यत् पि॒वं॒सि॒ धान्यं॑ कृ॒ष्याः॒ पयः॑ ।

यदा॒द्यं॑ यद॒ना॒द्यं॑ सर्वं॑ ते॒ अन्नं॑ म॒वि॒षं कृ॒णो॒मि १९

यत् । अ॒श्ना॒सि॒ । यत् । पि॒वं॒सि॒ । धान्यं॑म् । कृ॒ष्याः॒ । पयः॑ ।

यत् । आ॒द्यं॑म् । यत् । अ॒ना॒द्यं॑म् । सर्वं॑म् । ते॒ । अन्नं॑म् । अ॒वि॒ष॒म् । कृ॒णो॒मि ॥ १९ ॥

हे कुमार त्वं यद् धान्यं कृच्छ्राद् अश्नासि अभ्यवहरसि । तथा यद् धान्यं कृच्छ्रात् पयः पयोवत्सारभूतं पिष्टमयम् अन्नं

पयोमिश्रितं वा घान्यम् ब्रीह्यादिरूपं पिबसि । यद् आद्यम् अदनीयं सुखेन भक्षणीयम् यच्च अनाद्यम् अदनानर्हं कठिनद्रव्यम् । अत्यन्तकटुतिक्तत्वाद् वा अनाद्यम् । सर्वम् यद् अश्नासीत्यादिना उक्तम् अन्नम् अविषम् निर्विषम् अमृतं कृणोमि करोमि ॥

हे कुमार ! तুম जिस घान्यको कठिनतासे खाते हो, और दुग्धकी समान सारभूत पिये हुएको—वा दुग्धमिश्रित धान और जौको पीते हो, और सुखसे खाने योग्य जिस वस्तुको खाते हो वा कटु तिक्त आदि होनेसे कठिन अतएव अनाद्य जिस अन्न को खाते हो तुम्हारे लिये उन सब अन्नोंको मैं निर्विष ( अमृत ) करता हूँ ॥ १६ ॥

दशमी ॥

अहं च त्वा रात्रये चोभाभ्यां परि दध्मसि ।

अरायेभ्यो जिघत्सुभ्य इमं मे परि रक्षत ॥ २० ॥

अहं । च । त्वा । रात्रये । च । उभाभ्याम् । परि । दध्मसि ।

अरायेभ्यः । जिघत्सुभ्यः । इमम् । मे । परि । रक्षत ॥ २० ॥

हे कुमार त्वा त्वाम् अहं अहर्देवतायै रात्रये रात्रिदेवतायै च उभाभ्यां देवताभ्यां परि दध्मसि परिदध्मः । रक्षार्थं प्रयच्छामः । उक्तकालद्रव्यव्यतिरेकेण कालान्तराभावात्तदुभयाभिमानिदेवताके रक्षणे सति सर्वदा बालस्य रक्षा भवतीत्यभिप्रायः । परिदानप्रकार उच्यते । अरायेभ्यः अधनेभ्यो घनापहर्तृभ्यो वा जिघत्सुभ्यः अदनेच्छानद्धयो भक्षकेभ्यः रक्षःपिशाचादिभ्यः सकाशाद् इमं मे मदीयं बालं परि रक्षत परितः पालयत हे विश्वे देवाः अह्नि संचरद्दधो रात्रौ संचरद्दधश्च । ॐ जिघत्सुभ्य इति । अदेः

“लुङ्सनोर्घस्लृ” इति घस्त्वादेशे “एकाच उपदेशेनुदात्तात्” इति इट्प्रतिषेधः । “सस्यार्धधातुके” इति तत्त्वम् ॐ ॥

इत्यष्टमकाण्डे प्रथमेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

हे कुमार ! हम तुझको रात्रिके अभिमानी देवताके लिये और दिनके अभिमानी देवताके लिये इस प्रकार दोनों देवताओंको रक्षा करनेके लिये देते हैं । हे सकल देवताओं ! आप धना-पहारकोंसे, खाजाना चाहने वालोंसे तथा दिन और रात्रियें घूमने वाले प्राणियोंसे भी इस बालककी रक्षा करो ॥ २० ॥

अष्टम काण्डक प्रथम अनुवाकमें चतुर्थं सूक्त समाप्त ॥

“शतं तेयुतम्” इत्यस्य सूक्तस्य “आरभस्व” [ ८. २ ] इत्यनेन सह उक्तो विनियोगः ॥

गोदानादिषु कर्मसु ब्रीहियवौ “शरदे त्वा” इत्यभिमन्त्र्य कुमारस्य मूर्ध्नि दद्यात् । “शरदे त्वेत्यृतुभ्यः” इति हि सूत्रम् [ ७. ६ ] ॥

“शतं तेयुतम्” सूक्तका “आरभस्व” ( ८. २ ) के साथ विनियोग कह दिया है ।

गोदान आदि कर्मोंमें धान और जौको “शरदे त्वा” से अभिमन्त्रित करके कुमारके मस्तक पर रखे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७. ६ का प्रमाण है, कि—‘शरदे त्वेत्यृतुभ्यः’ ।

तत्र प्रथमा ॥

शतं तेयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारिं कृणमः ।

इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेन मन्यन्तामहणीयमानाः २१

शतम् । ते । अयुतम् । हायनान् । द्वे इति । युगे इति । त्रीणि ।

चत्वारि । कृणमः ।

इन्द्राग्नी इति । विश्वे । देवाः । ते । अनु । मन्यन्ताम् । अहणीयमानाः ॥ २१ ॥

हे बालक ते तव शतं हायनान् शतसंख्याकान् संवत्सरान् ।  
 “शतायुः पुरुषः” [ तै० ब्रा० १. ७. ६. २ ] इति श्रुतिविहितान्  
 अयुतम् अयुतसंख्याकान् कृणुः कुर्मः । तथा ते द्वे युगे । जाया-  
 पतिलक्ष्णम् एकं युगम् । स्त्र्यपत्यपुमपत्यलक्ष्णम् अपरं युगम् ।  
 एवं द्वे युगले । त्रीणि युगानि चत्वारि युगानि च कुर्मः । उपलक्ष-  
 णम् एतत् । पुत्रपौत्रादिद्वारा अनेकयुगलानि कुर्मः । यद्यपि एक-  
 शतपर्यन्तं जीवनमपि मनुष्याणां न संभवति तथापि आकल्पं  
 जीव कल्पायुष्यम् अस्तु इत्याद्याशीर्दर्शनाद् दीर्घायुषि तात्पर्यं न  
 विरुध्यते । अथवा एवं योजना । हे बालक ते शतं हायनान्  
 कृणुः । तानेव अयुतं च हायनान् कृणुः । तानेव द्वे युगे कृणुः ।  
 त्रीणि च युगानि कृणुः । चत्वारि युगानि कृणुः इति । अयम्  
 अभिप्रायः । तव प्रथमं क्रियमाणेन संस्कारविशेषेण सर्वमनुष्य-  
 साधारणान् शतसंवत्सरान् कुर्मः । तानेव अयुतसंख्याकान्  
 कुर्मः । चतुर्णां युगानां संधिसंवत्सरान् विहाय युगचतुष्टयस्य  
 मिलित्वा अयुतं संवत्सराः स्युः । तान् विभज्य द्वे कलिदाप-  
 राख्ये । त्रीणि त्रेतामहितानि । चत्वारि कृतयुगसहितानि कुर्म  
 इति आशास्यते । एवंरूपां प्रार्थनां ते प्रसिद्धा इन्द्राग्नी विश्वे च  
 देवा अहणीयमानाः ईदृक्प्रार्थना कथं कर्तुं युज्यत इति हृणां लज्जा  
 क्रोधं वा अकुर्वाणाः सन्तः अनु मन्यन्ताम् अनुमतिं कुर्वताम् ॥

हे बालक ! तेरे लिये हम ( ‘शतायुः’ पुरुषः ।—पुरुष सौ वर्ष  
 की आयु वाला हो सकता है’ तैत्तिरीयब्राह्मण १ । ७ । ६ । २  
 की श्रुतिमें कहे हुए ) सौ वर्षोंको करते हैं अयुत वर्षोंको करते  
 हैं । तेरे लिये हम स्त्रीपुरुषरूप एक युग और पुत्रपुत्री सन्तारूप  
 दो युग इस प्रकार दो युगोंको करते हैं और पुत्र पौत्र आदिके द्वारा  
 दो तीन ( आदि अनेक ) युगोंको करते हैं इस प्रार्थना पर क्रोध  
 वा लज्जा न करते हुए देवता अनुमति दें ॥ २१ ॥

द्वितीया ॥

शरदे त्वा हेमन्ताय वसन्ताय ग्रीष्माय परि दद्वसि ।  
वर्षाणि तुभ्यं स्योनानि येषु वर्धन्त ओषधीः ॥ २२ ॥

शरदे । त्वा । हेमन्ताय । वसन्ताय । ग्रीष्माय । परि । दद्वसि ।  
वर्षाणि । तुभ्यम् । स्योनानि । येषु । वर्धन्ते । ओषधीः ॥ २२ ॥

हे बालक त्वा त्वां शरदे ऋतवे परि दद्वसि परिदद्वः । परि-  
दानं रत्तार्थं दानम् । हे शरदतो अमुं रक्षेति प्रयच्छाम इत्यर्थः ।  
तावत्पर्यन्तं जीवन्तं हेमन्ताय परिदद्वः । ततो वसन्ताय । ततो  
ग्रीष्माय च परिदद्वः । उपलक्षणम् एतत् । सर्वेभ्योपि ऋतुभ्यः  
प्रयच्छामीत्युक्तं भवति । सर्वेष्वपि ऋतुषु जीवनस्य अपेक्षितत्वात् ।  
हे बालक तुभ्यं वर्षाणि जीवनकालमध्यपातीनि पट्युत्तरशतत्रय-  
दिनसंख्याकानि प्रभवादिरूपाणि स्योनानि सुखकराणि । भव-  
न्तिवति शेषः । येषु वर्षेषु ओषधीः ओषधयः भोगसाधनभूतव्रीह्या-  
दयो वर्धन्ते अभिवृद्धिं प्राप्नुवन्ति । तानि वर्षाणीति पूर्वत्र संबन्धः ।  
वर्षाणि स्वीयाभिरभिवृद्धाभिरोषधीभिस्तव सुखकराणि सन्तु  
इत्यर्थः ॥

हे बालक ! हम तुम्हको रत्तार्थ शरद ऋतुके अर्पण करते हैं,  
हेमन्त वसन्त और ग्रीष्म ऋतुके भी अर्पण करते हैं । प्रभव आदि  
नाम वाले तीनसौ पैंसठ दिन रूप वर्ष तुम्हको सुखद होवें, कि-  
जिन वर्षोंमें औषधियाँ बढ़ती हैं । तात्पर्य यह है, कि—अपनेमें बढ़ी  
हुई औषधियोंसे तेरे जीवनके मध्यमें आने वाले प्रभव आदि  
सम्बत्सर तुम्हको सुख देवें ॥ २२ ॥

तृतीया ॥

मृत्युरीशे द्विपदां मृत्युरीशे चतुष्पदाम् ।

तस्मात् त्वां मृत्युर्गोपतेरुद्धरामि स मा विभेः २३

मृत्युः । ईशे । द्विष्पदाम् । मृत्युः । ईशे । चतुष्पदाम् ।

तस्मात् । त्वाम् । मृत्योः । गोऽपतेः । उत् । भुरामि । सः । मा ।

विभेः ॥ २३ ॥

द्विष्पदाम् पदद्वयभूतानां मनुष्यपक्ष्यादीनां मृत्युः सर्वप्राणि-  
संहर्ता देवः ईशे ईष्टे स्वामी भवति । तथा चतुष्पदाम् गवाश्या-  
दीनां मृत्युरेव ईष्टे । न हि मृत्युम् अपलपन् कश्चिदपि प्राणन्  
दृश्यते ऋते सुमुक्तोः । यस्मादेवं तस्मात् त्वां गोपतेः । गानः परा-  
धीनत्वाद् यथा गोपालं नातिपन्ति एवम् एतेपि मृत्योर्वशगा  
इति मृत्युर्गोपतिरित्युच्यते । अथवा गोशब्देनात्र पशवोऽ-  
भिधीयन्ते । पशवो द्विषादश्चतुष्पादश्च । तेषाम् उभयेषां पतिः ।  
तादृशाद् मृत्योः सकाशाद् उद्धरामि उद्धरामि । मन्त्रवीर्याद्  
इत्यभिप्रायः । स मृत्युभीतस्त्वं मा विभेः भीतिं मा कार्षीः ॥

मृत्यु मनुष्य पक्षी आदि दो पैर वालोंके स्वामी हैं तथा चार  
पैर वाले गौ घोड़े आदिके भी स्वामी हैं, इस प्रकार द्विषात् चतुष्पात्  
सुमुक्तुष्यक्तिरिक्त अज्ञानी जीवात्मक पशुरूप गौके ईश्वर मृत्युके  
पाससे मन्त्रशक्तिके प्रभावसे मैं तेरा उद्धार करता हूँ, अतएव  
मृत्युसे डरा हुआ तू डर मत ॥ २३ ॥

चतुर्थी ॥

सोरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि मा विभेः ।

न वै तत्र म्रियन्ते नो यन्त्यधमं तमः ॥ २४ ॥

सः । अरिष्ट । न । मरिष्यसि । न । मरिष्यसि । मा । विभेः ।

न । वै । तत्र । म्रियन्ते । नो इति । यन्ति । अग्रयम् । तपः २४



हे अरिष्ट । न विद्यते रिष्टं दैवं यस्य सः अरिष्टः दैवविमुख इत्यर्थः । स संबोध्यते । अथवा रिष्टं रेपो हिंसा सा यस्य नास्ति सः अरिष्टः । निरस्तहिंस इत्यर्थः । मृत्युकर्तृकहिंसारहित इति यावत् । तादृश त्वं न मरिष्यसि मृतिं न प्राप्नोषि । दाढर्याय पुनराह । न मरिष्यसि त्वम् अतो मा त्रिभेः मरिष्यामीति भीतिं मा प्राप्नहि । भीत्यभावे कारणम् आह न वै तत्रेति । तत्र तस्मिन् शान्तिकर्मविषये तस्मिन् शान्तिकर्मयुक्ते देशे वा । उत्तरमन्त्रे “यत्रेदं ब्रह्म क्रियते” इति वक्ष्यमाणत्वात् । न त्रियन्ते वै न प्राणं त्यजन्ति खलु । वैशब्दः प्रसिद्धौ । सा च महाशान्तिकृत्सु पुरुषेषु सार्वजनीना । मा भून्मृतिः । अधमतमःप्राप्तिः किम् अस्ति सापि नेत्याह नो यन्त्यधमं तम इति । अधमं तमः मरणकालीना दुःसहा मूर्खा । तामपि नैव प्राप्नुवन्ति । यद्वा मृत्यनन्तरं दुष्कर्मभिः प्राप्तव्यं सवितृप्रकाशशून्यम् अधोलोकस्थं तमिस्रम् । तस्य प्राप्तिर्नैवेत्यर्थः ॥

हे मृत्युकर्तृक हिंसारहित-अरिष्ट ! तू मरेगा नहीं, तू मरेगा नहीं, अतः मैं मर जाऊँगा-ऐसा भय न कर । इस शान्तिकर्म युक्त देशमें पुरुष मरते नहीं हैं और इस शांति करने वालोंको अधम तम अर्थात् मृत्युके समयकी मूर्खा नहीं होती है । अथवा-इस शान्तिकर्मको करने वाले मरणके अनन्तर दुष्कर्मोंसे प्राप्त होने वाले सूर्यके प्रकाशसे रहित नीचेके लोकमें स्थित तमिस्रको भी प्राप्त नहीं होते हैं ॥ २४ ॥

पञ्चमी ॥

सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः ।

यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम् ॥ २५ ॥

सर्वः । वै । तत्र । जीवति । गौः । अश्वः । पुरुषः । पशुः ।

यत्र । इदम् । ब्रह्म । क्रियते । परिऽधिः । जीवनाय । कम् २५

पूर्वमन्त्रे सोरिष्ट न मरिष्यसि न वै तत्र म्रियन्त इति यद् उक्तं तदेव अस्मिन् मन्त्रे सोपपत्तिकं विस्पष्टीक्रियते । अर्थस्तु स्पष्ट एव । सर्वशब्दस्य विवरणं गौरश्व इत्यादि । ब्रह्म परितृप्तं महाशान्त्यपाख्यं कर्म । परिधिः रक्तः पिशाचादिनिवारकः माकारः । यथा यज्ञे अग्नेः परिधिः एवम् । तच्च परिधानं किमर्थम् इति तत्राह जीवनाय कम् इति । जीवनायेत्येतावतो नाधिकम् कम् इत्यस्य पूरणार्थत्वात् । ॐ तथा च यास्कः । “मिताक्षरेष्वनर्थकाः कमीमिदु” इत्युक्त्वा उदाहरणम् । “शिशिरं जीवनाय कम् इति शिशिरं जीवनाय” इति [ नि० १. १० ] ॥

जहाँ यह महाशान्तिकर्म राजस पिशाच आदिको रोकनेवाले परकोटेरूपमें जीवनार्थ किया जाता है तहाँ गौ अश्व पुरुष पशु आदि सब ही जीवित रहते हैं ॥ २५ ॥

पृष्ठी ॥

परि त्वा पातु समानेभ्योऽभिचारात् सवन्धुभ्यः ।

अमग्निर्भवामृतेति जीवो मा ते हासिपुः सवः शरीरम्

परि । त्वा । पातु । समानेभ्यः । अभिऽचारात् । सवन्धुभ्यः ।

अमग्निः । भव । अमृतः । अतिऽजीवः । मा । ते । हासिपुः । असवः ।

शरीरम् ॥ २६ ॥

हे शान्त्यर्थिन् पुरुष त्वा त्वां मया कृतं शान्तिकर्म परि परितः पातु पालयताम् । कुतः सकाशात् । समानेभ्यः विद्यैरव्यपराक्रमैः सदृशेभ्योऽप्येभ्यः । तथा सवन्धुभ्यः समानवन्धुभ्यः । अभिचारात् तत्कृतात् हिंसाप्रयोगात् । त्वं च अमग्निः अमरणशीलो

भव । तथा अमृतः मृतिरहितः अतिजीवः अनिशचितजीव भव ।  
ते तव शरीरम् असवः प्राणाः चक्षुरादीन्द्रियरूपा अमुख्यप्राणाः  
प्रसिद्धा मुख्यप्राणाश्च मा हासिषुः मा जह्युः ॥

हे शान्तिको चाहने वाले पुरुष ! मेरा किया हुआ शान्तिकर्म  
चारों ओरसे तेरी रक्षा करे । विद्या ऐश्वर्य आदिमें समान अन्य  
पुरुषोंसे, समान बन्धुओंसे, उनके किये हुए अभिचारसे शान्ति-  
कर्म तेरी रक्षा करे । तू अमरणशील अमृत और चिरकाल तक  
जीवित रहने वाला हो, चक्षु आदि गौण प्राण और मुख्यप्राण  
तेरे शरीरको न छोड़ें ॥ २६ ॥

सप्तमी ॥

ये मृत्यव एकशतं या नाष्टा अतितायाः  
मुञ्चन्तु तस्मात् त्वां देवा अग्नेर्वैश्वानरादधि ॥ २७ ॥

ये । मृत्यवः । एकशतम् । याः । नाष्टाः । अतितायाः ।  
मुञ्चन्तु । तस्मात् । त्वाम् । देवाः । अग्नेः । वैश्वानरात् । अधि ॥ २७ ॥

ये प्रसिद्धा मृत्यवः हिंसका यमस्य हेतयः ज्वरशिरोव्यथादयः  
एकशतम् एकशतसंख्याका मुख्यभूताः सन्ति । याश्च नाष्टाः नाश-  
कारिण्यः अतितायाः अतितरीतव्या लङ्घनीया हिंसिकाः सन्ति ।  
तस्मात् उक्ताद् द्विविधाद् मृत्युरूपाद् नाष्टारूपाच्च त्वां देवाः  
इन्द्रादयो मुञ्चन्तु मोचयन्तु । तथा वैश्वानराद् अग्नेरधि । ॐ अधिः  
पञ्चम्यर्थानुवादी ॐ । अग्नेः सकाशात् त्वां मुञ्चन्तु ॥

जो ( यमकी आयुधरूप-ज्वर, शिरकी पीड़ा आदिरूप ) एक  
सौ ( मुख्य ) मृत्युएँ ( नाशिका शक्तियें ) हैं और जिनको लौंघा  
नहीं जासकता ऐसी नाशकारिणी नाष्टा शक्तियें हैं । उन मृत्यु  
और नाष्टा दोनों प्रकारकी शक्तियोंसे इन्द्र और देवता तुम्हको  
मुक्त करें । और वैश्वानर अग्निसे भी तुम्हको मुक्त रखें २७

अष्टमी ॥

अग्नेः शरीरमसि पारयिष्णु रक्षोहासिं सपत्नहा ।

अथो अमीवचातनः पूतदुर्नाम भेषजम् ॥ २६ ॥

अग्नेः । शरीरम् । असि । पारयिष्णु । रक्षःऽहा । असि । सपत्नऽहा ।

अथो इति । अमीवचातनः । पूतदुः । नाम । भेषजम् ॥ २८ ॥

अग्नेन यन्त्रेण पूतदुर्नामकः सर्वारिष्टनिवर्तको रक्षामण्युपादान-  
भूतो वृक्षविशेषः कथ्यते । हे पूतदो त्वम् अग्नेः पारयिष्णु पार-  
मापकं शरीरम् असि । वृक्षस्यान्तः अग्नेरवस्थानात् शरीरत्व-  
व्यपदेशः । विशेषतः अस्य वृक्षस्य शरीरत्वाभिधानम् । अथवा  
पारयिष्णुरिति पृथग्विशेषणम् । स्वनिर्दिष्टव्यापारस्य पारमापकः  
रक्षोहा रक्षसां हन्ता असि भवसि । सपत्नहा शत्रुहन्ता च असि ।  
अथो अपि च अमीवचातनः रोगस्य प्रच्यावकः । एवंमहिमात्वं  
पूतदुर्नाम पूतदुसंज्ञकं भेषजम् औषधम् । तादृशस्त्वम् अभिमतं  
साधयेति शेषः ॥

इत्यथर्वसंहिताभाष्ये अष्टमकाण्डे त्रयोमोनुवाकः ॥

हे ( सर्वारिष्टनिवारक रक्षामणिके उपादान ) पूतदु नामक  
वृक्ष ! तू अग्निंका पारमापक शरीर है (अर्थात् तेरे भीतर अग्नि  
रहना है ) और तू राक्षसोंका मारने वाला है और शत्रुओंका  
संहार करने वाला है और रोगोंका दूर करने वाला है, और  
पूतदु औषध है । ऐसा पूतदु हमारे अभीष्टको सिद्ध करे ॥२८॥

अथर्ववेदसंहितायाम् अष्टम ब्राह्मणे प्रथम अनुवाकमे समाप्त ॥

द्वितीयेनुवाके षट् सूक्तानि । अस्यानुवाकस्य चातनगणे पाठात्  
“चातनानाम् अपनोदनेन व्याख्यातम्” [ की० ४. १ ] इत्यु-  
क्तेषु कर्मसु विनियोगः । तानि कर्माणि कथ्यन्ते । रक्षोग्रहविशा-

चादिभैषज्यार्थम् अनेनानुवाकेन फलीकरणतुपट्टशकलानाम्  
अन्यतमं जुहुयात् । एतैरेव धूपयेद् वा ॥

तथा अनेनानुवाकेन पिशाचादिग्रस्तं पुरुषम् अनुव्रूयात् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनेनानुवाकेन त्रपुसमुसलखदिरसर्ष-  
पाणाम् अन्यतमस्य समिध आदध्यात् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि खादिरान् शंकून् लोहमयान् ताम्र-  
मयान् वा विषमसंख्यानं निखननार्थं “रक्षोहणम्” इत्यनुवाकेन  
अभिमन्त्रयेत् । तप्तशर्करा अभिमन्त्र्य शयनादौ परिकिरेद् वा ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनेनानुवाकेन सूत्रोक्तरीत्या यवसक्तून्  
जुहुयात् ॥

तथा असाध्यग्रहवशीकरणार्थम् अनेनानुवाकेन वीरणतूलसहि-  
तम् इज्जिडाज्यं पलाशापर्णपृष्ठभागेन जुहुयात् ॥

तथा गृहादौ ग्रहपिशाचादिसद्भावासद्भावशङ्कायाम् अनेनानु-  
वाकेन सर्पपेधं शरमयं बहिश्च अभिमन्त्र्य गृहस्थोपरि स्थापयेत् ।  
प्रभाते इध्मावर्हिषोर्भिकारे ग्रहास्तित्वं जानीयात् ॥

तस्मिन्नेव कर्मणि धैश्रवणमस्कारानन्तरम् अनेनानुवाकेन  
उदकम् अभिमन्त्र्य ग्रहगृहीतम् आचामयेत् प्रोक्षयेद् वा रात्रौ  
उल्मुकद्वयम् अभिमन्त्र्य संघर्षयेद् वा ॥

तद् उक्तं कौशिकेन । “चातनानाम् अपनोदनेन व्याख्या-  
तम् । त्रपुसमुसलखदिरताष्टाधानाम् आदधाति । अयुग्मान् खादि-  
रान् शंकून् अच्यौ नि विध्य [ ५. २६, ४ ] इति पश्चाद् अग्नेः  
समं भूमिं निखनति । एवम् आयस लोहान् । तप्तशर्कराभिः  
शयनं राशिपण्यानि परिकिरति । अभावास्थायां सकृद्गृहीतान्  
यवान् अनपहतान् अप्रतीहारपिष्ठान् आभिचारिकं परिस्तीर्य  
ताष्टाधेभ्य आगपति । य आगच्छेत व्रूयाच्छृणुष्वेन जिह्वां निर्मु-  
जानः शालायाः प्रस्कन्देति । तथाऽकुर्वन्नना । अघे हुवाने ।

वीरिणनूलमिश्रम् इद्विडं प्रपुटेन जुहोति । इध्मावर्हिः शालायाम्  
आसजति अपरेद्युर्विकृतौ पिशाचतो रुजति । उक्तो होमः । वैश्र-  
वणायाज्जन्ति कृत्वा जपन्नाचामयत्यभ्युक्षति । निश्युन्मुक्ते संघ-  
र्पति” इति [ कौ० ४. १ ] ॥

तथा शान्त्युदकाभिषन्त्रणे “चातनैर्मातृनामभिर्जुहुयात्” [शा०  
क० १६ ] इत्यादिषु च अस्थानुवाकस्य गणप्रयुक्तो विनियोगोऽनु-  
संधेयः ॥

तथा वशाशमनकर्मणि पशुसंज्ञपनानन्तरं “रक्षोहणम्” इत्यनु-  
वारं जपेत् । सूत्रितं हि । “अथ प्राणान् आस्थापयति मज्जानन्तः  
[ २. ३४. ५ ] इति दक्षिणतस्तिष्ठन् रक्षोहणम् [ ८. ३ ] जपति”  
इति [ कौ० ५. ८ ] ॥

तथा घृतकम्बलाखचे महाभिषेके अभिषेकानन्तरं “रक्षोहणम्”  
इत्यनुवारं जपेत् । “घृहस्पतिर्महेन्द्राय चकार घृतकम्बलम्” इति  
प्रक्रम्य उक्तम् अथर्वपरिशिष्टे ।

ब्राह्मणाः स्वस्ति वाच्याय प्राङ्मुखः संविशेत् ततः ।

रक्षोहणम् अनुवारं जपेत् कर्तारि ऋत्विजः । इति ॥

दूसरे अनुवारमें छः सूक्त हैं । इस अनुवाकका चातनगणमें  
पाठ है, अत एव इसका “चातनानां अपनोदनेन व्याख्यातम् ।—  
चातनोंके फहनसे व्याख्यात होगया” कौशिकसूत्र ४ । १ इत्यादि  
में कहे हुए कर्मोंमें विनियोग होता है । वे कर्म ये हैं । राक्षस  
ग्रह पिशाच आदिकी चिकित्साके लिये इस अनुवाकसे फली-  
करण तुष और वृक्षके डुरुड़मेंसे एककी आहुति देय । वा इन्ही  
से धूप देय ।

तथा इस अनुवाकसे पिशाच आदिसे अस्त पुरुषसे उसके बातें  
करने पर पड़े ।

तथा उसी कर्ममें इस अनुवाकसे राँग मूसल खैर और सरसों  
इनमेंसे एककी सधियाओंको रखे ।

तथा इसी कर्ममें खैरके वा लोहेके अथवा ताँवेके विषमसंख्यक ( १ । ३ । ५ आदि ) खूंटोंको खोदनेके अर्थ “रत्नोदणम्” अनुवाकसे अभिमन्त्रित करे । गरम रेतके अभिमन्त्रित करके खाट आदि पर बखेर देय ।

तथा इसी कर्ममें इस अनुवाकसे सूत्रमें कही हुई रीतिके अनुसार जाँके सत्तुओंकी आहुति देय ।

तथा आसाध्य ग्रहको वशमें करनेके लिये इस अनुवाकसे खस के रेशेसहित इक्षिडघृतकी पलाशके पत्तेकी पीठके द्वारा आहुति देय ।

तथा घर आदिमें पिशाचके होने न होनेकी शंका होने पर इस अनुवाकसे सरसोंके ईंधनको तथा सेंटींसहित कुशाको भी अभिमन्त्रित करके घरके ऊपर धर देय । प्रभातके समय ईंधन और कुशामें विकार हो जाय तो ग्रह आदि है—यह समझे ।

इसी कर्ममें कुवेरको नमस्कार करनेके अनन्तर इस अनुवाक से जलको अभिमन्त्रित करके ग्रहगृहीतको पिला देय वा प्रोक्षण करे अथवा—रात्रियें दो उल्लुकोंको अभिमन्त्रित करके संघर्षण करे

इसी बातको कौशिकने कहा है, कि—“चातनानां अपनोद-  
नेन व्याख्यातम् । त्रपुसमुसलखदिरतार्ष्टानां आदधाति । अयु-  
ग्मान् खादिरान् शंकून् अक्षौ निबध्य ( ५ । २६ । ४ ) इति  
पश्चाद् अग्नेः समं भूमिं निखनति । एवं आयसलोहान् । तप्त-  
शर्कराभिः शयनं राशिपल्यानि परिकिरति । अमावास्यायां सकृद्-  
गृहीतान् यवान् अनपहान् अमतीडागपिष्टान् आभिचारिकं परि-  
स्तीर्य तार्ष्टावेध्म आवपति । य आगच्छेत्तं त्रयाच्छणशुल्वेन जिहां  
निर्मृजानः शालायाः प्रस्कन्देति । तथाऽऽर्च्यन्नना । अघेह्वाने ।  
वीरिणतूलमित्रं इंगिदं प्रपुटेन जुहोति । इध्मावर्हिः शालायां आस-  
जति । अपरेद्युर्विकृतौ पिशाचतो रुजति । उक्तो होमः । वैश्रव-  
णायाञ्जलिं कृत्वा जपन्नाचामत्यभ्युत्तति । निश्युल्लुके संघर्षति” ।  
( कौशिकसूत्र ४ । १ ) ॥

( ४८६ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

तथा शान्त्युदकके अभिमन्त्रणमें “चातनैर्मातृनामभिर्जुहुयात्”  
( शान्तिकल्प १६ ) इत्यादिमें भी इस अनुवाकका गणभयुक्त  
विनियोग करना चाहिये ।

तथा वशाशमनकर्ममें पशुसंज्ञपनके अनन्तर ‘रत्नोदणम्’  
अनुवाकका जप करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—  
“अथ प्राणान् आस्थापयति प्रजानन्तः ( २ । ३४ । ५ ) इति ।  
दक्षिणनस्तिष्ठन् रत्नोदणम् ( ८ । ३ ) जपति” । ( कौशिक ३ । ८ )

तथा घृतकम्बल नामक महाभिषेकमें भी अभिषेकके अनन्तर  
“रत्नोदणम्” अनुवाकका जप करे । “बृहस्पतिर्महेन्द्राय चकार  
घृतकम्बलम् ।—बृहस्पतिजीने महेन्द्रके लिये घृतकम्बलको किया  
था” कह कर अथर्वपरिशिष्टमें कहा है, कि—“ब्राह्मणाः स्वस्ति-  
वाच्याथ प्राहुः सुखः संविशेत्ततः । रत्नोदणं अनुवाकं जपेत् कर्ताय  
ऋत्विजः ॥—ब्राह्मण स्वस्तिवाचन कर पूर्वकी ओर मुख करके  
बैठें फिर कर्ता रत्नोदण अनुवाकका जप करे । ०” ॥

तत्र प्रथमा ॥

रत्नोदणं वाजिनमा जिघर्षि मित्रं प्रथिष्ठमुप यामि शर्म ।  
शिशानो अग्निः क्रतुभिः समिद्धः स नो दिवा स  
रिपः पातु नक्तम् ॥ १ ॥

रत्नोदणम् । वाजिनम् । आ । जिघर्षि । मित्रम् । प्रथिष्ठम् ।  
उप । यामि । शर्म ।

शिशानः । अग्निः । क्रतुभिः । समिद्धः । सः । नः । दिवा ।  
सः । रिपः । पातु । नक्तम् ॥ १ ॥

एतदनुवाकविनियोजकसूत्रोक्तफलकामोहं रत्नोदणम् रत्नसाम्



अपहन्तारं वाजिनम् वाजो बलं तत्साधनम् अन्नं वा तद्वन्तम्  
 अग्निम् आ जिघर्षिं घृतं सर्वतः चारयामि । जुहोमीत्यर्थः । यद्वा  
 दीपयामि समिन्धे । आज्यादिनेति शेषः । तथा कृत्वा मित्रम्  
 सखिभूतं प्रथिष्ठम् पृथुतरं तम् अग्निं शर्म शरणम् उप यामि उप-  
 गच्छामि । अथ वा शर्म सुखम् । लब्धुम् इति शेषः । सोऽग्निः  
 शिशानः ज्वालास्तीक्ष्णीकुर्वन् । ❀ “बहुलं ज्वन्दसि” इति शपः  
 श्लौ अभ्यासस्य इत्थम् । आत्थम् । शानच् ❀ । क्रतुभिः क्रत्वङ्-  
 भूतैराज्यादिभिः कर्मभिर्वा समिद्धः सम्यग्दीप्तः । भवत्विति  
 शेषः । स तादृशो रक्षोहा अग्निः नः अस्मान् रिषः हिंसकांश्च  
 दिवा अहनि पातु रक्षतु । स एव अग्निः नक्तम् रात्रौ रिषः  
 सकाशात् पातु । सर्वेष्वहःसु सर्वासु च रात्रिषु पात्वित्यर्थः ॥

इस अनुवाकका विनियोग करने वाला सूत्रोक्त फलको चाहने  
 वाला मैं राक्षसोंको मारने वाले बलवान् अग्निदेव पर चारों ओर  
 से घृत टपकाता हूँ । अग्निको दीप्त करता हूँ ऐसा करनेके  
 उपरान्त मित्ररूप विशाल अग्निकी सुख पानेके लिये शरण  
 लेता हूँ । वह अग्नि ज्वालाओंको तीक्ष्ण करता हुआ क्रतुके अंग  
 घृत आदिसे भली प्रकार प्रदीप्त होवे । ऐसे अग्निदेव दिनके  
 समय हमें हिंसकोंसे बचावें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानानुष स्पृश जातवेदः  
 समिद्धः ।

आ जिह्वया मूर्देवान् रभस्व क्रव्यादो वृद्धापि धत्स्वासन्

अयःऽदंष्ट्रः । अर्चिषा । यातुऽधानान् । उप । स्पृश । जातवेदः ।

समिद्धः ।

आ । जिहया । मूरुदेवान् । रभस्व । क्रव्यश्चदः । धृष्टा । अपि ।  
धत्स्व । आसन् ॥ २ ॥

हे जातवेदः जातानां वेदितरग्रे समिद्धः अस्मदत्तैराज्यादिभिः  
सम्यग्दीप्तस्त्वम् अयोदंष्ट्रः अयोमपदन्तयुक्तः सन् अचिपा ज्वा-  
लया क्रूरया यातुधानान् यातवो यातनास्ता एषु धीयन्ते यातु-  
धानाः तान् उप स्पृश । संदहेत्यर्थः । तथा मूरुदेवान् मूलेन औप-  
धिनेन दीव्यन्ति परेषां हननाय क्रीडन्तीति मूरुदेवाः तान् । अभि-  
चरत इत्यर्थः । अथ वा “मूरा अमूर” इत्यत्र यास्केन “मूढा वयं  
स्मोऽमूढस्त्वम् असि” [ नि० ६. ८ ] इत्युक्तत्वात् मूढाः कार्या-  
कार्यविभागबुद्धिश्चान्याः सन्तो ये दीव्यन्ति ते मूरुदेवाः तान्  
जिहया ज्वालया आ रभस्व स्पृश । दहेत्यर्थः । तथा क्रव्यादः  
मांसभक्षकान् रक्तपिशाचादीन् धृष्टा धर्षित्वा । ☉ इहभाव-  
रञ्जान्दसः ☉ । आसन् तव आस्पे । ☉ “पहन०” इत्यादिना  
आस्पशब्दस्य आसन् आदेशः ☉ । अपिधत्स्व अपिधानं कुरु  
ओष्ठाभ्याम् आच्छादय । भक्षयेत्यर्थः ॥

हे जातवेदा अग्रे ! हमारे दिये हुए घृत आदिसे भली प्रकार  
बड़े हुए आर लोहेके दाँत करके अपनी क्रूर ज्वालासे यातुधानों  
का स्पर्श करिये और औपधिसे क्रीड़ा करने वाले अर्थात् अभि-  
चारक पुरुषोंको अपनी ज्वालासे भस्म करिये और मांसभक्षक  
राक्षस पिशाच आदिको दया कर अपने मुखमें धर लीजिये ॥२॥

तृतीया ॥

उभोभयाविन्नुपं धेहि दंष्ट्रौ हिंसः शिशानोवरं परं च ।  
उतान्तरिंचे परिं याह्यग्नेजग्नेः सं धेह्यभि यातुधानान्

उभा । उभयाविन् । उप । धेहि । दंष्ट्रौ । हिंस्रः । शिशानः ।  
अवरम् । परम् । च ।

उत । अन्तरिक्षे । परि । याहि । अग्ने । जम्भैः । सम् । धेहि ।  
अभि । यातुधानान् ॥ ३ ॥

हे उभयाविन् उभयवन् अयं रक्षणीयः अयं हन्तव्यः इत्यु-  
भयविधजनपरिज्ञानवन् । यद्वा अवरं परं चेति वक्ष्यमाणौ अवर-  
परो उभयशब्देन उच्येते । तदुभयवन् हिंस्रः हिंसनशीलः शिशानः  
तीक्ष्णज्वालास्तीक्ष्णदन्तो वा अवरम् अस्मत्तो निकृष्टं द्वेष्यं परं च  
अस्मत्तोधिकं द्वेष्यं च उभा दंष्ट्रौ उभे दंष्ट्रे उप धेहि उपहिते कुरु  
दंष्ट्रान्तर्बर्तिनौ कुरु । स्वादेत्यर्थः ॥ उत अपि च अन्तरिक्षे आकाशे  
परि याहि संचर । हे अग्ने संचर्य च मम बाधनाय तत्र संचरतो  
यातुधानान् रक्षःप्रभृतीन् जम्भैः दन्तैः अभि सं धेहि अभिसंहितान्  
संदष्टान् कुरु । यद्वा यातुधानान् अभि अन्तरिक्षे परि याहि ।  
तान् एव जम्भैः सं धेहि ॥

हे यह मारने योग्य है और यह रक्षा करने योग्य है—इस  
प्रकार दोनोंको जानने वाले हिंसनशील, तीक्ष्ण ज्वाला वाले  
अग्ने ! आप अपनी ऊपरकी और नीचेकी दोनों ढाढ़ोंको हमसे  
श्रेष्ठ और निकृष्ट शत्रुओंको मारनेके लिये वन्द करिये । और  
आकाशमें विचरण करिये और तहाँ विचरण करके हे अग्ने !  
मुझे पीड़ा देनेके लिये विचरते हुए यातुधानोंको अपने दाँतोंसे  
काटिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अग्ने त्वचं यातुधानस्य भिन्धि हिंसाशनिर्हरसा  
हन्त्वेनम् ।

प्र पर्वाणि जातवेदः शृणीहि क्रव्यात् क्रविष्णुर्वि  
चिनोत्वेनम् ॥ ४ ॥

अग्ने । त्वचम् । यातुधानस्य । भिन्धि । हिंसा । अशनिः । हरसा  
हन्तु । एनम् ।

प्र । पर्वाणि । जातवेदः । शृणीहि । क्रव्यऽम् । क्रविष्णुः ।  
वि । चिनोतु । एनम् ॥ ४ ॥

हे अग्ने त्वं यातुधानस्य रक्तआदेः त्वचम् बाह्यधातुं भिन्धि  
छिन्धि भिन्नां कुरु । तव च हिंसा अशनिः हिंसको वज्रो हरसा  
तापेन एनं यातुधानं हन्तु हिनस्तु । पूर्वं त्वचः कर्तनं माथ्यं तावता  
अपरितुष्टमना आह प्र पर्वाणीति । हे जातवेदः जातधन जात-  
प्रह वा अग्ने यातुधानस्य पर्वाणि शरीरग्रन्थीन् प्र शृणीहि प्रक-  
पेण भिन्नानि कुरु । तथा कृते क्रव्यात् मांसभक्षको वृकादिः  
क्रविष्णुः क्रव्यम् इच्छन् एनं यातुधानं वि चिनोतु इतस्ततो भक्ष-  
णाय आकृष्य विभकीर्णं करोतु ॥

हे अग्ने ! आप यातुधानकी बाह्यधातु त्वचाको भेद दीजिये ।  
और आपका हिंसक वज्र इस यातुधानको अपने तेजसे नष्ट कर  
डाले हे जातवेदा अग्ने ! आप यातुधानोंके जोड़ोंको बखेर दीजिये ।  
ऐसा होनेके उपरान्त मांसभक्षक भेड़िया आदि मांसको चाहता  
हुआ इस यातुधानको इधर उधरको खचे ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यत्रेदानीं पश्यसि जातवेदस्तिष्ठन्तमग्न उत वा चरन्तम्  
उतान्तरिक्षे पतन्तं यातुधानं तमस्तां विध्य शर्वा  
शिशानः ॥ ५ ॥

यत्र । इदानीम् । पश्यसि । जातवेदः । तिष्ठन्तम् । अग्ने । उत ।  
वा । चरन्तम् ।

उत । अन्तरिक्षे । पतन्तम् । यातुधानम् । तम् । अस्ता । विध्य ।  
शर्वा । शिशानः ॥ ५ ॥

हे जातवेदः अग्ने त्वं यत्र यस्मिन् देशे इदानीम् अस्मिन् काले अस्मदुपद्रवकाले पश्यसि यातुधानम् अस्मदुपद्रवकारिणं राक्षसादिकम् । कथंभूतम् इति तत्राह । तिष्ठन्तम् कस्मिंश्चिद् देशे स्थितिं कुर्वाणम् उत वा अपि वा चरन्तम् एकत्र अवस्थितिम् अकुर्वाणम् उत अपि च अन्तरिक्षे आकाशे पतन्तम् गच्छन्तं तं यातुधानम् अस्ता क्षेप्ता त्वं शिशानः तीक्ष्णः सन् शर्वा शरणा विध्य ताडय ॥

हे जातवेदा अग्ने ! आप इस उपद्रवके समय जिस देशमें हम पर उपद्रव करने वाले राक्षस आदिको कहीं बैठे हुए वा विचरते हुए वा अन्तरिक्षमें विचरते हुए देखें तो आप उसको फेंक दीजिये और तीक्ष्ण होकर अपनी हिंसक ज्वालासे बीध डालिये ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

यज्ञैरिषूः संनममानो अग्ने वाचा शल्याँ अशनिभिर्दिहानः ।

ताभिर्विध्य हृदये यातुधानान् प्रतीचो वाहून् प्रतिभङ्गधेषाम् ॥ ६ ॥

यज्ञैः । इषूः । सम्नममानः । अग्ने । वाचा । शल्यान् । अशनिभिः । दिहानः ।

ताभिः । विध्य । हृदये । यातुध्यानान् । मतीचः । बाहून् । प्रति ।  
भङ्गि । एषाम् ॥ ६ ॥

हे अग्ने यज्ञैः अस्मदनुष्ठितैर्यागैः मयोमैः इषूः तव वाणान्  
संनममानः ऋजूकुर्वन् वाचा स्तुत्यात्मकमन्त्ररूपया शन्यान् वाणा-  
ग्राणि दिहानः दिग्धान् कुर्वन् तीक्ष्णीकुर्वन् वा । अशनिभिरि-  
त्येतद् व्यवहितमपि सामर्थ्याद् यज्ञविशेषणम् । अशनिसदृशै-  
रक्षोयातुकैर्यज्ञैरित्यर्थः । अथ वा वाचा अशनिभिः बाह्वयैर्दीप्तैः  
शाणैः दिहानः तीक्ष्णीकुर्वन् ताभिरिषुभिर्बाणैः यातुधानान् हृदये  
हृदयमदेशे विध्य ताडय । ततः एषां यातुधानानां बाहून्  
भुजान् मतीचः प्रति भङ्गि अस्माकं वधाय प्राचः सतः मतीचः  
कृत्वा भङ्गि मर्दय मथान् कुरु ॥

हे अग्ने ! हमारे अनुष्ठित यागोंसे अपने बाणोंको सरल करते  
हुए, स्तुतिमन्त्ररूपा वाणीसे वाणोंके अग्रभागको तीक्ष्ण करते हुए  
आप शत्रुओंके हृदयोंको बाँध डालिये । फिर इन यातुधानोंकी  
हमको ताड़ित करनेके लिये हमारी श्वोर चलती हुई भुजाओंको  
तोड़ डालिये ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

उतारं धान्त्सृणुहि जातवेद उतारे भाणाँ ऋष्टिभिर्यातु-  
धानान् ।

अग्ने पूर्वो नि जंहि शोशंचान आमादः द्विङ्क्षास्त-  
मदन्त्वेनीः ॥ ७ ॥

उत । आऽरं धान् । सृणुहि । जातवेदः । उत । आऽरे भाणान् ।

ऋष्टिभिः । यातुध्यानान् ।

अग्नेः । पूर्वः । नि । जहि । शोशुचानः । आम्ऽअदः । त्विङ्गाः ।

तम् । अदन्तु । एनीः ॥ ७ ॥

उत अपि च हे जातवेदः अग्ने त्वम् आरब्धान् त्वां स्तोतुं प्रक्रान्तान् अस्मान् स्पृणुहि पालय । उत अपि च आरेभणान् शब्दं कृतवतो यातुधानान् ऋष्टिभिः आयुधैर्घातय । किं च हे अग्ने त्वं पूर्वः शत्रुतः प्रथमभागः सन् शोशुचानः ज्वलन् तान् यातुधानान् नि जहि मारय । अथ एकवद् अभिधानम् । तंहतम् आमादः अपक्वमांसाशना एनीः एतवर्णाः शुभ्रवर्णाः संध्यावर्णा वा चरङ्गाः पक्षिविशेषाः अदन्तु भक्षयन्तु ॥

हे अग्ने ! आपकी स्तुति करते हुए हमारा आप पालन करिये । और शब्द करते हुए यातुधानोंको आयुधोंसे मारिये । और आप पहिले ही प्रदीप्त होकर उन यातुधानोंको मार डालिये । उन मरे हुए यातुधानोंको अपक्व मांसका भक्षण करने वाले चक्क नामक शुभ्र वर्णके पक्षी मार कर खा जावें ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

इह प्र ब्रूहि यतमः सो अग्ने यातुधानो य इदं कृणोति ।

तमा रभस्व समिधां यविष्ठ नृचक्षंसश्चक्षुपे रन्धयैनम्

इह । प्र । ब्रूहि । यतमः । सः । अग्ने । यातुधानः । यः । इदम् ।

कृणोति ।

तम् । आ । रभस्व । समिधा । यविष्ठ । नृचक्षंसः । चक्षुपे ।

रन्धय । एनम् ॥ = ॥

हे अग्ने इह अस्मिन् प्रकृते शान्तिविषये यो यातुधानः राक्षसः

इदं शरीरपीडनादिकं कृणोपि । कृणोतीत्यर्थः । अथवा यस्त्वम् इदं  
प्रहरणं कृणोपि करोपि सः प्रहारविषयः प्रहारकर्ता वा यातु-  
धानो यतम इति भ्रूहि आचक्ष्व । अथ वा किं तेन तत्स्वरूप-  
परिज्ञानेन । तं घातकं पापिनम् हे यविष्ठययुवतम् । ॐ स्वार्थिको  
यत् ॐ । समिधा दाहिकया ज्वालयया आ रभस्व स्पृश । दहे-  
त्यर्थः । एतदेव भङ्गयन्तरेणाह । हे अग्ने एनं पापिनं नृचक्षसः  
नूनं पश्यतीति नृचक्षाः सुकृतिनां पापिनां प्राणिनां च साक्षि-  
तया द्रष्टुस्तव चक्षुषे चक्षुषः रन्ध्रय वशं प्रापय । दहेत्यर्थः ॥

हे अग्ने ! इस प्रकृत शान्तिविषयमें जो राक्षस इस शरीरपीड़न  
आदि कर्मको कर रहा है उसको बताइये । और उस घातकको  
हे यविष्ठ ! अपनी दाहिका ज्वालासे स्पर्श करिये । हे अग्ने !  
उस पापीको सुकृती और दुष्कृती मनुष्योंको साक्षीरूपसे देखने  
वाली अपनी दृष्टिके वशमें करिये—भस्म करिये ॥ ८ ॥

नवमी ॥

तीक्ष्णेनाग्ने चक्षुषा रक्ष यज्ञं प्राञ्च वसुभ्यः प्र णय  
प्रचेतः ।

हिंसं रक्षांस्यभि शोशुचानं मा त्वा दभन् यातुधाना  
नृचक्षः ॥ ६ ॥

तीक्ष्णेन । अग्ने । चक्षुषा । रक्ष । यज्ञम् । प्राञ्चम् । वसुभ्यः ।  
प्र । नय । प्रचेतः ।

हिंसम् । रक्षांसि । अभि । शोशुचानम् । मा । त्वा । दभन् ।  
यातुऽधानाः । नृचक्षः ॥ ६ ॥



हे अग्ने त्वं तीक्ष्णेन क्रूरेण चक्षुषा भयंकरेण दर्शनेन उक्त-  
विधेन तेजसा वा यज्ञम् अस्मदीयं रक्ष पालय । हे प्रचेतः प्रकृष्ट-  
मनः अस्मासु कृपाचित् त्वम् अस्मदीयं तं यज्ञं वसुभ्यः वास-  
केभ्यो देवेभ्यः प्राञ्जं प्रणय प्रगमय । हे नृचक्षः नृणां द्रष्टुः अग्ने  
यज्ञरक्षासमये हिंस्रम् हिंसाशीलं रक्षांसि राक्षसान् वा अभिशोशु-  
चानम् अभितो भृशं दीपयन्तं दहन्तम् । ॐ शुचेर्यद्वलुगन्ताच्छ-  
तरि रूपम् ॐ । तादृशं त्वा त्वां यातुधानाः राक्षसा मा दभन्  
मा हिंसिषुः ॥

आप अपने भयङ्कर नेत्रसे यज्ञकी रक्षा करिये । हे कृपायुक्त  
चित्त वाले अग्निदेव ! आप हमारे यज्ञको वासक देवताओंके लिये  
शीघ्रतासे पहुँचाइये । हे मनुष्योंको देखने वाले अग्ने ! यज्ञरक्षा  
के समय चारों ओरसे प्रदीप्त होकर राक्षसोंको मारते हुए तुम  
हिंसकको राक्षस न दबा सकें ॥ ६ ॥

दशमी ॥

नृचक्षा रक्षः परि पश्य विक्षु तस्य त्रीणि प्रति  
शृणीह्यग्रा ।

तस्याग्ने पृष्टीर्हरसा शृणीहि त्रेधा मूलं यातुधानस्य वृश्च  
नृचक्षाः । रक्षः । परि । पश्य । विक्षु । तस्य । त्रीणि । प्रति ।

शृणीहि । अग्रा ।

तस्य । अग्ने । पृष्टीः । हरसा । शृणीहि । त्रेधा । मूलम् ।

यातुऽधानस्य । वृश्च ॥ १० ॥

हे अग्ने नृचक्षाः नृणाम् अनुग्राह्याणां निग्राह्याणां च द्रष्टा त्वं

विष्णु प्रजापति मध्ये पीडयद् रक्षः राक्षसं परि परय परितः अव-  
लोकय । तथा कृत्वा तस्य रक्षसः ग्रीणि अग्रा अग्राणि उपरि-  
भागान् प्रति शृणीहि । प्रत्येकं द्विन्धीत्यर्थः । तस्यैव पृष्टीः पार्श्व-  
स्थीनि हे अग्ने हरसा तेजसा शृणीहि द्विन्धि । तथा तस्य यातु-  
धानस्य मूलम् पादप्रदेशं त्रेधा वृथ द्विन्धि । पादस्य त्रीणि पर्वा-  
णीत्यर्थः ॥

इत्यष्टमकाण्डे द्वितीयेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे दण्ड और अनुग्रहके पात्र मनुष्योंको देखने वाले अग्ने ।  
आप प्रजाओंको पीड़ित करने वाले राक्षसको चारों ओर देखिये  
और देखकर राक्षसके ऊपरके तीन अंगोंको छिन्न भिन्न करिये  
हे अग्ने ! उसकी पसलियोंको तेजसे छिन्न भिन्न कर डालिये ।  
और उसके पैरके तीन अवयवोंको काट दीजिये ॥ १० ॥

अष्टम काण्डके द्वितीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त ॥

“त्रिर्यातुधानः” इति सूक्तस्य “रक्षोहणम्” इत्यनेन उक्तो  
विनियोगः ॥ गवां लोहितदोहलक्षणाद्भुतशान्त्यर्थं “यः पौरुषे-  
येण” [ १५-१८ ] इति चतुष्टयेन आज्यं जुहुयात् । सूत्रितं  
हि । “अथ यत्रैतद् घेनवो लोहितं दुहते यः पौरुषेयेणेत्येताभि-  
श्चतस्रभिर्जुहुयात्” इति [ का० १३. २० ] ॥

“त्रिर्यातुधानः” सूक्तका “रक्षोहणम्” सूक्तके साथ विनि-  
योग कह दिया है ।

गौओंके रक्त दुहनेकी अद्भुतशान्तिके लिये “यः पौरुषेयेण”  
इन पन्द्रहसे अठारहवें तकके चार मन्त्रोंसे घृतकी आहुति देय ।  
कौशिकमूत्र १३ । २० में कहा भी है, कि—“अथ यत्रैतद् घेनवो  
लोहितं दुहते यः पौरुषेयेणेत्येताभिश्चतस्रभिर्जुहुयात्” ॥

तत्र प्रथमा ॥

त्रिर्यातुधानः प्रसिर्तित एतृतं यो अग्ने अनृतेन हन्ति ।

तमर्चिषां स्फूर्जयन् जातवेदः समक्षमेनं गृणते नि  
युङ्गिध ॥ ११ ॥

त्रिः । यातुऽधानः । प्रऽसितिम् । ते । एतु । ऋतम् । यः । अग्ने ।  
अनृतेन । हन्ति ।

तम् । अर्चिषा । स्फूर्जयन् । जातवेदः । सम्ऽअक्षम् । एनम् ।  
गृणते । नि । युङ्गिध ॥ ११ ॥

हे अग्ने यातुधानः राक्षसः ते तव प्रसितिम् । ज्वालां त्रिः  
त्रिवारम् एतु प्राप्नोतु । तावता निःशेषेण दग्धो भवतीत्यभिप्रायः ।  
यातुधानं विशिनष्टि । यः ऋतम् मम सत्यवचनं यज्ञं वा अनृतेन  
असत्यवचनेन छद्मना वा हन्ति विनाशयति । हे जातवेदः  
जातप्रज्ञ अग्ने तम् एनं यातुधानम् अर्चिषा स्वकीयया ज्वालाया  
स्फूर्जयन् गृणते तव स्तोत्रं कुर्वते मह्यं गृणतो मम समक्षम् दृष्टि-  
संमुख एव नि युङ्गिध निगृह्य वर्जय विनाशय ॥

हे अग्ने ! राक्षस तुम्हारी ज्वालाको तीन बार प्राप्त होवे ।  
जो मेरे सत्यवचनको वा यज्ञको असत्यवचनसे वा छद्मसे नष्टकरता है  
हे जातप्रज्ञ अग्ने स्तुति करने वाले मेरे सामने ही उस यातुधान  
को पकड़ कर अपनी ज्वालासे नष्ट करिये ॥ ११ ॥

द्वितीया ॥

यदग्ने अथ मिथुना शपातो यद् वाचस्तृष्टं जुनयन्त  
रेभाः ।

मन्योर्मनसः शरव्याः जायते या तथा विध्य हृदये  
यातुधानान् ॥ १२ ॥

यत् । अग्ने । अथ । मिथुना । शपातः । यत् । वाचः । तृष्टम् ।  
जनयन्त । रेभाः ।

मन्योः । मनसः । शरण्या । जायते । तया । विध्य । हृदये ।  
यातुऽधानान् ॥ १२ ॥

हे [ अग्ने ] अथ अस्मिन्नहनि यत् यस्मात् मिथुना स्त्री-  
पुंसौ शपातः शपतः परस्परम् आक्रोशतः यच्च वाचस्तृष्टम् तृपा-  
युक्तम् । कटुकम् इत्यर्थः । जनयन्त जनयन्ति उत्पादयन्ति । के ।  
रेभाः स्तोतारः । यातुधानेभ्यो निमित्तेभ्य इत्यभिप्रायः । मन्योः  
तत्र क्रोधयुक्ताद् दीप्ताद् वा मनसः सकाशाद् या शरण्या इषुः ज्वा-  
लारूपा जायते तया इष्ट्वा यातुधानान् हृदये हृदयदेशे विध्य ताडय ॥

हे अग्ने ! आज जिसके कारणसे स्त्री और पुरुष परस्पर  
आक्रोश मचा रहे हैं और जिसके निमित्त स्तोता कटु बाणी का  
उच्चारण कर रहे हैं उस यातुधानको आप अपने क्रोधयुक्त  
मनसे जिससे, कि-ज्वालारूपा बाणावली निकल रही है उससे  
हृदयमें ताड़ित करिये ॥ १२ ॥

तृतीया ॥

परां शृणीहि तपसा यातुधानान् परां रक्षो हरसा  
शृणीहि ।

परार्चिषा मूर्देवान् शृणीहि परांसुतृणः शोशुचतः  
शृणीहि ॥ १३ ॥

परा । शृणीहि । तपसा । यातुधानान् । परा । अग्ने । रक्षः ।  
हरसा । शृणीहि ।

परा । अर्चिषा । मूरुदेवान् । शृणीहि । परा । असुवृषः ।

शोशुचतः । शृणीहि ॥ १३ ॥

हे अग्ने यातुधानान् राक्षसान् तपसा तापकेन तेजसा परा शृणीहि पराङ्मुखं विनाशय । तथा रक्षः राक्षसं हरसा प्राणापहारकेण तेजसा परा शृणीहि । तथा मूरुदेवान् मारणेन कर्मणा दीव्यन्तीति मूरुदेवाः तान् अर्चिषा दीप्यमानया ज्वालाया परा शृणीहि । असुवृषः असुभिः परप्राणैरात्मानं तर्पयन्तो ये तान् शोशुचतः भृशं दीप्तान् राक्षसान् परा शृणीहि । अथवा शोशुचतः भृशं दीप्यमानान् । तव ज्वालायेति शेषः ॥

हे अग्ने ! आप यातुधानोंको तापक तेजसे पराङ्मुख करके नष्ट कर डालिये तथा राक्षसोंको प्राणापहारक तेजसे पराङ्मुख करके नष्ट कर डालिये और मारण कर्मसे क्रीड़ा करने वाले—मूरुदेव—अभिचारकोंको अपनी दमकती हुई ज्वालासे नष्ट कर डालिये दूसरेके प्राणोंसे अपनी तृप्ति करने वाले परम प्रदीप्त राक्षसोंको आप नष्ट करिये ॥ १३ ॥

चतुर्थी ॥

पराद्य देवा वृजिनं शृणन्तु प्रत्यगेनं शपथा यन्तु  
सृष्टाः ।

वात्रास्तेनं शखं ऋच्छन्तु मर्मन् विश्वस्यैतु प्रसितिं  
यातुधानः ॥ १४ ॥

परा । अद्य । देवाः । वृजिनम् । शृणन्तु । प्रत्यक् । एनम् ।

शपथाः । यन्तु । सृष्टाः ।

( ५०० ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

वाचाऽस्तेनम् । शरवः । ऋच्छन्तु । मर्मन् । विश्वस्य । एतु ।

प्रसितिम् । यातुऽधानः ॥ १४ ॥

अथ अस्मिन्नहनि देवाः सर्वे बद्धिममुखा वृजिनम् प्राणानां वर्जकं राक्षसं पापं वा परां शृण्वन्तु यथा न प्रतिगच्छति तथा हिंसन्तु । एनं वृजिनं वृष्टाः कटुकाः शपथाः अस्मान् प्रति तेन प्रमुक्तानि शपनानि प्रत्यक् प्रतिमुखं यन्तु गच्छन्तु । किं च वाचास्तेनम् । मृषावचनेन यः प्रहरति स वाचास्तेनः । तं शरवः देवशराः मर्मन् मर्मणि प्रदेशे ऋच्छन्तु गच्छन्तु । ॥ यातुधानः विश्वस्य सर्वस्यापि देवस्य प्रसितिम् मर्कषेण अभिभवित्रीं हेतिम् एतु गच्छतु । अथवा विश्वस्य व्याप्तस्याग्नेः प्रसितिम् ज्वालाम् एतु । ॐ प्रसितिः प्रसधनात् तन्तुर्वा जालं वेति यास्कः [ नि० ६. १२ ] ॥

आज अग्नि आदि सकल देवता प्राणोंके वर्जक राक्षसको वा पापको जिस प्रकार वह फिर लौट कर आक्रमण न कर सके तिस प्रकार मार डालें । और इस राक्षसके पास उसके भेजे शाप लौट कर उसको ही लगे । और उस मिथ्या वाणीसे मारने वालेके मर्माँमें देवताओंके बाण लगे, और वह यातुधान व्यापक अग्निदेवके ज्वालारूप आयुधको प्राप्त होवे ॥ १४ ॥

पञ्चमी ॥

यः पौरुषेयेण कृविषां समङ्क्ते यो अश्वेनं पशुनां यातुधानः ।

यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापिं वृश्च ॥ १५ ॥

यः । पौरुषेयेण । क्रविषा । सम्ऽअङ्क्ते । यः । अश्वेन । पशुना ।  
यातुऽधानः ।

यः । अघ्न्यायाः । भरति । क्षीरम् । अग्ने । तेषाम् । शीर्षाणि ।  
हरसा । अपि । वृश्च ॥ १५ ॥

जो यातुधानः पौरुषेयेण पुरुषसंबन्धना क्रविषा मांसेन ।  
❀ “सर्वपुरुषाभ्यां णट्ठौ” इति ढक् ❀ । समङ्गे सम्यग्  
अभिव्यनक्ति पोषयति आत्मानम् । यश्च यातुधानः अश्वेन अश्व-  
संबन्धना अश्वरूपेण क्रविषा पशुना अजादिरूपेण च समङ्गे ।  
हे अग्ने यश्च अघ्न्यायाः । गोनामैतत् । अहन्तव्याया गोः क्षीरं  
भरति हरति । तेषाम् उक्तप्रकाराणां सर्वेषां यातुधानानां शीर्षाणि  
शिरांसि हरसा तेजसा ज्वालाया अपि वृश्च छिन्धि ॥

जो यातुधान पुरुषके मांससे अपनी पुष्टि करता है, और जो  
यातुधान अश्वके मांससे अपनी पुष्टि करता है और जो गौके  
क्षीरका अपहरण करता है, हे अग्ने ! इन सब प्रकारके यातुधानों  
के शिरको आप अपनी ज्वालासे छिन्न भिन्न करिये ॥ १५ ॥  
पृष्ठी ॥

विषं गवां यातुधानां भरन्तामा वृश्चन्तामदितये दुरेवाः ।  
पैरणान् देवः संविताः ददातु परां भागमोषधीनां  
जयन्ताम् ॥ १६ ॥

विषम् । गवाम् । यातुऽधानाः । भरन्ताम् । आ । वृश्चन्ताम् ।  
अदितये । दुःऽएवाः ।

परा । एनान् । देवः । सविता । ददातु । परा । भागम् । ओपधी-  
नाम् । जयन्ताम् ॥ १६ ॥

यातुधानाः राक्षसाः गवां क्षीरं कामयमानास्तासां विषं भरन्ताम्  
संगृह्णन्तु ॥ तथा दुरेवाः दुष्टं मन्तारः अदितये सर्वानुग्रहाकार्ये  
देव्यै । यद्वा “इयं वा अदितिः” इति [ तैः सं० २. २. ६. १ ]  
श्रुतेः सर्वाश्रयभूतार्थे भूम्यै तस्या अर्थार्थ आ वृथन्ताम् क्षिन्ना  
भवन्तु । भूमां यानि लब्धव्यानि तैर्विरहिता भवन्तु इत्यर्थः ॥ किं  
च एनान् यातुधानान् सविता सर्वानुज्ञाता देवः परा ददातु निर-  
स्यतु घातकेभ्यः मयच्छतु । ओपधीनाम् व्रीहादीनां भागं परा  
जयन्ताम् अभागिनो जयन्तु ॥

गौओंके क्षीरकी कामना करनेवाले यातुधान गौओंके विषको  
ग्रहण करें, तथा दुर्गमन करने वाले राक्षस पृथिवीके लिये क्षिन्न  
भिन्न होजावें अर्थात् भूमिसे जो पदार्थ मिल सकते हैं उनसे  
हीन होजावें और सविता देवता इनको घातकोंके अर्पण करें और  
यह व्रीहि आदिके भागको पाने वाले न होवें ॥ १६ ॥

सप्तमी ॥

संवत्सरीणं पयं उस्त्रियायास्तस्य माशीद् यातुधानो  
नृचक्षुः ।

पीयूषमग्ने यत्तमस्तितृप्सात् तं प्रत्यङ्मर्चिषां विध्य  
मर्माणि ॥ १७ ॥

सम्पुष्यत्सरीणम् । पयः । उस्त्रियायाः । तस्य । मा । आशीद् ।  
यातुध्वानः । नृचक्षुः ।



पीयूषम् । अग्ने । यत्तमः । तितृप्सात् । तम् । प्रत्यञ्चम् । अर्चिषा ।  
विध्य । मर्मणि ॥ १७ ॥

हे वृचक्षः वृणां द्रष्टरग्ने यातुधानः राक्षसः उस्त्रियायाः अस्म-  
दीयाया गोः संवन्धि संवत्सरीणम् संवत्सरे भवम् । ❀ “संप-  
रिपूर्वात् ख च” इति खः ❀ । गर्भाधानादि प्रसवपर्यन्तम् ऊध-  
स्युपचितम् इत्यर्थः । अथवा प्रायेण प्रसवदिनप्रभृति संवत्सर-  
पर्यन्तं गावो दुहन्ति तदभिप्रायेणेदम् अभिधानम् । तथाचिधं पयः  
क्षीरं यद् अस्ति तस्य तत् क्षीरम् मा आशीत् मा भक्षयतु पिबतु ।  
तथा यत्तमः यातुधानः पीयूषम् हविलक्षणम् अमृतं गोरेव घृत-  
लक्षणं पीयूषं [ वा ] तितृप्सात् तर्पयितुम् इच्छेद् आत्मानम् ।  
❀ वृथ्यतेः सनि “एकाच उपदेशेनुदात्तात्” इति इयिनपेधः ।  
तदन्तात् लेटि आडागमः ❀ । तं राक्षसम् अर्चिषा स्वकीयया  
ज्वालाया प्रत्यञ्चम् प्रतिमुखं विध्य ताडय । कुत्र देश इति । मर्मणि  
मर्मदेशे । यस्मिन् देशे वेधनेन शीघ्रं त्रियते तत्रेत्यर्थः ॥

हे मनुष्योंको देखने वाले अग्ने ! राक्षस हमारी गौके हमको  
वर्ष भर तक प्राप्त होने वाले दूधका पान न कर सके । जो राक्षस  
गौके घृतरूप हविसे अपनेको तृप्त करना चाहता है उस राक्षसको  
आप अपनी ज्वालासे मर्मदेशमें ताड़ित करिये ॥ १७ ॥

अष्टमी ॥

सनादन्ने मृणसि यातुधानान् न त्वा रक्षामि पृत-  
नासु जिम्युः ।  
सहमूराननु दह कन्यादो मा ते हेत्या मुक्षत देव्यायाः

सनात् । अग्ने । मृणसि । यातुधानान् । न । त्वा । रक्षांसि ।

पृतनासु । जिग्युः ।

सहस्रूरान् । अनु । दह । क्रव्यऽअदः । मा । ते । हेत्याः । मुक्षत ।

दैव्यायाः ॥ १८ ॥

एषा प्राग् [ ५. २६. ११ ] व्याख्याता यद्यपि तथापि व्यवहितत्वात् पुनर्व्याख्यायते । हे अग्ने त्वं सनात् चिरकालमभूति यातुधानान् राक्षसान् मृणसि हंसि । तथापि त्वा त्वां रक्षांसि केपि राक्षसाः पृतनासु संग्रामेषु न जिग्युः न जितवन्तः । अतस्त्वं क्रव्यादः मांसाशनान् राक्षसान् सहस्रूरान् मूलसहितान् अनु दह क्रमेण भस्मीकुरु । तेषि दैव्यायाः देवस्य तव संबन्धिन्या । ते तव हेत्याः आयुधा इ मा मुक्षत मुक्ता मा भूवन् तदर्थं मामुचन्तु ॥

हे अग्ने ! आप चिरकालसे राक्षसोंको मारते रहते हैं, तथापि कोई भी राक्षस संग्रामोंमें आपको जीत नहीं सके हैं । अतः आप मांसभक्षक राक्षसोंको-मूलसहित भस्म करिये । वे आप देवके आयुधसे न छूट सकें आपके वशमें होजावें ॥ १८ ॥

नवमी ॥

त्वं नो अग्ने अधरादुदक्तस्त्वं पश्चादुत्तरं रक्षा पुरस्तात् ।

प्रति त्वे ते अजरांस्तपिष्ठा अधरांस्तं शाशुचतो

दहन्तु ॥ १९ ॥

त्वम् । नः । अग्ने । अधरात् । उदक्तः । त्वम् । पश्चात् । उत्तरं ।

रक्षा । पुरस्तात् ।

प्रति । त्वे । ते । अजरासः । तपिष्ठाः । अघशंसम् । शोशुचतः ।  
दहन्तु ॥ १६ ॥

हे अग्ने त्वं नः अस्मान् अधरात् अधोदिशः सकाशात् तत्रस्थे-  
भ्यः पीडकेभ्यो राक्षसेभ्यः रक्ष पाहि । तथा उदक्तः उदग्दिशः  
सकाशात् तत्रस्थेभ्यो रक्ष । एतदक्षिणदिशोऽप्युपलक्षणम् ।  
अथवा अधरादित्यनेन अवाची दक्षिणा दिग् विवक्ष्यते । किं च  
त्वं पश्चात् प्रतीच्या दिशः सकाशाद् रक्ष । उत अपि च पुरस्तात्  
पूर्वस्या दिशः सकाशाद् रक्ष । तेषु तत्तद्देशेष्ववस्थितेषु कथं रक्षा  
भवतीत्याशङ्क्याह प्रति ते त इति । ते तव संवन्धिनस्ते प्रसिद्धा-  
स्तत्रतत्र वर्तमानाः स्फुलिङ्गाः । ज्वालारूपा इति शेषः । अघशं-  
सम् अघं हिंसां शंसन्तं राक्षसं प्रति दहन्तु विनाशं कुर्वन्तु ।  
कीदृशाः । अजरासः अजर अजीर्णाः । तपिष्ठाः अतिशयेन  
तापकाः । शोशुचतः भृशं दीप्ताः ॥

हे अग्ने ! आप हमारी दक्षिण दिशामें रहने वाले राक्षसोंसे  
रक्षा करिये । उत्तर दिशामें रहने वाले राक्षसोंसे रक्षा करिये,  
पश्चिम दिशामें रहने वाले राक्षसोंसे रक्षा करिये, पूर्वदिशामें रहने  
वाले राक्षसोंसे रक्षा करिये । आपके ज्वालारूप अजर तापक  
ज्वालारूप स्फुलिङ्ग ( चिनगारियें ) हिंसारूप पापको कहने वाले  
राक्षसका संहार करें ॥ १६ ॥

दशमी ॥

पश्चात् पुरस्तादधरादुत्तरात् कविः कान्येन परि  
पाह्यते ।

सखा सखायमजरो जरिम्णे अग्ने मर्ता अमर्त्यस्त्वं नः

पश्चात् । पुरस्तात् । अधरात् । उत । उत्तरात् । कविः । काव्येन ।

परि । पाहि । अग्ने ।

सखा । सखायम् । अजरः । जरिम्णे । अग्ने । मर्तान् । अमर्त्यः ।

त्वम् । नः ॥ २० ॥

हे अग्ने त्वम् अस्मान् पश्चादित्यादिना उक्ताभ्यश्चतसृभ्यो दिग्भ्यः सकाशात् कविः क्रान्तप्रज्ञः । तत्र [ तत्र ] बाधमानान् राक्षसान् जानन्नित्यर्थः । काव्येन कवेः कर्म काव्यम् तेन कवे-स्तव रक्षणव्यापारेण परि पाहि सर्वतो रक्ष । रक्षकं रक्षणीयं च उभावपि विशिनष्टि । सखा मम सखिभूतस्त्वं सखायम् तव सखि-भूतं रक्ष । अजरः जरारहितः जरिम्णे अत्यन्तजीर्णाय मद्यम् । रक्षां कुर्विति शेषः । हे अग्ने अमर्त्यस्त्वं मर्त्यान् मरणधर्माणः नः अस्मान् । पाहीत्यन्वयः ॥

इत्यष्टमकाण्डे द्वितीयेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे अग्ने ! आप क्रान्तप्रज्ञ ( जानने वाले ) होनेसे पूर्व पश्चिम उत्तर और दक्षिण दिशाके राक्षसोंसे हमको अपने रक्षणव्या-पारसे रक्षित करिये मेरे मित्र बने हुए आप मुझ मित्रकी रक्षा करिये । आप अजर हैं अतः मुझ अत्यन्त जीर्णकी रक्षा करिये । हे अग्ने ! आप अमर्त्य हैं अतः मुझ मरणधर्मोंकी रक्षा करिये ॥ २० ॥ ( ७ )

अष्टम काण्डके द्वितीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त ॥

“तदग्ने चक्षुः” इति सूक्तस्य “रक्षोहणम्” इत्यत्रोक्ता विनि-योगा अनुसंधेयाः ॥

अग्निरहितप्रदेशे अग्निदर्शनलक्षणे अद्भुते तच्छान्त्यर्थम् “अग्नी रक्षांसि” इत्यनया आज्यं जुहुयात् । “अथ यत्रैतद् अनग्नावाभासो

भवति तत्र जुहुयात्” इति प्रक्रम्य सूत्रितम् । “अग्नी रक्षांसि सेधतीति प्रायश्चित्तिः” इति [ कौ० १३. ३८ ] ॥

सशब्देऽग्नौ तच्छान्त्यर्थम् अनया अग्निम् उपतिष्ठेत । “अग्नी रक्षांसि सेधतीति सेधन्तम्” इति तत्र [ कौ० ५. १० ] सूत्रम् ॥

अग्न्याधाने पावकगुणकाग्नियागम् अनया ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । तद् उक्तं वैताने । “अग्नी रक्षांसि [ ८. ३. २६ ] अदितिर्द्यौः [ ७. ६. १ ]” इति [ वै० २. २ ] ॥

‘तदग्ने चक्षुः’ इस सूक्तके विनियोग ‘रक्षोहणम्’ में देखने चाहिये। अग्निरहित स्थानमें अग्निदर्शनरूप अद्भुतकी शान्तिके लिये “अग्नी रक्षांसि” ऋचासे घृतकी आहुति देय । “अथ यत्रैतद् अनग्नावाभासो भवति तत्र जुहुयात्” को कह कर सूत्रमें कहा है, कि—‘अग्नी रक्षांसि सेधतीति प्रायश्चित्तिः०’ (कौशिकसूत्र १३।३८)

शब्दसहित अग्निके होने पर उसकी शान्तिके लिये इस ऋचा से अग्निका उपस्थान करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ५ । १० का प्रमाण भी है, कि—

अग्न्याधानमें पावकगुणकाग्नियागका ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र २ । २ का प्रमाण है, कि—“अग्नी रक्षांसि ( ८ । ३ । २६ ) अदितिर्द्यौः ( ७ । ६ । १ )” इति ॥

तत्र प्रथमा ॥

तदग्ने चक्षुः प्रति धेहि रेभे शफारुजो येन पश्यसि  
यातुधानान् ।

अथर्ववज्ज्योतिषा दैव्येन सत्यं घूर्वन्तमचितं न्योष २ १

तत् । अग्ने । चक्षुः । प्रति । धेहि । रेभे । शफारुजः । येन ।

पश्यसि । यातुधानान् ।

अथर्वज्वत् । ज्योतिषा । दैव्येन । सत्पम् । धूर्वन्तम् । अचितम् ।

नि । ओष ॥ २१ ॥

हे अग्ने त्वं रेभे शब्दं कुर्वते रक्षसे तत् चक्षुः प्रति घेहि स्थापय । दहेत्युक्तं भवति बद्धिदृष्टेर्दाहकत्वात् । शफारुजः शफवत् शफाः । नखा इत्यर्थः । अथ वा पशुरूपधारिणां शफा अपि संभवन्ति । तैरारुजन्तीति शफारुजः । तादृशान् यातुघानान् येन पश्यसि तच्चक्षुरित्यर्थः । किं च अथर्ववत् अथर्वाख्यो महर्षिरिव स एव मजापतिरिति ग्रन्थादौ च तस्य माहात्म्यं प्रतिपादितम् । स यथा तपोमन्त्रप्रभावाभ्यां कृत्स्नान् असुरान् निर्ददाह तद्वत् त्वमपि दैव्येन देवसंचन्धिना ज्योतिषा तेजसा सत्पम् यथार्थं धूर्वन्तम् हिंसन्तम् अचितम् अचेत्तारं संशारहितं न्योष नितरां दह । ॐ उप दाहे । लोपमध्यमरूपम् ॥

हे अग्निदेव ! आप शब्द करते हुए राक्षस पर चक्षुः स्थापित करिये अर्थात् उसको भस्म करिये । ( क्योंकि-बद्धिकी दृष्टि दाहक होती है ) तथा पशुका रूप धारण करके छुमोंसे पीड़ा देने वाले राक्षसोंको आप जैसे नेत्रसे देखते हैं और अथर्वा ( मजापति ) महर्षि तप और मन्त्रके प्रभावसे जिस प्रकार असुरों को भस्म कर चुके हैं, इसी प्रकार आप दिव्य तेजसे यथार्थमें हिंसा करने वाले संशारहित राक्षसको पूर्णरीतिसे भस्म करिये २१

द्वितीया ॥

परि त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि ।

घृपद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भङ्गुरावन्तः ॥ २२ ॥

परि । त्वा । अग्ने । पुरम् । वयम् । विप्रम् । सहस्य । धीमहि ।

धृपत्स्वर्णम् । दिवेऽदिवे । हन्तारम् । भङ्गुरस्वतः ॥ २२ ॥

व्याख्यातेयं प्राक् [ ७. ७४ ] । हे अग्ने सहस्य सहसे हित । अभिभवनशीलेत्यर्थः । अथवा सहो बलम् तेन जात । मथनाद् उत्पन्नत्वात् । वयं त्वा त्वां परि परितो धीमहि ध्यायेमहि परिधिं कर्मो वा । क्रीडशम् । पुरम् कामानां पूरकम् । विप्रम् मेधाविनं विविधं प्रीणयितारं वा । धृपद्वर्णम् धर्पकवर्णयुक्तम् । दिवेदिवे प्रतिदिनं भङ्गुरावताम् भङ्गस्वभावोपेतबलयुक्तानां राक्षसानां हन्तारम् प्रविनाशयितारम् । अग्नेर्दर्शनेनैव असुराणां बलानि भङ्गुराणि भवन्तीत्यभिप्रायः । यद्वा सर्वप्राणिवलानां भङ्गुरीकरणसामर्थ्यवताम् इत्यर्थः ॥

हे बलपूर्वक मथन करनेसे उत्पन्न हुए अग्ने ! हम आपको परिधि बनाते हैं ! आप कामनाओंको पूर्ण करने वाले हैं, अनेक प्रकारसे तृप्त करने वाले हैं, धर्पकवर्णसे सम्पन्न हैं और प्रतिदिन भंगत्वके स्वभाव वाले राक्षसोंको मारने वाले हैं अर्थात् अग्नि के दर्शनमात्रसे ही असुरोंके बल भंग होजाते हैं ॥ २२ ॥

तृतीया ॥

विपेण भङ्गुरावतः प्रति स्म रक्षसो जहि ।

अग्ने तिग्मेन शोचिषा तपुःस्राभिरर्चिभिः ॥ २३ ॥

विपेण । भङ्गुरस्वतः । प्रति । स्म । रक्षसः । जहि ।

अग्ने । तिग्मेन । शोचिषा । तपुःस्राभिः । अर्चिभिः ॥ २३ ॥

हे अग्ने विपेण विषवद्दिनाशकेन व्याप्तेन वा । एतद् शोचिपेत्यस्य विशेषणम् । तिग्मेन तीक्ष्णेन शोचिषा तेजसा भङ्गुरावतः । उक्तो भङ्गुरावच्छब्दार्थः । उक्तरूपान् रक्षसः राक्षसान्

प्रति जहि । स्मेति पूरणः । तथा तपुर्ग्राभिः तापकाग्रोपेताभिः  
अर्चिभिः ज्वालाभिरपि जहि ॥

हे अग्ने ! आप विपकी समान नाशक अपने तीक्ष्ण तेजसे  
भंगशील राक्षसोंका संहार करिये और तापक अग्रभागसे युक्त  
ज्वालाओंसे भी ( शत्रुओंका ) नाश करिये ॥ २३ ॥

चतुर्थी ॥

वि ज्योतिषा बृहता भ्रात्यग्निराविर्विश्वानि कृणुते  
महित्वा ।

प्रदेवीर्मायाः सहते दुस्वाः शिशीति शृङ्गे रक्षोभ्यो  
विनिच्चे ॥ २४ ॥

वि । ज्योतिषा । बृहता । भ्राति । अग्निः । आविः । विश्वानि ।  
कृणुते । महित्वा ।

प्र । अदेवीः । मायाः । सहते । दुःस्वाः । शिशीति । शृङ्गे इति ।  
रक्षोभ्यः । विनिच्चे ॥ २४ ॥

अयम् अग्निः बृहता महता ज्योतिषा तेजसा वि भ्राति प्रका-  
शते ॥ अयं प्रत्यक्षकृतः । हे अग्ने महित्वा महत्त्वेन तेजसाम्  
आधिरूपेण विश्वानि सर्वाण्यपि भूतजातानि आविष्कृणुपे स्पष्टानि  
क्रमेण । विश्वानि प्रति आत्मानं वा आविष्कृणुपे प्रभूतेन तेजसा ।  
अयम् अग्निः अदेवीः आसुरीः दुस्वाः दुःस्वेन गन्तव्या मायाः  
प्र सहते प्ररूपेण अभिभवति । तथा रक्षोभ्यो विनिच्चे विना-  
शाय । ॐ निच चुम्बने । तुमर्षे केन् प्रत्ययः । वकारोपजन-  
शब्दान्दसः ॐ । शृङ्गे विषाणे शिशीते तीक्ष्ण करोति ॥



यह अग्निदेव बड़े भारी तेजसे प्रकाशित होते रहते हैं और अपने तेजकी अधिकतासे सब भूतोंको स्पष्ट करते रहते हैं और यह अग्निदेव अशुरोंकी दुःखपूर्वक सहने योग्य मायाओंको नष्ट कर डालते हैं और राक्षसोंका नाश करनेके लिये अपने विषाणों ( ज्वालाओं ) को तीक्ष्ण करते हैं ॥ २४ ॥

पञ्चमी ॥

ये ते शृङ्गे अजरे जातवेदस्तिग्महेती ब्रह्मसंशिते ।  
ताभ्यां दुर्हार्दमाभिदासन्तं किमीदिनं प्रत्यश्चमर्चिषा  
जातवेदो वि निक्ष्व ॥ २५ ॥

ये इति । ते । शृङ्गे इति । अजरे इति । जातवेदः । तिग्महेती  
इति तिग्महेती । ब्रह्मसंशिते इति ब्रह्मसंशिते ।

ताभ्याम् । दुःहार्दम् । अभिदासन्तम् । किमीदिनम् । प्रत्यश्चमम् ।  
अर्चिषा । जातवेदः । वि । निक्ष्व ॥ २५ ॥

हे जातवेदः अग्ने ये प्रसिद्धे ते तव शृङ्गे विषाणे स्तः  
ताभ्याम् अर्चिषा प्रत्यश्चमं वि निक्ष्व विनाशयेत्युत्तरत्र संबन्धः ।  
किंगुणके शृङ्गे इति तत्राह । अजरे जरारहिते अचिनश्चरे तिग्म-  
हेती तीक्ष्णायुधभूते तीक्ष्णहननसाधने ब्रह्मसंशिते ब्रह्मणा मन्त्रेण  
अस्माभिः प्रयुक्तेन तीक्ष्णभूते । उक्तलक्षणाभ्यां शृङ्गाभ्यां हन्तव्यः  
क इति तं सविशेषम् आह । दुर्हार्दम् दुष्टहृदयम् अभिदासन्तम्  
सर्वत उपक्षपयन्तं किमीदिनम् किम् इदानीम् इति वदन्तं किम्  
इदं किम् इदम् इत्यन्विष्य चरन्तं वा राक्षसादिकम् ॥

हे अग्निदेव ! आपके जो प्रसिद्ध संग हैं वे जरा रहित हैं,

तीक्ष्ण आयुधरूप हैं, हमारे द्वारा प्रयोग किये गए मन्त्रोंसे तीक्ष्ण हो गए हैं उन सींगोंसे आप दूषित हृदय वाले चारों ओरसे क्षय करते हुए, इस समय क्या हो रहा है, इस समय क्या हो रहा है इस प्रकार छिद्रान्वेषी राक्षसको भली प्रकार नष्ट कर डालिये २५ पृष्ठी ॥

अग्नी रक्षांसि सेधति शुक्रशोचिरमर्त्यः ।

शुचिः पावक ईड्यः ॥ २६ ॥

अग्निः । रक्षांसि । सेधति । शुक्रशोचिः । अमर्त्यः ।

शुचिः । पावकः । ईड्यः ॥ २६ ॥

अनया सूक्तत्रयोक्तम् अर्थ संगृह्य अभिधत्ते । अयं अग्निः रक्षांसि सर्वप्रकारेण बाधमानान् नानाप्रकारान् राक्षसान् सेधति निवारयति विनाशयति । अग्निर्विशेष्यते । शुक्रशोचिः दीप्तप्रकाशः । अमर्त्यः मरणधर्मरहितः । शुचिः शुद्धः । पावकः पावपिता शोधयिता । ईड्यः स्तुत्यः ॥

इत्यष्टमकाण्डे द्वितीयेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

यह अग्निदेव सकल प्रकारसे पीड़ा देने वाले अनेक प्रकारके राक्षसोंको निवारण करते हैं । इन अग्निदेवका प्रकाश दमकता रहता है यह मरणधर्मरहित है, शुद्ध है और शुद्ध करने वाले हैं तथा स्तुतिके पात्र हैं ॥ २६ ॥ ८५

अष्टम काण्डके द्वितीय अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त ( ४४१ ) ॥

“इन्द्रासोम” इति सूक्तस्य “रक्षोहणम्” इत्यनेन सह उक्ता विनियोगाः ॥

अत्र ऋक्संहिताया बृहद्देवनानुक्रमणी ।

संवत्सरं तु मण्डकान् ऐन्द्रासोमं परं तु यत् ।

ऋषिर्ददर्श राक्षोघ्नं पुत्रशोकपरिसृतः ।

हते पुत्रशते क्रुद्धः सौदासैर्दुःखितस्तदा । इति ॥

“इन्द्रासोमा” सूक्तके विनियोग “रक्षोहणम्” सूक्तके साथ कह दिये हैं ।

इस विषयमें ऋग्वेदसंहिताकी बृहद्देवतानुक्रमणीमें कहा है, कि—“सम्बत्सरं तु मण्डूकान् ऐन्द्रासोमं परन्तु यत् । ऋषिर्ददर्श राक्षोघ्नं पुत्रशोकपरिसृतः ॥ हते पुत्रशते क्रुद्धः सौदासैर्दुःखितस्तदा ॥—सौ पुत्रोंके मारे जाने पर सौदासके उपद्रवोंसे दुःखी ऋषिने वर्ष भर तक मण्डूकमन्त्र और ऐन्द्रासोम मन्त्रोंको देखा फिर पुत्रशोकमें डूबे हुए मुनिने रक्षोघ्न मन्त्रोंको देखा” ॥

तत्र प्रथमा ॥

इन्द्रासोमा तपतं रक्ष उज्जतं न्यर्पयतं वृषणा तमोवृधः ।  
परा शृणीतमचितो न्योषतं हतं नुदेथां नि शिशी-  
तमस्त्रिणः ॥ १ ॥

इन्द्रासोमा । तपतम् । रक्षः । उज्जतम् । नि । अर्पयतम् । वृषणा ।  
तमः । वृधः ।

परा । शृणीतम् । अचितः । नि । ओषतम् । हतम् । नुदेथाम् ।  
नि । शिशीतम् । अस्त्रिणः ॥ १ ॥

हे इन्द्रासोमा इन्द्रासोमौ इन्द्रश्च सोमश्च । ❀ “देवताद्वन्द्वे च”  
इति आनङ् । आमन्त्रिताद्युदाचः । ❀ । रक्षः । ❀ जातावेकवच-  
नम् । ❀ । रक्षांसि तपतम् संतापयतम् । ❀ “आमन्त्रितं पूर्वम्”  
इत्यविद्यमानत्वात् तपतम् इत्यस्य निघाताभावः । ❀ । तथा उज्जतम्

हिंस्तम् । ❀ उज्जतिर्हिंसाकर्मा । वाक्यादित्वाविधाताभावः ❀ ।  
हे वृषणा कामानां वर्पितारौ युवां न्यर्पयतम् नीचैर्गमयतम् । कान् ।  
तमोवृधः तमसि रात्रौ अन्धकारे तमसा मायया वा वर्धमानान् ।  
एवम् अचितः अचित्तान् अज्ञानिनो राक्षसान् परा शृणीतम्  
पराङ्मुखं हिंस्तम् । तथा न्योषतम् नितरां दहतम् । ❀ उप  
दाहे ❀ । तथा अत्रिणः भक्तकान् राक्षसान् हतम् । तथा जुदे-  
थाम् हतास्तान् अस्मत्तः मेरयेथाम् । ❀ तिष्ठः परत्वात् निघाता-  
भावः ❀ । एवं नि शिशीतम् नितरां तनुकृस्तम् ॥

हे इन्द्र और सोमदेवताओं ! आप राक्षसोंको सन्ताप दीजिये  
और उनको नष्ट कर डालिये । हे कामनाओंकी वर्षा करने वाले  
इन्द्र और सोम देवताओं ! आप रात्रिमें अन्धकारमें-मायासे-  
घटने वाले अज्ञानी राक्षसोंका भी संहार करिये और उन  
को खाक कर दीजिये । भक्तक राक्षसोंको मारिये और उन मारे  
हुओंको हमारी ओर धकेल दीजिये । इस प्रकार उनके पक्षको  
बहुत ही क्षीण कर दीजिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

इन्द्रासोमा समघशंसमभ्यः घं तपुयस्तु चरुरग्निमाँ इव  
ब्रह्मद्विपं क्रव्योदं घोरश्चक्षसे द्वेपो घत्तमनवायं  
किमीदिने ॥ २ ॥

इन्द्रासोमा । सम् । अघशंसम् । अभि । अघम् । तपुः । ययस्तु ।  
चरुः । अग्निमान् इव ।

ब्रह्मद्विपे । क्रव्यद्विपे । घोरश्चक्षसे । द्वेपोः । घत्तम् । अनवायम् ।  
किमीदिने ॥ २ ॥

हे इन्द्रासोमौ अघशंसम् अघस्य अनर्थस्य शंसितारम् अघम्  
पापिनं सम्यग् अभि । ॐ उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः ॐ ।  
भवतम् इति शेषः । तिरस्कृतम् इत्यर्थः । स राक्षसः तपुः तापं  
ययस्तु गच्छतु । चरुः ओदनः । कीदृशः । अग्निमान् इव अग्नि-  
संयुक्त इव । अग्नौ क्षिप्तश्चरुव तापं प्राप्नोतु । किञ्च युवां ब्रह्म-  
द्विपे ब्राह्मणद्वेष्टे क्रव्यादे मांसाशनाय घोरचक्षसे भयंकरदर्शनाय  
किमीदिने किम् इदानीम् इति वा किम् इदं किम् इदम् इति चरते  
वा राक्षसाय । यास्केन उक्तोयम् अर्थः [ नि० ६. ११ ] । तादृ-  
शाय द्वेषः अप्रीतिम् अनवायम् अव्यवधानं यथा भवति तथा धत्तम्  
धारयतम् । सर्वदा तस्मिन्नहितं कुरुतम् ॥

हे इन्द्र और सोम देवताओं ! आप पापको कहने वालेका  
भली प्रकार पराभव करिये । वह राक्षस ऐसे तापको प्राप्त होवे,  
जिस प्रकार चरु अग्निसे संयुक्त होकर तपता है और आप  
ब्राह्मणद्वेषी मांसभक्षी भयंकर नेत्र वाले राक्षसमें द्वेष और अप्रीति  
करो अर्थात् सदा उसका अहित करो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इन्द्रासोमा दुष्कृतो वज्रे अन्तरं नारम्भाणे तमसि प्र  
विध्यतम् ।

यतो नैपां पुनरेकश्चनोदयत् तद् वामस्तु सहसे मन्यु-  
मच्छवः ॥ ३ ॥

इन्द्रासोमा । दुःकृतः । वज्रे । अन्तः । अनारम्भाणे । तमसि ।  
॥ । विध्यतम् ।

यतः । न । एषाम् । पुनः । एकः । चन । उत्स्रयत् । तद् ।  
वाम् । अस्तु । सहसे । मन्युः । शवः ॥ ३ ॥

हे इन्द्रासोमां दुष्कृतः दुष्टकारिणो राक्षसान् वने आवरके  
अतारम्भणे अनालम्बने तपसि अन्तः प्र निध्यन्तम् प्रवेश्य ताडय-  
न्तम् । यतः यस्माद् अन्धकाराद् एषां पतितानां राक्षसानां दुष्कृतां  
मध्ये पुनः एकश्चन एकोपि न उदयत् नोद्गच्छेत् । ॐ एतेर्लेटि  
अडागयः । “इत्थं लोपः०” इति इकारलोपः । गुणयादेशः ॐ ।  
तथा वाम् युवयोः तत् शवः वलं सहसे तेषाम् अभिभवाय  
मन्युमत् अस्तु क्रोधोपेतं भवतु ॥

हे इन्द्र और सोमदेवताओं ! आप दूषित कर्म करनेवाले राक्षसों  
को आलम्बनरहित अन्धकारमें लेजाकर ताड़ित करिये जिससे  
फि-इन अन्धकारमें पड़े हुए दुष्कर्मी राक्षसोंमेंसे एक भी न  
उदय होसके । आप दोनोंका वल इनका तिरस्कार करनेके लिये  
क्रोधसे सम्पन्न होजावे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

इन्द्रासोमा वर्तयंतं दिवो वधं संपृथिव्या अघशंसाय  
तर्हणम् ।

उत्तंक्षतं स्वर्ग्यं पर्वतेभ्यो येन रक्षो वावृधानं निजूर्वधः

इन्द्रासोमा । वर्तयन्तम् । दिवः । वधम् । सम् । पृथिव्याः ।

अघशंसाय । तर्हणम् ।

उत् । तक्षतम् । स्वर्ग्यम् । पर्वतेभ्यः । येन । रक्षः । वृधानम् ।

निजूर्वधः ॥ ४ ॥

हे इन्द्रासोमी दिवः अन्तरिक्षाद् द्युलोकाद् वा वधम् हनन-  
साधनम् आपुष्टं सम् एकैव वर्तयन्तम् । तथा पृथिव्याः सकाशा-

दपि सं वर्तयतम् । किमर्थम् । अघशंसाय अघं शंसतीति अघ-  
शंसो राक्षसः तदर्थं तद्वधार्थम् । कीदृशं वधम् । तर्हणम् हिंसकम् ।  
तद् वज्रम् उत्तल्लतम् उत्तेजनं तीक्ष्णं कुरुतम् । स्वर्यम् स्वरणार्हम्  
आयुधम् । पर्वतेभ्यः मेघेभ्यः सकाशाद् येन वज्रेण वधशब्द-  
वाच्येन वाटुधानम् वर्धमानं रक्षः राक्षसं निजूर्वथः ह्यथः ॥

हे इन्द्र और सोमदेवताओं ! आप द्युलोकसे और पृथिवीसे  
हननके साधन आयुधको वधलक्षण पापकी प्रशंसा करने वाले  
राक्षस पर एक साथ प्रेरित करो हिंसक वज्रको तीक्ष्ण करो,  
जिससे कि—तुम पर्वत और मेघोंसे उठते हुए राक्षसको मार सको ४  
पञ्चमी ॥

इन्द्रासोमा वर्तयंत दिवस्पर्यन्तितप्तेभिर्युवमश्महन्मभिः  
तपुर्वधेभिरजरभिरत्त्रिणो नि पर्शानि विध्यतं यन्तु  
निस्वरम् ॥ ५ ॥

इन्द्रासोमा । वर्तयतम् । दिवः । परि । अग्निस्तप्तेभिः । युवम् ।  
अश्महन्मभिः ।

तपुःस्वधेभिः । अजरेभिः । अत्त्रिणः । नि । पर्शानि । विध्यतम् ।  
यन्तु । निःस्वरम् ॥ ५ ॥

हे इन्द्रासोमौ युवम् युवां वर्तयतम् इतस्ततः प्रेरयतम् । साम-  
र्थ्याद् आयुधानीति गम्यते । कस्मिन् देशे । दिवस्परि द्युलोकस्य  
अन्तरिक्षस्य परितः । किंच अग्निस्तप्तेभिः अग्निना संतप्तैः अश्म-  
हन्मभिः अश्मा अयःसारः अयःसारमयैर्हननसाधनैः तपुर्वधेभिः  
संतापकैरायुधैः । पुनः कीदृशैः । अजरेभिः जरारहितैर्दृढैः अत्त्रिणः

भक्तकान् अमुरान् पशानि पार्वीस्थिमदेशे नि विध्यतम् । ते च  
निःस्वरम् निःस्वनं निःशब्दं यथा भवति तथा यन्तु गच्छन्तु ।  
अग्र्यन्ताम् इत्यर्थः ॥

हे इन्द्र और सोमदेवताओं ! तुम अन्तरिक्षमें चारों ओर  
आयुधोंको घुमाओ और अग्निसे तपे हुए लोहेके सन्तापक  
अजर आयुधोंसे राजसोंकी पसलियोंको धीधडा लो वे भी शब्द-  
रहित दशाको प्राप्त होजावें अर्थात् मर जावें ॥ ५ ॥

पशू ॥

इन्द्रांसोमा परिं वां भूतु विश्वत इयं मतिः कक्ष्याश्वेवं  
वाजिनां ।

यां वां होत्रां परिहिनोमि मेधयेमा ब्रह्माणि नृपती  
इव जिन्वतम् ॥ ६ ॥

इन्द्रांसोमा । परि । वाम् । भूतु । विश्वतः । इयम् । मतिः ।  
कक्ष्या । अश्वेव । वाजिनां ।

वाम् । वाम् । होत्राम् । परिहिनोमि । मेधया । इमा । ब्रह्माणि ।  
नृपती इवेति नृपतीऽइव । जिन्वतम् ॥ ६ ॥

हे इन्द्रांसोमा वाम् युवाम् इयम् अस्माभिः कृता मतिः मन्यत  
इति मतिः स्तुतिः विश्वतः सर्वतः परि भूतु परिगृह्णातु । विपयी-  
करोतिवित्पर्यः । तत्र दृष्टान्तः । कक्ष्या कक्षबन्धनसाधनभूता रज्जुः  
वाजिना वाजिनां बलवन्तां अश्वेव अश्वविव । तां यथा रज्जु-  
गृह्णाति तद्वत् । मतिं विशिनष्टि । यां होत्राम् आह्वानाहीं मेधया  
धारणयुक्तया बुद्ध्या वाम् युवाभ्यां युवयोरन्यायं परिहिनोमि मेर-



यामि ॥ इदानीम् अवयवश आह । इमा इमानि ब्रह्माणि मन्त्रान्  
नृपतीव राजानाविव तां यथा वन्दिकृतवाक्यानि श्रुत्वा प्रीणयत-  
स्तद्वत् जिन्वतम् प्रीणयतम् ॥

हे इन्द्र और सोम देवताओ ! जैसे कक्षबंधनसाधनभूता रस्सी  
बलवान् घोड़ोंको पकड़ लेती है तिसी प्रकार हमारी की हुई  
स्तुति आपको पकड़ लेय जिस आह्वान करने योग्य धारणा-  
युक्त बुद्धिसे आपको प्रेरित कर रहा हूँ वह बुद्धि ( स्तुति-मति )  
आपको ग्रहण कर लेय जैसे बन्दियोंकी बाणियों दो राजाओंकी  
प्रसन्न करती हैं, इसी प्रकार ये मन्त्र आपको प्रसन्न करें ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

प्रति स्मरेथां तुजयद्भिरेवैर्हतं दुहो रक्षसो भङ्गुरावतः ।  
इन्द्रासोमा दुष्कृते मा सुगं भूद् यो मा कदा चिद-  
भिदासति दुहुः ॥ ७ ॥

प्रति । स्मरेथाम् । तुजयद्भिः । एवैः । हतम् । दुहः । रक्षसः ।

भङ्गुरावतः ।

इन्द्रासोमा । दुःकृते । मा । सुगम् । भूत् । यः । मा । कदा ।

चित् । अभिदासति । दुहुः ॥ ७ ॥

हे इन्द्रासोमौ युवां तुजयद्भिः बलवद्भिः एवैः गमनसाधनैरैवैः  
प्रति स्मरेथाम् । स्मृतिरत्र आगमनपर्यन्तन्यापारा । प्रतिगच्छतम्  
इत्यर्थः । आगत्य च दुहः द्रोणकारिणो भङ्गुरावतः भञ्जनशीलान्  
रक्षसः राक्षसान् हतम् हिंस्रम् ॥ किं च हे इन्द्रासोमौ दुष्कृते  
दुष्टकारिणे राक्षसाय सुगम् सुगमनं जीवहृष्यनं सुखं वा मा भूत् ।

दुष्कृतं विशिनष्टि । यो दुष्कृत् द्रुहुः द्रोहशीलः सन् कदाचित् एक-  
वारमपि मा माम् अभिदासति उपक्षययति, बाधते । तस्मा इति ॥

हे इन्द्र और सोम देवताओं ! आप गमनके साधन बलवान्  
अरवोंका ( यहाँ आनेके निमित्त ) स्मरण करिये और आकर  
द्रोहकारी भञ्जनशील राजसोंको मार डालिये । हे इन्द्र और  
सोम देवताओं ! दुष्कर्मी राजसोंका जीवन सुखमय न होवे ।  
जो द्रोह रख कर एक बार भी हमको पीड़ा दे चुका हो उसका  
जीवन सुखमय न हो सके ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

यो मा पाकेन मनसा चरन्तमभिचष्टे अनृतेभिर्वचोभिः  
आप इव काशिना संगृभीता असन्नस्त्वासत इन्द्र वक्ता

यः । मा । पाकेन । मनसा । चरन्तम् । अभिचष्टे । अनृतेभिः ।

वचोभिः ।

आपः इव । काशिना । संगृभीताः । असन् । अस्तु । असतः ।

इन्द्र । वक्ता ॥ ८ ॥

हे इन्द्र यो राजसादिः पाकेन परिपक्वेन मनसा । अन्याया-  
चरणस्यापि मनोमूलत्वात् मन एव अत्राभिधीयते । चरन्तम् प-  
र्वतमानं मा माम् अनृतेभिः अनृतरूपैः अयं ब्राह्मणं हत्वान् अयं  
ब्रह्मस्वं हत्वान् इत्येवमाशात्मकैः वचोभिः वचनैः अभिचष्टे अभि-  
शापं करोति स राजसादिः काशिना मृष्टिना संगृभीताः संगृहीता  
आप इव ता यथा अद्भुतलिवरेभ्यो गच्छन्ति तद्वत् असतः अविद्य-  
मानस्य अकृतस्वार्थस्य वक्ता स्वयमपि असन्नस्तु शून्यो भवतु ॥

हे इन्द्र ! जो राजस आदि परिपक्व मनसे मुक्तको अनृत वचनों  
के द्वारा अभिशाप लगता है, कि-यह ब्रह्महत्यारा है इसने ब्राह्मण

का धन चुराया है—वह राक्षस आदि, जैसे अञ्जलिमें लिये हुए जल अँगुलियोंके छिद्रोंमेंसे निकलजाते हैं, इसीप्रकार असत् होजावे नवमी ॥

ये पाकशंसं विहरन्त एवैर्ये वा भद्रं दूषयन्ति स्वधाभिः ।  
अहये वा तान् प्रददातु सोम आ वा दधातु निऋते  
रुपस्थे ॥ ६ ॥

ये । पाकऽशंसम् । विऽहरन्ते । एवैः । ये । वा । भद्रम् । दूष-  
यन्ति । स्वधाभिः ।

अहये । वा । तान् । प्रऽददातु । सोमः । आ । वा । दधातु ।  
निऽऽऋतेः । उपऽस्थे ॥ ६ ॥

ये राक्षसाः पाकशंसम् परिपकशंसनं सत्यभाषिणं माम् एवैः  
प्राप्तव्यैरात्मीयैः कामैर्हेतुभिः विहरन्ते विशेषेण हरन्ति उपक्षप-  
यन्ति । यथा कामं परिवदन्तीत्यर्थः । ये च भद्रम् कल्याणवर्तनं  
मां मदीयं भद्रम् भद्रं कर्म वा स्वधाभिः । स्वधेत्यन्ननाम । अन्नै-  
र्निमित्तभूतैः दूषयन्ति तान् उभयविधान् अहये । सर्पे वृत्रासुरेप्य-  
हिरित्यभिधानम् । वृत्राय सर्पाय वा प्रददातु प्रयच्छतु सोमः ।  
वा अथवा निऋतेः । निऋतिः पापदेवता । हिंसित्र्याः पापदेव-  
ताया उपस्थे उत्सङ्गे आ दधातु आस्थापयतु ॥

जो राक्षस मुझ सत्यभाषीको अपने कारणसे पीड़ित करते  
हैं अर्थात् इच्छानुसार मेरे विषयमें कुवाक्य कहते हैं, और जो  
मुझ कल्याणकारीको स्वधासे अर्थात् अन्नके निमित्तसे दूषित  
करते हैं उनको सोम देवता सर्पके अर्पण कर दें अथवा उनको  
पापदेवता निऋतिकी गोदीमें स्थापित कर दें ॥ ६ ॥

दशमी ॥

यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने अश्वानां गवां  
यस्तनूनाम् ।

रिपु स्तेन स्तेयकृद् दध्रमेतु नि प हीयतां तन्वाश्  
तना च ॥ १० ॥

यः । नः । रसम् । दिप्सति । पित्वः । अग्ने । अश्वानाम् ।  
गवाम् । यः । तनूनाम् ।

रिपुः । स्तेनः । स्तेयकृत् । दध्रम् । एतु । नि । सः । हीयताम् ।  
तन्वा । तना । च ॥ १० ॥

हे अग्ने यो राक्षसादिः नः अस्माकं रसम् मम शरीरसारं  
दिप्सति निघांसति यश्च अश्वानां मदीयानां रसं दिप्सति यश्चापि  
गवां यो वा तनूनाम् आत्मीयपुत्रादिशरीराणां रसं दिप्सति स  
पूर्वोक्तप्रकारो रिपुः शत्रुः स्तेनः तस्करः स्तेयकृत् मोपकर्ता दध्रम्  
एतु । ॐ दधि हिंसायाम् ॐ । हिंसां प्राप्नोतु । स एव तन्वा  
स्वकीयेन शरीरेण तना च तनयेन च नि हीयताम् विपुक्तो भवतु ॥  
इत्यष्टमकाण्डे द्वितीयेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

हे अग्ने ! जो राक्षस आदि हमारे शरीरके रसको नष्ट करता  
चाहता है । और जो मेरे घोड़ोंके गाँधोंके वा आत्मीय पुत्र शरीर  
के रसका अपहरण करना चाहता है वह तस्कर चोर हिंसाको  
प्राप्त होवे-मर जावे और वही अपने शरीर और पुत्रसे विपुक्त  
होजावे ॥ १० ॥ ( ९ )

अष्टम काण्डके द्वितीय अनुवाकमें चतुर्थं सूक्त समाप्त ॥

“परः सो अस्तु” इति सूक्तस्य “रक्षोहणम्” इत्यनुवाकप्रयुक्तो विनियोगो द्रष्टव्यः ॥

“परः सो अस्तु” इस सूक्तका “रक्षोहणम्” अनुवाकके अनु-  
कूल विनियोग होता है ।

तत्र प्रथमा ॥

परः सो अस्तु तन्वा३ तना॑ च तिस्रः पृथिवी॒र॒धो  
अस्तु विश्वाः ।

प्रति शुष्यतु यशो॑ अस्य देवा यो मा दिवा दिप्सति  
यश्च नक्तम् ॥११॥

परः । सः । अस्तु । तन्वा । तना । च । तिस्रः । पृथिवीः ।  
अधः । अस्तु । विश्वाः ।

प्रति । शुष्यतु । यशः । अस्य । देवाः । यः । मा । देवा । दिप्सति ।  
यः । च । नक्तम् ॥ ११ ॥

हे देवाः स राक्षसादिः तन्वा स्वकीयेन शरीरेण तना च पुत्रेण च । ॐ उभयत्र व्यत्ययेन तृतीया ॐ । तनोः पुत्रस्य चे-  
त्यर्थः । उभयोः परः अन्यः विरोधी अथवा परस्ताद् वर्तमानो  
वियुक्तः अस्तु । तथा विश्वाः व्याप्तास्तिस्रः पृथिवीः त्रिप्रकारा  
भूमीः । भूमेर्लोकस्य च त्रैविध्यमन्वान्तरेषु प्रसिद्धम् । “तिस्रो  
भूमिर्धारयन् त्रींस्त द्यून्” [ ऋ० २. २७. ८ ] । “तिस्रो आवो  
निहिता अन्तरस्मिन् तिस्रो भूमिरूपराः पड्विधानाः” इति  
[ ऋ०. ७. ८७. ५. ] । अधो अस्तु । तिमृणामपि पृथिवीनाम्  
अधस्तात् नरके वर्तमानोस्त्वित्यर्थः । अस्य पापिनो यशः

अन्नं कीर्तिर्षा प्रति शुष्यतु विनश्यतु । यस्य ईदृशो विनाशः तं दर्शयति । यो द्वेष्टा दिवा अहनि मा मां दिप्सति हन्तुम् इच्छति यश्च नक्तम् रात्रौ दिप्सति । तस्येति संबन्धः ।

हे देवताओं ! जो द्वेष्टा दिन और रात्रिमें हमको मारना चाहता है वह राक्षस आदि अपने शरीरसे और पुत्रसे विग्रुक्त होवे और तीन पृथिवियोंके नीचे होजावे अर्थात् तीनों पृथ्वियोंके नीचे वर्तमान नरकमें जा पड़े । उस पापीका यश शुष्क होजावे ॥ ११ ॥

द्वितीया ॥

सुविज्ञानं चिकितुपजनाय सच्चासञ्च वचसी पस्पृधाते ।

तयोर्यत् सत्यं यतरहजायस्तदित् सोमोवति हन्त्यासत् ॥ १२ ॥

सुविज्ञानम् । चिकितुपे । जनाय । सत् । च । असत् । च । वचसी इति । पस्पृधाते इति ।

तयोः । यत् । सत्यम् । यतरत् । अजीयः । तत् । इत् । सोमः । अवति । हन्ति । असत् ॥ १२ ॥

अस्याः “इन्द्रासोमा” इत्यादिसूक्तत्रयस्य अक्संहितायामपि समानत्वात् तदीयबृहद्देवतानुक्रमणायाम् उदाहृतं वचनम् एतत् ॥

हत्वा पुत्रशतं पूर्वं वसिष्ठस्य महात्मनः ।

वसिष्ठं राक्षसोसि त्वं वासिष्ठं रूपम् आस्थितः ॥

अहं वसिष्ठ इत्येवं जिघांस् राक्षसोब्रवीत् ।

अत्रोत्तरा अचो दृष्ट्वा वसिष्ठेनेति नः श्रुतम् ॥

इति ॥ चिकित्पे विदुपे जनाय इदं सुविज्ञानम् विज्ञातुं मुशकं भवति । किं तत् । सच्च सत्यं च असच्च अनृतं च वचसी रात्या-सत्यरूपे वचने पस्पृधाते मिथः स्पर्धेते । तयोः सदसतोर्मध्ये यत् सत्यम् यथार्थवचनं यतरच्च ऋजीयः ऋजुतरम् अकुटिलं तदित् तदेव सोमो देवः अवति रक्षति । असत् उक्तविलक्षणम् असत्यं हन्ति हिनस्ति । एवं सति आवयोर्मध्ये कोऽनृतवादीति विद्वद्भिः सुज्ञानम् इत्यर्थः । अतः अस्मासु असत्यभूतम् आरोपयन्तं राक्षसम् हे सोम त्वं घातयेत्यभिप्रायः ॥

विद्वान् प्राणी इस बातको भली प्रकार जान सकता है, कि-सत् और असत् वचन परस्पर स्पर्धा करते हैं । इस सत्य और असत्य वचनोंमें जो यथार्थवचन होता है वह सरल होता है और सोमदेवता उसीकी रक्षा करते हैं और असत्यवक्ताको मार देते हैं । इस दशामें हम दोनोंमें कौन भूढ़ बोलने वाला है यह भली भाँति जाना जा सकता है । तात्पर्य यह है, कि-हे सोम ! हम पर असत्यारोपण करते हुए राक्षसको आप मार दीजिये † १२

† यह ऋचा और “इन्द्रासोमा” आदि तीन सूक्त ऋग्वेद-संहितामें भी एकसे हैं अत एव उसकी बृहद्देवतानुक्रमणीमें जो वचन उद्धृत किया है उसको यहाँ पर भी उद्धृत करते हैं, कि-  
“हत्वा पुत्रशतं पूर्वं वसिष्ठस्य महात्मनः । वसिष्ठं राक्षसोऽसि त्वं वासिष्ठं रूपमास्थितः ॥ अहं वसिष्ठ इत्येवं जिघांस् राक्षसोऽब्रवीत् । अत्रोत्तरा ऋचो दृष्टा वसिष्ठेनेति नः श्रुतम् ॥ महात्मा वसिष्ठजीके सौ पुत्रोंको मारकर राक्षसने वसिष्ठजीका रूप धारण कर लिया और वसिष्ठजीको मारनेकी इच्छासे वसिष्ठजीसे कहने लगा, कि-मैं वसिष्ठ हूँ और तू राक्षस है, उस समय वसिष्ठजीने सुविज्ञानम् आदि ऋचाएँ देखी थीं । ऐसा हमने सुना है ॥”

तृतीया ॥

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया  
धारयन्तम् ।

हन्ति रक्षो हन्त्यासद् वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ  
शयाते ॥ १३ ॥

न । वै । उ इति । सोमः । वृजिनम् । हिनोति । न । क्षत्रियम् ।  
मिथुया । धारयन्तम् ।

हन्ति । रक्षः । हन्ति । असत् । वदन्तम् । उभा । इन्द्रस्य । प्रसितौ ।  
शयाते इति ॥ १३ ॥

सोमो देवः वृजिनम् । पापवाचिना वृजिनशब्देन तद्वान् लक्ष्यते ।  
पापवन्तं राक्षसं न हिनोति वा उ । वैशब्दः प्रसिद्धौ । उशब्दः अव-  
धारणे । नैव मुञ्चति अयं जीवत्विति न परित्यजति । मिथुया मिथ्या-  
भूतं अनृतं धारयन्तं क्षत्रियम् क्षत्रं बलम् तद्वन्तं बलिनं राक्षसा-  
दिकं च सोमो न हिनोति । तर्हि सोमः किं करोति । उच्यते ।  
रक्षः राक्षसं वृजिनरूपं हन्ति हिनस्ति । तथा असत् अनृतं वदन्तं  
हन्ति । उभा उक्तविधां दुष्टौ इन्द्रस्य प्रसितौ बन्धनसाधने पाशे  
शयाते । अथवा प्रसितौ ॐ निष्ठान्तं पदम् ॐ । प्रकर्षेण बद्धौ  
सन्तौ शयाते । ॐ पित्र् बन्धने इत्यस्मात् कर्मणि निष्ठा । “गति-  
रनन्तरः” इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् । क्तिन्पक्षे “तार्दा च निति  
कृतिः” इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् ॐ ॥

सोम देवता पाप वाले राक्षसको नहीं छोड़ते, वे मिथ्याको  
धारण करने वाले क्षत्रबलसम्पन्न बली राक्षस आदिको नहीं



छोड़ते हैं, किंतु वह पापरूप राक्षसको मार डालते हैं और असत्य-  
भाषीको भी मार डालते हैं, दोनों प्रकारके दुष्ट इन्द्रके पाशमें  
शयन करते हैं ॥ १३ ॥

चतुर्थी ॥

यदि वाहमनृतदेवो अस्मि मोघं वा देवाँ अप्यूहे अग्ने  
किमस्मभ्यं जातवेदो हृणीषे द्रोघवाचस्ते निऋथं  
सचन्ताम् ॥ १४ ॥

यदि । वा । अहम् । अनृतऽदेवः । अस्मि । मोघम् । वा । देवान् ।  
अपिऽऊहे । अग्ने ।

किम् । अस्मभ्यम् । जातऽवेदः । हृणीषे । द्रोघऽवाचः । ते । निःऽऋ-  
थम् । सचन्ताम् ॥ १४ ॥

हे अग्ने अहं यदि वा अनृतदेवः अनृतेन दीव्यतीत्यनृत-  
देवः अथ वा अनृताः असत्यभूता देवा अस्य । देवशून्य इत्यर्थः ।  
तादृशोस्मि वा । अथ वा मोघम् व्यर्थं देवान् स्तोतव्यान् यष्टव्यांश्च  
अप्यूहे वहामि । उभयविधोपि न भवामीत्यर्थः । अतः कारणात्  
किम् कथंकारम् अस्मभ्यम् हे जातवेदः जातानां वेदितरग्ने हृणीषे  
ऋध्यसि । क्रोधो न कार्यः । अस्मद्विलक्षणा द्रोघवाचः देवताद्रोह-  
विषयवचनोपेताः ते राक्षसाः निऋथम् निकृष्टाम् आर्तिं नाशं  
सचन्ताम् समवयन्तु गच्छन्तु ॥

हे अग्ने ! यदि मैं अनृतसे खेलता होऊँ अथवा देवताओंसे  
हीन होऊँ वा स्तोतव्य और पूज्य देवताओंको व्यर्थ ही बुलाता  
होऊँ कष्ट देता होऊँ ( परन्तु मैं दोनों प्रकारका नहीं हूँ ) फिर  
हे अग्ने ! आप मुझ पर क्रोध क्यों कर रहे हैं । किंतु जो मुझसे

नहीं है देवताओंके लिये द्रोह भरे वचनोंका उच्चारण करते हैं वे राक्षस निकृष्ट आत्तिको प्राप्त होजावें ॥ १४ ॥

पञ्चमी ॥

अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि वायुस्ततप  
पुरुषस्य ।

अथा स वीरैर्दशभिर्वि यूया यो मा मोघं यातुधाने-  
त्याह ॥ १५ ॥

अथ । मुरीय । यदि । यातुधानः । अस्मि । यदि । वा । आयुः ।  
ततप । पुरुषस्य ।

अथ । मः । वीरैः । दशभिः । वि । यूयाः । यः । मा ।  
मोघम् । यातुधानः । इति । आह ॥ १५ ॥

भाष्येण अयं मन्त्रः पूर्वश्च अराक्षसम् अहिंसकं त्वं हिंसको  
राक्षसोसीत्येवं यो मिथ्याभियोगं करोति तं प्रति मिथ्याभिशास्तस्य  
शपथरूपो मन्त्रो । हे आरोपक पुरुष अहं यदि यातुधानः यात-  
नानां विधायकः पीडाकृद् अस्मि । यदि वा पुरुषस्य आयुः जीवनं  
ततप संतापं हिंसाम् अकार्षम् । तर्हि अद्य अस्मिन्नेव दिने मुरीय  
म्रियेय । अथ अयं मा अनागसं मां यस्त्वं मोघम् व्यर्थं यातु-  
धानेति आह । पुरुषव्यत्ययः । स त्वं च दशभिः दशसंख्याके-  
वीरैः पुत्रैः वि यूयाः विपुत्रो भवेः ॥

( भाष्यः यह मन्त्र और पहिला मन्त्र “अराक्षस अर्थात् अहि-  
सक तुरूपसे तू राक्षस अर्थात् हिंसक है” इस प्रकार जो मिथ्या  
अभियोग लगाता है उसके निमित्त मिथ्या अभिशस्तके शपथ-  
रूप हैं ) हे आरोपक मैं यदि यातुधान हूँ अर्थात् पीडादायक हूँ

अथवा पुरुषोंके जीवनको सन्तप्त करता होऊँ तो आज ही मर जाऊँ अन्यथा यदि तू मुझ निरपराधको व्यर्थ ही यातुधान कहता हो तो तू दश पुत्रोंसे हीन होजावे ॥ १५ ॥

षष्ठी ॥

यो मायातुं यातुधानेत्याह यो वां रक्षाः शुचिरस्मीत्याहं  
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेन विश्वस्य जन्तोर्धमस्पदीष्ट

यः । मा । अयातुम् । यातुऽधान । इति । आह । यः । वा ।

रक्षाः । शुचिः । अस्मि । इति । आह ।

इन्द्रः । तम् । हन्तु । महता । वधेन । विश्वस्य । जन्तोः । अधमः ।

पदीष्ट ॥ १६ ॥

यः अध्यारोपयिता मा माम् अयातुम् अराक्षसं सन्तम् हे यातुधान राक्षस इत्याह यो वा यश्च परमार्थतो रक्षाः राक्षसः शुचिः शुद्धोहम् अयातुः इत्याह ब्रूते तम् उभयविधम् असत्यवादिनम् इन्द्रो देवः महता अतिशयितप्रभाववता वधेन हननसाधनेन वज्रेण हन्तु हिनस्तु । स उभयविधो जनः विश्वस्य सर्वस्यापि जन्तोः प्राणिनः अधमः निकृष्टः सन् पदीष्ट पततु नश्यतु ॥

जो मुझ अराक्षसको हे राक्षस ! इस प्रकार कहता है और जो वास्तवमें राक्षस होने पर भी अपनेको शुद्ध कहता है अर्थात् कहता है, कि—मैं राक्षस नहीं हूँ । इस प्रकार दोनों रीतिसे झूठ बोलने वालेको इन्द्रदेव अपने परमप्रभावान् हननसाधन वज्रसे मार डालें और ऐसा प्राणी सब प्राणियोंमें अधम होकर पतित होजावे ॥ १६ ॥

सप्तमी ॥

प्र या जिगाति स्वर्गलेव नक्तमपं द्रुहस्तन्वं १ गूहमाना  
वव्रमनन्तमव सा पदीष्ट ग्रावाणो मन्तु रक्षस उपब्दैः

प्र । या । जिगाति । स्वर्गलाऽव । नक्तम् । अप । द्रुहः । तन्वम् ।

गूहमाना ।

वव्रम् । अनन्तम् । अव । सा । पदीष्ट । ग्रावाणः । मन्तु । रक्षसः ।

उपब्दैः ॥ १७ ॥

या राक्षसी नक्तम् रात्रौ स्वर्गलेव उलूकीव प्र जिगाति प्रकृष्टं  
गच्छति अस्मान् हन्तुम् । या च द्रुहः द्रोहकारिणी राक्षसी तन्वम्  
स्वकीया तनुं गूहमाना संवृण्वती अपकाशयन्ती उप । ॐ उप-  
सर्गश्रुतेर्पौग्यक्रियाध्याहारः ॐ । उपगच्छति । सा उक्तलक्षणा  
द्रुष्टराक्षसी अनन्तम् अन्तरहितम् अनवधिकम् असंख्यातं वा  
वव्रम् गर्तम् अव अवाङ्मुखं पदीष्ट पततु । किं च ग्रावाणः सोमम्  
अभिपुण्वन्तः पापाणाः उपब्दैः स्वकीयैः सोमाभिपवन्निभिः  
रक्षसः राक्षसान् मन्तु विनाशयन्तु ॥

जो राक्षसी । रात्रिमें उलूकीकी समान हमारा संहार करनेके  
लिये भ्रष्ट होती है और जो द्रोहकारिणी राक्षसी अपने शरीरको  
अपनष्ट रखती हुई आती है वह द्रुष्ट राक्षसी अथाह गह्वरमें उल्टे  
मुख होकर गिरे और सोमको पेटाते हुए पत्थर सोमाभिपवकी  
ध्वनिसे राक्षसोंको नष्ट कर डाले ॥ १७ ॥

अष्टमी ॥

वि तिष्ठन्वं मस्तो विक्षीश्च्यतं गृभायतं रक्षसः सं  
पिनष्टन ।

वयो ये भूत्वा पतयन्ति नक्तभिर्ये वा रिपो दधिरे  
देवे अध्वरे ॥ १८ ॥

वि । तिष्ठध्वम् । मरुतः । विष्णु । इच्छत । गृभायत । रक्षसः ।  
सम् । पिनष्टन ।

वयः । ये । भूत्वा । पतयन्ति । नक्तभिः । ये । वा । रिपः ।  
दधिरे । देवे । अध्वरे ॥ १८ ॥

हे मरुतः यूयं विष्णु प्रजासु मध्ये वि तिष्ठध्वम् विविधं तिष्ठत ।  
रक्षसः राक्षसान् इच्छत हन्तुम् इच्छां कुरुत । तदनन्तरं गृभा-  
यत गृहीत । गृहीत्वा च सं पिनष्टन सम्यक् चूर्णं यथा भवति  
तथा पेषणं कुरुत । ये वा राक्षसाः वयः पक्षिणो भूत्वा नक्तभिः  
रात्रिभिः रात्रिषु पतयन्ति गच्छन्ति संचरन्ति । ये वा ये च देवे  
दैवे देवसंवन्धिनि दीप्ते प्रकाशमाने वा अध्वरे यागे रिपः हिंसाः  
दधिरे धारयन्ति । तान् राक्षसान् संपिनष्टनेति संबन्धः ॥

हे मरुत् देवताओं ! तुम प्रजाओंमें अनेक प्रकारसे स्थित रहो,  
राक्षसोंको मारनेकी इच्छा करो उनको पकड़ कर उनका चूरा  
कर डालो और जो राक्षस पक्षी बन कर रात्रिमें विचरण करते  
हैं और जो प्रकाशमय देवयागमें हिंसा करते हैं उन राक्षसोंका  
आप चूरा कर डालिये ॥ १८ ॥

नवमी ॥

प्रवर्तय दिवोश्मानमिन्द्र सोमं शितं मघवन्त्सं शिशाधि  
प्राक्तो अपाक्तो अधरादुदक्तोऽभिजहि रक्षसः पर्वतेन

प्र । वर्तय । दिवः । अश्मानम् । इन्द्र । सोमं शितम् । मघवन् ।  
सम् । शिशाधि ।

प्राक्तः । अप्राक्तः । अधरात् । उदक्तः । अभि । जहि । रक्षसः ।

पर्वतेन ॥ १६ ॥

हे मघवन् इन्द्र दिवः सुलोकाद् अन्तरिक्षाद् अरमानम् अशनि-  
ज्ज्वालां वज्रं प्र चर्तय परिस्फारय । तदेव सोमशिवम् सोमेन  
तीक्ष्णीकृतं यया भवति तथा सं शिश्राधि सम्यक् तीक्ष्णीकुरु ।  
सादृशेन पर्वतेन पर्वता वज्रेण प्राक्तः अप्राक्तः अधरात् उदक्तः  
प्राक्पश्चादक्षिणोत्तराभ्यो दिग्भ्यः । सर्वस्माद् देशाद् इत्यर्थः ।  
रक्षसः राक्षसान् अभि जहि मारय ॥

हे मघवन् ! आप अन्तरिक्षसे अरमाको अर्थात् अशनिरूप  
वज्रको प्रेरित करिये । फिर हे इन्द्र ! जिस प्रकार वह सोमसे  
तीक्ष्ण होसकता हो तिस प्रकार तीक्ष्ण करिये । फिर उस पर्व  
बाले वज्रसे पूर्व पश्चिम उत्तर दिशाके राक्षसोंका संहार करिये १६

दशमी ॥

एत उ त्ये पतयन्ति श्वयांतव इन्द्रं दिप्सन्ति दिप्स-  
वोदाभ्यम् ।

शिश्रिंते शक्रः पिशुनेभ्यो वधं नूनं सृजदशनिं यातु-  
मन्त्रयः ॥ २० ॥

एते । ऊं इति । त्ये । पतयन्ति । श्वयांतवः । इन्द्रम् । दिप्सन्ति ।  
दिप्सवः । अदाभ्यम् ।

शिश्रिंते । शक्रः । पिशुनेभ्यः । वधम् । नूनम् । सृजत् । अश-  
निम् । यातुमन्त्रयः ॥ २० ॥

त्ये । तच्छब्दसमानार्थस्त्यच्छब्दः । त्ये ते एते वक्तव्यकाराः

श्वयातवः श्ववत् खादन्तो यातुधानाः श्वरूपधारिणः श्वसहिता  
वा पतयन्ति गच्छन्ति । आगत्य च दिप्सवः हिंसेच्छ्वः सन्तः  
अदाभ्यम् अहिंस्यम् इन्द्रं दिप्सन्ति जिघांसन्ति । स च शक्रः शक्त  
इन्द्रः पिशुनेभ्यः राक्षसेभ्यो रथाय तान् इन्तुं वधम् वज्रं शिशीते  
निशितं करोति । स एवेन्द्रः यातुमद्भ्यः हिंसावद्भ्यो राक्षसेभ्यो  
नूनम् निश्चयम् अशनिम् वज्रं सृजत् सृजतु सृजति वा ॥

इत्यष्टमकाण्डे द्वितीयेनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

ये जो कुत्तेकी समान खाने वाले राक्षस आते हैं और आकर  
हिंसाकी इच्छा कर अहिंस्य इन्द्रको मारना चाहते हैं उन राक्षसों  
को मारनेके लिये इन्द्रदेव वज्रको तीक्ष्ण किया करते हैं, वही  
इन्द्र इन हिंसाशील राक्षसों पर वज्रको अवश्य छोड़ें ॥ २० ॥ ( १० )

अष्टम काण्डके द्वितीय अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त ॥

“इन्द्रो यातूनाम्” इति सूक्तस्य “रक्षोहणम्” इत्यनुवाकेन  
उक्तो विनियोगः ॥

“इन्द्रो यातूनाम्” सूक्तका “रक्षोहणम्” अनुवाकके साथ  
विनियोग कह दिया है ।

तत्र प्रथमा ॥

इन्द्रो यातूनामभवत् पराशरो हविर्मथीनामभ्याऽविवा-  
सताम् ।

अभीदु शक्रः परशुर्यथा वनं पात्रेव भिन्दन्त्सत एतु  
रक्षसः ॥ २१ ॥

इन्द्रः । यातूनाम् । अभवत् । पराशरः । हविःमथीनाम् । अभि ।  
आऽविवासताम् ।

अभि । इत् । ऊं इति । शक्रः । परशुः । यथा । वनम् । पात्राः-

इव । भिन्दन् । सतः । एतु । रत्तसः ॥ २१ ॥

इन्द्रो देवः यातूनाम् हिंसकानां राक्षसानां पराशरः पराशात-  
यिता मत्तिमशरो वा अभवत् भवतु । फीटशाम् । हविर्मयीनाम्  
हवींषि देवतार्थानि पुरोडाशादीनि मथ्यतां तथा अभ्याविचास-  
ताम् अभिमुखं गच्छताम् । उ अपि च । इदिति पूरणः । शक्रः  
इन्द्रः राक्षसान् हन्तुम् अभ्येतु । यथा परशुः कुठारो वनम् वृक्ष-  
समूहं छेत्तुम् एति । पात्रेव पात्राणि मृन्मयानीव भिन्दन् यथा  
लघुट एति । तद्वत् सतः प्राप्तान् रत्तसः रत्तसान् भिन्दन् । ॐ तिरः  
सत इति प्राप्तस्येति यास्कः [ नि० ३. २० ] ॐ । एतु गच्छतु ॥

इन्द्र देवता हविका मथन करनेके लिये अभिमुख आने वाले  
राक्षसोंको चाण फेंककर मार डालें । जैसे कुठार वृक्षोंको काटने  
के लिये आता है और जैसे दण्डे वाला पुरुष मट्टीके चूर्तनोंको  
फोड़नेके लिये आता है, इसी प्रकार इन्द्रदेव राक्षसोंको मारते  
हुए आते ॥ २१ ॥

द्वितीया ॥

उल्लूकयातुं शुश्रूळकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्  
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रत्तं इन्द्र २२

उल्लूकयातुम् । शुश्रूळकयातुम् । जहि । श्वयातुम् । उत ।

कोकयातुम् ।

सुपर्णयातुम् । उत । गृध्रयातुम् । दृषदेव । प्र । मृण । रत्तः ।

इन्द्र ॥ २२ ॥



हे इन्द्र उलूकयातुम् उलूकैर्धुकैः परिवारैः सह यातयतीति वा  
 उलूकैर्यातीति वा उलूकयातुः तं जहि विनाशय । तथा शिशूलूक-  
 यातुम् अल्पोलूकाकारेण यान्तम् अल्पोलूकैः उलूकजातिविशेषै-  
 र्यान्तं वा जहि । एवं श्वयातुम् इत्यादीनि व्याख्येयानि । श्वा  
 प्रसिद्धः । कोकश्चक्रवाकः । सुपर्णो गरुत्मान् पक्षिराट् । शृश्रस्त-  
 दवान्तरजातीयः । सर्वत्र जहीति संबन्धः । किं बहुना । दृपदा  
 पाषाणेन मृत्पात्रमिव रक्षः नानाकारेण वर्तमानं राक्षसं प्र मृण  
 प्रकर्षेण मारय । अत्र ऋग्वेदसंहिताबृहद्देवतानुक्रमणिका ।

उलूकयातुं जह्वेतान् नानारूपान् निशाचरान् ।

स्त्रीपुरुषांश्च जह्वेतान् जिघांसून् इन्द्र मे जहि ।

इति ॥

हे इन्द्र ! आप उलूकके आकारमें, उलूके वच्चेके आकारमें,  
 कुत्तेके आकारमें, चक्रवाकके आकारमें, गरुड़के आकारमें आते  
 हुए राक्षसको इस प्रकार मार डालिये जिस प्रकार पत्थरसे मट्टी  
 के वर्तनको फोड़ डालते हैं + ॥ २२ ॥

तृतीया ॥

मा नो रक्षो अभि नद् यातुमावदपोच्छन्तु मिथुना  
 ये किमीदिनः ।

+ ऋग्वेदसंहिताकी बृहद्देवतानुक्रमणिकामें इस पर लिखा  
 है; कि—“उलूकयातुं जह्वेतान् नानारूपान् निशाचरान् । स्त्रीपुरु-  
 षांश्च जह्वेतान् जिघांसून् इन्द्र मे जहि ॥—हे इन्द्रदेव ! उलूक परि-  
 वारके साथ आते हुए वा उलूकके रूपमें वा उलूककी समान  
 आते हुए इन अनेक रूपधारी राक्षसोंका आप संहार करिये ।  
 हे इन्द्र ! इन वध करना चाहने वाले स्त्रीपुरुषरूपधारी राक्षसों  
 को आप नष्ट करिये” ॥

पृथिवी नः पार्थिवात् पात्वंहसोन्तरिचं दिव्यात् पात्व-  
स्मान् ॥ २३ ॥

मा । नः । रत्नः । अभि । नट् । यातुऽमावत् । अप । उच्छन्तु ।  
मिथुनाः । ये । किमीदिनः ।

पृथिवी । नः । पार्थिवात् । पातु । अंहसः । अन्तरिचम् । दिव्यात् ।  
पातु । अस्मान् ॥ २३ ॥

नः अस्मान् यातुमावत् यातुम् हिंसकं रत्नः राक्षसजातिः मा  
अभि नट् मा भ्रामोतु । ॐ नशतिर्व्याप्तिकर्मा । तस्मान्नुद्धि  
“मन्त्रे घस०” इति च्छेर्लुक् । “नमाहयोगे” इति अहभावः ॐ ।  
तथा किमीदिनः किम् इदानीम् इति वा किम् इदं किम् इदम् इति  
वा चरन्तो राक्षसा ये मिथुनाः मिथुनभूताः स्त्रीपुंसाः सन्ति ते  
अपोच्छन्तु अपगच्छन्तु । किं च पृथिवी देवी नः अस्मान् पार्थि-  
वात् पृथिवीसंबन्धात् स्वसंबन्धिनः अंहसः रत्नः पिशाचादिकृतात्  
पीडनात् पापाद् वा पातु रत्नतु । एवम् अन्तरिचम् अन्त-  
रिचदेवता अस्मान् दिव्यात् दिवि भवात् स्वसंबन्धाद् अंहसः पातु ॥

हमको यातना देने वाली हिंसक राक्षस जाति प्राप्त न होवे  
और किमीदिन नामक स्त्रीपुरुष दम्पती राक्षस दूर होजावें ।  
और पृथिवीदेवी हमको राक्षस पिशाच आदिके उपद्रवसे बचावें  
और अन्तरिच देवता भी हमको अन्तरिचसंबन्धी पीड़ासे बचावें  
चतुर्थी ॥

इन्द्रं जुहि पुमांसं यातुधानं मुत स्त्रियं मायया शाश-  
दानाम् ।

विश्रीवासो मूर्देवा ऋदन्तु मा ते दृशन्तसूर्यमुच्चरन्तम् ॥

इन्द्र । जहि । पुमांसम् । यातुधानम् । उत । स्त्रियम् । मायया ।  
शाशदानाम् ।

विष्णीवासः । मूरदेवाः । ऋदन्तु । मा । ते । दृशन् । सूर्यम् ।  
उत्तञ्चरन्तम् ॥ २४ ॥

हे इन्द्र त्वं पुमांसम् पुंरूपधारिणं यातुधानम् यातनाकारिणं  
राक्षसं जहि नाशय । उत अपि च मायया परव्यामोहिन्या क्रियया  
शाशदानाम् हिंसर्तां स्त्रियम् राक्षसीं जहि । किं च मूरदेवाः मारण-  
क्रीडाः मूलेन विषौषध्या दीव्यन्तीति वा मूरदेवाः ते विष्नी-  
वासः विच्छिन्नग्रीवाः सन्तः ऋदन्तु नश्यन्तु । ते मूरदेवाः उच्च-  
रन्तं सूर्यं मा दृशन् मा द्राक्षुः ॥

हे इन्द्रदेव ! आप पुरुषरूपधारी यातनादायक राक्षसका संहार  
करिये और दूसरेको मोहमें डालने वाली क्रियासे हिंसा करती  
हुई स्त्रीको भी नष्ट करिये और मूल आदिसे अभिचारकर्म  
करने वाले अभिचारक गरदन टूट कर नष्ट होजावें और वे उदित  
होते हुए सूर्यको न देख सकें ॥ २४ ॥

पञ्चमी ॥

प्रति चक्ष्व वि चक्ष्वेन्द्रश्च सोम जागृतम् ।

रक्षोभ्यो वधमस्यतमशनिं यातुमद्भ्यः ॥ २५ ॥

प्रति । चक्ष्व । वि । चक्ष्व । इन्द्रः । च । सोम । जागृतम् ।

रक्षःऽभ्यः । वधम् । अस्यतम् । अशनिम् । यातुमत्ऽभ्यः ॥ २५ ॥

हे सोम त्वम् इन्द्रश्च प्रत्येकं हिंसकराक्षसान् प्रति चक्ष्व प्रति-  
कुलं प्रत्येकं वा पश्य । तथा वि चक्ष्व विविधं विपरीतं वा राक्ष-

सान् पश्य । युवां जागृतम् अस्मद्रक्षाविषये अपनिद्रौ भवतम् ।  
किं च रक्षोभ्यो यातुमद्भ्यः हिंसावद्भ्यः अशनिम् अशनिलक्षणं  
वधम् हननसाधनम् आयुधम् अस्यतम् क्षिपतम् ॥

इत्यष्टमऋण्डे द्वितीयेनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

समाप्तश्च द्वितीयोऽनुवाकः ॥

हे सोम ! आप और इन्द्रदेव भी मत्स्येक हिंसक राक्षस  
पर दृष्टि डालिये और उन पर प्रतिकूल दृष्टि डालिये । आप  
दोनों हमारे रक्षाके काममें जागते रहिये—सावधान रहिये । और  
यातना देने वाले हिंसक राक्षसों पर अपना वज्र मारिये ॥२५॥

अष्टमऋण्डक द्वितीय अनुवाकमें छठा सूक्त समाप्त ( ४४२ )

द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥

तृतीयेनुवाके पञ्च सूक्तानि । तत्र “अयं प्रतिसरः” इति सूक्त-  
द्वयम् अर्थसूक्तम् अभिलषितार्थसिद्धयर्थम् । अनेनार्थसूक्तेन दक्षिण  
मधुनि च त्रिरात्रं वासितं तिलरुमणिं संपात्य अभिमन्त्र्य वध्नी-  
यात् । सूत्रितं हि । “आयमगन् [ ३. ५ ] अयं प्रतिसरः [ ८.  
५ ] अयं मे वरणः [ १०. ३ ] अरातीयोः [ १०. ६ ] इति मन्त्रो-  
क्तान् वासितान् वध्नाति” इति [ कौ० ३. २ ] ॥

तथा अस्य सूक्तद्वयस्य कृत्याप्रतिहरणगणे पाठात् शान्त्युद-  
काभिमन्त्रणहोमार्दो विनियोगः । सूत्रितं हि । “अयं प्रतिसरः  
[ ८. ५ ] यां वन्पयन्ति [ १०. १ ] इति महाशान्तिम् आवपते”  
इति [ कौ० ५. ३ ] । “अथ शान्तिकृत्यादूपणैश्चातनेर्मातृनामभिः”  
इति [ शा० क० १६ ] । “कृत्यादूपण एव च । चातनो मातृ-  
नामा च” इति [ न० क० २३ ] ॥

तथा “रौद्री रोगार्तस्य” [ न० क० १७ ] इति विहितायां  
रौद्रचार्यायां महाशान्तौ तिलरुमणिवन्धने एतत् सूक्तं विनि-  
युक्तम् । तद् उक्तं नक्षत्रवन्धने । “अयं प्रतिसर इति मन्त्रोक्तं  
रौद्रायाम्” इति [ न० क० १८ ] ॥

पिष्टरात्रीविधाने प्रतिसरवन्धनेऽपि एतत् सूक्तम् । “अथातः पिष्ट-  
रात्र्याः कल्पं व्याख्यास्यामः” इति उपक्रम्य उक्तम् अथर्वपरिशिष्टे ।

“अयं प्रतिसर इति प्रतिसरम् आवध्य” इति [ १०. ६. १ ] ॥

तीसरे अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं । उनमें “अयं प्रतिसरः” यह  
दो सूक्त अर्थसूक्त कहलाते हैं, इस अर्थसूक्तका अभिलिखित प्रयो-  
जनको सिद्ध करनेके लिये प्रयोग किया जाता है । इस अर्थ-  
सूक्तसे दही और शहदमें तीन रात बसाई हुई तिलकपणिको  
संपातित और अभिमन्त्रित करके बाँधे । इस विषयमें सूत्रका  
प्रमाण भी है, कि—“आयमगन् ( ३ । ५ ) अयं प्रतिसरः ( ८।५ )  
अयं मे वरणः ( १० । ३ ) अरातीयो ( १० । ६ ) इति मन्त्रो-  
क्तान् वासितान् बध्नाति” ( कौशिकसूत्र ३ । २ ) ॥

और इस सूक्तद्वयका कृत्याप्रतिहरणगणमें भी पाठ है अत एव  
इसका शान्तिजलके अभिमन्त्रण आदिमें विनियोग होता है ।  
इस विषयमें सूत्रप्रमाण भी है, कि—“अयं प्रतिसरः ( = । ५ )  
यां कल्पयन्ति ( १० । १ ) इति महाशान्ति आवपते । दोनों सूक्त  
महाशान्तिमें पढ़े जाते हैं” ( कौशिकसूत्र ( ५ । ३ ) ॥ “अथ  
शान्तिकृत्यादूषणैवातनैर्मातृनामभिः” ( शान्तिकल्प १६ ) ॥  
“वातनो मातृनामा च कृत्यादूषण एव च” ( नक्षत्रकल्प २३ ) ॥

तथा “रौद्रीं रोगार्तस्य ।—रोगार्तके लिये रौद्रीशान्तिको करे”  
इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित रौद्री नामक महाशान्तिके तिलक-  
वन्धनमें इस सूक्तका विनियोग किया जाता है । इसी वातको  
नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि—“अयं प्रतिसर इति मन्त्रोक्तं रौद्रयाम्”  
( नक्षत्रकल्प ( १६ ) ॥

पिष्टरात्रिविधानके प्रतिसरवन्धनमें भी इस सूक्त का पाठ है ।  
इसी वातको अथर्वपरिशिष्टमें “अथातो पिष्टरात्र्याः कल्पं व्या-  
ख्यास्यामः ।—अथ पिष्टरात्रिके कल्पकी व्याख्या करते हैं” का

आरम्भ करके कहा है, कि—“अयं प्रतिसर इति प्रतिसरं आवध्य ।—अयं प्रतिसरः सूक्तसे रक्षाभूजको बाँध कर” ( अथर्वपरिशिष्ट ६ । १ ) ॥

तत्र प्रथमा ॥

अयं प्रतिसरो मणिर्वीरो वीरायं वध्यते ।

वीर्यवान्सपन्नहा शूरवीरः परिपाणः सुमङ्गलः ॥१॥

अयम् । प्रतिऽसरः । मणिः । वीरः । वीरायं । वध्यते ।

वीर्यवान् । सपन्नहा । शूरवीरः । परिऽपानः । सुऽमङ्गलः । १

अयं तिलकवृत्तनिर्मितो मणिः प्रतिसरः प्रतिसरणसाधनः । यः कृत्याः करोति तं प्रति सरतीति प्रतिसरस्तादृशः । वीरः विविधम् ईरयति अपसारयति शत्रुमभृतीनि इति वीरः वीराय वीर्याय वीर्याख्याय सामर्थ्याय विक्रान्ताय पुरुषाय वा वध्यते । मणिर्विशेष्यते । वीर्यवान् वीरस्य कर्म वीर्यम् तद्वान् अतिशयित-वीर्यः । सपन्नहा शत्रुघातकः । शूरवीरः शूरान् वीरयति संग्रामे इति वा शूरध्वर्षा वीरश्चेति वा शूरवीरः । परिपाणः परिपात्यनेन साधनेन मयोक्ता यजमानम् इति परिपाणः परिस्त्रासाधन-भूतः परितो रक्षिता वा । ॐ परिपूर्वात् पातेः करणं ल्युट् । “वा भावकरणयोः” इति लुत्वविकल्पः । नन्वादित्वात् न्युर्वा ॐ । सुमङ्गलः शोभनेन मङ्गलेन उपेतः ॥

यह तिलकवृत्तकी बनी हुई प्रतिसरमणि प्रतिसर है अर्थात् जो कृत्या करता है उसकी ओर सरने वाली है । यह शत्रुआदि को अनेक प्रकारसे खदेड़ती है अत एव वीर है । और यह सपर्य पुरुषके बाँधी जाती है । यह मणि वीरतासे भरी हुई है शत्रुओं की घातक है शूरोंमें वीरता लाने वाली है और इसके प्रयोगसे

प्रयोग करने वाला यजमानकी रक्षा करता है अत एव यह परि-  
पाण है और सुन्दर मङ्गल करने वाली है ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अयं मणिः सपत्नहा सुवीरः सहस्वान् वाजी  
सहमान उग्रः ।

प्रत्यक् कृत्या दूषयन्नेति वीरः ॥ २ ॥

अयम् । मणिः । सपत्नहा । सुवीरः । सहस्वान् । वाजी ।  
सहमानः । उग्रः ।

प्रत्यक् । कृत्याः । दूषयन् । एति । वीरः ॥ २ ॥

अयं स्नाक्त्यो मणिः सपत्नहा वैरिघातकः सुवीरः शोभनैर्वीरै-  
रुपेतः । पुत्रादिप्रदातेत्यर्थः । सहस्वान् बलवान् वाजी वजनवान्  
सहमानः शत्रूणाम् अभिभविता उग्रः उद्गूर्णबलः कृत्याः परो-  
त्पादिताः प्रत्यक् कर्म्मभिमुखं दूषयन् विनाशयन् एति गच्छति  
बाहुदण्डम् आरोहति । अथ वा प्रत्यक् अस्मदभिमुखम् एति  
वीरः विविधम् ईरयिता शत्रूणाम् ॥

यह स्नाक्त्य मणि शत्रुओंको नष्ट करने वाली, पुत्र, आदि  
शोभन वीरोंको देने वाली, बलवती, अन्न आदिसे भरने वाली,  
शत्रुओंका तिरस्कार कराने वाली और प्रचण्ड बलमयी है और  
कर्त्ताकी कृत्याको उसीकी ओर दूषित कर्म करनेके लिये प्रेरित  
करती हुई भुजदण्ड पर आरोहण करनेके लिये आरही है । २।

तृतीया ॥

अनेनेन्द्रे मणिना वृत्रमंहन्नेनासुरान् पराभाव-  
यन्मनीषी ।

अनेनाजयद् द्यावापृथिवी उमे इमे अनेनाजयत्  
प्रदिशश्चतस्रः ॥ ३ ॥

अनेन । इन्द्रः । मणिना । वृत्रम् । अहन् । अनेन । असुरान् ।  
परा । अभावयत् । मनीषी ।

अनेन । अजयत् । द्यावापृथिवी इति । उमे इति । इमे इति ।  
अनेन । अजयत् । प्रदिशः । चतस्रः ॥ ३ ॥

अनेन स्त्रायत्येन मणिना पूर्यम् इन्द्रः वृत्रम् असुरम् अहन्  
केनापि उपायेन जेतुम् अशक्यमपि अयं मणिं बद्ध्वा तत्सामर्थ्येन  
हतवान् । तथा अनेनैव मणिना मणिचन्धनसामर्थ्येन मनीषी  
जयोपायज्ञानवान् इन्द्रः असुरान् अन्यान् पराभावयत् पराभूतान्  
विनष्टान् अकरोत् । किं च अनेनैव मणिना इमे प्रसिद्धे उमे  
द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ अजयत् । द्यावापृथिव्योर्विजयो नाम  
तदाधिपत्यम् । किं च अनेनैव मणिना चतस्रः प्रदिशः प्रकृष्टा  
दिशः प्रागाद्याः अजयत् स्वाधीनं कृतवान् ॥

इस स्तुत्य मणिले ही पहिले समयमें इन्द्रदेवने वृत्रासुरको  
जीत लिया था । इस मणिचन्धनके प्रभावसे ही मनीषी इन्द्रने  
जयके उपायको जान कर दूसरे असुरोंको विनष्ट कर डाला था ।  
इसी मणिके द्वारा इन्द्रने द्यावा पृथिवीका अधिपतित्व पाया था ।  
और इसी मणिके प्रभावसे इन्द्रने पूर्व आदि चार श्रेष्ठ दिशाओं  
को जीता था ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अयं स्तुक्तयो मणिः प्रतीवर्तः प्रतिसरः ।



ओजस्वान् विमृधो वशी सो अस्मान् पातु सर्वतः

अयम् । स्नाक्तयः । मणिः । प्रतिवर्तः । प्रतिसरः ।

ओजस्वान् । विमृधः । वशी । सः । अस्मान् । पातु । सर्वतः ४

अयं स्नाक्तयः तिलकविकारो मणिः प्रतीवर्तः प्रतिकूलं प्रति-  
मुखं वर्तयत्यनेनेति प्रतीवर्तः । ॐ प्रतिपूर्वाद् वृत्तेः करणे घञ् । “उप-  
सर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्” इति दीर्घः । “वाथघञ्० इत्यादिना  
उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॐ । प्रतिसरः रोगादेः प्रतिसरणसाधनभूतः  
ओजस्वान् शत्रुनिरासक्षमतेजोयुक्तः विमृधः विगतसंग्रामः मणि-  
धारकदर्शनेनैव शत्रूणां पलायनात् संग्रामस्यैव अभावात् । विमृधो  
विमर्दयिता वा । वशी सर्वस्य वशयिता स तादृशो मणिः अस्मान्  
सर्वतः सर्वस्मात् अभिभवात् पातु रक्षतु ॥

यह स्नाक्तयमणि प्रतिकूल व्यक्तियोंको उलट्टा मुख करवा कर  
भगाने वाली प्रतीवर्त है, रोग आदिको हटाने वाली प्रतिसर है,  
शत्रुओंका तिरस्कार करने वाले तेजसे सम्पन्न ओजस्वान् है,  
इस मणिको धारण करने वाले पुरुषको देखते ही शत्रु भाग  
जाते हैं इस प्रकार संग्रामका अभाव करनेसे यह विमृध है । और  
सबको वशमें करने वाली है, ऐसी यह मणि सब प्रकारके अप-  
मानोंसे हमारी रक्षा करे ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

तदग्निराह तदु सोमं आह वृहस्पतिः सविता तदिन्द्रः  
ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरं जन्तु

तत् । अग्निः । आह । तत् । ॐ इति । सोमः । आह । वृहस्पतिः ।

सविता । तत् । इन्द्रः ।

ते । मे । देवाः । पुरोहिताः । प्रतीचीः । कृत्याः । प्रतिसरैः ।  
अजन्तु । ५ ॥

तत् वक्ष्यमाणं प्रतीचीः कृत्या इत्यादिकम् अग्निदेवो मे आह  
उक्तवान् । प्राणिनः प्रतिसरैः प्रतिसरणसाधनैर्मणिभिः कृत्याः  
प्रतीचीः अजन्ति इत्येतत् मे मह्यम् अस्माकम् अग्निराहेत्यर्थः ।  
तद् तद् एव सोमोप्याह । एवं बृहस्पतिः बृहतो मन्त्रजातस्य स्वामी  
एतन्नामको देवोप्याह । तथा सविता सर्वमाणिनां मेरफः एत-  
न्नामको देवोप्याह । किं बहुना । तत् साधनम् इन्द्रः मे आह ।  
ते प्रसिद्धा अन्येपि देवाः पुरोहिताः पुरतः संनिधापिताः पुरो-  
हितवत् हितकारिणो वा । आहुरिति विपरिणामः कर्तव्यः ॥  
अथ वा तत् स्नाक्त्यमणिवन्धनस्य सर्वसंपत्साधनत्वम् अभिराह ।  
तद् तद् एव सोमोप्याह एवं बृहस्पत्यादिष्वपि योज्यम् । ते ये  
अग्न्यादयो मणोः सर्वफलसाधनत्वम् आहुः त एव पुरोहिताः  
फलनिष्पादनविषये पुरतः स्थापिताः सन्तो मे मदर्थम् अन्य-  
रुत्पादिताः कृत्याः प्रतिसरैः फलसाधनत्वेन अभिहितैर्मणिभिः  
साधनैः प्रतीचीः अजन्तु गमयन्तु इति व्याख्येयम् ॥

स्नाक्त्यमणिवन्धनं सब सम्पत्तियोंका साधन है इस बातको  
अग्निदेवने कहा है, बृहस्पतिदेवने कहा है, सब प्राणियोंके मेरफ  
सवितादेवने भी कहा है और इन्द्रदेवने भी कहा है । मणिके  
सर्वफलसाधनत्वको कहने वाले अपने सामने फलनिष्पादनके  
लिये स्थापित ये अग्नि आदिदेवता, मेरे निमित्त शत्रुओंकी  
उत्पादित कृत्याओंको, प्रतिसरोंके प्रभावसे, चलाटे मुँह करके  
अभिचारकोंके पास भेज दें ॥ ५ ॥

पृष्ठी ॥

अन्तर्द्धे द्यावापृथिवी उताहंरुत सूर्यम् ।

ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु

अन्तः । दधे । द्यावापृथिवी इति । उत । अहः । उत । सूर्यम् ।

ते । मे । देवाः । पुरःहिताः । प्रतीचीः । कृत्याः । प्रतिसरैः । अजन्तु

द्यावापृथिवी दिवं च पृथिवीं च अन्तर्दधे कृत्यायाश्च मम च  
अन्तरालदेशे दधे स्थापयामि व्यवधानं करोमि । उत अपि  
च अहरपि अन्तर्दधे । उत अपि च सूर्यमपि अन्तर्दधे । ते मे देवाः  
द्यावापृथिव्यादयः । शिष्टं पूर्ववत् ॥

मैं अपने और कृत्याके बीचमें द्यावापृथिवीको स्थापित करता  
हूँ, दिन और सूर्यदेवको भी अपने और कृत्याके बीचमें रोकने  
वालोंके रूपमें स्थापित करता हूँ । फल-विषयमें हित करनेके  
लिये सामने स्थापित किये हुए वे देवता, प्रतिसरमन्त्रोंके प्रभाव  
से कृत्याको विमुख करके लौटा दें ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

ये स्नाक्तयं मणिं जना वर्माणि कृण्वते ।

सूर्यं इव दिवमारुह्य वि कृत्या बाधते वशी ॥ ७ ॥

ये । स्नाक्तयम् । मणिम् । जनाः । वर्माणि । कृण्वते ।

सूर्यः इव । दिवम् । आरुह्य । वि । कृत्याः । बाधते । वशी ॥ ७ ॥

ये जनाः कृत्यापरिहारार्थिनो मनुष्याः स्नाक्तयम् मणिं वर्माणि  
तनुत्राणि कृण्वते कुर्वते । स मणिः सूर्यं इव दिवम् आरुह्य दिवम्  
आरुह्यः सूर्यो यथा तर्मांसि बाधते एवं वशी वशयिता सन् कृत्याः  
अन्योत्पादिता वि बाधते विशेषेण नाशयति ॥

कृत्याका परिहार करना चाहने वाले जो मनुष्य स्नाक्तय-

मणिको कवच बनाते हैं तो यह शत्रुओंको वशमें करने वाली मणि, सूर्यदेव जिस प्रकार आकाशमें चढ़कर ( अंधकारको नष्ट करदेते हैं ) इस प्रकार दूसरोंकी उत्पन्न की हुई कृत्याको नष्ट कर डालती है ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

स्राक्तयेन मणिना ऋषिणेव मनीषिणा ।

अजैपं सर्वाः पृतना वि मृधो हन्मि रक्षसः ॥ ८ ॥

स्राक्तयेन । मणिना । ऋषिणाऽइव । मनीषिणा ।

अजैपम् । सर्वाः । पृतनाः । वि । मृधः । हन्मि । रक्षसः ॥ ८ ॥

अहं साधकः स्राक्तयेन तिलकट्टककारेण मणिना मनीषिणा विपक्षिता ऋषिणेव अतीन्द्रियार्थद्रष्टा अथर्वारूपेण महर्षिणा यथा तथा । अथ वा ऋषिर्मन्त्रः । उक्तरूपेण मन्त्रेणेव मन्त्रेण यथा तथा सर्वाः पृतना अजैपम् जितवान् अस्मि जयानि वा । तथा मृधः प्रमाथिनो रक्षसः राज्ञसान् स्राक्तयेन मणिनैव वि हन्मि घातयामि ॥

मैं साधक अतीन्द्रियार्थद्रष्टा विद्वान् महर्षि अथर्वारूपी समान उस स्राक्तयमणिसे सब सेनाओंको जीत चुका हूँ और प्रमाथी राज्ञसोंको स्राक्तयमणिसे ही मार रहा हूँ ॥ ८ ॥

नवमी ॥

याः कृत्याः आङ्गिरसीर्याः कृत्याः आंसुरीर्याः कृत्याः

स्वयंकृता या उ चान्येभिरामृताः ।

उभयीस्ताः परां यन्तु परावतो नवतिं नाव्याः अति

याः । कृत्याः । आङ्गिरसीः । याः । कृत्याः । आसुरीः । याः ।  
 कृत्याः । स्वयम्कृताः । याः । ऊं इति । च । अन्येभिः । आभृताः ।  
 उभयीः । ताः । परा । यन्तु । पराऽवतः । नवतिम् । नान्याः । अति ॥

आङ्गिरसीः आङ्गिरस्यः अङ्गिरसा प्रयुक्ता याः प्रसिद्धाः कृत्याः  
 सन्ति । आङ्गिरसो महर्षेः कृत्याप्रयोगविधातृत्वम् आङ्गिरसकल्पा-  
 ख्यसूत्रनिर्माणादेव प्रसिद्धम् । तथा आसुरीः आसुर्यः असुरैर्नि-  
 र्मिता याः कृत्याः सन्ति । एवं स्वयंकृताः परार्थप्रयोगे सति केन-  
 चिद् वैकल्येन स्वस्मिन्नेव पर्यवसिताः स्वयंकृता इत्युच्यन्ते ।  
 स्वस्मिन्नेव कृत्यापर्यवसानम् “यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधात्”  
 [शि० १०] इत्यादिषु प्रसिद्धम् । वा उ च याः काश्चन अन्येभिः  
 अन्यैर्मत्सरिभिः आभृताः आहृताः प्रयुक्ताः कृत्याः सन्ति ता उक्त-  
 रूपा उभयीः उभय्यः उभयप्रकारा अपि परावतः दूरदेशात् परा  
 यन्तु परागच्छन्तु । ननु चतुष्प्रकारा निर्दिष्टाः कथम् उभयविध-  
 त्वम् इति चेत् उच्यते । आङ्गिरस्यः आसुर्यश्च अमानुष्यः एका  
 कोटिः स्वयंकृता अन्यैः कृताश्च मानुष्यः इत्यपरा इत्युभयविध-  
 त्वम् । परागमनस्य अवधिं दर्शयति नवतिम् इत्यादिना । नान्याः  
 नावा तार्या महानद्यः । ताश्च नवतिसंख्याकाः । ता अति । अति-  
 क्रम्येत्यर्थः ॥

जो अंगिरा ऋषिसे आविष्कृत कृत्याएँ हैं, जो असुरोंसे  
 आविष्कृत कृत्याएँ हैं, जो स्वयंकृत कृत्याएँ हैं ( दूसरों  
 के लिये प्रयोग करने पर किसी ऋषिके कारण अपने ऊपर ही  
 पड़ने वाली कृत्या स्वयंकृत कृत्या कहलाती है इसका उदाहरण  
 शिक्ता १० में इस प्रकार लिखा है, कि—“यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽप-  
 राधात्” ) और जो दूसरे शत्रुओंके द्वारा डाली हुई कृत्याएँ

हैं । ये दोनों प्रकारकी कृत्याएँ नब्बै नदियोंके पार दूरसे भी दूर देशमें चली जावें ‡ ॥ ६ ॥

दशमी ॥

अस्मै मणिं वर्मं वध्नन्तु देवा इन्द्रो विष्णुः सविता  
रुद्रो अग्निः ।

प्रजापतिः परमेष्ठी विराट् वैश्वानरः ऋषयश्च सर्वे १०

अस्मै । मणिम् । वर्मं । वध्नन्तु । देवाः । इन्द्रः । विष्णुः ।  
सविता । रुद्रः । अग्निः ।

प्रजापतिः । परमेष्ठ्यी । विराट् । वैश्वानरः । ऋषयः । ॥  
सर्वे ॥ १० ॥

अस्मै यजमानाय कृत्यापरिहारादिफलकामाय मणिम् स्वाक्तयं  
वर्मं परकृतकृत्यादिमहारपरिहारकं कवचं तत्स्थानीयं कृत्वा वध्नन्तु ।  
के देवास्तान् विशिनष्टि इन्द्रो विष्णुरित्यादिना । प्रजापतिः प्रजानां  
सृष्टा स च परमेष्ठी परमे निरतिशये स्थाने वर्तमानः विराट् कुत्स-  
वृक्षाण्डाभिमानो देवः वैश्वानरः विश्वेषां नराणां हितो जाठ-  
रोमिः हिरण्यगर्भो वा । स्पष्टम् अन्यत् ॥

-इत्यष्टमकाण्डे तृतीनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

‡ यहाँ यह शंका होती है, कि-मंत्रमें चार प्रकारकी कृत्याएँ  
कहीं हैं, तो फिर दो प्रकारकी कैसे कहा, इसका उत्तर यह है,  
कि-आंगिरसी और आसुरी इन अमानुषी कृत्याओंकी एक कोटी  
है और स्वयंकृत तथा अन्यकृत मानुषी कृत्याओंकी एक कोटी है ।  
इस प्रकार दो प्रकारकी कृत्याएँ कहीं हैं ॥

इस कृत्यापरिहार आदि फल चाहनेवाले यजमानके लिये इन्द्र, विष्णु, सविता, रुद्र, अग्नि, प्रजाओंके स्रष्टा प्रजापति परमेष्ठी, विराट्, वैश्वानर हिरण्यगर्भदेवता तथा सकल ऋषि परकृत-कृत्यापरिहारक मणिरूप कवचको बाँधे ॥१०॥ ( १२ )

अष्टम काण्डके तृतीय अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त ॥

“उत्तमो असि” इति सूक्तस्य पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

“उत्तमो असि” इस सूक्तका पहिले सूक्तके साथ विनियोग कह दिया है ।

तत्र प्रथमा ॥

उत्तमो अस्योषधीनामनङ्वान् जगतामिव व्याघ्रः श्व-  
पदामिव ।

यमैच्छामाविदाम तं प्रतिस्पाशनमन्तितम् ॥ ११ ॥

उत्तमः । असि । ओषधीनाम् । अनङ्वान् । जगताम् इव ।

व्याघ्रः । श्वपदाम् इव ।

यम् । ऐच्छाम । अविदाम । तम् । प्रतिस्पाशनम् । अन्तितम् ॥

हे मने मद्युपादान वृक्ष वा त्वम् उत्तमोसि सर्वाभिमतफल-  
साधनत्वेन कतिपयफलसाधिकानाम् ओषधीनां मध्ये श्रेष्ठोसि ।  
उत्तमत्वे दृष्टान्तम् आह । अनङ्वान् अनोवहनसमर्थः पुंगवो जग-  
तामिव गच्छतां चतुष्पदां मध्ये यथा उत्तमस्तद्वत् । अनङ्ग उत्तम-  
त्वम् “अनङ्वान् दाधार पृथिवीम्” [ ४, ११ ] इत्यत्र प्राग्-  
उक्तम् । उपकारकत्वे दृष्टान्तम् अभिधाय शत्रुहिंसादिक्रूरकर्मणि  
दृष्टान्तम् आह व्याघ्रः श्वपदामिवेति । श्वपदः वृकसृगालाद्या  
अरण्यदुष्टमृगाः । तेषां मध्ये व्याघ्र इव । ॐ व्याघ्रो व्याघ्राणाद्

व्यादाय हन्तीति वेति यास्कः [ नि० ३. १८ ] ❀ । यम् ईदृ-  
ग्विधं सर्वपुरुषार्थसाधनाय ऐच्छाम तम् अविदाम लब्धवन्तः  
स्मः । अय वा यं त्वया साध्यं पुरुषार्थम् ऐच्छाम तम् अवि-  
दाम । ❀ विन्दतेलुङि च्लेः अङ् ❀ । तं विशिनष्टि । प्रति-  
स्पाशिनम् अभिचरतः प्रतिमुखं बाधकम् । अन्तितम् अत्यन्तसंनि-  
हितम् । अथवा तं तमेव प्रतिस्पाशिनं प्रतिकूलं बाधनावन्तं द्वेष्टा-  
रम् अन्ति अन्तिके अविदाम ॥

हे मणिके उपादानभूत वृत्त ! तू थोड़ेसे फलको साधने वाली  
ओपधियोंमें उत्तम है । जैसे बोझा ढोने वाले चौपायोंमें बैल श्रेष्ठ  
होता है, † ( उपकारकत्वमें दृष्टान्त देकर शत्रुहिंसादि क्रूरकर्ममें  
दृष्टान्त देते हैं, कि- ) जैसे भेड़िये गीदड़ आदि वनके दुष्ट पशुओंमें  
व्याघ्र श्रेष्ठ है । इसी प्रकार तू श्रेष्ठ हमने तुझसे जिस पुरुषार्थ  
को पाना चाहा था उसको पा लिया है अर्थात् अभिचार करने  
वाले अत्यन्त संनिहित प्रतिकूल बाधा देने वाले शत्रुको समीप  
में ( पकड़वा कर ) पालिया है ॥ ११ ॥

द्वितीया ॥

स इद् व्याघ्रो भवत्यथो सिंहो अथो वृषा ।

अथो सपत्नकर्शनो यो विभर्तीम मणिम् ॥ १२ ॥

सः । इत् । व्याघ्रः । भवति । अथो इति । सिंहः । अथो इति । वृषा ।

अथो इति । सपत्नकर्शनः । यः । विभर्ति । इमम् । मणिम् ॥ १२

† बैलकी उत्तमताके विषयमें चतुर्थ काण्डके ग्यारहवें सूक्तमें  
कहा था, कि “अनद्वान् दाधार पृथिवीम् ।—बैल पृथ्वीको धारण  
कर रहा है” ॥



उपमाप्रधाना व्याघ्रादिनिर्देशाः । व्याघ्र इव सिंह इव च परा-  
भिभवनशीलो भवति स इत् । स एवेत्यर्थः । अथो अपि च  
वृषेव स यथा गोषु स्वच्छन्दसंचारी भवतितद्वत् स भवतीत्यर्थः ।  
अथो अपि च स एव सपन्नकर्षणः शत्रुविनाशकश्च भवति । स  
इत्युक्तम् क इत्याह । यः पुरुषः इमम् उक्तमहिमोपेतं मणिं विभर्ति  
धारयति स इह इति संबन्धः ॥

जो पुरुष उक्तमहिमासे सम्पन्न मणिको धारण करता है, वह  
व्याघ्रकी समान पराभव करने वाला होता है और जैसे साँड  
गौओंमें स्वच्छन्दचारी होता है तैसा होता है और शत्रुओंका  
विनाशक होता है ॥ १२ ॥

तृतीया ॥

नैनं घ्नन्त्यप्सरसो न गन्धर्वा न मर्त्याः ।

सर्वा दिशो वि राजति यो विभर्तिमं मणिम् ॥ १३ ॥

न । एतम् । घ्नन्ति । अप्सरसः । न । गन्धर्वाः । न । मर्त्याः ।

सर्वाः । दिशः । वि । राजति । यः । विभर्ति । इमम् । मणिम् १२

सर्वाः । दिशः प्रति । सर्वासु दिक्ष्वित्यर्थः । वि राजति ।  
सर्वदिक्स्वामी भवतीत्यर्थः । स्पष्टम् अन्यत् ।

जो पुरुष इस मणिको धारण करता है उस पर अप्सरायें  
प्रहार नहीं करती हैं गंधर्व और मनुष्य भी उस पर प्रहार नहीं  
करते हैं और वह सकल दिशाओंमें शोभा पाता है अर्थात् सब  
दिशाओंको जीत लेता है ॥ ३ ॥

कश्यपस्त्वामसृजत कश्यपस्त्वा सभरयत् ।

अविभस्त्वेन्द्रो मानुषे विभ्रत् संश्रेणिजयत् ।

मणिं सहस्रवीर्यं वर्मं देवा अकुरुवत ॥ १४ ॥

कश्यपः । त्वाम् । असृजत । कश्यपः । त्वा । सम् । ऐरयत् ।

अविभः । त्वा । इन्द्रः । मानुषे । विभ्रत् । अमृश्रेपिणे । अजयत् ।

मणिम् । सहस्रवीर्यम् । वर्मं । देवाः । अकुरुवत ॥ १४ ॥

चतुर्थी ॥ कश्यपः प्रजापतिः हे मणे त्वाम् असृजत सृष्टवान् । अनेन जन्मतः प्राशस्त्यम् उक्तम् । तथा स एव कश्यपः त्वात्वां समैरयत् सर्वोपकारकत्वाय प्रेरितवान् । अनेन प्रयोक्तृगौरवद्वारा प्राशस्त्यम् उक्तं भवति । अथ धारयितृगौरवादपि प्राशस्त्यं दर्शयति अविभस्त्वेन्द्र इति । हे प्रशस्तमणे त्वा त्वाम् इन्द्रः सर्वदेवाधिपतिः स्वकीयवृत्रहननादिसिद्धये स्वाराज्यप्राप्तये च अपभिः भरणं कृतवान् । यस्माद् एवं तस्मात् त्वां मानुषे । जातावेकवचनम् ॥ मानुषेषु मध्ये विभ्रत् पुरुषः संश्रेपणे परस्परसंश्लेषणसाधने संग्रामे अजयत् जयति ॥

पञ्चमी ॥ सहस्रवीर्यम् अपरिमितसामर्थ्यं मणिम् साक्त्यं देवाः पुरा वर्मकवचम् अकुरुवत कृतवन्तः वर्मवद् रक्षाकरम् अकुर्वन् ॥

हे मणे ! कश्यप प्रजापतिने तेरा आविष्कार किया है और उन्होंने ही सर्वोपकारके लिये तुम्हको प्रेरित किया है और हे प्रशस्त मणे ! सब देवताओंके अधिपति इन्द्रदेवने वृत्रहनन आदि आदि कार्यकी सिद्धिके लिये और स्वाराज्यप्राप्तिके लिये तुम्हको धारण किया था । इस कारण मनुष्यसमाजमें जो पुरुष तुम्हको धारण करता है वह परस्पर टकरानेके साधन संग्राममें विजय पाता है ॥

अपरिमित शक्तिसम्पन्न साक्त्यमणिको पूर्वकालमें देवताओं ने कवचकी समान रक्षा करने वाला बनाया था ॥ १४ ॥

षष्ठी ॥

यस्त्वा कृत्याभिर्यस्त्वा दीक्षाभिर्यज्ञैर्यस्त्वा जिघांसति ।

प्रत्यक् त्वमिन्द्र तं जहि वज्रेण शतपर्वणा ॥ १५ ॥

यः । त्वा । कृत्याभिः । यः । त्वा । दीक्षाभिः । यज्ञैः । यः । त्वा ।

जिघांसति ।

प्रत्यक् । त्वम् । इन्द्र । तम् । जहि । वज्रेण । शतपर्वणा । १५ ।

हे शान्तिकाम पुरुष यः पुमान् त्वा त्वां कृत्याभिः हिंसाभिः क्रियाभिः जिघांसति इन्तुम् इच्छति यश्च त्वा त्वां दीक्षाभिः यज्ञि-  
यैर्वाग्यमनादिनियमविशेषैः जिघांसति । तथा यश्च त्वां यज्ञैः हिंसा-  
साधनैः श्येनेष्वादिभिर्यामैः जिघांसति तं पुमांसं घातकम् हे इन्द्र  
इन्द्रात्मक त्वं शतपर्वणा शतसंधिकेन वज्रेण प्रत्यक् प्रतिमुखं जहि  
घातय ॥

हे शान्तिकाम ! जो पुरुष तुझको हिंसक क्रिया ( कृत्या )ओं  
से मारना चाहता है, दीक्षाओंसे मारना चाहता है, हिंसासाधन  
श्येनयाग आदिसे मारना चाहता है, उस घातकपुरुषको हे इन्द्र !  
सौ पर्व वाले वज्रसे प्रतिमुख मार डालिये ॥ १५ ॥

सप्तमी ॥

अयमिद् वै प्रतीवर्त ओजस्वान् संजयोः मणिः ।

प्रजां धनं च रक्षतुः परिषाणः सुमङ्गलः ॥ १६ ॥

अयम् । इत् । वै । प्रतिवर्तः । ओजस्वान् । समञ्जयः । मणिः ।

प्रजाम् । धनम् । च । रक्षतु । परिषाणः । सुमङ्गलः ॥ १६ ॥

अयं मणिः प्रतीवर्त इद् वै कृत्यादिप्रतिवर्तवसाधन एव खलु ।

❀ प्रतिपूर्वाद् वृतेः करणे घञ् । ‘उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहु-  
लम्” इति दीर्घः । “थायघञ्काजवित्रकाणाम्” इति उत्तर-  
पदान्तोदात्तत्वम् ❀ । ओजस्यान् अतिशयित्ताजाः संजयः संगत-  
जयः सम्यग् जेता वा । समणिः प्रजाम् पुत्रादिरूपां धनं च रक्षतु  
पालयतु । पुनर्विशेष्यते । परिपाणः परिपातीति परिपाणः मां  
परितो रक्षकः । ❀ नन्यादित्वात् न्युः । एत्वं ह्यान्दसम् ❀ ।  
सुमङ्गलः शोभनमाङ्गल्यसाधनभूतः ॥

यह मणि कृत्या आदिको हटानेका साधन है और यह परम  
बलप्रद, भली प्रकार जीतने वाली है ऐसी यह मणि प्रजा और  
धनकी रक्षा करे । यह मणि चारों ओरसे मेरी रक्षा करने वाला  
है और शोभन मङ्गलोंका साधन है ॥ १६ ॥

अष्टमी ॥

असपत्नं नो अधरादसपत्नं न उत्तरात् ।

इन्द्रासपत्नं नः पश्चाज्ज्योतिः शूर पुरस्कृधि ॥ १७ ॥

असपत्नम् । नः । अधरात् । असपत्नम् । नः । उत्तरात् ।

इन्द्र । असपत्नम् । नः । पश्चात् । ज्योतिः । शूर । पुरः । कृधि ॥

हे इन्द्र शूर त्वम् । मणिर्वा इन्द्रशब्देन उच्यते । नः अस्मा-  
कम् अधरात् । उत्तरसाहचर्यद्वा अत्र अधरशब्दो दक्षिणदेशवाची ।  
“पश्चात् पुरस्ताद् अधरात्” इति हि प्रागुक्तम् [ अ. ३. २० ] ।  
दक्षिणदिग्भागाद् असपत्नम् सपत्नविघातकम् । ज्योतिरिति  
संबन्धः । तत् पुरः पुरोदेशे कृधि कुरु । एवम् उत्तरात् पश्चात्  
इति वाक्यद्वयमपि व्याख्येयम् । अथ वा अधरात् उत्तरतः पश्चात्  
इति देशत्रयस्य उपादानात् पुरो ज्योतिरिति पूर्वदेशो विवक्षितः ।  
अथ वा दिक्पदेशेभ्योपि असपत्नम् सपत्नाभावम् पुरोदेशे ज्यो-  
तिश्च हे इन्द्र शूर त्वं कृधि कुर्विति व्याख्येयम् ॥

हे शूरवीर इन्द्र ! हमारे उत्तर दक्षिण और पश्चिमकी और  
असपन्न अर्थात् शत्रुविनाशक ज्योति रहे और आप हमारे सामने  
ज्योतिको करिये ॥ १७ ॥

नवमी ॥

वर्म मे द्यावापृथिवी वर्माहर्वर्म सूर्यः ।

वर्म म इन्द्रश्चाग्निश्च वर्म धाता दधातु मे ॥ १८ ॥

वर्म । मे । द्यावापृथिवी इति । वर्म । अहः । वर्म । सूर्यः ।

वर्म । मे । इन्द्रः । च । अग्निः । च । वर्म । धाता । दधातु । मे ॥

मे मह्यं द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ देवते वर्म तनुत्रं धत्ताम्  
कुस्ताम् । तथा अहः अहरभिमानिदेवतापि मे वर्म दधातु ।  
एवं सूर्येन्द्राग्निधातृवाक्यान्यपि योज्यानि ॥

द्यावापृथिवी देवता मेरे लिये कवचको धारण करें-दें । दिन  
के अभिमानी देवता सूर्य मुझको कवच दें, इन्द्र अग्नि और धाता  
देवता भी मुझको कवच दें ॥ १८ ॥

दशमी ॥

ऐन्द्राग्रं वर्म बहुलं यदुग्रं विश्वे देवा नाति विध्यन्ति सर्वे  
तन्मे तन्वं त्रायतां सर्वतो बृहदायुष्मां जसदप्रियथा-  
सानि ॥ १९ ॥

ऐन्द्राग्रम् । वर्म । बहुलम् । यत् । उग्रम् । विश्वे । देवाः । न ।

अतिऽविध्यन्ति । सर्वे ।

तत् । मे । तन्वम् । त्रायताम् । सर्वतः । बृहत् । आयुष्मान् ।

जरत्ऽअष्टिः । यथा । असानि ॥ १६ ॥

यत् मणिलक्षणम् ऐन्द्राग्नम् इन्द्राग्निदेवताकम् इन्द्राग्निभ्याम् अभिमानितं बहुलम् प्रभूतम् उग्रम् उद्गूर्णवलं वर्म कवचम् तद् विश्वे देवाः एतत्संज्ञया व्यवहियमाणा देवाः सर्वेपि नातिविध्यन्ति अतिवेधनं न कुर्वन्ति । किं तु सर्वेपि पालयन्तीत्यर्थः । तत् तथा-विधं मणिलक्षणं वर्म मे तन्वम् तनूं शरीरं सर्वतः त्रायताम् पालयतु । कीदृक् तत् । बृहत् प्रभूतम् । अहं च यथा आयुष्मान् शत-संवत्सरेण आयुष्येण तद्वान् जरदष्टिः जीर्णावस्थापर्यन्तम् अशनवान् असानि भूयासं तथा त्रायताम् ॥

जो मणिरूप इन्द्र और अग्नि देवता वाला प्रचण्ड कवच है उसका इन्द्र आदि सब अतिवेधन नहीं करते हैं अर्थात् पालन करते हैं । ऐसा मणिरूप कवच मेरे शरीरकी चारों ओरसे रक्षा करें कि-जिससे मैं बड़ी आयु वाला और बुढ़ापे तक रहने वाला होऊँ ॥ १६ ॥

एकादशी ॥

आ मारुक्षद् देवमणिर्मह्या अरिष्टतांतये ।

इमं मेथिमभिसंविशध्वं तनूपानं त्रिवरूथमोजसे २०

आ । मा । अरुक्षत् । देवऽमणिः । मयै । अरिष्टऽतांतये ।

इमम् । मेथिम् । अभिऽसंविशध्वम् । तनूपानम् । त्रिऽवरूथम् ।

ओजसे ॥ २० ॥

देवमणिः देवेन इन्द्रेण धृतत्वाद् वा देवैः इन्द्राग्न्यादिभिरभिमानितत्वाद् वा देवमणिः । स मा माम् आरुक्षत् भुजादिप्रदेशम्

आरूढवान् । किमर्थम् । महौ महत्यै । मह्यम् इति वा । अरिष्टता-  
तये । रिष्टं नाशस्तदभावः अरिष्टम् अरिष्टकरणाय । क्षेमायेत्यर्थः ।  
किं च हे नराः यूयमपि इमं मेथिम् शत्रूणां विलोडयितारं विना-  
शयितारम् । यद्वा मेथी खले यथा उच्छिरा वर्तते एवम् अयम-  
पीति मेथीवत् मेथिः । तम् अभिसंविशध्वम् अभितः सम्यग्  
आश्रयध्वम् । अथ वा इमं मेथीस्थानीयं मणिम् हे इन्द्रादिदेवा  
यूयम् अभिसंविशध्वम् अधितिष्ठत । कीदृशम् । तनूपानम् तन्वाः  
शरीरस्य पातारम् त्रिवरूथम् त्रिविधावरणोपेतम् आद्यन्तमध्य-  
भागैस्त्रयात्मकं वा । किमर्थम् अभिसंवेशनम् इति उच्यते । ओजसे  
बलाय बलाभिवर्धनाय ॥

इन्द्र आदि देवताओंकी धारणकी हुई देवमणि मेरा क्षेम करने  
के लिये मेरे भुजा आदि प्रदेश पर आरूढ़ हुई है । हे मनुष्यों !  
तुम भी इस शत्रुओंका विलोडन करने वाली शरीररक्षक, तीन  
आवरण वाली मणिको बलके निमित्त धारण करो ॥ २० ॥

द्वादशी ॥

अस्मिन्निन्द्रो नि दधातु नृणामिमं देवासो अभि-  
संविशध्वम् ।

दीर्घायुत्वाय शतशारदायायुष्मान् जरदंष्ट्रिर्यथासत् ॥

अस्मिन् । इन्द्रः । नि । दधातु । नृणाम् । इमम् । देवासः ।

अभिऽसंविशध्वम् ।

दीर्घायुत्वाय । शतशारदाय । आयुष्मान् । जरदंष्ट्रिः ।

यथा । असत् ॥ २१ ॥

अस्मिन् मणौ इन्द्रो देवो नृणाम् सुखम् अस्यदभिमतं नि

दधातु स्थापयतु । इमं मणिम् हे देवासः देवा यूयम् अभिसंवि-  
शध्वम् अभितः अधितिष्ठत । कियर्थम् एवं प्रार्थनंति चेत् उच्यते ।  
दीर्घायुत्वाय प्रभूतम्य आयुषः प्राप्तये । एतस्यैव व्याख्यानं शत-  
शारदायैति । शरच्चब्देन तदुपलक्षितः संवत्सरोभिधीयते । शत-  
संख्याकः शरदः शतशरदः । शतशरत्तांखद्यायुः शतशारदम्  
तस्मै । तस्यैव तात्पर्यम् आह । आयुष्मान् उक्तशतसंवत्सरलक्षणं  
आयुष्येण युक्तः । न केवलम् आयुर्वृद्धिरेव पर्याप्ता किंतु ताव-  
त्कालम् अशिष्टेनापि भवितव्यम् इत्यभिप्रेत्याह जरदष्टिरिति ।  
उक्तो जरदष्टिशब्दार्थः । उक्तगुणद्वयविशिष्टो यथा येन प्रकारेण  
असत् भवेत् तथास्मिन्निन्द्रो नृम्णं दधातु । देवा अपि इमम्  
अभिसंविशध्वम् इति संबन्धः ॥

इस मणिमें इन्द्रदेवता हमारे अभिमत सुखको स्थापित करें,  
हे देवताओं ! आप भी इस मणिमें अधिष्ठित होंगे । जिस प्रकार  
यह यज्ञमान सौ वर्ष तककी दीर्घायु वाला आयुष्मान् और युद्धापे  
तक रहने वाला हो तिस प्रकार देवता मणिमें सुखको स्थापित करें  
त्रयोदशी ॥

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विसृष्टो वशी ।

इन्द्रो वधातु ते मणिं जिगीवाँ अपराजितः सोमपा  
अभ्यंक्रो वृषा ।

सत्वांश्चतुर्वर्ततो दिवा नक्तं च विश्वतः ॥ २२ ॥

स्वस्तिष्ठाः । विशाम् । पतिः । वृत्रहः । विसृष्टः । वशी ।

इन्द्रः । वधातु । ते । मणिम् । जिगीवान् । अपराजितः ।

सोमष्ठाः । अभ्यमृक्तरः । वृषा ।



सः । त्वा । रक्षतु । सर्वतः । दिवा । नक्तम् । च । विश्वतः ॥ २२ ॥

इन्द्रो देवः ते तव उक्तमहिमोपेतं मणिवध्नातु इति वाक्यार्थः । कीदृश इन्द्र इति तं विशिनष्टि । स्वस्तिदाः स्वभक्तानाम् अविनाशिलक्षणक्षेमप्रदाता । स्वयं च विशाम् देवमनुष्यादिलक्षणं प्रजानां पतिः पालयिता स्वामी । वृत्रहा वृत्रस्य असुरस्य हन्ता । विमृशः विगतयुद्धः विविधं शत्रुविनाशकारी वा । वशी सर्वस्य वशयिता । जिगीवान् जयशीलः । अपराजितः स्वयम् अन्यैरनभिभूतः । सोमपाः सर्वेष्वपि सोमयागेषु स्वयमेव मुख्यत्वेन सोमस्य पाता । अभयंकरः अभयं भयराहित्यं तस्य कर्ता । वृषा सेवता अतिशयितपुंस्त्वस्य अभिमतफलस्य वर्धिता वा । स तादृशो देवो मणिं बद्ध्वा त्वा त्वां सर्वतः सर्वस्मादपि भयनिमित्ताद् रक्षतु । किम् एकदा । नेत्याह । दिवा नक्तं च । सर्वदेत्यर्थः । सर्वत इत्युक्तमेवार्थम् आदरार्थं पुनराह विश्वत इति ॥

इत्यष्टमकाण्डे तृतीयेनुवाके द्वितीय सूक्तम् ॥

अपने भक्तोंको क्षेमरूप कल्याणके देने वाले देवता और मनुष्य आदि प्रजाओंके स्वामी, वृत्रासुरके संहारक, अनेक प्रकारसे युद्ध करने वाले और सबको वशमें रखने वाले इन्द्रदेव तेरे मणिको बाँधे । विजयी, दूसरोंसे अपराजित सोमपान करने वाले, अभयप्रद और अभिमत फलकी वर्षा करने वाले वह इन्द्रदेव रात दिन चारों ओरसे तेरी रक्षा करें ॥ २२ ॥ ( १३ )

अष्टम काण्डके तृतीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त ( ४४३ ) ॥

“यौ ते माता” इति सूक्तत्रयम् अर्थमुक्तम् । अस्य अर्थमुक्तस्य “दि०पो गन्धर्वः [ २ . २ ] इयं मे अग्ने [ ६ . १११ ] यौ ते माता [ ८ . ६ ] इति मातृनामानि” इति [ कौ० १ . ८ ] मातृगणे पाठात् शान्त्युदकाभिमन्त्रणाद्गुह्येभ्योऽन्तिहोमादौ गण-

प्रयुक्तो विनियोगोवगन्तव्यः । सूत्रितं हि । “वास्तोष्पत्यादीनि महाशान्तिम् आवपते” इति [ कौ० ५. ७ ] । “दिव्यो गन्धर्व इति मातृनामभिर्जुहुयात्” इति [ कौ० १३. २ ] । “चातनैर्मातृनामभिर्वास्तोष्पत्यैराज्यं जुहुयात्” इत्यादि [ शा० क० १६ ] ॥

सीमन्तोन्नयनकर्मणि अनेन अर्थसूक्तेन रवेतपीतसर्पपान् संपात्य अभिमन्त्र्य गर्भिण्या वध्नीयात् । तथा च सूत्रम् । “यौ ते मातेति मन्त्रोक्तौ वध्नाति” इति [ कौ० ४. ११ ] ॥

“यौ ते माता” आदि तीन सूक्तोंका समुदाय अर्थसूक्त कहलाता है । इस अर्थसूक्तका “दिव्यो गन्धर्वः ( २ । २ ) इमं मे अग्ने ( ६ । १११ ) यौ ते माता ( ८ । ६ ) इति मातृनामानि” इस कौशिकसूत्र १ । ८ के अनुसार मातृनामगणमें पाठ होनेसे शान्त्युदकाभिमन्त्रण और अद्भुत होमशान्ति आदिमें गण के कारण विनियोग समझना चाहिये । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-“वास्तोष्पत्यादीनि महाशान्तिम् आवपते” ( कौशिकसूत्र ५ । ७ ) । “दिव्यो गन्धर्व इति मातृनामभिर्जुहुयात्” ( कौशिकसूत्र १३ । २ ) “चातनैर्मातृनामभिर्वास्तोष्पत्यैराज्यं जुहुयात्” ( शांतिकल्प १६ ) ॥

सीमन्तोन्नयनकर्ममें इस अर्थसूक्तसे पीली और सफेद सरसों को सम्पातित और अभिमन्त्रित करके गर्भिणीके बाँध देवे इस विषयमें कौशिकसूत्र ४ । ११ का प्रमाण भी है, कि-“यौ ते मातेति मन्त्रोक्तौ वध्नाति ।—यौ ते माता से मन्त्रमें कहे हुए दोनों प्रकारके सरसोंको बाँधे ॥”

तत्र प्रथमा ॥

यौ ते मातोन्मार्जं जातायां पतिवेदनौ ।

दुर्णामा तत्र मा गृधर्दलिशं उत वत्सपः ॥ १ ॥

यौ । ते । माता । उत्तममार्ज । जातायाः । पतिवेदनौ ।

दुःस्नामा । तत्र । मा । गृधत् । अलीशः । उत । वत्सपः ॥१॥

हे गर्भिणि जातायाः उत्पन्नाया उत्पत्तिसमनन्तरमेव ते तव माता जनयित्री यौ प्रसिद्धौ दुर्नामसुनामाख्यौ दुर्नामवत्सपाख्यौ वा पतिवेदनौ तव पत्युर्दुःखवेदनोत्पादकौ परिहिपमाणौ सन्तौ पतिलम्भकौ वा । दुर्नामसुनामानाविति पक्षे सुनामा अनुकूलत्वात् पतिलम्भकः । दुर्नामा तु प्रतिक्रियया पतिलम्भक इति । पक्षान्तरे अलीश इत्येतद् वत्सपविशेषणम् । उक्तस्वरूपौ यौ उन्ममार्ज ऊर्ध्वमुखं मार्जनम् उन्मार्जनम् । तत् कृतवती परिहृतवती । पत्युः परिग्रहायेति शेषः । तत्र तयोर्मध्ये दुर्नामा स्वग्दोषाख्यः मा गृधत् अभिकाङ्क्षा मा करोतु । ॐ गृधु अभिकाङ्क्षायाम् । माकि लुकि पुपादित्वात् अङ् ॐ । तथा अलीशः अलयो भ्रमराकारेण वर्तमानाः केचन रोगाः तदभिमानिदेवा वा तेषाम् ईशः स्वामी वत्सपः वत्सानां पाता संवर्तव्याभ्यभिमानि देवः । सोपि त्वां मा गृधत् । दुर्नामसुनामानौ यदि यच्छब्दार्थौ तथा उक्तव्यक्तिरिक्तः अलीशोपि त्वां मा गृधत् । उत अपि च वत्सपोपि मा गृधत् इति व्याख्येयम् ॥

हे गर्भिणि ! तेरे उत्पन्न होने पर तेरी माताने तेरे पतिको मास करानेवाले जिनका उन्मार्जन किया था उनमेंसे दुर्नामा (स्वग्दोष) तेरी अभिकाङ्क्षा न करे और भ्रमराकारसे वर्तमान अलि नामक रोगोंके स्वामी अभिमानि देवता तुझको न पकड़े और संवर्तव्य व्यधियोंका अभिमानि देवता वत्सप तुझको न पकड़े ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

पलालालुपलालौ शर्कु कोकं मलिम्लुचं पलीजंकम् ।

आश्रेपं वत्रिवाससमृत्तग्रीवं प्रमीलिनम् ॥ २ ॥

पलालऽअनुपलालौ । शर्कुम् । कोकम् । मलिम्लुचम् । पलीजकम् ।

आऽश्रेपम् । वत्रिऽवाससम् । अृत्तऽग्रीवम् । प्रऽमीलिनम् ॥ २ ॥

पलालानुपलालौ पलालवत् पलालः । अतितुच्छाद् इत्यर्थः । अनुपलालोपि तादृशः । तौ द्वावपि नाशयामीति शेषः । शर्कु-  
रेकः शर्शर् इति कौति शब्दयत् इति शर्कुः । तं च विनाश-  
यामि । एवम् उत्तरत्रापि । कोकम् । कोकश्चक्रवाकः । तदाकारेण  
वर्तमानः कोकः । यद्वा । ॐ कुक वृक आदाने । पचाद्यजन्तः ॐ ।  
बलादेः आदातारं संहर्तारम् । मलिम्लुचः अत्यन्तमलिनः तं  
च । पलीचकम् पत्न्या पलिनेन चकत् इति पलीचकः जरठवद्  
वर्तमानः पलितकारी वा । आश्रेपम् आश्लिष्यतीत्याश्रेपः आश्लिष्य  
हन्तारं पीडयितारम् । वत्रिवाससम् वत्रिः रूपनाम । रूपोपेतवसन-  
घन्तम् । अृत्तग्रीवम् अृत्तस्य वानरविशेषस्य ग्रीवेव ग्रीवा यस्य  
तादृशम् । प्रमीलिनम् प्रमीलः अक्षिसंकोचः । प्रतीक्षणं संकुच-  
न्नेत्रम् इत्यर्थः । एते सर्वे गर्भिण्यादीनां पीडकाः । तान् प्रत्येकं  
नाशयामीत्यर्थः ॥

पलाल ( पिराल ) की समान अति तुच्छ अद्गु बाले गर्भिणी-  
पीडक राजसको और अनुपलालको नष्ट करता हूँ । शर् शर्  
शब्द करने वाले शर्कुको मारता हूँ चक्रवाककी समान आकार  
वाले कोक राजसको मारता हूँ । मलिम्लुच ( अतीव मलिन रहने  
वाले ) को, झुर्रियें डालने वाले पलीजकको, अड़ कर पीड़ित  
करने वाले आश्रेपको, रूपवान् धस्र पहिरने वाले वत्रिवासको,  
अृत्त-एक प्रकारके वन्दरकी समान ग्रीवा वाले अृत्तग्रीवको,  
प्रतीक्षण आँखोंको संकुचित करते रहने वाले प्रमीलिन नामक  
गर्भिणीपीडक राजसको मैं नष्ट करता हूँ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

मा सं वृत्तो मोषं सृप ऊरू मावं सृपोन्तरा ।

कृणोम्यस्यै भेषजं वजं दुर्णामचातनम् ॥ ३ ॥

मा । सम् । वृत्तः । मा । उप । सृपः । ऊरू इति । मा । अवं ।  
सृपः । अन्तरा ।

कृणोमि । अस्यै । भेषजम् । वजम् । दुर्णामचातनम् ॥ ३ ॥

हे दुर्णामाख्यरोगाभिमानिन् अस्या ऊरू अन्तरा ऊर्वोर्मध्ये ।

❀ “अन्तरान्तरेण युक्ते” इति द्वितीया ❀ । मा सं वृत्तः संवृतिं  
संकोचं वा मा कार्पीः । ❀ वृत्तु वर्तने । “द्युद्भयो लुङि” इति  
परस्मैपदम् । द्युतादित्वाद् अङ् । ❀ तथा मोष सृपः उपसर्पणम्  
अन्तःप्रवेशं मा कार्पीः । ❀ गम्लृ सृमृ गतौ । माङि लुङि  
लृदित्वात् च्लेः अङ् । ❀ तथा ऊरू अन्तरा मावं सृपः अवाक्  
सर्पणं मा कार्पीः । किमर्थम् एवम् इति चेद् उच्यते । अस्यै गर्भिण्यै  
दुर्णामचातनम् दुर्णामाख्यस्य दोषस्य विनाशकं वजम् श्वेतसर्प-  
रूपं भेषजम् औषधं कृणोमि कृणोमि कर्णेमि । उत्तरत्र वजः पिङ्ग  
इति विशेष्यमाणत्वात् अत्र केवलवजग्रहणेऽपि श्वेतोभिमतः । श्वेत-  
पीतोभयविधसर्पपाणां गर्भिण्या वन्धनं सूत्र उक्तम् ॥

हे दुर्णाम नामक रोगके अभिमानी देवते ! तू इस गर्भिणीके  
ऊरूओंके मध्यमें संकोचको न कर तथा अन्तःप्रवेश भी न कर  
तथा ऊरूओंमें नीचेको भी मत सरक, क्योंकि—मैं इस गर्भिणीके  
लिये दुर्णाम नामक दोषकी विनाशक श्वेत सरसोरूप औषधि  
को कर रहा हूँ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

दुर्णामां च सुनामां चोभा संवृतमिच्छतः ।

अरायानप हन्मः सुनामा स्त्रैणमिच्छताम् ॥ ४ ॥

दुःस्नामा । च । सुस्नामा । च । उभा । सम्प्लुतम् । इच्छतः ।

अरायान् । अप । हन्मः । सुस्नामा । स्त्रैणम् । इच्छताम् ॥४॥

दुःखेन नमयितुं शक्यो दुर्नामा । सुखेन अल्पप्रयत्नेन नम-  
यितुं वशीकर्तुं शक्यः सुनामा । सुभगो दुर्भगश्चेत्यर्थः । तौ उभा  
उर्भा संप्लुतम् संवर्तनं सहैव प्राप्तिं संचरणं वा इच्छतः । ॐ वृणोतेः  
संपदादिलक्षणः किन्त् ॐ । तत्र अरायान् न विद्यन्ते रायो येषां  
ते अराया अलक्ष्मीकास्तान् दुर्नामप्रभृतीन् अप हन्मः विनाश-  
यामः । सुनामा द्वितीयः स्त्रैणम् स्त्रियाः संबन्ध्यङ् स्त्रीसमूहं वा  
इच्छताम् इच्छतु । ॐ स्त्रीशब्दात् “स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्तन्यौ भव-  
नात्” इति नञ् । इच्छताम् इति । “इषुगमियमां छः” । व्यत्य-  
येन आत्मनेपदम् ॐ ॥

दुर्नाम ( दुर्भग ) और सुनाम ( सुभग ) दोनों एक साथ  
रटना चाहते हैं । इनमेंसे धनरहित दुर्नाम आदिको हम नष्ट करते  
हैं और दूसरा स्त्रियों की इच्छा करे ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यः कृष्णः केश्यसुर स्तम्बज उत तुरिडंकः ।

अरायानस्या मुष्काभ्यां भंससोप हन्मसि ॥ ५ ॥

यः । कृष्णः । केशी । असुरः । स्तम्बजः । उत । तुरिडंकः ।

अरायान् । अस्याः । मुष्काभ्याम् । भंससः । अप । हन्मसि ५

यः प्रसिद्धः कृष्णः कृष्णवर्णः केशी केशवान् मकुटकेशः एत-  
न्नामा असुरः । तथा स्तम्बजः स्तम्बे जातः असुरः । उत अपि

च तुण्डिकः तुण्डं मुखम् । कुत्सितमुखः एतन्नामा असुरः एते सर्वे अरायाः दुर्भगास्तान् अरायान् अस्या गर्भिण्याः मुष्काभ्याम् । स्त्रीणामपि मुष्कम् अस्ति । “व्यक्तं पुंसो न तु स्त्रियाः” इति स्मरणात् । मुष्कास्त्रयप्रदेशाभ्यां तत्रापि मंससः कटिसंधिप्रदेशाद् अप हन्मसि अपहन्मः ॥

जो कृष्णवर्णका केशी नामक असुर है, और जो स्तम्बमें हुआ स्तम्बज नामक असुर है, और जो कुत्सितमुखवाला तुण्डिक नामक असुर है, ये सब दुर्भाग हैं इनको हम गर्भिणीके मुष्कों से और कटिसंधिप्रदेशसे नष्ट करते हैं ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

अनुजिघ्रं प्रमृशन्तं क्रव्यादमुत रेरिहम् ।

अरायांश्चकिष्किणो वजः पिङ्गो अनीनशत् ॥ ६ ॥

अनुजिघ्रम् । प्रमृशन्तम् । क्रव्यऽअदम् । उत । रेरिहम् ।

अरायान् । चकिष्किणः । वजः । पिङ्गः । अनीनशत् ॥ ६ ॥

अनुजिघ्रम् अनुजिघ्रतीति अनुजिघ्रः । ॐ घ्रा गन्धोपादानं । “पाघ्राध्माघेट्टदशःशः” इति शः । “पाघ्रा०” इत्यादिना जिघ्रादेशः ॐ । आघ्रायैव हिंसकम् इत्यर्थः । तथा प्रमृशन्तम् प्रमृश्यैव हन्तारं क्रव्यादम् मांसभक्षकम् । उत अपि च रेरिहम् लीढ्यैव हन्तारम् । उक्तव्यतिरिक्तान् अन्यान् अरायान् अधनान् अलक्ष्मीकरांश्च । अरायविशेषणं किष्किण इति । किप्किप् इति शब्दं कुर्वन्तस्तान् । यद्वा । ॐ किष्क हिंसायाम् इति चुरादौ पठ्यते ॐ । नित्यं हिंसकान् पिङ्गः पिशङ्गवर्णो वजः सर्पपः अनीनशत् भृशं नाशितवान् नाशयतु वा । “श्वेतांश्च पीतांश्च सर्प-

पान् संपात्य अभिमन्त्र्य गर्भिण्या वध्नीयात्” इति [के० ४. ११]  
विनियोगाभिधानाद् अत्र पीतसर्पपाणां विधानयोग उक्तः ॥

सूँघ कर ही मार डालने वाले अनुजिघ्रको और स्पर्श करके  
मार डालने वाले प्रमृशको, मांसभक्षक क्रव्यादको और चाटकर  
मारने वाले रेरिहको, इनके अतिरिक्त भी दूसरे अलक्ष्मीक राक्षसों  
को और क्षिप् क्षिप् शब्द करने वाले नित्यहिंसक राक्षसको  
पीला सरसों नष्ट करे ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

यस्त्वा स्वप्ने निपद्यते भ्राता भूत्वा पितेव च ।

वजस्तान्तसंहतामितः क्लीवरूपांस्तिरीटिनः ॥ ७ ॥

यः । त्वा । स्वप्ने । निपद्यते । भ्राता । भूत्वा । पिताइव । च ।

वजः । तान् । सहताम् । इतः । क्लीवरूपान् । तिरीटिनः ॥७॥

हे गर्भिणि यो राक्षसादिः त्वा त्वां स्वप्ने निद्रावस्थायां भ्राता  
सहोत्पन्न इव भूत्वा विरवासं जनयन् निपद्यते निपतति अभि-  
गच्छति । तथा यश्च पितेव जनक इव तद्रूपधारी भूत्वा स्वप्ने त्वां  
निपद्यते । यद्वा तान् इति बहुवचनेन निर्देशात् यः कश्चित् स्वप्ने  
स्वकीयसहजरूपेण निपद्यते यश्च भ्राता भूत्वा यस्तु पितेव भूत्वेति  
योग्यम् । भ्रात्रादिरूपेण आगत्य गर्भध्वंसनम् अन्यत्राप्याम्ना-  
यते “यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते । प्रजां यस्ते  
जिघांसति तम् इतो नाशयामसि” इति [ ऋ० १०. १६२. ५ ] ।  
तान् सर्वान् वजः श्वेतसर्पपः सहताम् अभिभवतु इतः अस्माद्  
गर्भिणीसकाशात् । तथा क्लीवरूपान् पण्डुरूपं धृत्वा आगतान्  
तिरीटिनः अन्तर्धानेन अटतश्च । सहताम् इति संयन्धः ॥



हे गर्भिणि ! जो राक्षस आदि स्वप्नमें भ्राताकासा विश्वास दिला कर तेरे शरीरमें प्रवेश करता है और पिताकी समान बन कर तुझको कष्ट देता है † । उनको यह श्वेत सरसों इस गर्भिणी के समीपसे तिरस्कृत करे । और हिजड़ेका रूप धारण करके आने वाले राक्षसोंको और अन्तर्धान होकर घूमने वाले राक्षसोंको यह सरसों गर्भिणीके समीपमें तिरस्कृत करे ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

यस्त्वा स्वपन्ती त्सरति यस्त्वा दिप्सति जाग्रतीम् ।

ह्यायामिव प्र तान्सूर्यः परिक्रामन्ननीनशत् ॥ ८ ॥

यः । त्वा । स्वपन्तीम् । त्सरति । यः । त्वा । दिप्सति । जाग्रतीम् ।

ह्यायाम् इव । प्र । तान् । सूर्यः । परिक्रामन् । अनीनशत् ८

हे गर्भिणि त्वा त्वा यः राक्षसादिः स्वपन्तीम् प्रबोधरहितां स्वापकाले चरति गच्छति । यश्च जाग्रतीम् प्रबुद्धां प्रबोधकाले दिप्सति दम्भितुम् इच्छति । ❀ दम्भ दम्भे । “सनीवन्तर्ध०” इत्यादिना इद्विकल्पः । “दम्भ इच्च” इति अचः स्थाने इच्चम् ❀ । अत्र तान् इति बहुवचननिर्देशाद् यो यः स्वपन्तीम् यो यो जाग्रतीम् इति वीप्सार्थो द्रष्टव्यः । तान् सर्वान् यथा सूर्यः परिक्रामन् आकाशे परिभ्रमन् ह्यायाम् अन्धकारं नाशयति तद्वद् अयं सर्पपः

† भ्राता आदिके रूपमें आकर गर्भको ध्वंस करनेका वर्णन अन्यत्र भी है । यथा—“यस्त्वा भ्राता भूत्वा पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते । प्रजां यस्ते जिघांसति तम् इतो नाशयामसि ॥—जो भ्राता पति वा जारके रूपमें तेरे पास आता है और तेरी सन्तानको नष्ट करना चाहता है उसको हम यहाँसे दूर भगाते हैं” ( ऋग्वेदसंहिता १० । १६२ । ५ ) ॥

सर्वम् अपद्रव्यम् आक्रम्य मानीनशत् भर्क्येण विनाशितवान् ना-  
शयतु वा ॥

हे गर्भिणी ! जो राक्षस आदि स्वप्नके समय तुझ प्रबोधरहित  
पर आक्रमण करता है और जो तुझ जागती हुईको मारना  
चाहता है, उन सबको यह सरसों इस प्रकार नष्ट कर देय, जिस  
प्रकार आकाशमें भ्रमण करता हुआ सूर्य अन्धकारको नष्ट कर  
हालता है ॥ ८ ॥

नवमी ॥

यः कृणोति मृतवत्सामवन्तोकापिमां स्त्रियम् ।

तमोपधे त्वं नाशयास्याः कमलमज्जिवन् ॥ ९ ॥

यः । कृणोति । मृतवत्साम् । अवन्तोकां । इमाम् । स्त्रियम् ।

तम् । ओपधे । त्वम् । नाशय । अस्याः । कमलम् । अज्जिवन् ९

यो राक्षसादिः स्त्रियम् इमां गर्भिणीं मृतवत्साम् मृतपुत्रां  
कृणोति करोति । तथा अवन्तोका अवपन्नगर्भा वा कृणोति तं  
दुष्टम् हे ओपधे सर्पपरूपे त्वं नाशय । अस्याः कमलम् गर्भद्वारम्  
अज्जिवम् अभिव्यक्तिमत् म्लक्ष्णोपेतं वा । कुर्विति शेषः ॥

हे सर्पपरूप ओपध ! जो राक्षस आदि इस स्त्रीको मृतवत्सा  
करता है तथा अवपन्न ( विपत्तिग्रस्त ) गर्भ वाली करता है,  
उस दुष्टको तू नष्ट कर इसके गर्भद्वारको अभिव्यक्ति वाला कर ९

दशमी ॥

ये शालाः परिनृत्यन्ति सायं गर्दभनादिनः ।

कुसूला ये च कुक्षिलाः कंकुभाः करुमाः सिमाः ।

तानोपधे त्वं गन्धेन विषूचीनान् विनाशय ॥१॥०

ये । शालाः । परिऽनृत्यन्ति । सायम् । गर्दभऽनादिनः ।

कुसूलाः । ये । च । कुक्षिलाः । ककुभाः । करुमाः । स्त्रिमाः ।

तान् । ओपधे । त्वम् । गन्धेन । विषूचीनान् । वि । नाशय १०

ये पिशाचाः सायं समये गर्दभनादिनः गर्दभवद् आक्रोशन्तः सन्तः । ❀ “कर्तयुपमाने” इति णिनिः ❀ । शालाः परिऽनृत्यन्ति शालानां गृहाणां परितो नृत्यन्ति । एवं ये च कुसूलाः कुसूलाकृतयः परिऽनृत्यन्ति । ये च कुक्षिलाः बृहत्कुक्षयः । ककुभाः अर्जुनवृक्षवद् भयंकराकृतयः । एवं खरुमाः श्रुमाश्च नानाकारैर्ध्वनिभिश्च विशिष्टाः सन्तः शालायाः परितो नृत्यन्ति तान् सर्वान् हे ओपधे गौरसर्पप पीतसर्पप वा त्वं गन्धेन तव परिमलेनैव विषूचीनान् विष्वगञ्चनान् कृत्वा वि नाशय ॥

इत्यष्टमकाण्डे तृतीयेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

जो पिशाच सायंकालके समय गंधेकी समान रेंकते हुए घरों में नाचते हैं और जो कुसूल ( कुठिया ) की आकृतिमें चारों ओर नाचते हैं । और जो अर्जुन वृक्षकी समान भयंकर आकृति वाले बड़ी कोख वाले खरूम श्रुम आदि अनेक प्रकारकी ध्वनि करते हुए शालाके चारों ओर नाचते हैं, उन सबको हे गौर और पीत सर्पपरूप ओपधे ! तू अपनी गंधसे ही चारों ओर भगाती हुई नष्ट कर ॥ १० ॥ ( १४ )

अष्टम काण्डके तृतीय अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त ॥

“ये कृकन्धाः” इति सूक्तस्य पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

“ये कृकन्धाः” इस सूक्तका पहिले सूक्तके साथ विनियोग कह दिया है ।

तत्र प्रथमा ॥

ये कुकुन्धाः कुकूरभाः कृत्तीर्दूर्शानि विभ्रति ।  
 क्लीवा इव प्रनृत्यन्तो वने ये कुर्वन्ते घोषं तानितो  
 नाशयामसि ॥ ११ ॥

ये । कुकुन्धाः । कुकूरभाः । कृत्तीः । दूर्शानि । विभ्रति ।  
 क्लीवाः इव । प्रनृत्यन्तः । वने । ये । कुर्वन्ते । घोषम् । तान् ।  
 इतः । नाशयामसि ॥ ११ ॥

ये प्रसिद्धाः कुकुन्धाः एतत्संज्ञकाः पिशाचाः । कीदृशाः । कुकूरवाः  
 कुक् इत्येवमात्मनेन रवेण युक्ताः कुक्कुटवदध्वनिं कुर्वाणाः कृत्यैः  
 हिंसाकर्मभिः दूष्याणि दूषणीयानि हिंसारूपाणि कर्माणि विभ्रति  
 धारयन्ति । क्लीवा इव उन्मत्ता इव प्रनृत्यन्तः हस्तपादशिरादि-  
 चालनं कुर्वन्तो ये च पिशाचाः वने अरण्ये घोषम् शब्दं कुर्वन्ते तान्  
 उभयविधानपि इतः गर्भिण्यादेः सकाशात् नाशयामसि नाशयामः ॥

जो कृकंध नामक पिशाच कुक्कुटकी समान कुक् ध्वनि करते  
 हुए हिंसाकर्मोंसे दूषितकर्मोंको धारण करते हैं और जो उन्मत्तों  
 की समान हाथ पैर आदि फेंकते हुए वनमें शब्द करते फिरते हैं  
 उन दोनों प्रकारके पिशाचोंको हम गर्भिणीके पाससे नष्ट करते हैं ॥

द्वितीया ॥

ये सूर्यं न तितिक्षन्त आतपन्तममुं दिवं ।  
 अरायान् वस्तवासिनो दुर्गन्धील्लोहितास्यान् मकं-  
 कान् नाशयामसि ॥ १२ ॥

ये । सूर्यम् । न । तितिक्षन्ते । आतपन्तम् । अक्षुम् । दिवः ।

अरायान् । वस्तवांसिनः । दुःग्न्धीन् । लोहितआस्यान् ।

मककान् । नाशयामसि ॥ १२ ॥

ये भूतविशेषा दिवः ध्रुलोकाद् आतपन्तम् सर्वतस्तापं कुर्वन्तम् अयं सूर्य न तितित्तन्ते न सहन्ते । घूका इव रात्रौ गिरिगुहादौ वा वर्तन्ते इत्यर्थः । तान् अरायान् अश्रीकान् वस्तवासिनः अविचर्मवसनान् दुर्गन्धीन् दुष्टेन पुराणकुणपादिसदृशेन गन्धेन उपेतान् लोहितास्यान् सर्वदा नवमांसभक्षणेन लोहितोपेतमुखान् लोहितवर्णमुखान् वा मककान् । ❀ मस्कतिर्गत्यर्थः । सलोपश्चान्दसः ❀ । कुत्सितगतीन् पिशाचान् । यद्वा । ❀ मकिरलंकारार्थः । नुमभावः पूर्ववत् ❀ । कुत्सितालंकारान् नाशयामसि नाशयामः ॥

जो भूत ध्रुलोकसे सब ओर ताप देते हुए सूर्यको नहीं सह सकते तात्पर्य यह है, कि—रात्रिमें उल्लुओंकी समान गिरिगुहा आदिमें विचरण करते रहते हैं उन अश्रीक, वकरीके चमड़ेके वस्त्र वाले, दुर्गन्धित सदा नवीन मांसका भक्षण करनेसे रक्तसे सने हुए मुख वाले, कुत्सित अलंकारोंको धारण करने वाले राक्षसों को हम नष्ट करते हैं ॥ १२ ॥

तृतीया ॥

य आत्मानमतिमात्रमंसं आधाय विभ्रति ।

स्त्रीणां श्रोणिप्रतोदिन इन्द्र रक्षांसि नाशय ॥ १३ ॥

ये । आत्मानम् । अतिमात्रम् । अंसं । आधाय । विभ्रति ।

स्त्रीणाम् । श्रोणिप्रतोदिनः । इन्द्र । रक्षांसि । नाशय ॥ १३ ॥

ये पिशाचाः स्त्रीणाम् आत्मानम् शरीरम् । कीदृशम् आत्मा-

नम् । अतिमात्रम् गर्भिणीत्वाद् अतिस्थूलम् अंसे आधाय स्थाप-  
यित्वा विभ्रति । अथ वा क्रियाविशेषणम् एतद् । अतिवेलं विभ्र-  
तीत्यर्थः । अथ वा वस्तुतः अन्यमपि आत्मानम् अतिमात्रम्  
आकाशस्पर्शिनम् अंसे स्वस्कन्धप्रदेशे आधाय मायाबलेन स्थाप-  
यित्वा विभ्रति सर्वदा धारयन्ति । स्त्रीणां गर्भिणीनां श्रोणिमतो-  
दिनः कटिप्रदेशं प्रकर्षेण व्यथयतस्तान् रक्षांसि राक्षसान् हे इन्द्र  
नाशय घानय ॥

जो पिशाच गर्भिणी होनेके कारण बहुत स्थूल भी स्त्रियों  
के शरीरको अपने कंधे पर रख कर घूमने लगते हैं हे इन्द्र !  
उन स्त्रियोंके कटिप्रदेशको व्यथित करने वाले राक्षसोंको आप  
नष्ट करिये ॥ १३ ॥

चतुर्थी ॥

ये पूर्वं बध्वो यन्ति हस्ते शृङ्गाणि विभ्रतः ।  
आपाकेष्टाः प्रहासिनं स्तम्भे ये कुर्वते ज्योतिस्तानितो  
नाशयामसि ॥ १४ ॥

ये । पूर्वं । बध्वः । यन्ति । हस्ते । शृङ्गाणि । विभ्रतः ।  
आपाकेऽस्याः । प्रहासिनः । स्तम्भे । ये । कुर्वते । ज्योतिः ।  
तान् । इतः । नाशयामसि ॥ १४ ॥

ये पिशाचाः बध्वः बधूनां स्वस्त्रीणां पूर्वं पूर्वभाविनः सन्तो  
यन्ति मस्त्रीका गच्छन्ति । कथंभूताः । हस्ते स्वस्वहस्तेषु शृङ्गाणि  
विपाणानि वादनार्थानि पानार्थानि वा विभ्रतः धारयन्तः ।  
ये च आपाकेष्टाः आपाकेषु पाकशालासु कुलालमृद्दिषु वा तिष्ठन्तीति  
आपाकेष्टाः । प्रहासिनः प्रहृष्टहासयुक्ताः अट्टहासं कुर्वतः । ये च

स्तम्बे आर्द्रेषु व्रीह्यादिस्तम्बेषु गृहस्तम्बेषु वा ज्योतिः अग्निरूपं  
कुर्वते उत्पादयन्ति तान् सर्वान् इतः अस्माद् गर्भिण्याद्यावास-  
नात् नाशयामसि नाशयामः ॥

जो पिशाच अपनी स्त्रियोंके आगे २ हाथमें सींगोंको लेकर  
घूमते हैं और जो पाकशालाओंमें स्थित होकर अट्टहास्य करते  
हैं और जो गीले व्रीहिस्तम्बोंमें वा गृहस्तम्भ आदिमें अग्निरूप  
ज्योतिको उत्पन्न करते हैं उन सबको हम गर्भिणीके आवास-  
स्थानसे भगाते हैं ॥ १४ ॥

पञ्चमी ॥

येषां पश्चात् प्रदानिः पुरः पाष्णीः पुरो मुखा ।  
खलजाः शकधूमजा उरुगडा ये च मट्मटाः कुम्भ-  
मुष्का अयाशवः ।

तानस्या ब्रह्मणस्पते प्रतीजोधेन नाशय ॥ १५ ॥

येषाम् । पश्चात् । प्रदानिः । पुरः । पाष्णीः । पुरः । मुखा ।

खलजाः । शकधूमजाः । उरुगडाः । ये । च । मट्मटाः । कुम्भ-  
मुष्काः । अयाशवः ।

तान् । अस्याः । ब्रह्मणः । स्पते । प्रतीजोधेन । नाशय ॥ १५ ॥

येषां रक्तः प्रभृतीनां पश्चात् पश्चाद्भागो प्रदानि पादाग्रप्रदेशाः  
पुरः पुरोभागे पाष्णीः पाष्णयः । ननु पश्चात् प्रदानि सन्तु  
मुखान्यपि पश्चाच्चेत् किं वैकृतम् इति तत्राह । पुरः पूर्वस्मिन्  
देशे मुखानि मुखानि प्रपदप्रतिकूलानि मुखानि । उक्तविकारान्

तान् । तथा ये खलजाः खलो घान्यशोधनप्रदेशस्तत्र जाताः । ये च शकधूमजाः गवारवादिपुरीषपिण्डोत्पन्नाः । ये च अरुण्डाः रुण्डरहिता अशिरस्काः । ये च मुट्मुटाः मुट्मुट इति शब्दं कुर्वन्तः छिन्नसर्वावयवा इव वर्तमाना वा । कुम्भमुष्काः कुम्भोपमेन मुष्केण उपेताः । अयाशवः अयो वायुः वायुवद् आशुगामिनः । एवम् उक्तप्रकारा ये सन्ति तान् सर्वान् हे ब्रह्मणस्पते बृहतो वेदराशेः स्वाग्निं एतन्नामकं देव अस्या ओषधेर्वज्ररूपायाः प्रतीबोधेन । प्रतीबोधसाधनेन सामर्थ्येनेत्यर्थः । प्रतिनियतेन ज्ञानेन वा । ❀ “उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्” इति दीर्घः ❀ । तेन नाशय विनष्टान् कुरु ॥

जिन राक्षस आदिके पश्चिमकी ओर पैरकी अँगुलियें होती हैं और सामने एड़ियें होती हैं और मुख पूर्वकी ओर होता है ऐसे राक्षसोंको, और घान्यशोधनदेश-खलमें होने वाले राक्षसोंको गौंके गोवर और घोड़ेकी लीद आदिसे होने वाले राक्षसोंको, मुण्डरहित राक्षसोंको, मुट् मुट् शब्द करने वाले राक्षसोंको घोड़ेकी समान अण्डकोशों वाले राक्षसोंको और वायुकी समान शीघ्रगामी राक्षसोंको हे वेदराशिके स्वाग्निन् ! बृहस्पति नामक देव ! आप सरसोंके बलसे नष्ट करिये, ॥ १५ ॥

पृष्ठी ॥

पर्यस्ताक्षा अप्रचङ्कशा अस्त्रेणाः सन्तु पण्डगाः ।  
अवं भेषज पादय य इमां संविभृत्सत्यपतिः स्वपतिं  
स्त्रियम् ॥ १६ ॥

पर्यस्ताऽअक्षाः । अप्रचङ्कशाः । अस्त्रेणाः । सन्तु । पण्डगाः ।



अव । भेषज । पादय । यः । इमाम् । सम्ऽविद्वत्सति । अपतिः ।

स्वपतिम् । स्त्रियम् ॥ १६ ॥

पर्यस्तात्ताः इतस्ततो विप्रकीर्णलोचनाः प्रचङ्कुशाः प्रक्षीणो-  
त्तमदेशाः । यद्वा प्रगतमतयः । पन्नगाः पादेन न गच्छन्तः । एवं-  
रूपा ये सन्ति ते अस्त्रैणाः स्त्रीसमूहविरोधिनः स्त्रीरहिताः सन्तु  
भवन्तु । अथ वा पन्नगाः सर्पा भवन्तु । किं च हे भेषज सर्पपरूप  
त्वम् अव पातय अवाङ्मुखं विनाशय । कम् । यो राक्षसादिः  
इमां गर्भिणीं स्त्रियं संविद्वत्सति संवर्तनं कर्तुम् इच्छति । यच्छब्द-  
निर्दिष्टं विशिनष्टि अपतिरिति । न विद्यते पतिः स्वामी यस्य स  
तथोक्तः अनियन्त्रितः । स्त्रियं विशिनष्टि स्वपतिम् इति । स्वा-  
धीनपतिकाम् । यद्वा अपतिः पतिराहित्येन स्वपतीं निद्रां कुर्वतीम्  
इमां स्त्रियं सवर्तितुम् इच्छति । ॐ वर्ततेः सनि “वृद्धयः स्यसनोः”  
इति परस्मैपदम् ॥

फैले हुए नेत्रों वाले, क्षीण कर वाले, जो राक्षस हैं वे स्त्री  
समूहविरोधी स्त्रियोंसे रहित होजावें वा सर्प होजावें हे सर्पपरूप  
औपधे ! जो अनियन्त्रित राक्षस इस सोती हुई स्त्रीको घेरना  
चाहता है उसको तू नष्ट कर ॥ १६ ॥

उद्धर्षिणं मुनिकेशं जम्भयन्तं मरीमृशम् ।

उपेपन्तमुदुम्बलं तुण्डेलमुत शालुडम् ।

पदा प्र विध्य पाण्डुर्यां स्थालीं गौरिव स्पन्दना १७

उत्ऽहर्षिणम् । मुनिऽकेशम् । जम्भयन्तम् । मरीमृशम् ।

उपऽएपन्तम् । उदुम्बलम् । तुण्डेलम् । उत । शालुडम् ।

( ५७६ ) अथर्ववेदसंहिता समाप्य-भाषानुवादसहित

पदा । प्र । विध्य । पाप्स्यी । स्थालीम् । गौःऽइव । स्पन्दना १७

यस्ते गर्भं प्रतिमृशाज्जातं वा मारयाति ते ।

पिङ्गस्तमुग्रधन्वा कृणोतु हृदयाविधम् ॥ १८ ॥

यः । ते । गर्भम् । प्रतिमृशात् । जातम् । वा । मारयाति । ते ।

पिङ्गः । तम् । उग्रधन्वा । कृणोतु । हृदयाविधम् ॥ १८ ॥

सप्तमी ॥ उद्धर्पिणम् उत्कृष्टेन अतिप्रवृद्धेन धर्पणेन उपेतं मुनि-  
केशम् मुनिवज्रटात्मककेशवन्तम् एतन्नामानम् । तथा जम्भय-  
न्तम् हिसन्तं हिंस्रकं मरीमृशम् पुनःपुनः मृशन्तम् एतन्नामानं  
च । तथा उपैयन्तम् सर्वत इच्छन्तम् । गर्भिणी कुत्रास्त इत्यन्वि-  
प्यन्तम् इत्यर्थः । तथाविधम् उदुम्बलम् एतन्नामकं च । उत  
अपि च तुण्डेलम् शक्रतुण्डवन्तं शालडम् एतन्नामानम् असु-  
रम् । अथ वा उद्धर्पिमृतीनि प्रत्येक योगरूढानि असुरनामानि ।  
पदा प्रविध्येत्युत्तरत्र संग्रन्धः ॥

अष्टमी ॥ सर्पपाख्यापधिः पदा पादेन प्रविध्य सम्यक् ताड-  
यित्वा प्रास्यात् प्रास्यतु तत्र । दृष्टान्तः । स्थालीम् दोहनसाधनं  
मृत्पात्रं गौरिव दुष्टा गौर्यथा स्पन्दनात् पश्चात्पादयोश्चालनात् ।  
सा यथा पात्रं भिनत्ति तद्वत् । कं प्रति एवम् उच्यते इति तम्  
आह । यस्ते गर्भम् इति । यो राज्ञसादिः हे गर्भिणि ते गर्भं  
प्रतिमृशात् प्रतिमृशेत् पीडयेत् यथा सजीवो न जायते तथा कुर्याद्  
वा । अथ वा जातम् उत्पन्नं ते पुत्रं मारयाति मारयेत् । तं पदा  
प्रविध्येति पूर्वज्ञानवयः । किं च पिङ्गः गौरसर्पपः तं गर्भघातकं  
राक्षसम् उग्रधन्वा । ॐ धन्वतिर्गतिकर्मा ॐ । उद्गूर्णगतिः सन्  
हृदयाविधम् हृदयभ्रदेशे विद्धं ताडितं कृणोतु करोतु । अथ वा

वेधलिङ्गात् उग्रधन्वशब्दो भयंकरेण धनुषोपेतम् आचष्टे सर्पस्य  
औपधस्य देवताभिप्रायेण उग्रधन्वत्वं न विरुध्यते ॥

प्रचण्डतासे धर्षण करने वाले मुनिकी समान जटात्मक केश  
वाले मुनिकेश नामक असुरको, तथा द्विसा करने वाले मरीमृश  
को तथा गर्भिणी कहाँ है इस प्रकार सर्वत्र खोज करते हुए उदुम्बल  
को, प्रकृष्ट तुण्ड वाले शालद नामक असुरको, सरसों पैरसे इस  
प्रकार मारे जिस प्रकार दूध दुहानेके बाद ( दुष्ट ) गौ दूधके  
पात्रमें लात मार देती है ॥ १७ ॥

हे गर्भिणी ! जो तेरे गर्भको पीड़ित करता है अर्थात् सजीव  
उत्पन्न न हो ऐसा कर देता है अथवा तेरे उत्पन्न हुए पुत्रको मारने  
के लिये उद्यत रहता है उसको यह औपधि पैरसे मारे । गौर-  
सर्प ! उस गर्भवातक राक्षसको नू प्रचण्ड गतिवाला होकर हृदय  
में ताड़ित कर ॥ १८ ॥

नवमी ॥

ये अ॒मनो जा॒तान् मार॑यन्ति॒ स्रु॒तिका अनु॑शेरते ।  
स्त्रीभा॑गान् पि॒ङ्गे गन्ध॑र्वान् वा॒तो अभ्रमि॑वाजतु १६  
ये । अ॒मनः । जा॒तान् । मार॑यन्ति । स्रु॒तिकाः । अनु॑शेरते ।

स्त्रीभा॑गान् । पि॒ङ्गः । गन्ध॑र्वान् । वा॒तः । अभ्रमि॑व । अ॒जतु॑ १६

ये रक्षःपिशाचाद्याः अ॒मनो जा॒तान् अर्धोत्पन्नान् गर्भान्  
मारयन्ति विनाशयन्ति ये च स्रु॒तिकाः अभिनवपसवा अनुशेरते  
स्वयमपि योपिद्रोपेण शयनं कुर्वन्ति तान् स्त्रीभागान् स्त्रियो  
गर्भिण्यो भागो येषां ते स्त्रीभागाः स्त्रीग्रहीतॄन् गन्धर्वान् रक्षः-  
पिशाचाद्यान् पिङ्गः गौरसर्पः वातः वायुः अभ्रमिव निरुद्धं  
मेघमिव अजतु निरस्यतु ॥

जो राक्षस पिशाच आदि आधे उत्पन्न हुए गर्भोंको मार डालते हैं और जो स्त्रीरूप धारण कर सूतिका बनकर शयन करते हैं उन गर्भिणी स्त्रियोंको अपना भाग समझने वाले गंधर्व राक्षस पिशाच आदिको गौरसर्प इस प्रकार मारे जिस प्रकार जलरहित मेघको वायु मारता है ॥ १६ ॥

दशमी ॥

परिसृष्टं धारयतु यद्धितं माव पादि तत् ।

गर्भं त उग्रो रक्षतां भेषजौ नीविभार्यौ ॥ २० ॥

परिऽसृष्टम् । धारयतु । यद् । हितम् । मा । अव । पादि । तत् ।

गर्भम् । ते । उग्रौ । रक्षताम् । भेषजौ । नीविऽभार्यौ ॥ २० ॥

परिशिष्टम् होमादिविनियोगावशिष्टं सर्पपद्वयं धारयतु न परित्यजतु गर्भिणी स्त्री । धारणस्य अभिप्रायम् आह । यद् यत् पुत्रादिलक्षणं वस्तु हितम् अभिमतं तत् माव पादि अवपन्नं विस्तृतं मा भूत् । अनेन अभिप्रायेण धारयतु । हे गर्भिणि ते गर्भम् उग्रो उद्गूर्णस्त्री भेषजा भेषजरूपौ श्वेतपीतोभयविधसर्पौ नीविभार्यौ नीव्यां भर्तव्यां घस्त्राञ्जलेन धार्यां रक्षताम् पालयताम् । “श्वेतपीतसर्पौ संपात्य अभिमन्य गर्भिण्या बध्नीयात्” इति हि अत्र विनियोगः ॥

इत्यष्टमकाण्डे तृतीयेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

होम विनियोग आदिसे बचे हुए दोनों प्रकारके सरसोंको यह गर्भिणी स्त्री न त्यागे धारण करे, धारण करनेका अभिप्राय यह है, कि—जो पुत्र आदिरूप वस्तु अभिमत है वह गिरे नहीं । हे गर्भिणी ! प्रचण्ड बली औषधरूप दोनों सरसों नीवीमें धारण करने पर तेरी रक्षा करें ॥ २० ॥ ( १५ )

अष्टम काण्डके तृतीय अनुवाकमें चतुर्थं सूक्त समाप्त

“पवीनसात्” इति सूक्तस्य “यौ ते माता” [ ८. ६ ] इत्यनेन सह उक्तो विनियोगः ॥

“पवीनसौ” सूक्तका “यौ ते माता” ( ८. ६ ) के साथ विनियोग कह दिया है ।

पवीनसात् तङ्गत्वाश्च्यकादुत नग्नकात् ।

प्रजायै पत्ये त्वा पिङ्गः परि पातु किमीदिनः ॥ २१ ॥

पवि॒ज्ज॒नसात् । तङ्ग॒त्वात् । अ॒य॒कात् । उ॒त । न॒ग्न॒कात् ।

प्र॒ज्जा॒यै । प॒त्ये । त्वा । पि॒ङ्गः । परि । पा॒तु । कि॒मी॒दिनः ॥ २१ ॥

पवीनसात् पविर्वज्रः । पवज्रसदृशनासिकोपेतात् किमीदिनः असुरादेः सकाशात् तङ्गत्वात् एतन्नामकाच्च किमीदिनः सायकात् विनाशकारिणः सकाशात् उत अपि च नग्नकात् नग्रात् । एतन्नामकेभ्यः असुरेभ्यः सकाशात् हे गर्भिणि त्वा त्वां पिङ्गः पिङ्गवर्णः सर्पपः परि पातु परितो रक्षतु । कस्मै प्रयोजनायेति उच्यते । प्रजायै प्रजार्थं पुत्रलाभार्थं पत्ये पत्यर्थं पत्युरातुकूल्यार्थं च ॥

हे गर्भिणी ! प्रजा उत्पन्न करनेके लिये और पतिके अतुकूल रहनेके लिये यह पीली सरसोंतुभको वज्रकी समान नासिका वाले असुरसे, तङ्गत्व नामक असुरसे विनाशक सायक नामक असुरसे और नग्नक नामक असुरसे रक्षा करे ॥ २१ ॥

द्वितीया ॥

दद्यात्स्याच्चतुरक्षात् पञ्चपादादनङ्गुरेः ।

वृन्तादभि प्रसर्पतः परि पाहि वरीवृतात् ॥ २२ ॥

द्विऽआस्यात् । चतुऽअज्ञात् । पञ्चऽपादात् । अनङ्गुरे ।

वृन्तात् । अभि । मृऽसर्पतः । परि । पाहि । वरीवृतात् ॥ २२ ॥

आस्यात् द्वे आस्ये पुरः पश्चाच्चेति वा पुरत एव वा यस्य स्तः स आस्यः । तस्मात् । यत् एवम् अतोऽसौ चतुरक्षः अक्षचतुष्टयवान् । तस्मात् । पञ्चपादात् पादपञ्चकोपेतात् अनङ्गुरेः अङ्गुलिरहिताद् वृन्तात् लतापुञ्जात् अभिमसर्पतः अभिमुखं गच्छतः । अथ वा वृन्तात् वृन्तवद् वृन्तं शिरः पादाग्रं वा तस्मात् । अवाग्भूयाभिगच्छतः पश्चात् वरीवृतात् भृशं सर्वाङ्गं व्याप्य वर्तमानात् हे ओपधे त्वं परिपाहि परितो रक्ष । ॐ वृत्तवर्तने । अस्माद् यद्बलुगन्तात् पचाद्यचि “रीगृदुपधस्य च” इत्यभ्यासस्य रीगागमः । “न धातुलोप आर्थधातुके” इति गुणप्रतिषेधः ॥

हे ओपधे ! तू आगे पीछे इस प्रकार दो मुख वाले, चारनेत्र वाले पाँच पैर वाले अंगुलिरहित लताजालकी समान पैर वाले नीचेको मुख करके चलने वाले और सब अंगोंमें व्याप्त होकर वर्तमान राक्षससे रक्षा कर ॥ २२ ॥

तृतीया ॥

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः ।

गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि २३

ये । आमम् । मांसम् । अदन्ति । पौरुषेयम् । च । ये । क्रविः ।

गर्भान् । खादन्ति । केशवाः । तान् । इतः । नाशयामसि २३

ये पिशाचा आमम् अपस्वं मांसम् अदन्ति भक्षयन्ति ये च पौरुषेयम् पुरुषस्य संवन्धि क्रविः । क्रविसशब्दो मांसवचनः । “य आपस्य क्रविपो गन्धो अस्ति” इति हि मन्त्रान्तरम् [ अ०

[ १. १६२. १० ] । मनुष्यमांसभक्षणं न प्रचुरम् इत्यभिप्रेत्य पृथ-  
गभिधानम् । ये च केशवाः प्रकृष्टकेशाः पिशाचविशेषाः गर्भान्  
मायारूपेण प्रविश्य खादन्ति भक्षयन्ति तान् त्रिविधानपि इतः  
अस्मात् गर्भिण्यादेः सकाशात् नाशयामसि नाशयामः ॥

जो राक्षस कच्चे मांसको खाते हैं और पुरुषके भी कच्चे मांस  
को खाजाते हैं । और जो बड़े २ बाल वाले राक्षस मायासे प्रवेश  
करके गर्भोंका भक्षण करते हैं उन तीनोंको हम गर्भिणीके पास  
से हटाते हैं ॥ २३ ॥

चतुर्थी ॥

ये सूर्यात् परिसर्पन्ति स्तुपेव श्वशुरादधि ।

वजश्च तेषां पिङ्गश्च हृदयेधि नि विध्यताम् ॥ २४ ॥

ये । सूर्यात् । परिऽसर्पन्ति । स्तुपाऽइव । श्वशुरात् । अधि ।

वजः । च । तेषाम् । पिङ्गः । च । हृदये । अधि । नि । विध्यताम् २४

ये पीडयितारः सूर्यात् सर्वस्य मेरकाद् देवाद् अनुज्ञाताः सन्तः  
परिसर्पन्ति परिगच्छन्ति भूलोकं गच्छन्ति पीडयितुम् । तत्र दृष्टा-  
न्तम् आह । स्तुपेव यथा स्तुपा श्वशुरादधि । ॐ अधिः पञ्च-  
म्यर्थानुवादी ॐ । श्वशुरात् स्वपतेर्जनकाद् अनुज्ञाता त्वं पत्न्युः  
सकाशं गच्छ इत्येवम् अनुज्ञाता सती तत्समीपं परिसर्पति तद्वत् ।  
तेषां सूर्याद् आगतानां हृदये हृदयदेशे वजश्च वजःश्वेतसर्पणः स  
च पिङ्गश्च गौरसर्पणश्च । उभयत्र चशब्दः परस्परापेक्षः । अधि  
नि विध्यताम् अधिष्ठाय ताडयताम् ॥

जो पीडक सूर्यदेवकी अनुज्ञासे भूलोकमें पीड़ा देनेको इस  
प्रकार आते हैं, जिस प्रकार श्वशुरकी अनुज्ञासे पुत्रवधू पतिके

पास जाती है । उन सूर्यसे आये हुआँके हृदयमें यह पीली सफेद सरसों जाकर ताड़ना करे ॥ २४ ॥

पञ्चमी ॥

पिङ्ग रक्ष जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन् ।

आण्डादो गर्भान्मा दभन् वाधस्वेतः किमीदिनः २५

पिङ्ग । रक्ष । जायमानम् । मा । पुमांसम् । स्त्रियम् । क्रन् ।

आण्डादः । गर्भान् । मा । दभन् । वाधस्व । इतः । किमीदिनः २५

हे पिङ्ग गौरसर्पप त्वं जायमानम् उत्पद्यमानं शिशुं रक्ष । जायमानम् इति सामान्येन अभिधाय विशेषेणाह । जायमानं पुमांसं जायमानां स्त्रियं वा मा क्रन् मा कुर्वन्तु । पीढायाम् इति शेषः । अथ वा जायमानं पुमांसं वस्तुतः पुंगर्भं स्त्रियं मा क्रन् स्त्र्यपत्यं मा कुर्वन्तु । यथा एवं न भवति तथा रक्ष । केचन भूत-विशेषाः पुंगर्भं स्त्रीगर्भं कुर्वन्ति स्वसामर्थ्यात् । ॐ करोतेर्माङ्गि लुङि “मन्त्रे घस०” इत्यादिना च्छेलुङ् ॐ । किं च अपरे आण्डादाः आण्डप्रदेशभक्षकाः । ॐ “अदोनन्ने” इति विट् ॐ । ते पिशाचाः गर्भान् मा दभन् मा हिंसन्तु । तान् उभयविधान् किमीदिनः किम् इदं किम् इदम् इति चरतो रक्षःमभृतीन् हे पिङ्ग इतः गर्भिणीसकाशाद् वाधस्व पीढय ॥

हे गौर सर्पप ! तू उत्पन्न हुई संततिकी रक्षा कर, और उत्पन्न होते हुए पुंगर्भको वा स्त्रीगर्भको भूत पीढामें न डालें और आण्ड-प्रदेश भक्षक आण्डाद गर्भको न मार सके इन दोनों प्रकारके राक्षसोंको हे सर्पप ! गर्भिणीके पाससे दूर कर ॥ २५ ॥

षष्ठी ॥

अग्रजास्त्वं मर्तिवत्समाद् रोदमघमावयम् ।



वृक्षादिव स्रजं कृत्वाप्रिये प्रति मुञ्च तत् ॥ २६ ॥

अप्रजाःस्त्वम् । मार्तस्त्वत्सम् । आत् । रोदम् । अधम् । आश्रयम् ।  
वृक्षात् इव । स्रजम् । कृत्वा । अप्रिये । प्रति । मुञ्च । तत् ॥ २६ ॥

हे पिङ्ग त्वम् अस्या गर्भिण्या यद् अप्रजास्त्वम् अपत्यविधु-  
रत्वम् यच्च मार्तस्त्वम् मृतवत्सत्वं दौर्भाग्यम् आत् अपि च  
रोदम् सर्वदा उत्पद्यमानं दुःखं हृदोदनं वा । अधवावयम् अधानां  
पापानां तत्फलभूतानां दुःखानां वा असकृद् वयनम् । एतानि  
सर्वाणि । वृक्षादिव स्रजं कृत्वा यथा वृक्षादिवह्निपुष्पाणि आदाय  
मालां निर्माय म्रियतमे प्रतिमुञ्चति तद्वत् अप्रजास्त्वादिकानां स्रजं  
कृत्वा तत् मान्यम् अप्रिये द्वेष्ये प्रति मुञ्च संयोजय ॥

इत्यष्टमकाण्डे तृतीयेनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

समाप्तश्च तृतीयोऽनुवाकः ॥

हे गौर सर्पप ! तू इस गर्भिणीकी अपत्यहीनताको, मृतवत्सता-  
रूप दुर्भाग्यको और सदा हृदयके रोदनको और पापोंके ताने  
बानेको इस प्रकार शत्रुके डाल जिस प्रकार वृक्ष परसे फूल चुन  
उनकी मालाको म्रियतमके गलेमें डालते हैं ॥ २६ ॥ ( १६ )

अष्टमकाण्डके तृतीय अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त ॥

यक्षमादिसर्वव्याधिमैषज्ये कर्मणि “या वभ्रवः” इत्यर्थमूक्तेन  
दशवृक्षशकलानां लाक्षाहिरण्येन वेष्टितं मणिं कृत्वा संपात्य अभि-  
मन्य पुनः सूक्तं जपित्वा घघ्नाति । तद् उक्तं कौशिकेन । “उत्त-  
मेन शाकलम्” इति [ कौ० ४. २ ] ॥ पालाशः उदुम्बरः जम्बुः  
काम्पीलः स्रक् बह्वः शिरीषः सक्तयः वरणः विन्वः जङ्घिडः कुटकः  
गृह्यः गलावलः वेतसः शिम्बलः सिपुनः स्यन्दनः अरणिका  
अश्मयोक्तः तुन्धुः पूतदारुरिति शान्ता वृक्षाः । एतेषां कतमाना-  
मपिदशानां शकलैर्निर्मितः शाकलो मणिः ॥

तथा सौत्रामणीयामे अनेन मूक्तेन ओपधीभिः संधीयमानां सुराम् अनुमन्त्रयेत् । तद् उक्तं वैताने । “रसमाशनया [५. २. ३] या वभ्रव इत्योपधीभिः सुरां संधीयमानाम्” इति [ वै० ५. ३ ] ॥

यक्ष्मा आदि सरुल व्याधियोंकी चिकित्साके लिये “या वभ्रवः” इस अर्थमूक्तसे दश वृत्तोंके टुकड़ोंको लाख और सुवर्ण से मढ़ मणि बनाकर संघातन और अभिमन्त्रित करे फिर मूक्त को जप कर बाँधे । इसी बातको कौशिकने कहा है, कि-“उत्तमेन शाकलम्” ( कौशिकसूत्र ४ । ७ ) । पलाश, गूलड़, जामन, कवीला, स्रक्, बह, सिरस, स्रघक्त, वरण, बेल, जंगिड़, छुटक, गृध, गलागल, बेत, शिम्बल, सिपुन, तिनश, अरुणिका, अरम-योक्त, तुन्यु, और पूतदारु ये शान्तवृत्त कहलाते हैं । इनमेंसे किन्हीं भी दश वृत्तोंके टुकड़ोंसे निर्मित मणि शाकलमणि कहलाती है ।

तथा सौत्रामणियागमें इम मूक्तके द्वारा ओपधियोंसे सिचती हुई सुराका अनुमन्त्रण करे । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-“रसमाशन्या ( ५ । २ । ३ ) या वभ्रव इत्योपधिभिः सुरां संधीयमानाम्” ( वैतानसूत्र ५ । ३ ) ॥

या वभ्रवो याश्च शुक्रा रोहिणीरुत पृश्नयः ।

असिंकीः कृष्णा ओपधीः सर्वा अच्चावदामसि ॥ १ ॥

याः । वभ्रवः । याः । च । शुक्राः । रोहिणीः । उत । पृश्नयः ।

असिंकीः । कृष्णाः । ओपधीः । सर्वाः । अच्चावदामसि ॥ १ ॥

जो वभ्रवर्णकी ओपधियें हैं, जो रवेतवर्णकी ओपधियें हैं, जो लालवर्णकी ओपधियें हैं और जो छोटे शरीर वाली ओपधियें और जो नीली तथा काली ओपधियें हैं उन सबसे हम अभिमुख होकर ( रोगको दूर करनेकी ) प्रार्थना करते हैं ॥ १ ॥

त्रायन्तामिमं पुरुषं यक्ष्माद् देवोपितादधि ।

यासां द्यौष्पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां  
वभूव ॥ २ ॥

त्रायन्ताम् । इमम् । पुरुषम् । यक्ष्मात् । देवोऽपितात् । अधि ।

यासाम् । द्यौः । पिता । पृथिवी । माता । समुद्रः । मूलम् । वीरु-  
धाम् । वभूव ॥ २ ॥

वर्षारूप वीर्यका सेचन करनेसे द्यौ जिनका पिता है और  
उत्पन्न करनेसे पृथिवी जिनकी माता है और समुद्र ( जलस्थान )  
जिनका मूल है वे औपधियें इस पुरुषको दैवभेरित यक्ष्मारोगसे  
बचावें ॥ २ ॥

आपो अग्रं दिव्या ओपधयः ।

तास्ते यक्ष्मेनस्य मङ्गादङ्गादनीनशन् ॥ ३ ॥

आपः । अग्रम् । दिव्याः । ओपधयः ।

ताः । ते । यक्ष्मम् । एनस्यम् । अङ्गात् अङ्गात् । अनीनशन् ३

जो जल सामने वर्तमान हैं और जो दिव्य औपधियें हैं, हे  
रोगिन् ! वे तेरे पापकर्मोंके कारण उत्पन्न हुए यक्ष्मारोगको अंग  
प्रत्यंगोंसे निकाल कर फेंक दें ॥ ३ ॥

प्रस्तृणती स्तम्बिनीरेकं शुङ्गाः प्रतन्वती रोषधीरा वंदामि  
अशुमतीः काण्डिनीर्या विशाखा ह्यामिते वीरुधां

वैश्वदेवीरुग्राः पुरुषजीवनीः ॥ ४ ॥

प्रऽस्तु॒णीः । स्त॒म्बिनीः । एक॑ऽशु॒द्राः । प्रऽत॒न्वतीः । ओ॒पधीः ।  
आ । व॒दामि ।

अंशु॒ष्मतीः । का॒ण्डिनीः । याः । वि॒शाखाः । इ॒यामि । ते ।  
वी॒रुधः । वै॒श्वदे॒वीः । उ॒ग्राः । पु॒रुष॒जीवनीः ॥ ४ ॥

फैलने वाली, स्तम्ब वाली, मुख्य करके पाकरका आश्रय लेने वाली, छाया हुई औपधियोंकी मैं मार्यना करता हूँ, किरणों ( टहनियों ) वाली, गुदे वाली और अनेक प्रकारकी शाखाओं वाली, समस्त देवताओंसे सम्बन्ध रखने वाली, मचण्ड धलमयी और रोगी पुरुषको जीवन देने वाली औपधियोंको हे रोगिन् ! मैं तेरे लिये आह्वान करता हूँ ॥ ४ ॥

यद् वः सहः सहमाना वीर्यं यच्च वो बलम् ।

तेनेममस्माद् यच्मात् पुरुषं मुञ्चतौपधीरथो कृणोमि  
भेषजम् ॥ ५ ॥

यत् । वः । सहः । सह॒मानाः । वी॒र्यम् । यत् । च । वः । ब॒लम् ।  
तेन । इ॒मम् । अ॒स्मात् । यच्मात् । पु॒रुषम् । मु॒ञ्चत । ओ॒पधीः ।

अ॒यो इति । कृ॒णोमि । भे॒षजम् ॥ ५ ॥

हे रोगको दवाने वाली औपधियों ! तुममें जो रोगको दवानेकी शक्ति है और तुममें जो बल है उससे आप इस पुरुषको यच्मा-रोगसे मुक्त करो, क्योंकि-मैं ( मन्त्रशक्तिसम्पन्न ) औपधिको कर रहा हूँ ॥ ५ ॥

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम् ।

अरुन्धतीमुन्नयन्तीं पुष्पां मधुमतीमिह हुवेस्मा  
अरिष्टतातये ॥ ६ ॥

जीवलाम् । नघारिषाम् । जीवन्तीम् । ओषधीम् । अहम् ।

अरुन्धतीम् । उन्नयन्तीम् । पुष्पाम् । मधुमतीम् । इह । हुवे ।

अस्मै । अरिष्टतातये ॥ ६ ॥

मैं कल्याण करनेके लिये जीवनप्रदा और जिसका रोष भी कभी घातक नहीं होना ऐसी, रोषण करने वाली ऊपरको जाने वाली पुष्पमती मधुमती जीवन्ती ( लता ) का आवाहन करता हूँ इहा यन्तु प्रचेतसो मेदिनीर्वचसो मम ।

यथेमं पारयांसि पुरुषं दुरितादधि ॥ ७ ॥

इह । आ । यन्तु । प्रचेतसः । मेदिनीः । वचसः । मम ।

यथा । इमम् । पारयांसि । पुरुषम् । दुःइतात् । अधि ॥ ७ ॥

प्रकृष्ट ज्ञान वालीं मेरे मन्त्ररूप वचनको स्निग्ध करने वालीं औपधियें यहाँ आवें, जिससे कि—हम इस पुरुषको रोगरूप पाप से पार उतार सकें ॥ ७ ॥

अग्नेर्घासो अपां गर्भो या रोहन्ति पुनर्णवाः ।

ध्रुवाः सहस्रनाम्नीर्भेषजीः सन्त्वाभृताः ॥ ८ ॥

अग्नेः । घासः । अपाम् । गर्भः । याः । रोहन्ति । पुनर्णवाः ।

( ५८८ ) अथर्ववेदसंहिता समाख्य-भाषानुवादसहित

ध्रुवाः । सहस्रज्जाम्नीः । भेषजीः । सन्तु । आश्रुताः ॥ ८ ॥

जल जिनका गर्भ है और जो अग्निही भक्ष्य हैं तथा बार-बार नवीनरूपमें उत्पन्न होती हैं, इस प्रकार ( गुणतः ) स्थिर रहने वाली, सहस्रों नाम वाली औषधियें यहाँ लाई हुई हों ८ अवकाशवा उदकात्मान औषधयः ।

व्युपन्तु दुरितं तीक्ष्णशृङ्गम् ॥ ९ ॥

अवकऽवकाशः । उदकऽआत्मनः । औषधयः ॥ ९ ॥

वि । व्युपन्तु । दुःशृतम् । तीक्ष्णऽशृङ्गम् ॥ ९ ॥

जल ही जिनका आत्मा है, सिवार जिनका गर्भवेष्टन है, उग्र संघ वाले शृंगाकार दो फल जिनमें होते हैं ऐसी औषधियें ( रोगरूप ) पापको नष्ट करें ॥ ९ ॥

उन्मुञ्चन्तीर्विवरुणा उग्रा या विपदूषणीः ।

अथो वलासनाशनीः कृत्यादूषणीश्च यास्ता इहा यन्त्वोपधीः ॥ १० ॥

उन्मुञ्चन्तीः । विवरुणाः । उग्राः । याः । विपदूषणीः ।

अथो इति । वलासनाशनीः । कृत्यादूषणीः । च । याः । ताः ।

इह । आ । यन्तु । औपधीः ॥ १० ॥

रोगसे उन्मुक्त करने वाली, झूठ बोलने पर होनेवाले बहण-वर्तुल जलोदर आदि रोगोंसे रक्षित करने वाली, रोगका प्रभाव दूर करनेमें प्रचण्ड, विष को दूर करनेवाली और वलाक्षय करने

वाले कफरोगका नाश करने वाली और कृत्याओंको दूषित करने वाली औषधियें यहाँ आवें ॥ १० ॥ ( १७ )

अप्रकीताः सहीयसीर्वीरुधो या अभिष्टुताः ।

त्रायन्तामस्मिन् ग्रामे गामश्वं पुरुषं पशुम् ॥ ११ ॥

अपञ्क्रीताः । सहीयसीः । वीरुधः । याः । अभिस्तुताः ।

त्रायन्ताम् । अस्मिन् । ग्रामे । गाम् । अश्वम् । पुरुषम् । पशुम् ।

खरीदी हुई नहीं किंतु स्वयं लाई हुई रोगोंको दवाने वाली, मन्त्रोंसे स्तुत जो औषधियें हैं वे इस ग्राममें गौ अश्व पुरुष और पशुकी रक्षा करें ॥ ११ ॥

मधुमन्मूलं मधुमदग्रमासां मधुमन्मध्यं वीरुधां वभूव  
मधुमत् पर्णं मधुमत् पुष्पमासां मधोः संभक्ता अमृत-  
तस्य भक्तो धृतमन्नं दुहतां गोपुरोगवम् ॥ १२ ॥

मधुमत् । मूलम् । मधुमत् । अग्रम् । आसाम् । मधुमत् ।

मध्यम् । वीरुधाम् । वभूव ।

मधुमत् । पर्णम् । मधुमत् । पुष्पम् । आसाम् । मधोः ।

सम्भक्ताः । अमृतस्य । भक्तः । धृतम् । अन्नम् । दुहताम् ।

गोपुरोगवम् ॥ १२ ॥

इन वीरुधोंका मूल मधुमय होता है अग्रभाग और मध्यभाग भी मधुमय होता है, इनका पत्ता मधुमय-रोग दूर करनारूप मिष्ट फलको देने वाला होता है, और इनका पुष्प भी मधुमय

होता है उस मधुका सेवन करने वाला अमृतका भक्षक होता है  
नीरोग रहता है-पुत्र पौत्र आदि रूपमें अमर रहता है-वह पुरुष  
गौको आगे रख कर घृत और अन्नको दुहता रहे ॥ १२ ॥

यावन्तीः कियन्तीश्चेमाः पृथिव्यामध्योपधीः ।

ता मां सहस्रपण्यो मृत्योर्मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १३ ॥

यावन्तीः । कियन्तीः । च । इमाः । पृथिव्याम् । अधि । औपधीः ।

ताः । मा । सहस्रपण्यः । मृत्योः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥ १३ ॥

पृथिवीमें जितनी भी औपधियें हैं वे अनन्त पत्तों वाली औप-  
धियें मुझे मृत्युदायक पापसे मुक्त करें ॥ १३ ॥

वैयाघ्रो मणिर्वीरुधां त्रायमाणोभिशस्तिपाः ।

अमीवाः सर्वा रक्षांस्यप हन्त्वधि दूरमस्मत् ॥ १४ ॥

वैयाघ्रः । मणिः । वीरुधाम् । त्रायमाणः । अभिशस्तिपाः ।

अमीवाः । सर्वा । रक्षांसि । अप । हन्तु । अधि । दूरम् । अस्मत् ॥

औपधियोंसे रक्षित यह वैयाघ्रमणि आरोपित रोगरूप पापों  
से रक्षा करने वाला है, वह रोग और राक्षसोंको हमसे दूर  
लेजाकर नष्ट कर डाले ॥ १४ ॥

सिंहस्यैव स्तनयोः सं विजन्तेभेस्विं विजन्त आमृ-  
ताभ्यः ।

गवां यक्ष्मः पुरुषाणां वीरुद्धिरतिनुत्तो नाव्या एतु  
स्रोत्याः ॥ १५ ॥



सिंहस्यऽङ्घ्रि । स्तनयोः । सम् । विजन्ते । अग्नेऽङ्घ्रि । विजन्ते ।

आऽभृताभ्यः ।

गचाम् । यचमः । पुरुषाणाम् । वीरूजभिः । अतिऽनुचः । नाव्याः ।

एतु । स्रोत्याः ॥ १५ ॥

सिंहकी दहाइसे प्राणी जिस प्रकार उद्दिग्ध होने लगते हैं और अग्निसे जिस प्रकार घबड़ाने लगते हैं तैसे ही इन लार्ई हुई औषधियोंसे खेदड़ा हुआ पशुओंका और पुरुषोंका रोग नौका से तरने योग्य नदीके पार चला जावे ॥ १५ ॥

मुमुक्षाना औषधयोर्गैर्वैश्वानरादधि ।

भूमिं संतन्वतीरिति यासां राजा वनस्पतिः ॥ १६ ॥

मुमुक्षानाः । औषधयः । अग्नेः । वैश्वानराद् । अधि ।

भूमिम् । सम्ऽतन्वतीः । इति । यासाम् । राजा । वनस्पतिः १६

जिनका राजा वनस्पति है और जो भूमिको आच्छादित कर लेती हैं ऐसी ये रोगसे मुक्त करने वाली औषधियें वैश्वानर अग्निसे भी श्रेष्ठ हैं ॥ १६ ॥

या रोहन्त्याङ्गिरसीः पर्वतेषु समेषु च ।

ता नः पर्यस्वतीः शिवा औषधीः सन्तु शं हृदे १७

याः । रोहन्ति । आङ्गिरसीः । पर्वतेषु । समेषु । च ।

ताः । नः । पर्यस्वतीः । शिवाः । औषधीः । सन्तु । शम् । हृदे १७

महर्षि अंगिराकी वर्णित जो औषधियें पर्वतोंमें और सम-

स्यानोंमें उत्पन्न होती हैं वे दुग्धकी समान सारमयीं कल्याण-  
कारिणी औषधियें हमारे हृदयको सुख देने वाली हों ॥१७॥  
याश्चाहं वेदं वीरुधो याश्च पर्यामि चक्षुषा ।

अज्ञाता जानीमश्च या यासुं विद्म च संभृतम् १८  
याः । च । अहम् । वेद । वीरुधः । याः । च । पर्यामि । चक्षुषा ।  
अज्ञाताः । जानीमः । च । याः । यासुं । विद्म । च । सम्भृतम्

जिन औषधियोंको मैं जानता हूँ और जिनको मैं नेत्रसे देख  
रहा हूँ । और जिन अज्ञात औषधियोंको हम जानें और इनमें  
इन २ रोगोंको दूर करनेका तत्व भरा हुआ है इस रूपमें हम  
जिन औषधियोंको जानते हैं ॥ १८ ॥

सर्वा समग्रा ओषधीर्वोधन्तु वचसो मम ।

यथेमं पार्यामसि पुरुषं दुरितादधि ॥ १९ ॥

सर्वाः । सम्मग्राः । ओषधीः । बोधन्तु । वचसः । मम ।

यथा । इमम् । पार्यामसि । पुरुषम् । दुःश्रितात् । अधि ॥१९॥

वे समग्र औषधियें मेरे वचनको जान लें, कि-जिस प्रकार मैं  
इस पुरुषको रोगरूप पापके पार पहुँचा सकूँ ( तैमा करें ) १९

अश्वत्यो दर्भो वीरुधां सोमो राजामृतं हवि ।

व्रीहिर्यवश्च भेषजो दिवस्पुत्रावर्मर्त्या ॥ २० ॥

अश्वत्यः । दर्भः । वीरुधाम् । सोमः । राजा । अमृतम् । हविः ।

व्रीहिः । यवः । च । भेषजो । दिवः । पुत्री । अर्मर्त्या ॥ २० ॥

अश्वत्थ औपधियोंका दर्भ है, सोम राजा है, अमृत हवि ( भक्ष्य पदार्थ ) है, धान और जौ औपधियें हैं ये दोनों अन्तरिक्षके पुत्र हैं अन्तरिक्षमेंसे वृष्टिके द्वारा होते हैं । और अमर्त्य हैं ॥ २० ॥ ( १८ )

उज्जिंहीध्वे स्तनयत्यभिकन्दत्योषधीः ।

यदा वः पृश्निमातरः पर्जन्यो रेतसावति ॥ २१ ॥

उत् । जिहीध्वे । स्तनयति । अभिज्जन्दति । ओषधीः ।

यदा । वः । पृश्निमातरः । पर्जन्यः । रेतसा । अवति ॥ २१ ॥

हे औपधियों ! जब ( विजली ) कड़कती है ( मेघ ) गरजता है और वायु तथा पर्जन्य वर्षारूप वीर्यसे तुम्हारी रक्षा करता है तब तुम अनेक प्रकारसे चलती-दिलती-हो ॥ २१ ॥

तस्यामृतस्येमं वलं पुरुषं पाययामसि ।

अथो कृणोमि भेषजं यथासञ्च्यतहायनः ॥ २२ ॥

तस्य । अमृतस्य । इमम् । वलम् । पुरुषम् । पाययामसि ।

अथो इति । कृणोमि । भेषजम् । यथा । असत् । शतऽहायनः २२

उस औषधसमूहके अमृत रूप बलको हम इस पुरुषको पिलाते हैं इस प्रकार मैं इसकी औषधिको करता हूँ, जिस प्रकार ये सौ वर्षका हो जाय ॥ २२ ॥

वराहो वेद वीरुधं नकुलो वेद भेषजीम् ।

सर्पा गन्धर्वा या विदुस्ता अस्मा अबसे हुवे २३

वराहः । वेदः । वीरुधम् । नकुलः । वेदः । भेषजीम् ।

सर्पाः । गन्धर्वाः । याः । विदुः । ताः । अस्मै । अवसे । हुवे २३

वराह जिन लताओंको जानता है, और नौला जिस औषधिको जानता है तथा सर्प और गन्धर्वे जिन औषधियोंको जानते हैं उनका हम इस रूप पुरुषकी रक्षाके लिये आह्वान करते हैं ॥ २३ ॥

याः सुपर्णा आङ्गिरसीर्दिव्या या रघटं विदुः ।

वयांसि हंसा या विदुर्याश्च सर्वे पतत्रिणः ।

मृगा या विदुरोपधीस्ता अस्मा अवसे हुवे ॥ २४ ॥

याः । सुपर्णाः । आङ्गिरसीः । दिव्याः । याः । रघटः । विदुः ।

वयांसि । हंसाः । याः । विदुः । या । च । सर्वे । पतत्रिणः ।

मृगाः । याः । विदुः । ओपधीः । ताः । अस्मै । अवसे । हुवे २४

जितनी सुन्दर पक्षोंवाली औषधियोंका अंगिरा मुनिने प्रयोग किया है, और जिन दिव्य औषधियोंको रघट जानते हैं पक्षी और हंस जिन औषधियोंको जानते हैं और जिनको सकल पक्षी जानते हैं और पशु भी जिन औषधियोंको जानते हैं उन सकल औषधियोंका मैं इसकी रक्षाके लिये आह्वान करता हूँ ॥ २४ ॥

यावतीनामोपधीनां गावः प्राश्रन्त्यध्व्या यावतीनाम-

जावयः ।

तावतीस्तुभ्यमोपधीः शर्म यच्छन्त्वाभृताः ॥ २५ ॥

यावतीनाम् । ओषधीनाम् । गावः । प्रञ्जयन्ति । अघ्न्याः ।

यावतीनाम् । अजऽअवयः ।

तावतीः । तुभ्यम् । ओषधीः । शर्म । यच्छन्तु । आऽभृताः २५

जितनी औषधियोंको अवश्य गौएँ ( रोगनिवृत्ति के लिये ) खाती हैं और जिनको भेड़ बकरियों खाती हैं, लाई हुई वे सब औषधियाँ तुम्हें कल्याण दें ॥ २५ ॥

यावतीषु मनुष्या भेषजं भिषजां विदुः ।

तावतीर्विश्वभेषजीरा भ्रामि त्वामभि ॥ २६ ॥

यावतीषु । मनुष्याः । भेषजम् । भिषजः । विदुः ।

तावतीः । विश्वभेषजीः । आ । भ्रामि । त्वाम् । अभि २६

लताओंमेंसे जितनी लताओंमें वैद्य औषधिको जानते हैं उन सकल औषधियोंको हम कल्याण करनेके लिये तेरे सम्मुख ला चुके हैं ॥ २६ ॥

पुष्पवतीः प्रसूयतीः फलिनीः फला उत ।

समातर इव दुहामस्मा अरिष्टतातये ॥ २७ ॥

पुष्पवतीः । प्रसूयतीः । फलिनीः । अफलाः । उत ।

समातरः इव । दुहाम् । अस्मै । अरिष्टतातये ॥ २७ ॥

पुष्प वाली, ( नीरोगताके ) प्रसव वाली, फल वाली और फलरहित औषधियाँ इस पुरुषका कल्याण करनेके लिये आरोग्य-फलको दुहें ॥ २७ ॥

उत त्वाहापं पञ्चशलादथो दशशलादुत ।

अथो यमस्य पद्वीशाद् विश्वस्माद् देवकिन्विपात्

उत् । त्वा । अहापम् । पञ्चशलात् । अथो इति । दशशलात् । उत ।

अथो इति । यमस्य । पद्वीशात् । विश्वस्मात् । देवकिन्विपात्  
इति चतुर्थेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे रोगिन् । मैंने (मन्त्रशक्तिसे) तुझको पाँचशलाका वाले और दश शलाका वाले काठके पादबंधनसे यमदेवके पादबंधनसे अधिक क्या सम्पूर्ण देवताओंका अपराध करने पर भोगने पड़ने वाले पादबंधनरूप रोगसे उद्धृत कर लिया है ॥ २८ ॥ ( १९ )

चतुर्थ अनुवाकमे प्रथम सूक्त समाप्त ॥ ( ४४५ )

“इन्द्रो मन्यतु” इति अर्थसूक्तस्य शत्रुक्षयशत्रुभयनाशनशत्रु-जयस्वकीयबलवर्धनकर्मसु त्रिनियोगः । तानि कर्माणि सेनाकर्माणि नाम भवन्ति । तत्र सेनाप्रिसिद्धयर्थं “पूतिरज्जुः” [ २ ] इत्यर्धर्चेन अग्निपातदेशे जीर्णा रज्जुम् अवधाय अश्वत्थवधकयोर्नाम पिप्पलरुरिमालकयोः काष्ठयोः “इन्द्रो मन्यतु” इति श्रुत्वा अग्निं मन्यति । धूमं दृष्ट्वा अग्निपदरहितेनार्धर्चेन अनुमन्त्रयते । “अग्निं परादश्य” [ २ ] इत्यादिनार्धर्चेन धूमपदरहितेन अग्निम् अनुमन्त्रयते । तादृशेऽग्नी सेनाकर्माणि स्युः । तान्येवम् ।

“इन्द्रो मन्यतु” इति सूक्तेन प्रत्यृचम् अश्वत्थसमिध आदधाति । शत्रुक्षयो भवति ॥

तथा अनेन सूक्तेन प्रत्यृचं करिपालकसमिध आदधाति ॥

तथा अनेन सूक्तेन प्रत्यृचम् एरण्डसमिध आदधाति ॥

तथा अनेन सूक्तेन प्रत्यृचं पलाशासमिध आदधाति । तिष्ठि-समिध इति केशवः ॥

तथा अनेन सूक्तेन प्रत्यृचं खदिरसमिध आदधाति ॥

तथा अनेन सूक्तेन प्रत्यृचं शरसमिध आदधाति ॥ शत्रुभयं न भवति । कर्मविकल्पः ॥ सप्तत्तयणी समाप्ता ॥

तथा अभ्यातानान्तं कृत्वा अनेन सूक्तेन भाद्रपाशान् संपात्याभिमन्त्र्य सेनाक्रमेषु वपति । सर्वत्र क्रुद्धेनाभिमन्त्रणं पाशादिषु । तत उत्तरतन्त्रम् ॥

तथा तन्त्रं कृत्वा अनेन सूक्तेन मौञ्जान् पाशान् संपात्याभिमन्त्र्य सेनाक्रमेषु वपति । तन्त्रं च ॥

तथा अनेन सूक्तेन बाधकदण्डानि आश्वत्थानि कूटानि संपात्याभिमन्त्र्य सेनाक्रमेषु वपति ॥

तथा अनेन सूक्तेन बाधकदण्डानि भाङ्गानि जालानि संपात्याभिमन्त्र्य सेनाक्रमेषु वपति ॥ समाप्तानि जयकर्माणि ॥

उक्तेषु सर्वकर्मसु अङ्गभूतानि वक्ष्यमाणानि श्रीणि कर्माणि भवन्ति । “स्वाहैभ्यः” [ २४ ] इति पदद्वयेन स्वमित्रवल्लद्वयस्य आज्यं जुहोति दक्षिणहस्तेन बाधककाष्ठप्रज्वालितेनौ । “दुराहामीभ्यः” [ २४ ] इति पदद्वयेन परवलविनाशार्थं सव्येन हस्तेन इक्षिडं जुहोत्युक्तानौ । कर्माग्नेरुत्तरस्मिन् देशे रक्तपिप्पलशार्वाभूस्त्युदरे ऊर्ध्वा कृत्वा नीललोहितवर्णाभ्यां सूत्राभ्यां सर्वां वेष्टयित्वा “नीललोहितेनामूनभ्यवतनोमि” [ २४ ] इत्यनेन दक्षिणादूरे प्रकर्षेण त्याजयति ॥

सेनाकर्माणि अरण्ये कार्याणि न ग्रामे । युद्धप्रदेशे वा यथाप्रसक्तम् तद् उक्तं कौशिकेन । “इन्द्रो मन्यत्विति पूतिरञ्जुरिति पूतिरञ्जुम् अवधायारवत्यवधकयोरग्निं मन्यति । धूमम् इति धूमम् अजुमन्त्रयते । अग्निम् इत्यग्निम् । तस्मिन्नरण्ये सप्तत्तयणीरादधाति आश्वत्थवधकताजद्गङ्गाखदिरशराणाम् । उक्ताः पाशाः । आश्वत्थानि कूटानि भाङ्गानि जालानि बाधकदण्डानि । स्वाहैभ्य इति

मित्रेभ्यो जुहोति दुराहामीभ्य इति सव्येनेद्भिदम् अभित्रेभ्यो वाधके । उत्तरतोऽग्नेर्लोहितारवत्त्यस्य शाखां निहत्य नीललोहि-  
ताभ्यां सूत्राभ्यां परित्यज्य नीललोहितेनामून् इति दक्षिणा प्रहा-  
वयति" इति [ कौ० २, ७ ] ॥ तानद्भ्य परएहः । कूटं निपा-  
दानां प्राणिवन्धनम् ॥ आहः पलाश इति दारिलः । तिष्ठिरिति  
केशवः । वृक्षविशेषपर्यायार्थे आहपदं सूत्रेऽपपाठो न चेत् प्राक्त-  
नेन प्रमादेन भवितव्यम् । परूप इत्येव नाम्ना भवितव्यम् सूक्ते  
परुपाहपददर्शनात् । परुपाहः परुप इति आहा यस्य स इति विग्रहः ॥

“इन्द्रो मन्यतु” इस अर्थसूक्तका शत्रुक्षय, शत्रुभयनाश शत्रुजय  
और अपने बलको बढ़ानेमें विनियोग किया जाता है । ये कर्म  
सेनाकर्म कहलाते हैं । इनमें सेनाग्निसिद्धिके लिये “पूतिरञ्जुः”  
इस दूसरी आधी ऋचासे अग्निपातदेशमें जीर्ण रञ्जुको रख  
कर पीपल और करिमालक काष्ठोंमें “इन्द्रो मन्यतु” ऋचासे अग्नि  
को मथे । धूमको देखकर अग्निपदरहित शेष आधी ऋचासे अनु-  
मन्त्रण करे । “अग्निं परादृश्य” ( २ ) इस धूमपदरहित अर्धच  
से अग्निका अनुमन्त्रण करे । और ऐसे अग्निमें सेनाकर्म करे ।  
ये कर्म ये हैं ।

“इन्द्रो मन्यतु” इस सूक्तसे प्रत्येक ऋचा पर अश्वत्थकी समि-  
धाओंको रखे । ऐसा करनेसे शत्रुका क्षय होता है ।

तथा इस सूक्तसे प्रत्येक ऋचा पर करिमालककी समिधाओं  
को रखे ।

तथा इस सूक्तकी प्रत्येक ऋचासे अण्डकी समिधाओंको रखे ।

तथा इस सूक्तकी प्रत्येक ऋचासे पलाशकी समिधाओंको  
रखे । केशवका मत है, कि-तिष्ठिसमिधाओंको रखे ।

तथा इस सूक्तसे प्रत्येक ऋचा पर सैण्की समिधाओंको



रक्खे तो शत्रुका भय नहीं होता यहाँ कर्मका विकल्प है । यह शत्रुक्षयिणी विधि पूर्ण हुई ।

तथा अभ्यातान तक करके इस सूक्तसे भंगके पाशोंको संपातित करके और अभिमन्त्रित सेनाके चलनेके मार्गमें ढाल देय । पाश आदि सबका क्रोधमें भरकर अनुमन्त्रण करे । इसके बाद उत्तर तन्त्र होता है ।

इसी प्रकार तन्त्रको करके इस सूक्तसे भूँजके पाशोंको संपातित और अभिमन्त्रित करके सेनाके पादसञ्चारस्थलमें बखेर देय । तन्त्र भी करे ।

तथा इस सूक्तसे बाधक दण्डोंको, पीपलके काष्ठको और निपादोंके प्राणिवधनको संपातित और अभिमन्त्रित करके सेनाके सञ्चारस्थलमें बखेर देय । ये जय कर्म समाप्त होगए ।

पूर्वोक्त सब कर्मोंमें अङ्ग भूत तीन कर्म होते हैं । वे तीन कर्म ये हैं, कि—“स्वाहैभ्यः” ( २४ ) इन दो पदोंसे अपने मित्रके बलकी वृद्धि करनेके लिये बाधक—काष्ठसे प्रज्वालित अग्निमें दाहिने हाथसे घृतकी आहुति देय । “दुराहापीभ्यः” ( २४ ) इन दो पदोंसे शत्रुके बलका विनाश करनेके लिये पूर्वोक्त अग्नि में बायें हाथसे इंगिड़की आहुति देय । कर्माग्निमें उत्तर देशमें लाल पीपलकी शाखाको भूमिरूप उदरमें ऊपरको करके लाल और नीले डोरीसे सारी शाखाको लपेटे । फिर “नीललोहितेनामू-नभ्यवतनोमि” ( २४ ) से दक्षिण दिशामें दूर फिकवा देय ।

सेनाकर्मोंको जङ्गलमें करावे, ग्राममें न करावे । वा प्रसङ्गानुसार युद्धप्रदेशमें करावे ॥

इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि—“इन्द्रो मन्यतिविति पूतिरञ्जुरिति पूतिरञ्जुं अवधायाश्वत्थवधकयोरग्निं मन्यति । धूमं इति धूमं अनुमन्त्रयते अग्निं इत्यग्निम् । तस्मिन्नरण्ये सपत्नस्त-

यणी रादधाति अश्वत्यवधक ताजद्भ्राह्मखरिरशराणाम् । उक्ताः  
पाशाः । आश्वत्यानि कूटानि भांगानि जालानि बाधकदण्डानि ।  
स्वाहैभ्य इति मित्रेभ्यो जुहोति । दुराहामीभ्य इति सव्येनेद्विडम्  
अमित्रेभ्यो बाधके । उत्तरतोऽप्रेलोहिताश्वत्यस्य शाखां निहत्य  
नीललोहिताभ्यां सूत्राभ्यां परित्यज्य नीललोहितेनामून् इति  
दक्षिणा प्रहावयति” ( कौशिकस्मृ २ । ७ ) ॥ सूत्रके ताजद्-  
भांगका अर्थ एरण्ड है । कूटका अर्थ निपादोंका प्राणिवंधन है ।  
दारिलका मत है, कि-आह पलाशको कहने हैं । और केशवका  
मत है, कि-तिरिंको कहते हैं ॥

इन्द्रो मन्थतु मन्थिता शक्रः शूरः पुरन्दरः ।

यथा हनाम सेनां अमित्राणां सहस्रशः ॥ १ ॥

इन्द्रः । मन्थतु । मन्थिता । शक्रः । शूरः । पुरम्न्दरः ।

यथा । हनाम । सेनाः । अमित्राणाम् । सहस्रशः ॥ १ ॥

पुरन्दर इन्द्रदेव शूर और समर्थ हैं तथा शत्रुओंकी सेनाओं  
को मयने वाले हैं ( वह इन्द्रदेव हममें अधिष्ठित होकर ) अग्नि  
को मयें, जिससे, कि-हम शत्रुओंकी सेनाओंको अनेक प्रकारसे  
मार सकें ॥ १ ॥

पूतिरज्जुर्गुप्मान्नी पूतिं सेनां कृणोत्वमूम् ।

धूममग्निं परादृश्यामित्रां हृत्स्वा दधतां भयम् ॥ २ ॥

पूतिरज्जुः । गुप्मान्नीः । पूतिम् । सेनाम् । कृणोतु । अमूम् ।

धूमम् । अग्निम् । परादृश्य । अमित्राः । हृत्शु । आ । दधताम् ।  
भयम् ॥ २ ॥

अग्नि संयोग वाली पूतिरञ्जु जीर्णरस्सी ) इस सेनाको जीर्ण करे । धूमको और अग्निको देखकर शत्रु हृदयमें डरने लगें । २।

अमूनश्चत्थ निः शृणीहि खादामूर् खदिराजिरम् ।

ताजद्भङ्ग इव भज्यन्तां हन्त्वेनान् वधको वधैः । ३।

अमून । अश्चत्थ । निः । शृणीहि । खाद । अमून । खदिर ।

अजिरम् ।

ताजद्भङ्गः इव । भज्यन्ताम् । हन्तु । एनान् । वधकः । वधैः । ३।

हे अश्चत्थ ! तू इन शत्रुओंको मार डाल और हे खदिर ! तू इन शत्रुओंमेंसे प्रत्येक गमनशील शत्रुको खाजा । ये ताजद्भङ्ग ( एरण्ड ) की समान टूट जावें और वधक काष्ठ इनको महारों से मार डाले ॥ ३ ॥

परुपानमूर् परुषाढः कृणोतु हन्त्वेनान् वधको वधैः ।

क्षिप्रं शर इव भज्यन्तां बृहज्जालेन संदिताः ॥ ४ ॥

परुपान् । अमूर् । परुषाढः । कृणोतु । हन्तु । एनान् ।

वधकः । वधैः ।

क्षिप्रम् । शरः इव । भज्यन्ताम् । बृहज्जालेन । सम्दिताः ४

परुष नामक वस्तु इनको परुष-प्राणहीन होनेसे अकड़ें हुए कठोर-करे और वधक काष्ठ हिंसाके उपायोंसे इनको मार डाले । और जैसे बड़े भारी जालसे तोड़े हुए शर टूट जाते हैं तिसी प्रकार शत्रु टूट जावें ॥ ४ ॥

अन्तरिक्षं जालमासीज्जालदण्डा दिशो महीः ।

तेनाभिधाय दस्यूनां शक्रः सेनामपावपत् ॥ ५ ॥

अन्तरिक्षम् । जालम् । आसीत् । जालदण्डाः । दिशः । महीः ।

तेन । अभिधाय । दस्यूनाम् । शक्रः । सेनाम् । अप । अवपत्

अन्तरिक्ष जाल हुआ था और महीय दिशाएँ जालकी दण्डरूप हुई थी उससे दस्युओंकी सेनाको धारण करके इन्द्रने उनका खण्डन कर डाला था ॥ ५ ॥

बृहद्भि जालं बृहतः शक्रस्य वाजिनीवतः ।

तेन शत्रून्भि सर्वान् न्युञ्ज यथा न मुच्यातै कत-  
मश्चनैषाम् ॥ ६ ॥

बृहत् । हि । जालम् । बृहतः । शक्रस्य । वाजिनीवतः ।

तेन । शत्रून् । अभि । सर्वान् । नि । उञ्ज । यथा । न । मुच्यातै ।

कतमः । चन । षाम् ॥ ६ ॥

इधिपुक्त यज्ञक्रिया वाले महान् इन्द्रदेवका ( शत्रुओंको पकड़नेका ) जाल विशाल है, हे इन्द्र ! उससे आप शत्रुओंको अधि मृत्य करके गिराइये जिससे इन शत्रुओंमेंसे कोई न छूट सके ॥ ६ ॥

बृहत् ते जालं बृहत इन्द्र शूर सहस्रार्धस्य शतवीर्यस्य  
तेन शतं सहस्रमयुनं न्युर्बुधं जघान शक्रो दस्यू-  
नामभिधाय सेनया ॥ ७ ॥

च॒हत् । ते । जालम् । बृ॒हत् । इन्द्र । श॒र । स॒हस्र॑ऽअ॒र्थस्य॑ ।

श॒तऽअ॒र्थस्य॑ ।

तेन । श॒तम् । स॒हस्रम् । अ॒युतम् । निऽअ॒र्बु॑दम् । ज॒यान॑ । श॒क्रः ।

द॒स्यु॑नाम् । अ॒भिऽधा॑य । से॒नया ॥ ७ ॥

हे शर इन्द्र ! यज्ञोंमें सहस्रों अर्थ पाने वाले, सैकड़ों पराक्रम करने वाले आपका जाल ( वैरियोंको फँसानेकी शक्ति ) विशाल है । इन्द्रदेवने सेनाके द्वारा उसी जालसे वैरियोंको पकड़ कर सैकड़ों हजारों लाखों और अर्बुदों दस्युओंको मार डाला था ७

अ॒यं लो॒को जाल॑मासीच्छ॒क्रस्य॑ म॒हतो॑ म॒हान् ।

तेना॒हमिन्द्र॑ जालेना॒मुंस्तम॑सा॒भि द॑धामि सर्वा॒न् ॥ ८ ॥

अ॒यम् । लो॒कः । जालम् । आ॒सीत् । श॒क्रस्य॑ । म॒हतः॑ । म॒हान् ।

तेन॑ । अ॒यम् । इन्द्र॑ऽजालेन॑ । अ॒मून् । तम॑सा । अ॒भि । द॒धामि॑ ।

सर्वा॒न् ॥ ८ ॥

महिमामय इन्द्रदेवका यह महान् लोक ही विशाल जाल है मैं उस इन्द्रजालसे इन सब वैरियोंको अंधकारसे आच्छादित करता हूँ ८

सेदि॒रु॒ग्रा व्यु॒द्धि॒रार्ति॑श्चान॒पवा॑चना ।

श्रम॑स्त॒न्द्नीश्च॑ मोह॑श्च तै॒रमू॑न॒भि द॑धामि सर्वा॒न् ॥ ९ ॥

से॒दिः । उ॒ग्रा । वि॒शुद्धिः॑ । आ॒र्तिः । च । अ॒नप॑ऽवा॒चना ।

श्रमः॑ । त॒न्द्नीः । च । मोहः॑ । च । तैः॑ । अ॒मूम् । अ॒भि । द॒धामि॑ ।

सर्वा॒न् ॥ ९ ॥

निष्कृतिं राक्षसी, भयंकरव्यूहि, आर्ति, अनपवाचना-अवश्य होने वाली निन्दा, अथ तन्द्रा तथा मोह इनसे मैं उन शत्रुओंको नष्ट करता हूँ ॥ ९ ॥

मृत्यवेमून् प्र यच्छामि मृत्युपाशैरमी सिताः ।

मृत्योर्ये अघला दूतास्तेभ्य एनान् प्रति नयामि वद्ध्वा

मृत्यवे । अमून् । प्र । यच्छामि । मृत्युपाशैः । अमी इति । सिताः ।

मृत्योः । ये । अघलाः । दूताः । तेभ्यः । एनान् । प्रति । नयामि ।

वद्ध्वा ॥ १० ॥

मैं इन शत्रुओंको मृत्युके अर्पण करता हूँ, ये मृत्युके पाशसे बँध गये हैं, दुःख देने वाले मृत्युके जो दूत हैं उनकी ओर मैं इन शत्रुओंको ( मन्त्रशक्तिसे ) बाँध कर लिये जाता हूँ १० (२०)

नयतामून् मृत्युदूता यमदूता अपोम्भत ।

परःसहस्रा हन्यन्तां तृणेदेवनान् मर्त्यं भवस्य ११

नयत । अमून् । मृत्युदूताः । यमदूताः । अप । उम्भत ।

परःसहस्राः । हन्यन्ताम् । तृणेद्दु । एनान् । मर्त्यम् । भवस्य ११

हे मृत्युदूतों ! तुम इनको लेजाओ और हे यमदूतों ! ( इनसे तुम नरकोंको ) पूर्ण करो, फिर इनके सहस्रों ( सैनिकों ) को मार डालो । और महादेवका मननीय संहार इनको मार डाले ११

साध्या एकं जालदण्डमुद्यत्य यन्त्योजसा ।

रुद्रा एकं वसंव एकमादित्येस्क उद्यंतः ॥ १२ ॥

साध्याः । एकम् । जालदण्डम् । उत्थ्यत्य् । यन्ति । ओजसा ।

रुद्राः । एकम् । वसवः । एकम् । आदित्यैः । एकः । उत्थ्यतः

साध्यदेवता एक जालदण्डको उद्यत कर बलपूर्वक शत्रुओं पर जा रहे हैं । तथा रुद्र-देवता एक जालदण्डको, वसुदेवता एक जालदण्डको उठा रहे हैं और आदित्योंने एक जालदण्ड को उठा लिया है ॥ १२ ॥

विश्वं देवा उपरिष्ठादुज्जन्तो यन्त्वोजंसा ।

मध्येन घ्नन्तो यन्तु सेनामङ्गिरसो महीम् ॥ १३ ॥

विश्वे । देवाः । उपरिष्ठात् । उज्जन्तः । यन्तु । ओजंसा ।

मध्येन । घ्नन्तः । यन्तु । सेनाम् । अङ्गिरसः । महीम् ॥ १३ ॥

अतः अब विश्वदेवता भी ऊपरसे ही बलपूर्वक मारते हुए चलें और रुद्रदेवता मध्यमें सेनाको मारकर पृथ्वी पर डाल दें ॥ १३ ॥

वनस्पतीन् वानस्पत्यानोपधीरुत वीरुधः ।

द्विपाचतुष्पादिष्णामि यथा सेनाममृं हनन् ॥ १४ ॥

वनस्पतीन् । वानस्पत्यान् । औपधीः । उत । वीरुधः ।

द्विष्पात् । चतुष्पात् । इष्णामि । यथा । सेनाम् । अमृम् । हनन् ।

मैं वनस्पतियोंको और वनस्पतिसे बनने वाली औपधियोंको तथा लताओंको तथा दो पैर और चार पैरों वाले ( जीवों ) को ( मन्त्रशक्तिसे ) अनवरत प्रेरित करता हूँ, जिससे ये इस सेना को मार डालें ॥ १४ ॥

गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन् ।  
दृष्टान् दृष्टानिष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥ १५ ॥

गन्धर्वऽअप्सरसः । सर्पान् । देवान् । पुण्यजनान् । पितॄन् ।  
दृष्टान् । अदृष्टान् । इष्णामि । यथा । सेनाम् । अमूंम् । हनन् ॥ १५ ॥

मैं गन्धर्व अप्सरा सर्प देवता राजस और देखे हुए तथा न  
देखे हुए पितरोंको ( मन्त्रशक्तिसे ) इस प्रकार प्रेरित करता हूँ,  
कि-जिस प्रकार वे इस सेनाको नष्ट कर डालें ॥ १५ ॥

इम उसा मृत्युपाशा यानाक्रम्य न मुच्यसे ।  
अमुष्या हन्तु सेनाया इदं कूटं सहस्रशः ॥ १६ ॥

इमे । उसाः । मृत्युपाशाः । यान् । आक्रम्य । न । मुच्यसे ।  
अमुष्याः । हन्तु । सेनायाः । इदम् । कूटम् । सहस्रशः ॥ १६ ॥

हे शत्रो ! जिनको लाँघने पर तू बच न सके ऐसे ये सहस्रों  
मृत्युपाश लगा दिये हैं, यह कूट इस शत्रुसेनाको सहस्रों प्रकार  
से मारे ॥ १६ ॥

घर्मः समिद्धो अग्निनायं होमः सहस्रहः ।  
भवश्च पृश्निवाहुश्च शर्व सेनाममूं हतम् ॥ १७ ॥

घर्मः । समिद्धः । अग्निना । अयम् । होमः । सहस्रहः ।

भवः । च । पृश्निवाहुः । च । शर्व । सेनाम् । अमूंम् । हतम् ॥ १७ ॥

घर्म नामक हवि अग्निसे भली प्रकार तप रहा है, यह होम



सहस्रौ शत्रुओंको मारनेकी शक्ति रखता है । श्वेत भुजा वाले भव और शर्व देवताओं आप इस सेनाको मार डालिये ॥ १७ ॥

मृत्योराषमा पद्यन्तां जुधं सेदिं वधं भयम् ।

इन्द्रश्चाक्षुजालाभ्यां शर्वं सेनाममूं हतम् ॥ १८ ॥

मृत्योः । आपम् । आ । पद्यन्ताम् । जुधम् । सेदिम् । वधम् । भयम् ।

इन्द्रः । च । अक्षुजालाभ्याम् । शर्वं । सेनाम् । अमूम् । हतम् ॥ १८ ॥

ये शत्रु मृत्युके ( आप-आस्थ ) मुखको प्राप्त होवें, जुधाको, अवसाद करने वाली अलक्ष्मी सेदिको, वध और भयको प्राप्त होवें । इन्द्र देवता और हे शर्वदेवता ! आप भी इस सेनाको मार डालिये ॥ १८ ॥

पराजिताः प्र असतामित्रा नुत्ता धावत ब्रह्मणा ।

बृहस्पतिप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन ॥ १९ ॥

पराजिताः । प्र । असत । अमित्राः । नुत्ताः । धावत । ब्रह्मणा ।

बृहस्पतिप्रणुत्तानाम् । मा । अमीषाम् । मोचि । कः । चन ॥ १९ ॥

हे शत्रुओं ! तुम मन्त्रशक्तिसे पराजित होजाओ, प्रस होओ और इस मन्त्रशक्तिके खदेड़ने पर भागनेलगो । वहे २ मन्त्रोंके अधिष्ठात्री देवता बृहस्पतिसे खदेड़े हुए इन शत्रुओंमेंसे कोई भी न छूटने पावे ॥ १९ ॥

अव पद्यन्तामेषामायुधानि मा शकन् प्रतिधामिषुम् ।

अथैषां बहु विभ्यतामिषवो घ्नन्तु मर्माणि ॥ २० ॥

( ६० = ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

अथ । पथन्ताम् । एषाम् । आयुधानि । मा । शक्नु । प्रतिष्ठाम् ।  
इष्टम् ।

अथ । एषाम् । बहु । विभ्यताम् । इषवः । भन्तु । मर्मणि २०

इन शत्रुओंके आसुध नीचेकी गिर पड़ें, ये बाणको फिर धनुष  
पर चढ़ानेको समर्थ न हो सकें । फिर इन परम भयभीत होते  
हुओंके मर्मस्थलमें बाण चोट करें ॥ २० ॥

सं क्रोशतामेनान् द्यावापृथिवी समन्तरिक्षं सह  
देवताभिः ।

मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिथो विघ्नाना उप  
यन्तु मृत्युम् ॥ २१ ॥

सम् । क्रोशताम् । एनान् । द्यावापृथिवी इति । सम् । अन्तरिक्षम् ।  
सह । देवताभिः ।

मा । ज्ञातारम् । मा । प्रतिष्ठाम् । विदन्त । मिथः । विघ्नानाः ।  
उप । यन्तु । मृत्युम् ॥ २१ ॥

द्यावापृथिवी अन्तरिक्ष और देवता इनको शाप दें तब ये  
शत्रु प्रतिष्ठाको न पाते हुए और किसी अथर्ववेदके ज्ञाताको न  
पाते हुए परस्परमें ही विघ्न डालते हुए मृत्युको प्राप्त हो जायें २१

दिशश्चतस्रोऽश्वत्थो देवस्थस्य पुरोडाशाः शफा  
अन्तरिक्षमुद्भिः ।

द्यावापृथिवी पक्ष्सी ऋतवोभीशवोन्तर्देशाः किंकरा  
वाक् परिरध्यम् ॥ २२ ॥

दिशः । चतस्रः । अरवत्तर्यः । देवऽरथस्य । पुरोडाशाः । शफाः ।  
अन्तरिक्षम् । उद्धिः ।

द्यावापृथिवी इति । पक्ष्सी इति । ऋतवः । अभीशवः । अन्तःऽदेशाः ।  
किम्ऽकराः । वाक् । परिरध्यम् ॥ २२ ॥

अग्निदेवरथकी चार दिशाएँ ही खिचरियेँ हैं, पुरोडाश ही  
सुम है, अन्तरिक्ष ही उद्धि-ऊपर रहनेका स्थान-है, द्यावापृथिवी  
पक्ष्सी हैं, ऋतुएँ लगामें हैं, अन्तर्देश ही किंकर हैं, और वाणी  
परिरध्य है ॥ २२ ॥

संवत्सरो रथः परिवत्सरो रथोपस्थो विराडीषाग्नी रथमुखम्  
इन्द्रः सव्यष्ठाश्चन्द्रमाः सारथिः ॥ २३ ॥

सम्ऽवत्सरः । रथः । परिवत्सरः । रथऽपस्थः । विराट् ।  
ईषा । अग्निः । रथऽमुखम् ।

इन्द्रः । सव्यऽस्थाः । चन्द्रमाः । सारथिः ॥ २३ ॥

इन्द्र बाई ओर बैठने वाले हैं, चन्द्रमा सारथि हैं सम्बत्सर  
रथ है, परिवत्सर रथकी बैठक है, विराट् ईषा है, अग्नि रथका  
मुख है ॥ २३ ॥

इतो जयेतो वि जय सं जय नय स्वाहा ।

इमे जयन्तु परामी जयन्तां स्वाहैभ्यो दुराहामीभ्यः ।

नीललोहितेनामूनभ्यवन्तनोमि ॥ २४ ॥

इतः । जय । इतः । वि । जय । सम् । जय । जय । स्वाहा ।

इमे । जयन्तु । परा । अमी इति । जयन्ताम् । स्वाहा । एभ्यः ।

दुराहा । अमीभ्यः ।

नीललोहितेन । अमून् । अभिऽअवन्तनोमि ॥ २४ ॥

चतुर्थेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

इति चतुर्थेऽनुवाकः ॥

हे राजन् ! इधरसे जीत, इधरसे विशेषरूपसे जीत ! जीत जीत ! यह आहुति स्वाहुत हो । हमारे ये यजमान आदि जीतें, और ये शत्रु पराजित हो जावें इन मित्रोंकी विजयके लिये यह आहुति स्वाहुत हो और इन शत्रुओंके लिये घुरी प्रकारसे आहुत हो मैं नीले और लाल डोरेसे इनको लपेटता हूँ ॥ २४ ॥ ( ५१ )

चतुर्थ अनुवाकमेद्वितीय सूक्त समाप्त ॥ ( ४४६ )

चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥

कुतस्ताविति सूक्ते विराडादिविषयः संवादो विचारश्च ॥

“कुतस्तौ” “विराड् वै” इति सूक्ताभ्यां जपं करोति स्वर्गकाम इति विनियोगमाला ॥

‘कुतस्तौ’ सूक्तमें विराट् आदिके विषयका संवाद और विचार है। विनियोगमालामें कहा है, कि—स्वर्गको चाहने वाला ‘कुतस्तौ’ “विराड् वै” सूक्तोंसे जप करे ॥

कुतस्तौ जातौ कन्तमः सो अर्धः कस्मान्लोकात्  
कन्तमस्याः पृथिव्याः ।

वत्सौ विराजः सलिलादुदैतां तौ त्वा पृच्छामि  
कतरेण दुग्धा ॥ १ ॥

कृतः । तौ । जातौ । कतमः । सः । अर्धः । कस्मात् । लोकात् ।

कतमस्याः । पृथिव्याः ।

वत्सौ । विराजः । सलिलात् । उद् । ऐताम् । तौ । त्वा ।

पृच्छामि । कतरेण । दुग्धा ॥ १ ॥

जो विराट् के वत्स हैं वे कहाँसे उत्पन्न हुए हैं, वह समृद्धि-सम्पन्न किस लोक और किस पृथिवीसे प्रकट हुआ है । विराट् के वत्स जलसे उदित हुए हैं, उनका ही विषय मैं आपसे वृम्भता हूँ आपने उनको किस मार्गसे समझा है ( दुहा है ) ॥ १ ॥

यो अक्रन्दयत् सलिलं महित्वा योनिं कृत्वा त्रिभुजं  
शयानः ।

वत्सः कामदुघां विराजः स गुहां चक्रे तन्वः पराचैः

यः । अक्रन्दयत् । सलिलम् । महित्वा । योनिम् । कृत्वा ।

त्रिभुजम् । शयानः ।

वत्सः । कामदुघां । विराजः । सः । गुहां । चक्रे । तन्वः ।

पराचैः ॥ २ ॥

जिन्होंने त्रिभुजरूपसे जलमें शयन कर जलको कारण बना कर अपनी महिमासे जलको क्रन्दन कर दिया था, विराट् का

वत्स इच्छाको पूर्ण करने वाला है, उसने प्रत्यङ्मुख गमन करके शरीरकी गुहा बनाई है ॥ २ ॥

यानि त्रीणि बृहन्ति येषां चतुर्थं विद्युनक्ति वाचम् ।  
ब्रह्मेनद् विद्यात् तपसा विपश्चिद् यस्मिन्नेकं युज्यते  
यस्मिन्नेकम् ॥ ३ ॥

यानि । त्रीणि । बृहन्ति । येषाम् । चतुर्थम् । विद्युनक्ति । वाचम् ।  
ब्रह्मा । एनद् । विद्यात् । तपसा । विपश्चिद् । यस्मिन् । एकम् ।  
युज्यते । यस्मिन् । एकम् ॥ ३ ॥

जो तीन विशाल हैं—महियामय हैं इनमेंसे ( एक ) चौथी वाणीको और जिसमें एकाकी होने पर ही पुरुष संगत होसकता है उसको ब्रह्म जाने ॥ ३ ॥

बृहत् परि सामानि पष्ठात् पञ्चाधि निर्मिता ।

बृहद् बृहत्या निर्मितं कुतोधि बृहती मिता ॥ ४ ॥

बृहत् । परि । सामानि । पष्ठात् । पञ्च । अधि । निःसृमिता ।

बृहत् । बृहत्याः । निःसृमितम् । कुतः । अधि । बृहती । मिता ४

बृहत्से श्रेष्ठ पाँच साम निर्मित हैं उनसे पष्ठात् निर्मित है, और बृहती—महती घायःपृथिवीने बृहत्को निर्मित किया है तो बृहती कहाँसे मित है ॥ ४ ॥

बृहती परि मात्राया मातुर्मात्राधि निर्मिता ।

माया हं जज्ञे मायायां मायाया मातली परि ॥ ५ ॥

बृहती । परि । मात्रायाः । मातुः । मात्रा । अधि । निःश्रिता ।

माया । ह । जज्ञे । मायायाः । मायायाः । मातली । परि ॥ ५ ॥

बृहतीकी मात्रासे माताकी मात्रा अधिनिर्मित है, माया ( माता )  
से माया उत्पन्न हुई मातलि मायासे उत्पन्न हुआ है ॥ ५ ॥

वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद् रोदसी विववाधे  
अग्निः ।

ततः षष्ठादामुतो यन्ति स्तोमा उदितो यन्त्यभि  
षष्ठमहः ॥ ६ ॥

वैश्वानरस्य । प्रतिष्ठा । उपरि । द्यौः । यावत् । रोदसी इति ।  
विववाधे । अग्निः ।

ततः । षष्ठात् । आ । अमुतः । यन्ति । स्तोमाः । उत् । इतः ।

यन्ति । अभि । षष्ठम् । अहः ॥ ६ ॥

जहाँ तक यावापृथिवी है तहाँ तक अग्नि बाधा देसकते हैं ।  
वैश्वानर अग्निदेवकी प्रतिष्ठा पर ही द्यौ प्रतिष्ठित है अर्थात् अग्नि-  
साध्य याग आदि करने पर ही स्वर्गकी प्राप्ति होती है । और  
दिनके छठे भागमें स्तोम यहाँसे षष्ठात्को प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

पद् त्वां पृच्छाम ऋषयः कश्यपेमे त्वं हि युक्तं युयुजे  
योग्यं च ।

विराजमाहुर्ब्रह्मणः पितरं तां नो वि वेहि यतिधा  
सखिभ्यः ॥ ७ ॥

पट् । त्वा । पृच्छाम् । ऋपयः । करयप । इमे । त्वम् । हि ।

युक्तम् । युयुसे । योग्यम् । च ।

विराजम् । आहुः । ब्रह्मणः । पितरम् । ताम् । नः । वि ।

धेहि । यतिऽथा । सखिऽभ्यः ॥ ७ ॥

हे करयप ! आप युक्त और योग्यका उचितरीतिसे योग करना जानते हैं अतः हम छः ऋषि आपसे धूमते हैं, कि-विराट्को ब्रह्माका पिता कहते हैं अतः हम मित्रोंके अर्थ आप उस विराट्का यतियोंकी रीति पर उपदेश दीजिये ॥ ७ ॥

यां प्रच्युतामनु यज्ञाः प्रच्यवन्त उपतिष्ठन्त उपतिष्ठ-  
मानाम् ।

यस्यां व्रते प्रसवे यत्तमेजन्ति सा विराट्पयः परमे  
व्योमिन् ॥ ८ ॥

याम् । प्रच्युताम् । अनु । यज्ञाः । प्रच्यवन्ते । उपतिष्ठन्ते ।  
उपतिष्ठमानाम् ।

यस्याः । व्रते । प्रसवे । यत्तम् । एजन्ति । सा । विराट् ।  
ऋपयः । परमे । विऽओमन् । ॥ ८ ॥

जिस विराट्के प्रच्युत होने पर यज्ञ प्रच्यावित होने लगते हैं । और उपतिष्ठित होने पर उपतिष्ठित होते हैं अर्थात् जब पुरुष विराट्की भक्ति करना छोड़ देते हैं तब यज्ञोंका भी करना छोड़ देते हैं और जब विराट्का उपस्थान करते हैं तब यज्ञोंको भी



करते हैं । कर्म में जिसका ( स्तुतिरूपसे ) प्रसव होने पर पूज्य-  
भाव होने लगता है हे ऋषियों ! वह विराट् परमाकाशमें है ॥  
अप्राणैति प्राणेन प्राणतीनां विराट् स्वराजमभ्येति  
पश्चात् ।

विश्वं सृशन्तीमभिरूपां विराजं पश्यन्ति त्वे न त्वे  
पश्यन्त्येनाम् ॥ ६ ॥

अप्राणा । एति । प्राणेन । प्राणतीनाम् । विराट् । स्वराजम् ।  
अभि । एति । पश्चात् ।

विश्वम् । सृशन्तीम् । अभिरूपां । विराजम् । पश्यन्ति । त्वे  
इति । न । त्वे इति । पश्यन्ति । एनाम् ॥ ६ ॥

हे ऋषियों ! अप्राणाविराट् प्राणन करने वाली प्रजाओंके  
प्राणरूपमें आता है, फिर विराट् स्वराट्को प्राप्त होजाता है ।  
सबका स्पर्श करते हुए विराट्को पुरुष तुझमें ही देख सकते हैं  
( और मायासे मोहित हों तो ) तुझमें नहीं देख सकते ॥ ६ ॥

को विराजों मिथुनत्वं प्र वेदं क ऋतून् क उ  
कल्पमस्याः ।

क्रमान् को अस्याः कतिधा विदुग्धान् को अस्याः  
धामं कतिधा न्युष्टीः ॥ १० ॥

कः । विराजः । मिथुनत्वं । प्र । वेदं । कः । ऋतून् । कः ।

ऊं इति । कल्पम् । अस्याः ।

क्रमान् । कः । अस्याः । कतिष्ठा । विऽदुग्धान् । कः । अस्याः ।

धाम । कतिष्ठा । विऽज्जृणीः ॥ १० ॥

प्रजापति ही विराट्के मिथुनत्व ऋतु और कल्पोंको जानते हैं, वही इसके क्रमोंको विदुग्धोंको धामोंको और तमोविवासनको जानते हैं ॥ १० ॥

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा  
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्बधूजिगाय नवग-  
ज्जनित्री ॥ ११ ॥

इयम् । एव । सा । या । प्रथमा । विऽव्यौच्छत् । आसु । इत-  
रासु । चरति । मऽविष्टा ।

महान्तः । अस्याम् । महिमानः । अन्तः । बधूः । जिगाय ।  
नवगत् । जनित्री ॥ ११ ॥

यह विराट् उपारूपमें प्रथम उत्पन्न होता है, ( इस प्रकार इसका परम महत्व सूचित होता है ) यह उपारूपमें सृष्टिकी आदि में उत्पन्न होकर अंधकारको दूर कर चुका है । यह विराटात्मक उपा दीखती हुई दूसरी उपाओंमें प्रविष्ट होकर उदित होती है, ऐसी विराटात्मक उपामें वड़े २ माहात्म्य हैं, सूर्य सोम अग्नि आदि वड़े २ देवता इस विराट्में रहते हैं तात्पर्य यह है, कि— सूर्य आदि इसके अधीन होकर ही प्रकाश करते हैं । यह विराटात्मक उपा सूर्यकी बधू है और यह दिनके नौ भागोंमें जाने वाली नवगत् उपा प्राणियोंको प्रकाशका दान देकर उनको उत्पन्न करती हुई सर्वोत्कृष्ट भावसे वर्तमान रहती है ॥ ११ ॥

छन्दःपक्षे उषसा पेपिशाने समानं योनिमनु सं चरेते ।

सूर्यपत्नी सं चरतः प्रजानतीः केतुमती अजरे भूरिरेतसा

छन्दःपक्षे इति छन्दःपक्षे । उषसा । पेपिशाने इति । समानम् ।

योनिम् । अनु । सम् । चरेते इति ।

सूर्यपत्नी इति सूर्यपत्नी । सम् । चरतः । प्रजानती इति प्र-

जानती । केतुमती इति केतुमती । अजरे इति । भूरिरेतसा

अजर छन्दपक्ष उषःस्वरूप विराट्से रूपके स्पष्ट होने पर एक से ही कारणका अनुसरण करते हैं । सूर्यपत्नी ज्ञानवती उषा अपने प्रकाशरूप बड़े भारी वीर्यसे उनको जानती है ॥ १२ ॥

ऋतस्य पन्थामनु तिस्र आगुस्त्रयो धर्मा अनु रेत आगुः

प्रजामेका जिन्वत्यूर्जमेका राष्ट्रमेका रक्षति देवयूनाम्

ऋतस्य । पन्थाम् । अनु । तिस्रः । आ । अगुः । त्रयोः । धर्माः ।

अनु । रेतः । आ । अगुः ।

प्रजाम् । एका । जिन्वति । ऊर्जम् । एका । राष्ट्रम् । एका ।

रक्षति । देवयूनाम् ॥ १३ ॥

सत्यके मार्गमें अग्नि सूर्य और चन्द्रमा ये तीन जाते हैं ये तीनों अपने तेजस्वरूप वीर्यके साथ जाते हैं । इनमेंसे एककी शक्ति ऋत्विजोंकी वृत्ति करती है एक बलकी पुष्टि करती है और एक ऋत्विजोंके राष्ट्रकी रक्षा करती है ॥ १३ ॥

अग्नीपोमांवदधुर्या तुरीयासीद् यज्ञस्य पक्षावृषयः  
कल्पयन्तः ।

गायत्रीं त्रिष्टुभं जगतीमनुष्टुभं बृहदंकीं यजमानाय  
स्वराभरन्तीम् ॥ १४ ॥

अग्नीपोमौ । अदधुः । या । तुरीया । आसीत् । यज्ञस्य । पक्षौ ।  
वृषयः । कल्पयन्तः ।

गायत्रीम् । त्रिऽस्तुभम् । जगतीम् । अनुऽस्तुभम् । बृहत्ऽअंकीम् ।  
यजमानाय । स्वः । आऽभरन्तीम् ॥ १४ ॥

जो चौथी शक्ति है उसको अग्नि और सोम और ऋषियोंने  
धारण कर लिया, फिर ऋषियोंने गायत्री त्रिष्टुप् जगती अनु-  
ष्टुप्, और यजमानको स्वर्ग देने वाली अंकी और बृहत् इस  
प्रकार यज्ञके पक्षोंकी कल्पना की ॥ १४ ॥

पञ्च व्युष्टीरनु पञ्च दोहा गां पञ्चनाम्नीमृतवोनु पञ्च ।  
पञ्च दिशः पञ्चदशेन कृतास्ता एकमूर्ध्नीरभि  
लोकमेकम् ॥ १५ ॥

पञ्च । विऽवृष्टीः । अनु । पञ्च । दोहाः । गाम् । पञ्चनाम्नीम् ।  
मृतवः । अनु । पञ्च ।

पञ्च । दिशः । पञ्चऽदशेन । कृताः । ताः । एकऽमूर्ध्नीः ।  
अभि । लोकम् । एकम् ॥ १५ ॥

पाँच तमोविवासिनी शक्तियोंके अनुकूल पाँच दोह हैं, पञ्च-  
नाम्नी गौके अनुकूल पाँच ऋतुएँ हैं । पाँच दिशाएँ पञ्चदशसे  
समर्थ होकर किसी एक योगीके निमित्त एकरूप होजाती हैं १५

पट् जाता भूता प्रथमजर्तस्य षड् सामानि षट् वंहन्ति  
षड्योगं सीरमनु सामं साम पडाहुर्द्यावापृथिवीः  
षड्वीः ॥ १६ ॥

पट् । जा॒ता । भू॒ता । प्र॒थ॒म॒ज॒र्त॒स्य । ष॒ट् । ऊ॒र् इति ।

सा॒मा॒नि । ष॒ट् । अ॒हम् । व॒ह॒न्ति ।

ष॒ट् । यो॒गम् । सी॒र॒म् । अ॒नु । सा॒म॒साम् । पट् । आ॒हुः । द्या॒वा-  
पृ॒थि॒वीः । पट् । उ॒र्वीः ॥ १६ ॥

ऋतसे पहिले छः प्राणी उत्पन्न हुए, छः साम दिनके छः  
भागोंका बहन करते हैं, षड्योग सीरके पीछे सामसाम है, द्यावा-  
पृथिवीके और उर्वियोंकेछः भेदोंका वर्णन विद्वान् पुरुष करते हैं १६  
षडाहुः शीतान् षड् मास उष्णानृतं नो ब्रूत यत्-

मोतिरिक्तः ।

सप्त सुवर्णाः कवयो नि पेदुः सप्त च्छन्दांस्यनु सप्त  
दीक्षाः ॥ १७ ॥

पट् । आ॒हुः । शी॒तान् । पट् । ऊ॒र् इति । मा॒साः । उ॒ष्णा॒न् ।

ऋ॒तुम् । नः । ब्रू॒त । य॒त॒मः । अ॒ति॒रि॒क्तः ।

सप्त । सु॒ष्पर्णाः । क॒रयः । नि । से॒दुः । सप्त । छ॒न्दांसि । अनु ।

सप्त । दी॒क्षाः ॥ १७ ॥

छः मासोंको शीतके मास कहने हैं और छः को वर्षण ऋतु कहते हैं, इनके अतिरिक्त और जो हैं उसका हमसे वर्णन करिये । विद्वान् पुरुष जानते हैं, कि—सात सुपर्ण हैं, सात छन्द हैं और सात दीक्षाएँ हैं ॥ १७ ॥

सप्त हो॒माः स॒मिधो॑ ह सप्त म॒धूनि॑ सप्त॒त॒वो॑ ह सप्त ।

सप्ताज्या॑नि परि॑ भू॒तमा॑यन् ताः सप्त॒गृ॒ध्रा इति॑ शुश्रु॒मा-

व॒यम् ॥ १८ ॥

सप्त । हो॒माः । स॒प्त॒स॒मिधः । ह । सप्त । म॒धूनि॑ । सप्त । ऋ॒त॒त॒वः ।

ह । सप्त ।

सप्त । आ॒ज्या॑नि । परि॑ । भू॒तम् । आ॒यन् । ताः । सप्त॒गृ॒ध्राः ।

इति॑ । शुश्रु॒म । व॒यम् ॥ १८ ॥

सात होम हैं, सात मधु हैं, सात समिधायें हैं और सात ऋतुएँ हैं, सात प्रकारके घृत पुरुषको प्राप्त होते हैं, इस प्रकार सात गृध्र वस्तुओंको हमने सुना है ॥ १८ ॥

सप्त च्छ॒न्दांसि॑ चतु॒रु॒त्तरा॑ण्य॒न्यो अ॒न्यस्मि॒न्न॒ध्या॒र्पि॒तानि॑ ।

कथं स्तो॒माः प्र॒ति ति॑ष्ठन्ति॒ तेषु॑ तानि॒ स्तोमे॑षु क॒थ॒मा॒र्पि॒तानि॑ ॥ १९ ॥

सप्त । छन्दांसि । चतुःऽउत्तराणि । अन्यः । अन्यस्मिन् । अयि ।

आर्पितानि ।

कथम् । स्तोमाः । प्रति । तिष्ठन्ति । तेषु । तानि । स्तोमेषु ।

कथम् । आर्पितानि ॥ १६ ॥

सात छन्द हैं, चार उत्तर हैं, एक दूसरेमें अर्पित हैं, स्तोम उनमें किस प्रकार प्रतिष्ठित होते हैं और वे स्तोमोंमें किस प्रकार अर्पित हैं ॥ १६ ॥

कथं गायत्री त्रिवृतं व्याप कथं त्रिष्टुप् पञ्चदशेन कल्पते ।

त्रयस्त्रिंशेन जगती कथमनुष्टुप् कथमेकविंशः २०

कथम् । गायत्री । त्रिऽवृतम् । वि । आप । कथम् । त्रिऽस्तुप् ।

पञ्चऽदशेन । कल्पते ।

त्रयऽत्रिंशेन । जगती । कथम् । अनुऽस्तुप् । कथम् । एकऽविंशः २०

गायत्री त्रिवृतसे किस प्रकार व्याप है, और त्रिष्टुप् पञ्चदश से किस प्रकार समर्थ होता है, त्रयस्त्रिंशसे जगती, अनुष्टुप् और एकविंश किस प्रकार समर्थ होता है ॥ २० ॥

अष्ट जाता भूता प्रथमजर्तस्याष्टेन्द्रत्विजो दैव्या ये ।

अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्राष्टमी रात्रिमभि हव्यमेति २१

अष्ट । जाता । भूता । प्रथमऽजा । अतस्य । अष्ट । इन्द्र ।

अष्टत्विजः । दैव्याः । ये ।

अष्टऽपोनिः । अदितिः । अष्टऽपुत्रा । अष्टमीम् । रात्रिम् ।  
अभि । इव्यम् । एति ॥ २१ ॥

हे इन्द्र ! ऋतके आठ मुख्य भूत हुए, वेदिव्य आठ ऋत्विज् हैं ।  
आठ ( दिक्पाल रूप ) पुत्र वाली अत एव आठकी कारण  
अष्टमीकी रात्रिके दिन इव्यको स्वीकार करती है ॥ २१ ॥

इत्थं श्रेयो मन्यमानेदमागमं युष्माकं सख्ये अहमस्मि  
शेवा ।

समानजन्मा क्रतुरस्ति वः शिवः स वः सर्वाः सं  
चरति प्रजानन् ॥ २२ ॥

इत्थम् । श्रेयः । मन्यमाना । इदम् । आ । अगमम् । युष्माकम् ।  
सख्ये । अहम् । अस्मि । शेवा ।

समानजन्मा । क्रतुः । अस्ति । वः । शिवः । सः । वः । सर्वाः ।  
सम् । चरति । प्रजानन् ॥ २२ ॥

इस प्रकार इस शास्त्ररूप कन्याणको मानता हुआ तुम्हारी  
मित्रतामें तुम्हारी समानजन्म वाला मैं सुखी हूँ । क्रतु ही तुम्हारा  
कन्याण करने वाला है वह तुम सबको जानता हुआ विचरण  
करता रहता है ॥ २२ ॥

अष्टेन्द्रस्य पद् यमस्य ऋषीणां सप्त संस्था ।

अपो मनुष्याः नोपवीस्तां उपशानुं सेचिरे ॥ २३ ॥

अष्ट । इन्द्रस्य । पद् । यमस्य । ऋषीणाम् । सप्त । सप्तऽधा ।



अपः । मनुष्यान् । ओषधीः । तान् । ऊं इति । पञ्च । अन् ।  
सेचिरे ॥ २३ ॥

इन्द्रकी आठ, यमकी छः और ऋषियोंकी सत्तर औषधियाँ  
हैं । उनको और मनुष्योंको पाँच प्रकारके जल सिञ्चन करते हैं ॥ २३ ॥

केवलीन्द्राय दुदुहे हि गृष्टिर्वशं पीयूषं प्रथमं दुहाना ।  
अथातर्पयचतुरश्रतुर्धा देवान् मनुष्याँः असुरानुत  
ऋषीन् ॥ २४ ॥

केवली । इन्द्राय । दुदुहे । हि । गृष्टिः । वशम् । पीयूषम् । प्रथ-  
मम् । दुहाना ।

अथ । अतर्पयत् । चतुरः । चतुःश्वा । देवान् । मनुष्यान् । असु-  
रान् । उत । ऋषीन् ॥ २४ ॥

पहिले दुहाती हुई असाधारण प्रथमप्रसूता गौने कान्तिमय दुग्ध  
इन्द्रके निमित्त दूध दुहा फिर देवता मनुष्य असुर और ऋषि  
इन चारोंको चार प्रकारसे वृत्त किया ॥ २४ ॥

को नु गौः क एकऋषिः किमु धाम का आशिपः ।  
यज्ञं पृथिव्यामेकदेवकर्तुः कतमो नु सः ॥ २५ ॥

कः । नु । गौः । कः । एकऋषिः । किम् । ऊं इति । धाम ।

काः । आशिपः ।

यज्ञम् । पृथिव्याम् । एकऋत् । एकऋतुः । कतमः । नु । सः ।

वह कौनसी गौ है, वह एक ऋषि कौन है, धाम क्या है और आशीर्वादात्मक वचन क्या है, पृथिवीमें एकवृत् ही पूज्य है, वह ( मुख्य ) एकर्तु कौनसी है ॥ २५ ॥

एको गोरेकं एकऋपिरेकं धौमैकधाशिपः ।

यत्तं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुर्नाति रिच्यते ॥ २६ ॥

एकः । गौः । एकः । एकऽऋपिः । एकम् । धाम । एकऽधा ।  
आऽशिपः ।

यत्तम् । पृथिव्याम् । एकऽवृत् । एकऽऋतुः । न । अति । रिच्यते ॥

इति पञ्चमेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

वह एक ही गौ है, एक-मुख्य ऋषि भी एक हैं, एक ही स्थान है और एक ही प्रकारकी आशीप हैं । पृथिवीमें एक वृत् ही पूज्य है और एकर्तु घटती नहीं है ॥ २६ ॥ ( २४ )

पञ्चम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त ( ४४७ )

“विराड् वै” इति पट्पर्यायात्मकं सूक्तम् । तस्य विनियोग-विचारादि पूर्वसूक्त उक्तम् ॥

“विराड् वै” यह पट्पर्यायात्मक सूक्त है । इसका विनियोग विचार आदि पहिले ही कह दिया है ।

विराद् वा इदमग्र आसीत् तस्यां जातायाः सर्वम-  
विभेदियमेवेदं भविष्यतीति ॥ १ ॥

विराट् । वै । इदम् । अग्रं । आसीत् । तस्याः । जातायाः ।  
सर्वम् । अविभेत् । इयम् । एव । इदम् । भविष्यति । इति १

यह जगत् पहिले विराट् ही था, इस विराट्के प्रकट होने पर सब डरे, कि—यही यह जगत् होगा ॥ १ ॥

सोदंक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत् ॥ २ ॥

सा । उत् । अक्रामत् । सा । गार्हपत्ये । नि । अक्रामत् ॥ २ ॥

तब विराट्ने उत्क्रमण किया और वह गार्हपत्यमें प्रविष्ट होगया २  
गृहमेधी गृहपतिर्भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

गृहमेधी । गृहपतिः । भवति । यः । एवम् । वेद ॥ ३ ॥

जो गृहमेधी इस प्रकार जानता है वह गृहपति होता है ॥ ३ ॥

सोदंक्रामत् साहवनीये न्यक्रामत् ॥ ४ ॥

०सा । आहवनीये । नि । ० ॥ ४ ॥

फिर वह उत्क्रमण करके आहवनीयमें प्रविष्ट होगया ॥ ४ ॥

यन्त्यस्य देवा देवहूतिं प्रियो देवानां भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥

यन्ति । अस्य । देवाः । देवहूतिम् । प्रियः । देवानाम् । भवति । ० ॥ ५ ॥

जो इस बातको जानता है देवता उसके बुलाने पर आते हैं और वह देवताओंका प्रिय होजाता है ॥ ५ ॥

सोदंक्रामत् सा दक्षिणाग्नौ न्यक्रामत् ॥ ६ ॥

०सा । दक्षिणाग्नौ । नि । ० ॥ ६ ॥

फिर उस विराट्ने उत्क्रमण करके दक्षिणाग्निमें प्रवेश किया ६  
यज्ञतो दक्षिणीयो वासतेयो भवति य एवं वेद ॥ ७ ॥

यद्गच्छतः । दक्षिणीयः । वास्तेयः । भवति । ७ ॥

जो इस घातको इस प्रकार जानता है, वह यद्गर्त दक्षिणीय वास्तेय होता है ॥ ७ ॥

सोदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत् ॥ ८ ॥

०सा । सभायाम् । नि । ७ ॥ ८ ॥

तदनन्तर वह विराट् उत्क्रमण करके सभामें प्रवेश कर गया = यन्त्यस्य सभां सभ्यो भवति य एवं वेद ॥ ८ ॥

यन्ति । अस्य । सभाम् । सभ्यः । भवति । ७ ॥ ८ ॥

जो इस घातको जानता है वह सभ्य होता है और इसकी सभामें ( प्राणी ) आते हैं ॥ ८ ॥

सोदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत् ॥ ९ ॥

०सा । समृद्धौ । नि । ७ ॥ ९ ॥

वह उत्क्रमण करके समितिमें पहुँच गया ॥ ९ ॥ यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

०अस्य । समृद्धिम् । सामृत्यः । भवति । ७ ॥ ९ ॥

जो इस प्रकार जानता है वह सामित्य ( शुद्धमें प्रतिष्ठा पाने वाला ) होता है और उसकी समितिमें सैनिक आते हैं ॥ ९ ॥

सोदक्रामत् सामन्त्रणे न्यक्रामत् ॥ १० ॥

०सा । आमन्त्रणे । नि । अक्रामत् ॥ १० ॥

तदनन्तर उस विराट्ने फिर उत्क्रमण किया और वह आमन्त्रण में प्रवेश कर गया ॥ १० ॥

यन्त्यस्यामन्त्राणामामन्त्रणीयो भवति य एवं वेद १३

यन्ति । अस्य । आऽमन्त्राणम् । आऽमन्त्रणीयः । भवति । यः ० ॥ १३

इति पञ्चमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

जो इस बातको जानता है वह आमन्त्रणीय ( बुलाने योग्य ) होजाता है । और पुरुष इसके बुलाने पर इसके पास जाते हैं ॥ १३ ॥ ( २५ )

पञ्चम अनुवाकमेद्वितीय सूक्त समाप्त ( ४४८ ) ॥

सोदक्रामत् सान्तरिक्षे चतुर्धा विक्रान्तातिष्ठत् ॥ १ ॥

० सा । अन्तरिक्षे । चतुःश्वा । विक्रान्ता । अतिष्ठत् ॥ १ ।

तदनन्तर उस विराट्ने फिर उत्क्रमण किया और वह अन्तरिक्षमें चार रूपमें विक्रान्त होकर स्थित होगया ॥ १ ॥

तां देवमनुष्याः अनुवन्नियमेव तद् वेद यदुभय उप-

जीवेमामुप हयामहा इति ॥ २ ॥

ताम् । देवऽमनुष्याः । अनुवन् । इयम् । एव । तद् । वेद । यद् ।

उभये । उपऽजीवेम । इमाम् । उप । हयामहै । इति ॥ २ ॥

उससे देवता और मनुष्योंने कहा, कि-यह उसको जानता है जिससे हम दोनों उपजीवन करते हैं, इसलिये हम इसका समीप में आवाहन करें ॥ २ ॥

तामुपाह्वयन्त ॥ ३ ॥

ताम् । उप । अह्वयन्त ॥ ३ ॥

( तब उन्होंने ) उसका उपावाहन किया ॥ ३ ॥

ऊर्ज एहि स्वध एहि सूनुत एहीरांवत्येहीति ॥४॥

ऊर्जे । आ । इहि । स्वधे । आ । इहि । सूनुते । आ । इहि ।

इरावति । आ । इहि । इति ॥ ४ ॥

कि-हे ऊर्जे प्राणस्थापक बलकर अन्नकी अधिष्ठात्री) देवते !  
हे पितरोंकी वृत्तिसम्पादिके स्वधे ! हे मियवाणीरूपे सूनुते । हे  
इरावती ! आइये ॥ ४ ॥

तस्या इन्द्रो वत्स आसीद् गायत्र्यभिधान्यभ्रमृधः ५

तस्याः । इन्द्रः । वत्सः । आसीत् । गायत्री । अभिधानी ।

अभ्रम् । ऊधः ॥ ५ ॥

उस समय इन्द्र उसका बड़ड़ा बना, गायत्री अभिधानी हुई  
और मेघ ऊध ( ऐन ) हुए ॥ ५ ॥

बृहच्च रथंतरं च द्वौ स्तनावास्तां यज्ञायज्ञियं च  
वामदेव्यं च द्वौ ॥ ६ ॥

बृहत् । च । रथम् । अंतरम् । च । द्वौ । स्तनौ । आस्ताम् ।

यज्ञायज्ञियम् । च । वामदेव्यम् । च । द्वौ ॥ ६ ॥

बृहत्साम और रथन्तर साम ये दो स्तन हुए तथा यज्ञायज्ञिय  
और वामदेव्य साम नामक भी दो स्तन हुए ॥ ६ ॥

ओषधीरेव रथंतरेण देवा अदुहन् व्यचो बृहता ७

ओषधीः । एव । रथम् । अंतरेण । देवाः । अदुहन् । व्यचः । बृहता ७

देवताओंवे रथन्तर सामसे औपधियोंको ही दुहा, वृद्धसामसे  
व्यचको दुहा ॥ ७ ॥

अपो वामदेव्येन यज्ञं यज्ञायज्ञियेन ॥ ८ ॥

अपः । वामदेव्येन । यज्ञम् । यज्ञायज्ञियेन ॥ ८ ॥

वामदेव सामसे जलको दुहा और यज्ञायज्ञिय सामसे यज्ञको  
दुहा ॥ ८ ॥

औपधीरेवासमै रथन्तरं दुहे व्यचां बृहत् ॥ ९ ॥

औपधीः । एव । असमै । रथन्तरम् । दुहे । व्यचाः । बृहत् ९

( जो इस बातको जानता है ) रथन्तर साम उसके लिये औप-  
धियोंको ही दुहता है और वृद्धसाम व्यचको दुहता है ॥ ९ ॥

अपो वामदेव्यं यज्ञं यज्ञायज्ञियं य एवं वेद ॥ १० ॥

अपः । वामदेव्यम् । यज्ञम् । यज्ञायज्ञियम् । यः । १० ॥ १० ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

जो इस प्रकारसे जानता है उसके लिये वामदेव साम जल  
को और यज्ञायज्ञिय यज्ञको दुहता है ॥ १० ॥ ( २६ )

पञ्चम अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त ( ४४९ ) ॥

सोदंक्रामत् सा वनस्पतीनामच्छत् तां वनस्पतयो-

भ्रत सा संवत्सरे समभवत् ॥ १ ॥

०सा । वनस्पतीनाम् । आ । अगच्छत् । ताम् । वनस्पतयोः ।

अभ्रत । सा । समवत्सरे । सम् । अभवत् ॥ १ ॥

तदनन्तर विराट् फिर उत्क्रमण करके वनस्पतियोंके पास

पहुँचा, उसको वनस्पतियोंने हनन कर डाला तब वह सम्बत्सर में होगया ॥ १ ॥

तस्माद् वनस्पतीनां संवत्सरे वृक्षणमपि रोहति  
वृश्चतेस्याभियो आतृव्यो य एवं वेद ॥ २ ॥

तस्माद् । वनस्पतीनाम् । सम्वत्सरे । वृक्षणम् । अपि । रोहति ।

वृश्चते । अस्य । अभियः । आतृव्यः । यः । ॥ २ ॥

इसलिये वनस्पतियोंका कटा हुआ अंग भी वर्षभरमें उग आता है, जो इस बातको जानना है उसका अभिय शत्रु नष्ट होजाता है ॥ २ ॥

सोदकामत् सा पितृनागच्छत्तां पितरोऽन्नत् सा मासि  
समभवत् ॥ ३ ॥

० सा । पितृन् । आ । अगच्छत् । ताम् । पितरः । अन्नत् । सा ।  
मासि । सम् । ॥ ३ ॥

तब विराट् ने फिर उत्क्रमण किया और पितरोंके पास पहुँचा, उसका पितरोंने हनन कर डाला—अपनेमें लोन कर लिया, तब वह मास मासमें होने लगा ॥ ३ ॥

तस्मात् पितृभ्यो मास्युपमास्यं ददति प्र पितृयाणं  
पन्थां जानाति य एवं वेद ॥ ४ ॥

तस्मात् । पितृभ्यः । मासि । उपमास्यम् । ददति । प्र ।

पितृयानम् । पन्थाम् । जानाति । यः । ॥ ४ ॥



इसलिये पुरुष पितरोंके निमित्त प्रत्येक मासमें मुखके पासकी वस्तु—भोजन—देते हैं जो इस बातको इस प्रकार जानता है वह विद्वान्मार्गको जान जाता है ॥ ४ ॥

सोदंकामत् सा देवानागच्छत् तां देवा अग्रतः सार्ध-  
मासे समभवत् ॥ ५ ॥

०सा । देवान् । आ । अगच्छत् । ताम् । देवाः । अग्रतः । सा ।  
अर्धमासे । सम् । ॥ ५ ॥

वह विराट् उत्क्रमण करके देवताओंके पास पहुँचा, देवताओं ने उसका हनन कर डाला, वह अर्धमासमें फिर मादुर्भूत होगया ५ तस्माद् देवेभ्योर्धमासे वषट् कुर्वन्ति प्र देवयानं पन्थां जानाति य एवं वेद ॥ ६ ॥

तस्मात् । देवेभ्यः । अर्धमासे । वषट् । कुर्वन्ति । प्र । देवयानम् ।  
पन्थाम् । जानाति । यः । ॥ ६ ॥

इस लिये देवताओंके लिये अर्धमासमें वषट् करते हैं जो इस बातको जानता है वह देवयानके मार्गको जान सकता है ॥ ६ ॥

सोदंकामत् सा मनुष्याः नागच्छत् तां मनुष्या अग्रतः  
सा सद्यः समभवत् ॥ ७ ॥

सा । मनुष्याः । आ । अगच्छत् । ताम् । मनुष्याः । अग्रतः ।

सा । सद्यः । सम् । अभवत् ॥ ७ ॥

उस विराट्ने फिर उत्क्रमण किया और वह मनुष्योंके पास पहुँचा, उसका मनुष्योंने हनन किया, वह तुरत ही मादुर्भूत होगया

तस्मान्मनुष्येभ्य उभयद्वारुपं हरन्त्युपांस्य गृहे हरन्ति  
य एवं वेदं ॥ ८ ॥

तस्मात् । मनुष्येभ्यः । उभयद्वारुः । उप । हरन्ति । उप । अस्य ।  
गृहे । हरन्ति । यः । ० ॥ ८ ॥

इति पञ्चमैश्वराके चतुर्थं सूक्तम् ॥

इसलिये मनुष्योंके लिये दूसरे दिन उपहरण करते हैं-जो  
इस बातको जानता है तो (देवता) उसके घरमें प्रतिदिन (अन्न)  
पहुँचाते रहते हैं ॥ ८ ॥ ( ५७ ) ।

पञ्चम अनुपाकमें चतुर्थं सूक्त समाप्त ( ४५० ) ॥

सोदक्रामत् सासुराणागच्छत् तामसुरा उपाह्वन्त माय  
एहीति ॥ १ ॥

०सा । असुरान् । आ । अगच्छत् । ताम् । असुराः । उप । अह्व-  
यन्त । माये । आ । इहि । इति ॥ १ ॥

उम विराट्ने उत्क्रमण किया और वह असुरोंके पास पहुँचा,  
असुरोंने उसका समीपमें आवाहन किया, कि-हे माये ! आओ १  
तस्या विरोचनः प्राहादिर्वत्स आसीदयस्पात्रं पात्रम् २  
तस्या । विरोचनः । प्राहादिः । वत्सः । आसीत् । अयःपात्रम् ।  
पात्रम् ॥ २ ॥

उसका महादका पुत्र विरोचन वत्स हुआ और लोहेका  
पात्र पात्र हुआ ॥ २ ॥

तां द्विमृधात्विर्धोक् तां मायामेवाधोक् ॥ ३ ॥

ताम् । द्वि॒मूर्धा । अ॒र्त्त्यः । अ॒धोक् । ताम् । मा॒याम् । ए॒व ।  
अ॒धोक् ॥ ३ ॥

उसको द्विमूर्धा अर्त्त्यने दुहा और मायाको ही दुहा ॥ ३ ॥  
तां मा॒यामसु॒रा उप॑ जी॒वन्त्युपजी॒वनी॒या भव॑ति य  
ए॒वं वेद॑ ॥ ४ ॥

ताम् । मा॒याम् । अ॒सुराः । उप॑ जी॒वन्ति । उप॒ज्जी॒वनी॒याः ।  
भ॒वति॑ । यः ॥ ४ ॥

उस मायासे असुर उपजीवन करते हैं, जो ऐसा जानता है वह  
उपजीवनीय होता है ॥ ४ ॥

सोद॑काम॒त् सा पि॒तृनाग॑ञ्छत् तां पि॒तर॒ उपा॑ह्वयन्त  
स्वध॒ एही॑ति ॥ ५ ॥

०सा । पि॒तृन् । आ । अ॒गञ्छ॒त् । ताम् । पि॒तरः । उप॑ । अ॒ह्वय॑न्त ।  
स्वधे॑ । आ । इ॒हि । ० ॥ ५ ॥

तदनन्तर उस विराट्ने फिर उत्क्रमण किया और पितरोंके  
पास पहुँचा, उसको पितरोंने 'हे स्वधे ! आओ' कहकर आह्वान  
किया ॥ ५ ॥

तस्यां य॒मो राजा॑ व॒त्स आसी॑द् रज॒तपा॒त्रं पा॒त्रम् ६  
तस्याः । य॒मः । राजा॑ । व॒त्सः । आसी॑त् । र॒ज॒तपा॒त्रम् । पा॒त्रम् ६

उस समय उसका वत्स राजा यम हुआ और चाँदीका पात्र  
पात्र हुआ ॥ ६ ॥

तामन्तको मार्षवोधोक् तां स्वधाभेवाधोक् ॥ ७ ॥

ताम् । अन्तकः । मार्षवः । अधोक् । ताम् । स्वधाम् । एव । अधोक् ७

उस को मृत्युके अधिपति देवता अन्तकने दुहा, और उससे स्वधाको ही दुहा ॥ ७ ॥

तां स्वधां पितर उपं जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य  
एवं वेद ॥ ८ ॥

ताम् । स्वधाम् । पितरः । उपं । जीवन्ति । उपऽजीवनीयः ० ॥ ८

उस स्वधासे पितर उपजीवन करते हैं, जो इस बातको जानता है वह उपजीवनीय होता है ॥ ८ ॥

सोदक्रामत् सा मनुष्याः नागच्छत् तां मनुष्याः  
उपाह्वयन्तेरावत्येहीति ॥ ९ ॥

०सा । मनुष्याम् । आ । अगच्छत् । ताम् । मनुष्याः । उपं ।

अह्वयन्त । इरावती । आ । इहि । ० ॥ ९ ॥

उस विराट्ने फिर उत्क्रमण किया और मनुष्योंके पास पहुँचा मनुष्योंने 'इरावती ! आओ' कहकर उसको समीपमें बुलाया ९  
तस्या मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत् पृथिवी पात्रम् १०

तस्याः । मनुः । वैवस्वतः । वत्सः । आसीत् । पृथिवी । पात्रम् १०

उस समय विश्वानके पुत्र मनु उसके बड़ड़े बने और पृथिवी पात्र बनी ॥ १० ॥

तां पृथीं वैन्योधोक् तां कृषिं च सस्यं चाधोक् ११

ताम् । पृथी । वै॒न्यः । अ॒धोक् । ताम् । कृ॒षिम् । च । स॒स्यम् ।

च । अ॒धोक् ॥ ११ ॥

उसको राजा वेनके पुत्र पृथुने दुहा और कृषि तथा सस्य  
( रूप दुग्ध ) को दुहा ॥ ११ ॥

ते कृ॒षिं च॑ स॒स्यं च॑ म॒नुष्या॑ उप॑ जी॒वन्ति॑ कृ॒ष्टरा॑धिरुप॒-  
जी॒वनी॑यो भव॒न्ति य एवं वेद॑ ॥ १२ ॥

ते । कृ॒षिम् । च । स॒स्यम् । च । म॒नुष्याः । उप॑ । जी॒वन्ति॑ ।

कृ॒ष्टरा॑धिः । उप॑जी॒वनी॑यः । ० ॥ १२ ॥

उस कृषि और धान्यसे ही मनुष्य अपनी आजीविका चलाते हैं ।  
जो इस बातको जानता है वह जुते हुए पदार्थोंमें सिद्धि पानेवाला  
होता है और माणी उससे आजीविका चलाते हैं ॥ १२ ॥

सो॒द॒क्राम॑त् सा स॑प्त॒ऋषी॑नागच्छ॒त् तां स॑प्त॒ऋष्य॑ उपा॒-  
ह्वय॑न्त॒ ब्रह्म॑ण्वत्ये॒दीति॑ ॥ १३ ॥

० सा । स॑प्त॒ऋषी॑न् । आ । अ॒गच्छ॑त् । ताम् । स॑प्त॒ऋष्यः ।

उप॑ । अ॒ह्वय॑न्त । ब्रह्म॑ण्व॒ति । आ । इ॒ति । ० ॥ १३ ॥

उस विराट्ने फिर उत्क्रमण किया और सात ऋषियोंके पास  
पहुँचा, उसको सप्तर्षियोंने 'हे ब्रह्मण्वती ! आओ' कह कर  
सभीपमें बुलाया ॥ १३ ॥

तस्याः सोमो राजा वत्स आसीच्छन्दः पात्रम् १४

तस्याः । सोमः । राजा । वत्सः । आसीत् । छन्दः । पात्रम् १४

उस समय राजा सोम उसके वत्स बने और छन्दःपात्र बने १४  
तां बृहस्पतिराङ्गिरसोऽधोक्तां ब्रह्मं च तपश्चाधोक् १५

ताम् । बृहस्पतिः । आङ्गिरसः । अधोक् । ताम् । ब्रह्म । च । तपः ।  
च । अधोक् ॥ १५ ॥

उसको आंगिरस बृहस्पतिने दुहा और उससे ब्रह्म और तप  
को दुहा ॥ १५ ॥

तद् ब्रह्मं च तपश्च सप्तऋषय उप जीवन्ति ब्रह्मवर्च-  
स्युपजीवनीयो भवन्ति य एवं वेद ॥ १६ ॥

तद् । ब्रह्म । च । तपः । च । सप्तऋषयः । उप । जीवन्ति ।  
ब्रह्मवर्चसी । उपजीवनीयः । ० ॥ १६ ॥

इति पञ्चमेनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

अत एव उस तप और वेदसे सप्तऋषि आजीविका चलाते हैं,  
जो इस बातको जानता है वह ब्रह्मवर्चस्वी होता है और प्राणी  
उससे आजीविका चलाते हैं । ( १६ ) । ( २८ )

पञ्चम अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त ( ४५१ ) ॥

सोदक्रामत् सा देवानागच्छत् तां देवा उपाह्वयन्तोर्ज  
एहीति ॥ १ ॥

० सा । देवान् । आ । अगच्छत् । ताम् । देवाः उप । अह्वयन्त । ऊर्जे ।  
आ । इहि । ० ॥ १ ॥

उस विराट्ने फिर उत्क्रपण किया और देवताओं के पास पहुँचा ।  
देवताओं ने 'इ ऊर्जे । आओ' कहकर उसको समीपमें बुलाया १

तस्या॑ इन्द्रो॑ वत्स॑ आसीच्चमसः॑ पात्रम् ॥ २ ॥

तस्या॑ । इन्द्रः॑ । वत्सः॑ । आसीत् । चमसः॑ । पात्रम् ॥ २ ॥

उस समय इन्द्र उसका बड़का बना और चमसपात्र हुआ ॥ २ ॥

तां देवः सविता॑धोक् तामूर्जामिवा॑धोक् ॥ ३ ॥

ताम् । देवः । सविता॑ । अधोक् । ताम् । ऊर्जाम् । एव । अधोक् ३

सविता देवता उसके दुहने वाले बने और उन्होंने ऊर्जाको ही दुहा । ३ ॥

तामूर्जा॑ देव उप॑ जीवन्त्युपजीवनी॑यो भवन्ति॒ य एवं वेद॑

ताम् । ऊर्जाम् । देवाः । उप । जीवन्ति । उप॑ जीवनीयः । ० ४

उस ऊर्जासे देवता अपनी आजीविका चलाते हैं । जो इस बातको जानता है उससे प्राणी आजीविका चलाते हैं ॥ ४ ॥

सोद॑क्रामत् सा गन्धर्वा॑प्सरस॑ आगच्छत् तां गन्धर्वा॑

प्सरस॑ उपा॑द्ध्यन्त॑ पुण्य॑गन्ध एहीति॑ ॥ ५ ॥

० सा । गन्धर्वः॑ अप्सरसः॑ । आ । अगच्छत् । ताम् । गन्धर्वः॑ अप्स-

रसः॑ । उप । अद्ध्यन्त॑ । पुण्य॑गन्धे । आ । इहि । ० ॥ ५ ॥

उस विराट्ने फिर उत्क्रमण किया और गंधर्व तथा अप्सराओं के पास पहुँचा, उसको गंधर्व तथा अप्सराओंने “दे पुण्यगंधे ! आओ” कहकर समीपमें बुलाया ॥ ५ ॥

तस्या॑श्चित्र॑रथः सौर्य॑वर्चसो॑ वत्स॑ आसीत् पुष्कर॑णं

पात्रम् ॥ ६ ॥

( ६३८ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

तस्याः । चित्रश्रयः । सौर्यश्वर्चसः । वत्सः । आसीत् । पुष्करपर्णम् ।

पात्रम् ॥ ६ ॥

उसका सूर्यवर्चा का पुत्र चित्रश्रय बड़ड़ा यत्ता और पुष्करपर्ण  
पात्र हुआ ॥ ६ ॥

तां वसुश्रुचिः सौर्यश्वर्चसोऽधोक्तां पुण्यमेव गन्धमधोक्

ताम् । वसुश्रुचिः । सौर्यश्वर्चसः । अधोक् । ताम् । पुण्यम् ।

एव । गन्धम् । अधोक् ॥ ७-॥

उसको सूर्यवर्चाके पुत्र वसुश्रुचिने दुहा, और उसने पवित्र गंध  
को ही दुहा ॥ ७ ॥

तं पुण्यं गन्धं गन्धर्वाप्सरस उपाजीवन्ति पुण्यगन्धि-  
रुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ८ ॥

तम् । पुण्यम् । गन्धम् । गन्धर्वऽअप्सरसः । उप । जीवन्ति ।

पुण्यगन्धिः । उपाजीवनीयः ॥ ८ ॥

उस पवित्र गंधसे अप्सरा और गंधर्व आजीविका चलाते हैं,  
जो इस बातको जानता है वह पवित्र गंध वाला होजाता है और  
प्राणी उससे आजीविका चलाते हैं ॥ ८ ॥

सोदंक्रामत् सेतरजनानागच्छत् तामितरजना उपाह्व-  
यन्त तिरोंष एहीति ॥ ९ ॥

सा । इतरजनान् । आ । अगच्छत् । ताम् । इतरजनाः । उप ।

अह्वयन्त । तिरोंषे । आ । इति ॥ ९ ॥



उस विराट्ने फिर उत्क्रमण किया और इतरके पास पहुँचा,  
उसको इतरजनोंने उपाह्वान किया, कि—“हे तिरोधे” आओ &  
तस्याः कुबेरो वैश्रवणो वत्स आसीदामपात्रं पात्रम्

तस्याः । कुबेरः । वैश्रवणः । वत्सः । आसीत् । आम्पात्रम् ।

पात्रम् ॥ १० ॥

उसके विश्रवा मुनिके पुत्र कुबेर वत्स हुए और कचा पात्र  
पात्र पात्र हुआ ॥ १० ॥

तां रजतनाभिः कावेरको धोक् तां तिरोधामेवाधोक्

ताम् । रजतनाभिः । कावेरकः । अधोक् । ताम् । तिरःधाम् ।

एव । अधोक् ॥ ११ ॥

उसको रजतनाभि कावेरकने दुहा और तिरोधाको ही दुहा ११

तां तिरोधामितरजना उप जीवन्ति तिरो धत्ते सर्वं

पाप्मानमुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥

ताम् । तिरःधाम् । इतरजनाः । उप । जीवन्ति । निरः । धत्ते ।

सर्वम् । पाप्मानम् । उपजीवनीयः ॥ १० ॥ १२ ॥

उस विरोधासे ही इतरजन आजीविका चलाते हैं । जो इस  
प्रकार जानता है वह अपने सब पापको तिरोहित कर देता है  
और मनुष्य उससे आजीविका चलाते हैं ॥ १२ ॥

सोदकामत् सा सर्पानागच्छत् तां सर्पा उपाह्वयन्त

विषवत्येहीति ॥ १३ ॥

सा । उ॒त् । अ॒क्राम॒त् । सा । सर्पा॑न् । आ । अ॒गच्छ॒त् । ताम् ।

सर्पाः । उ॒प । अ॒हय॑न्त । वि॒प॑ञ्चति । आ । इ॒हि । इति १३-

उस विराट्ने उत्क्रमण किया और सर्पोंके पास पहुँचा, सर्पों ने उसको समीपमें बुलाया, कि—‘हे विपञ्चति । आओ’ ॥१३॥

तस्या॑स्त॒क्षको॑ वै॒शाले॑यो व॒त्स आसी॑दला॒वुपा॒त्रं पा॒त्रम्

तस्याः । त॒क्षकः । वै॒शाले॑यः । व॒त्सः । आसी॑त् । अ॒लावु॑ऽपा॒त्रम् ।

पात्रम् ॥ १४ ॥

वैशालेय तक्षक उसका वत्स हुआ और अलावुपात्र ( राम-तुरईका तोंका ) पात्र हुआ ॥ १४ ॥

तां धृ॒तराष्ट्र॑ ऐ॒राव॑तो॒धोक् तां वि॒पमे॑वा॒धोक् ॥१५॥

ताम् । धृ॒त॒ऽराष्ट्रः । ऐ॒रा॒व॒तः । अ॒धोक् । ताम् । वि॒पम् । ए॒व ।

अ॒धोक् ॥ १५ ॥

उसको ऐरावतवंशी धृतराष्ट्र नामक सर्पने दुहा और उससे विपको ही दुहा ॥ १५ ॥

तद् वि॒पं सर्पा॑ उ॒प जी॒वन्त्यु॒पजी॒वनी॑यो भव॑ति॒ य एवं

वेद॑ ॥ १६ ॥

तद् । वि॒पम् । सर्पाः । उ॒प । जी॒वन्ति॑ । उ॒प॒जी॒वनी॑यः । भव॑ति॒ यः ॥०

इति पञ्चमेऽनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

उस विपसे सर्प उपजीवन करते हैं । जो इस बातको यथार्थ रीतिसे जानता है माणीउससे आजीविका करते हैं ॥ १६ ॥

तद् यस्मां एवं विदुषेलाचुनाभिषिञ्चेत् प्रत्याह्न्यात् १

तत् । यस्मै । एवम् । विदुषे । अलाचुना । अभिषिञ्चेत् ।

प्रतिञ्ज्याह्न्यात् ॥ १ ॥

इस कारण जिस ऐसा जानने वालेके ऊपर रामतुरईसे सिञ्चन करता है तो मार डालता है ॥ १ ॥

न च प्रत्याह्न्यान्मनसा त्वा प्रत्याह्नमीति प्रत्याह्न्यात्

न । च । प्रतिञ्ज्याह्न्यात् । मनसा । त्वा । प्रतिञ्ज्याह्नमि । इति ।

प्रतिञ्ज्याह्न्यात् ॥ २ ॥

किन्तु मनसे मारता हूँ ऐसा विचार न करे तो मार डालता है २  
यत् । प्रत्याह्नन्ति विपमेव तत् प्रत्याह्नन्ति ॥ ३ ॥

यत् । प्रतिञ्ज्याह्नन्ति । विपम् । एव । तत् । प्रतिञ्ज्याह्नन्ति ॥ ३ ॥

जो मारता है वह विपको ही मारता है ॥ ३ ॥

विपमेवास्याप्रियं भ्रातृव्यमनुविपिच्यते य एवं वेद ४

विपम् । एव । अस्य । अप्रियम् । भ्रातृव्यम् । अनुविपिच्यते ।

ये । एवम् । वेद ॥ ४ ॥

पञ्चमेनुवाके सप्तमं सूक्तम् ॥

पञ्चमेनुवाकः ॥

इत्यष्टमं काण्डं समाप्तम् ॥

( ६४२ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

जो ऐसा जानता है उसका अभिय शत्रुरूप विष ही अनु-  
पिञ्चित होता है ॥ ४ ॥

पञ्चम अनुवाकमे सप्तम सूक्त समाप्त ( ४५३ )

पञ्चम अनुवाक समाप्त

इति श्री अथर्ववेदसंहिताका अष्टमकाण्ड अ० कु०

५० रामस्वरूपशर्मात्मज सनातनधर्मपताका

सम्पादक अ० कु० ५० रामचन्द्र

शर्मा कृत सायणभाष्यानुकूल

भाषानुवाद सहित

समाप्त.

॥ अष्टम काण्डः समाप्तः ॥



मिलने का पता—

सनातनधर्म-यन्त्रालय,

मुरादाबाद.